ਬ੍ਰਹਮ ਵੈਵਰਤ

ਪੁਰਾਣ

3

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥



गुरुमण्डलग्रन्थमालायाश्चतुर्दशपुष्पम् :—

ब्रह्मवैवर्त्त पुराणपरिशिष्टम्

सटीकम्—

काशीरहस्यम्

श्रीमन्महर्षि कृष्णद्वैपायनव्यासविरचितम्

तस्य काशीरहस्यात्मकस्तृतीयखण्डान्तर्गतः

तृतीयोभागः

सेतुबन्धाटीकाकारः शिवानन्दशिष्यो नीलकण्ठसरस्वती

"पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्

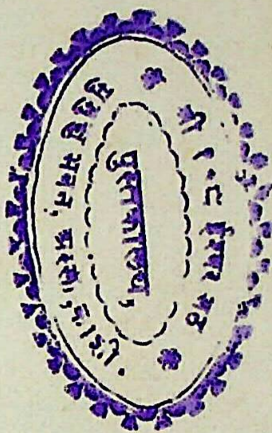
राधाकृष्ण मोर

५, क्लाइव रो,

कलकत्ता-१

विक्रम सम्वत् २०१३]		[ईशवीय सन् १९५७





❁ श्रीगणेशाय नमः ❁

गुरुमण्डलग्रन्थमालायाश्चतुर्दशपुष्पम्

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणपरिशिष्टम्

सटीकम् काशीरहस्यम्—

श्रीमन्महर्षि कृष्णद्वैपायनव्यासविरचितम्

तस्य काशीरहस्यात्मकस्तृतीयखण्डान्तर्गतः

तृतीयोभागः

सेतुबन्धाटीकाकारः श्रीविद्यानन्दयतीन्द्रापरनामकः श्रीनीलकण्ठसरस्वती

श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयम्भैरवम् ।
सिद्धौघं वटुकत्रयम्पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम् (शाम्भवम्) ॥
वीरान्द्व्यष्टचतुष्कषष्टिनवकं वीरावलीपञ्चकम् ।
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम् ॥

५, क्लाइव रो,

कलकत्ता-१

वैक्रमाब्दः २०१३ | प्रथमं संस्करणम् १५०० | ख्रैस्ताब्दः १९५७







GURUMANDAL SERIES NO. XIV

BRAHMAVAIVARTTA PURANAM.

(Containing with a Supplement Kashi Rahasyam)

By—

Shriman Maharshi Vyasdeva.

Setubandha Commentator Vidyanand Yatindra
Alias Nilkhantha Saraswati.

Volume III

5, CLIVE ROW,
CALCUTTA-1.

Vikram Era *First Edition* *A. D.*
2013 *1500* *1957*

मुद्रक—
रुलियाराम गुप्ता
दि बङ्गाल प्रिंटिंग वर्क्स
१, सिनागाग स्ट्रीट,
कलकत्ता-१।

" गुणाः पूजास्थानम् "

ऋषिकल्प त्यागतपोमूर्त्ति वैयाकरणधुरन्धर

पण्डित रामयशस्त्रिपाठी "महाशयजी"

वाराणसी।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्री काशीरहस्य की भूमिका

अस्मद्देशिकमस्मदीयपरमाचार्यानशेषान्गुरून् ।
श्रीमल्लक्ष्मणयोगिपुङ्गवमहापूर्णौ मुनिं यामुनम् ॥
रामं पद्मविलोचनं मुनिवरं नाथं शठद्वेषिणं ।
सेनेशं श्रियमिन्दिरासहचरं नारायणं संश्रये ॥

चेतनों पर सर्वेश्वर भगवान् की असीम अनुकम्पा है कि "श्रीकाशीरहस्य" जैसा अनुपम ग्रन्थरत्न मुद्रित होकर प्रकाशित होने जा रहा है। इसमें अध्याय २६ और श्लोक २७०० हैं यह श्री ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत है। इसके नाम से ही इसका विषय स्पष्ट होजाता है। काशीतत्त्व का निर्वचन इस ग्रन्थ में इतना सुन्दर किया गया है कि इसका सम्यक् अध्ययन करनेवालों को काशी के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता।

व्यापकता

यद्यपि यह काशी का ही रहस्य बताने में प्रवृत्त हुआ है तथापि इसका विषय इतना व्यापक है कि तत्त्व जिज्ञासु को ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा प्रपत्ति का समन्वयात्मक स्वरूप अवगत होजाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि काशी जब अनावृत ब्रह्मस्वरूप है तो उसको जानना सब कुछ का जानना है। उसका

निरूपण करना सबका निरूपण करना है अतः विषय की व्यापकता में सन्देह ही क्या होसकता है।

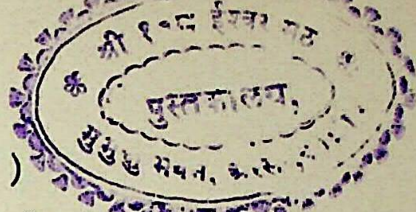
संदेह

श्री ब्रह्मवैवर्त पुराण की अबतक की मुद्रित पुस्तकों में "श्री काशीरहस्य" एक साथ मुद्रित नहीं हुआ था अतः ऋजुमति लोगों को इसके श्री ब्रह्मवैवर्त-पुराणान्तर्गत होने में सन्देह हो सकता है, पर थोड़ी गम्भीरता से विचार करनेपर वह निराधार सिद्ध होगा। संस्कृत साहित्य का मध्यकालीन इतिहास अत्यन्त संकटग्रस्त था इस बात को इतिहासज्ञ व्यक्ति अस्वीकार नहीं करसकता फलतः वैदिक वाङ्मय से लेकर आर्ष प्रभृति सभी प्राचीन ग्रन्थों ने संकट का सामना किया है।

यही कारण है कि पुराणों की पुराणोक्त संख्याओं तक में बहुत अन्तर मुद्रित पुराणों में मिलता है ऐसी दशा में जिसको प्रसिद्धि परम्परा से जैसी है उसका इदमित्थं बतानेवाले प्रवल प्रमाण के बिना खण्डन नहीं किया जासकता।

मुद्रणयुग के आरम्भ से पुस्तकें सुगमतापूर्वक सर्वसाधारण के दृष्टिगोचर होने लगीं। उनमें "काशीरहस्य भी १७८१ संवत् में मुद्रित होचुका है जिसके प्रत्येक अध्यायान्त में "इति श्री ब्रह्मवैवर्ते तृतीयभागे काशीरहस्ये प्रथमोऽध्यायः आदि इस प्रकार मुद्रित है। ऐसे ही "त्रिस्थली सेतु" नामक परमप्रामाणिक निबन्ध (नारायण-भट्टकृत जिसकी लिखित पुस्तक लगभग १५० डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की कही जाती है) में काशी प्रकरण में काशी सम्बन्धी बहुत-से वचन श्री ब्रह्मवैवर्त पुराण के उद्धृत किये गये हैं जो सब-के-सब काशीरहस्य में उपलब्ध होते हैं। काशीदर्पण

वाराणसी प्रसादस्य नियोगेन तु यत्नतः। मन्नालालेन विदुषा मुद्रितोऽयं शिलाक्षरैः ॥ १ ॥ शाके स्वराष्टाचलचन्द्र संख्याविख्यातकायेनभसः शशाङ्के। वास्तवमाप्ते परिपूर्णमार्घत्काशीरहस्यस्य गणान्विशुद्धान् ॥ २ ॥



नाम का एक और निबन्ध लगभग ८० वर्ष पूर्व में मुद्रित हुआ है जिसमें काशी के सम्बन्ध के बहुत-से श्लोक दिए गये हैं जिनका मूल श्री ब्रह्मवैवर्त पुराण कहा गया है। वे सब श्री काशीरहस्य में उपलब्ध होते हैं। इन सब प्रसिद्धियों का अनादर करने के लिये कोई दृढ़ हेतु जबतक न हो तो क्यों इनकी उपेक्षा की जाय ? क्यों न यह मान्य हो ? इसके उपरान्त सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि ग्रन्थ का परिशीलन कर देखने से ग्रन्थ स्वयं अपना स्वरूप बता देता है कि वह अपना क्या स्थान रखता है।

वेदों की अपौरुषेयत्व सिद्धि में अनेक युक्ति-तर्कों का उल्लेख करते हुए भट्टपाद श्रीं कुमारिल ने तन्त्र वार्तिक में स्पष्ट कहा है कि—

आदिवाक्यमपि श्रुत्वा वेदानां पौरुषेयता।
न शक्याऽध्यवसातुं हि मनागपि सचेतनैः॥
तेन वेदस्वतन्त्रत्वं रूपादेवावगम्यते।
किञ्चिदेव तु तद्वाक्यं सदृशं लौकिकेन यत्॥
तत्रापि छान्दसी मुद्रा दृश्यते सूक्ष्मदर्शिभिः।

जिसका स्पष्ट तात्पर्य है कि वेदों को उनके रूप में सामने रखने से वे स्वयं अपना अपौरुषेयत्व बता देंगे। किसी युक्त्यन्तर की आवश्यकता न होगी। ठीक वैसी बात श्री काशीरहस्य के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। अस्तु—

उपलब्धि

इस दिव्य ग्रन्थ के प्राचीन मुद्रण की पुस्तकें दुर्मिल हो चली थीं। फलतः काशी में तथा अन्यत्र भी इसका प्रचार नहीं के बराबर हो गया था; यहांतक कि बहुत-से काशास्थ विद्वानों को भी इसका पता न था। हर्ष की बात है कि

काशीस्थ श्रीमद्भागवतमार्तण्ड श्रीमाधव बालशास्त्री दातार महोदय के यहां से इस पुस्तक का लाभ हुआ। श्री शास्त्रीजी की नित्य कथा में इसका परम्परा-शुद्ध प्रवचन होता है। इतना ही नहीं अपितु, इसके आधार पर काशीनिवास तथा वार्षिक काशी प्रदक्षिणा का नियम भी स्वयं तथा श्रद्धालु श्रोतृवृन्द का चलता है। आपके ही अनन्य प्रेमी श्रोता काशीस्थ बाबू श्री बदरी प्रसादजी खण्डेलवाल (जिनके पास लिखित श्री काशीरहस्य का पुस्तक है तथा आप काशी और काशीरहस्य ग्रन्थ के असाधारण उपासक हैं) के अनुज श्री जगन्नाथप्रसाद खंडेलवाल के द्वारा मुझे प्राचीन मुद्रण की एक सटीक प्रति प्राप्त हुई। मैंने उसपर से कुछ काल तक प्रवचन किया तो इस ग्रन्थ की सारिष्ठता ने मुझे बहुत ही आकृष्ट किया फलतः मेरे नित्य प्रवचन का विषय यह बन गया। धीरे-धीरे बहुत से श्रोता तथा विद्वानों को इस बात की स्पृहा उठने लगी कि यह ग्रन्थ पुनः मुद्रित होकर सुलभ होजाय तो महान् उपकार हो बहुत-से चेतनों का उद्धार हो। खण्डेलवाल बन्धुओं का तो बहुत ही औत्सुक्य था।

इतने बड़े ग्रन्थ का मुद्रण-व्यय साध्य न होने के कारण विचार ही में था कि किसी दिन ऋषिरूप त्यागतपोमूर्त्ति गुरुवर विद्वन्मूर्धन्य श्रीरामयश-त्रिपाठी महाशयजी के समक्ष यह बात चली तो उन्होंने स्मरण किया कि कलकत्ते में स्मृति तथा पुराणादि के प्रकाशन व्यवस्था करनेवाले सेठ हैं उनको ज्ञात होने से महाशय ! होसकता है। यों तो उन सेठ श्री मनसुखराय मोरजी महोदय का मुझे पूर्व परिचय था। उनके सभी प्रकाशन मेरे पास सप्रेम भेंट रूप में आते रहते हैं। फिर भी मैं चकित रहगया कि पुण्य कर्म किस प्रकार एकान्तवासी ऋषियों तक अपना सौरभ फैलाता है, जैसा कि कहा गया है 'यथा सुपुष्पितस्य वृक्षस्य दूराद्गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाति' अस्तु, यह बात मेरे ध्यान में थी। प्रसङ्गवश गत वर्ष ज्येष्ठ मास में कलकत्ता

जाना हुआ वहां विद्वद्रत्न पं० श्री ब्रह्मदत्तजी त्रिवेदी महोदय मिले जो स्मृति पुराणादि ग्रन्थों की प्रकाशनसुव्यवस्था करनेवाले सेठ श्री मनसुखरायजी मोर के प्रकाशनाध्यक्ष हैं। उक्त त्रिवेदीजी से मैंने चर्चा की तो ज्ञात हुआ कि श्री ब्रह्मवैवर्त्तपुराण का ही मुद्रण हो रहा है जो अब पूर्ण प्रायः है। यह ऐसा सुयोग था कि मानो श्री "काशीरहस्य" के प्रकाशन का ईश्वरीय विधानक्षण उपस्थित होगया। सब के हृदय में रहनेवाले भगवान् ग्रन्थरत्नों के प्रकाशन में तत्पर स्वभक्त श्री सेठ मनसुखरायजी मोर के हृदय में न हों यह कैसे होसकता है। भगवान् की शुभ प्रेरणा से सेठजी ने स्वीकृति देदी। श्री पं० ब्रह्मदत्तजी त्रिवेदी ने इस पवित्र कार्य को तत्परता से हाथ में लिया। भगवत् कृपा से आज यह समय आया कि यह अनुपम ग्रन्थरत्न अधिकारी चेतनों को मुद्रित होकर सुलभ होने जारहा है जिसकी प्रतीक्षा काशी तथा अन्यत्र के सैकड़ों भक्त एवं विद्वान् चातक की भांति कर रहे हैं जिन्हें मुद्रित पुस्तक के दर्शन से अपार हर्ष होगा।

सूक्ति-रत्नावली

इस प्रसंग में यह भी विशेष उल्लेखनीय बात है कि बाबू श्री बदरीप्रसादजी खण्डेलवाल ने जिनका ऊपर नामोल्लेख हुआ है, श्री काशीरहस्यस्थ सूक्तियों की एक "सूक्ति-रत्नमाला" का ग्रन्थन किया है जो कि काशीस्थ श्री बल्लभराम शालिग्राम साङ्गवेद विद्यालय में प्रतिष्ठापित है। रत्नाकर उक्त विद्यालय में प्रतिष्ठापनार्थ ही रचयिता ने वेदशास्त्र संरक्षक मेहता पं० श्री मुरारीलालजी महोदय को अर्पण किया था। उस "सूक्ति रत्नमाला" का चित्र भी यहां प्रकाशित किया जा रहा है जिसको देखने से थोड़े में ही रहस्यसार का अवगम होजायगा। वही वास्तविक भूमिका है।

यहां विशेषतः सेठ श्री मनसुखरायजी मोर महोदय के लिये शुभाशासन करना तथा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना "श्री काशीरहस्य ग्रन्थ" के प्रेमी

सभी सज्जनों को इसलिये अत्यन्त उचित प्रतीत होगा कि श्री मोर जी की ही उदारता के फलस्वरूप सभी को इस अमृत का लाभ हो रहा है।

इसप्रकार संक्षेप में इस ग्रन्थ की भूमिका का उल्लेख करते हुए उसकी उपलब्धि तथा प्रकाशन में जिन-जिन सज्जनों का सम्बन्ध आया है उन्हें हम भगवत् कृपापात्र मानते हैं तथा श्रीमन्नारायण-चरणारविन्द में सबके लिये मंगलाशासन करते हैं। साथ ही भगवान् से शुभ कामना करते हैं कि इस प्रकाशन से अनन्तानन्त चेतनों को लाभ हो।

ज्येष्ठ ३० भृगु २०१३

श्री देवनायक आचार्य
जगद्गुरुश्रीरामानुजाचार्यपीठ
राजमन्दिर, काशी
(वाराणसी)

सम्पादकीय वक्तव्य

काशीरहस्य का यह अभिनव संस्करण ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के परिशिष्ट रूप में (गुरुमण्डल के चतुर्दशपुष्प का तृतीय भाग) भगवती काशी की महिमा का विस्तार करने के हेतु संस्कृत के विद्वत्समाज की सेवा में प्रस्तुत है।

इस ग्रन्थ की मूलप्रति की प्राप्ति, प्रामाणिकता, इसके ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अन्तर्गत होने के बाह्य एवं अन्तःसाक्ष्य के विषय में जगद्गुरु पूज्य श्री १००८ श्रीमत्स्वामी देवनायकाचार्यजी महाराज, रामानुजाचार्य पीठाधिपति काशी ने बहुत कृपाकर सप्रमाण लिखा है इसकेलिये हमलोग ग्रन्थमाला के सञ्चालक श्री सेठ मनसुखराय मोर एवं उनके ज्येष्ठ सुपुत्र श्री बाबू राधाकृष्ण मोर की ओर से श्री स्वामी चरणों के प्रति साभार कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

आज से दो वर्ष पूर्व इस कार्य की समाप्ति पूज्य आचार्य चरणों के आदेश के ५, ७ मास बाद ही अपेक्षित थी परन्तु "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" के अनुसार अप्रत्याशित विलम्ब की अवधि बढ़ती ही गई। सम्प्रति यह अपने पूर्ण कलेवर में छपी है और इसकी सारी सामग्री के लिये खण्डेलवाल बन्धुद्वय (श्री बद्रीप्रसादजी एवं श्री जगन्नाथप्रसादजी खण्डेलवाल) तथा भागवत मार्त्तण्ड माधव बालशास्त्रीजी के सत्प्रयत्नों को ही श्रेय मिलना चाहिये जिन्होंने आचार्य श्री के विशेष प्रोत्साहन से काशीरहस्य की मूलप्रति एवं उसके त्रुटित अंश के लिये प्राणपण से चेष्टा कर उपलब्ध करने में कुछ भी बाकी न छोड़ा। उन्हें कुछ साधुवाद का उपचार प्रदर्शन करना शिष्ट व्यवहार के अनुकूल नहीं। उन सब की एक ही अभिलाषा थी कि यह ग्रन्थ प्रत्येक सम्भव उपाय से हमारे काशी प्रेमीविद्वत्समुदाय को सुलभ हो उनकी एकमात्र संलग्नता सिद्धिरूप में आज सेवा में प्रस्तुत है।

इसकी टीका सेतुबन्धा नाम की है इसके टीकाकार श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी नीलकण्ठ सरस्वती हैं जो श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री शिवानन्द सरस्वती के शिष्य हैं। इस विद्वान् का काशी का प्रेम कितना अगाध है यह टीका में उद्घाटित विलक्षण भावाभिव्यक्ति नाना ग्रन्थों के

उद्धरणों से उस सिद्धान्त की पुष्टि से व्यक्त है। साथ ही स्वामीजी विशिष्ट विद्वान् हैं जिनकी अद्वैत साधना भी भगवती काशी के अचिन्त्य महिमा को मूर्त्तरूप देने में समन्वय लेती हुई जनता को स्वधर्माचरण की ओर प्रेरित करती है।

काशीरहस्य में मूल एवं टीका में अपेक्षाकृत अधिक त्रुटियां रह गई है इसका कारण हमलोगों के भ्रमप्रसादअपाटवादि दोष हैं, विद्वान् लोग इस विलक्षण ग्रन्थरत्न को पढ़कर श्री मोरजी के परिश्रम को सफल कर हमें कृतार्थ करें यही आकाङ्क्षा है। विद्वद्वर्ग से सादर निवेदन है कि मूल की अशुद्धि के निराकरण के लिये शुद्धिपत्रक अन्त में दिया गया है उसे देखकर अपेक्षित शोधन करने की दया करें।

एक शब्द और, खण्डेलवाल बन्धुद्वय को इस ग्रन्थ के प्रशस्तिपूर्ण अध्ययन के हेतु नूतन प्रकाशन के लिये जैसा चाव था वैसा ही उन्हें यह भी इष्ट था कि इस ग्रन्थ में प्रस्तुत १०८ श्लोक चुनकर एक माला पिरोई जाय जिसे तैयारकर उन्होंने वेदशास्त्र संरक्षक मेहता श्रीमुरारिलालजी को अर्पित की। उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि ग्रन्थ में भी यह ब्लाक के रूप में दिया जाय। ब्लाक बनवाया गया परन्तु हमें दुःख है कि ब्लाक हमारे इच्छितरूप में नहीं बन सका। समय अधिक न देखकर इसे ही छपाना ठीक समझा। ब्लाक की अस्पष्टता से इसके साथ ही निर्देशिका दे दी गई है जिससे उसके अभीष्ट श्लोकों का आपलोग अवलोकन करेंगे और इस मणिमाला के जप से भगवती काशी के गौरव को अक्षुण रक्खेंगे।

हम अपनी अपूर्णता और अज्ञान जन्य त्रुटियों के लिये बारम्बार सङ्कोच अनुभव करते हुए पुनः इस ग्रन्थ के अविकल स्वाध्याय की प्रार्थना करते हुए आप से विलम्ब से ग्रन्थ के प्रकाशित किये जाने के लिये क्षमा प्रार्थी हैं :—

माघ शु० ५, वसन्तपञ्चमी मंगलवार २०१३
गुरुमण्डलग्रन्थमाला कार्यालय
मोर प्राच्य शोधसंस्थान, कलकत्ता-१

भवदीय :—
ब्रह्मदत्त त्रिवेदी
रामनाथदाधीच शास्त्री

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

काशीरहस्य की विषय-सूची

ऋषिगण ने जब सूतजी से युगों, युगमानों और सनातन युगधर्मों के तथा युगों के लोगों का आदि से चरित्र सुना तो उन्हें कलियुग के स्वरूप को जानने की उत्कण्ठा हुई और उसके लिये उन्होंने सूतजी से अनुरोध किया। सूतजी ने

कहा सृष्टि के प्रलयकाल में जब भगवान् हरि सम्पूर्ण चराचर को अपने में समेट कर सोकर उठे तो उनकी नाभि से ब्रह्मा हुए उन्हें अपने और पराये का ज्ञान नहीं था भगवान् हरि ने उन्हें आज्ञा दी कि मुझे भजो जिससे सब ठीक होगा। ब्रह्मा ने हरि की स्तुति की भगवान् ने ब्रह्मा को आश्वस्त करते हुए सृष्टि रचने को कहा। वेदों की ज्ञानशक्ति द्वारा उन कर्तव्यशील प्राणियों को ज्ञान प्राप्ति से कभी जीवन में पराभव न हो एतदर्थ ब्रह्मा का सृष्टि बनाना और दैव तथा आसुर सृष्टि का निर्माण। युग एवं युगों के धर्मों का विभाग लोकों के ऊपर कृपा करने की इच्छा से ब्रह्मा ने बनाया। फिर ब्रह्मा द्वारा सत्ययुग को बुलाकर उससे अपनी विशेषतायें पूछना। सत्ययुग द्वारा अपने समय में लोक के आचरण एवं धर्म का वर्णन। ब्रह्मा ने इसी प्रकार त्रेता, द्वापर और कलियुग को तत्तत् काल एवं धर्मों के विषय में पूछा। सभी युगों के स्वरूपको बताकर सूतजी ने ब्रह्मा एवं कलियुग के बीच हुई वार्त्ता का उल्लेख किया और ब्रह्मा के कहने पर भी कलि ने सृष्टि पर अपना अधिकार जमाने में असमर्थता प्रगट की कारणरूप में शिवनाम, हरिनाम, गङ्गा नदी, वाराणसीपुरी, सत्संग, दान, तीर्थ एवं भगवान् शङ्कर तथा विष्णु की कथायें सदैव अपने कार्य में बाधक बताईं। इसपर ब्रह्मा ने कलि को धैर्य से सब कार्य करने को कहा और युगधर्म की बलिहारी बताते हुए उसे अपने स्वरूप के साथ सृष्टि में प्रवृत्त होने की आज्ञा दी। कलि के पूछने पर ब्रह्मा द्वारा गुरु शब्द का निर्वचन और गुरुभक्ति का माहात्म्य वर्णन। गुरु के विना शास्त्र के प्रतिपाद्य तत्त्वों का सम्यक्प्रकारेण बोध असम्भव है। आत्मज्ञान की दीक्षा का मूल गुरु है जिससे कलिकाल की जघन्यता का भय शेष नहीं रहता इसी को लक्ष्य कर वेदधर्मा ऋषि और सन्दीपक शिष्य के आख्यान का वर्णन। गोदावरी के तीर पर अङ्गिरस का सुन्दर आश्रम ही इन गुरु-शिष्य की आवास भूमि रही। यह शिष्य अपने पूज्य गुरु के पास नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर विद्योपार्जन करता था। एक दिन गुरु ने उसकी निष्ठा से प्रसन्न होकर

अपने पूर्वजन्म के किये पापों में से तपोबल से भी नष्ट होने से बचे हुए पापों का भोग द्वारा नाश करने के लिये वाराणसी में रहकर उस समय तक सेवा करने के लिये साथ रहने का आह्वान किया जबतक पापमुक्ति न हो जाय। गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके वेदधर्मा के साथ वह बनारस गया। अपने अभुक्त पापों का क्षय करने के लिये वह कुष्ठी (कोढ़ी) तथा अन्धा बन गया। शिष्य ने यह सब पापभोग का कष्ट अपने ऊपर लेने का कारण जानने के लिये गुरु से विशेष आग्रह किया। परन्तु गुरु ने अपना किया अपने को ही भोगना पड़ता है यह कह उसके अनुरोध को टाल दिया। वे दोनों गुरु चेले मणिकर्णिका के उत्तर गङ्गातट पर कम्बलेश्वर के निकट रहकर इस पापभोग के काल को बिताने लगे शिष्य ने कुष्ठी और अन्धे गुरु की तन-मन से सेवा की। यद्यपि अपनी रुग्णावस्था में गुरु ने उसका बार-बार तिरस्कार किया फिर भी शिष्य गुरु-सेवा में सफलता से उत्तीर्ण हुआ; उसने तो सम्पूर्ण देवगण का त्रिमूर्त्ति का साकार रूप अपने इष्टदेव गुरु को ही बना लिया। इस गुरुसेवा से प्रसन्न होकर देवाधिदेव भगवान् शङ्कर उसके सामने जब वह सेवा में लगा था वर देने को उपस्थित हुए परन्तु दीपक ने उस समय गुरु की आज्ञा एवं सम्मति से ही वर मांगने को कहा। गुरु की आज्ञा के बिना वर न मांगने की बात शङ्करजी ने प्रसन्नता से विष्णु को उस गुरुभक्त शिष्य के विषय में कही। ज्यों ही विष्णु उसे वर देने को गये उसने श्रद्धा-भक्ति से नम्र होकर गुरु-भक्ति एवं गुरु स्वरूप को मांगने और जानने की कामना की। विष्णु ने गुरुतत्त्व का रहस्य बताया अन्ततः पापभोग के अनन्तर गुरु का सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर हो गया। गुरु द्वारा काशी प्रशंसा का वर्णन।

वेदधर्मा गुरु अपने प्रिय शिष्य दीपक पर बहुत प्रसन्न हुए और उसे अन्तःकरण स्थित आत्मभाव की गुरुता का महत्त्व बतलाकर उसे अनायास ही भगवती वाराणसी की कृपा से भगवान् शिव एवं विष्णु के शुभदर्शन प्राप्त हुए इसी प्रकार और-और महत्त्वपूर्ण सिद्धियां काशी के क्षेत्र में शीघ्र मिलती है यह कहकर उसे वर मांगने के लिये कहा। इसपर शिष्य ने भगवती काशी की महिमा और इसका स्वरूप एवं इसके आश्चर्यकारी प्रभाव आदि के लिये गुरु से बतलाने की प्रार्थना की। गुरु ने शिष्य की ऐसी अलौकिक पारमार्थिक बुद्धि की प्रशंसा की और काशी को साक्षात् ब्रह्म कहकर उसीका विवर्त्त यह सम्पूर्ण संसार का विस्तार है, इसी लिये इसे अविवर्त्त नाम से ब्रह्मवादी कहते हैं। इसका नाम लेने से ही साधक अनन्त फल एवं सुसिद्धियां प्राप्त करता है। काशीवास के आठ योग प्रसिद्ध हैं—१काशी-वास, २—सज्जन पुरुषों से शास्त्र चिन्तन का शुभ प्रसङ्ग

३-गङ्गा स्नान, ४-पाप कर्मों में अरुचि, ५-पुण्यकार्यों में प्रीति, ६-स्वेच्छा लाभ में ही सुख प्राप्त करना, (यदृच्छालाभसन्तुष्टि) ७-शक्तिभर दान देना और ८-किसी से कुछ न ग्रहण करना। काशी में रहकर वेद प्रतिपादित धर्म का अविकल शुद्ध अन्तःकरण से श्रद्धाभक्तिपूर्वक आचरण करना इष्ट है। इसीलिये काशी की महिमा अवर्णनीय है। इसलिये मनुष्य को महासाहस के साथ काशीवास का व्रत ग्रहण करना चाहिये। काशी क्षेत्र में सदाचार पालन, अन्नदान और फिर क्षेत्र संन्यास द्वारा अपनी परमपद प्राप्ति की अभिलाषा पूर्ण करना विशेष प्रयोजनीय है। वाराणसी में वास करना और वहां सदनुष्ठान, भोजन दान, यज्ञादि द्वारा अधिकाधिक परमार्थलाभ अनन्तकोटि-गुणित फल प्रदान करता है। कलि में भगवान् विश्वनाथ, वाराणसीपुरी, भागीरथी गङ्गा और दान विशेष रूप से उत्कर्षाधायक हैं; ये कलि के पाप को समूल नष्ट करनेवाले हैं।

गुरु ने शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि दैववश अन्य स्थानों में देहपात होनेपर अस्थियों का काशी में प्रवाह हो तो उस प्राणी की क्या गति होती है, कहा कि ऐसे व्यक्ति भगवती गङ्गा के तटपर काशी के माहात्म्य से तत्काल मुक्त हो जाते हैं भले ही वह महापापी क्यों न हों। शिष्य ने गुरु से भगवती भागीरथी के तटपर अवस्थित इस महापुण्या काशीपुरी की प्रशस्ति जाननी चाही। गुरु ने वाराहकल्प में प्रलयकाल में जब पृथ्वी रसातलमग्न होगई तो ऋषिमहर्षि वृन्द तथा देवगण ने भगवान् विष्णु की स्तुति की और आश्चर्य से पृथ्वी के जलमग्न होनेपर भी छत्राकार ज्योतिरूप भाग को सबने देखा तथा उसका कारण पूछा। विष्णु ने प्रसन्न हो उनके प्रश्न का सन्तोष किया और गगनेचर ज्योतिरूप छत्राकृति स्थान को काशी सञ्ज्ञा देते हुए उसके गुण, प्रभाव, माहात्म्य और नाम की अपूर्व प्रशंसा की और पृथ्वी को दैत्य के आने से उसे मारकर निकाललाने का आश्वासन दिया जिससे फिर से

सब लोग वर्णाश्रमधर्म का यथावत् पालन करने लग जांय। ऋषियों ने काशी की इस पृथक्कृति का कारण जानना चाहा तो विष्णु ने कहा एक महाकल्प में धर्मपरायण साधुपुरुष मोक्ष प्राप्ति के लिये साधन तप आदि करते थे परन्तु उन्हें विघ्न सताते थे। इसपर सब मेरे पास आकर इसका उपाय पूछने लगे तो मैंने हृदय में ज्योतिर्लिङ्गरूपी देवाधिदेव महादेव का स्मरणकिया। अपने स्वरूपसे वे हृदय से बाहर प्रगट हुए अपने आपको पञ्चक्रोशात्मक विस्तारवाला किया ऊपर वैकुण्ठ तथा नीचे पाताल तक वह ज्योतिलिङ्ग में प्रगट हुए। स्वयं शम्भु पार्वती समेत कैलास से आकर इस ज्योतिर्लिङ्ग को देखकर बोले यह बहुत अच्छा किया। अब सब प्रकार से शम्भु के अनुमोदन करने पर उस शुद्ध सत्त्वात्मक स्थाणुरूप ज्योतिर्लिङ्ग की नाना स्तुतियों से प्रार्थना की गई। यही सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण होने से काशी भगवती में इसकी स्थिति होने से चैतन्यरूप ज्योतिर्लिङ्ग के साथ पृथ्वी से इसका पृथक्करण हुआ। यही छत्राकृति काशी मेरे हृदय देश से निःसृत ज्योतिर्लिङ्ग की वासभूमि है। फिर विष्णु ने पृथ्वी को आदि शूकर अवतार धारण कर जल में से निकाला और पृथ्वी का उद्धार तथा काशी की महिमा का विस्तार कर सम्पूर्ण धार्मिकवृन्द का कल्याण किया। गुरु ने अपने शिष्य दीपक को इस प्रकार काशी महिमा के साथ उसकी परमास्तिक भावपूर्ण गुरुभक्ति से प्रसन्न हो उसे परमपद मोक्ष की प्राप्ति का सोपान बतानेवाले गुरुतत्त्व की विशेष महिमा बताई।

शिष्य ने त्रिदेवों के दर्शनों का लाभ, काशी के स्वरूप का वेद प्रतिपादित तत्त्व और धर्म का स्वरूप जानकर गुरु के प्रति कृतज्ञतापूर्ण आभार प्रदर्शित करते हुए अविमुक्तक्षेत्र काशी के माहात्म्यरूपी अमृत का बार-बार पान करने का अवसर देने के लिये ही गुरु से निवेदन किया। गुरु ने फिर काशी की महिमा विस्तार से बताई। काशीनिवासी व्यक्तियों के लिये कर्तव्य धर्म का निरूपण किया और ज्ञात और अज्ञात सभी पापों के प्रायश्चित्ती पुरुषों को यह अभय देती है कारण काशी ही एकमात्र कलियुग में ऐसा स्थान है जहां भगवान् शङ्कर एवं विष्णु की नाना शुभ कथायें महात्मा विद्वान् पुरुषों द्वारा होती रहती है। यहां कलिधर्म का प्रभाव कभी भी युगरूप से नहीं रह सकता काशी के विभिन्न वनों का सुन्दर निरूपण। काशी के सुन्दर वातावरण में स्वाध्याय, ज्ञान, जप, यज्ञ, दान, सत्सङ्ग और साधन प्रवणता के साथ-साथ प्रकृति की सुरम्य सुषमा का और उस क्षेत्र में निवास करनेवाले स्वभावतः भगवच्चरणों में अपने कलरव का उद्घोष करनेवाले पक्षीगण का सुन्दर विवरण दिया। शिष्य

द्वारा इस सुन्दर मोक्षपुरी के आकीट पतङ्ग सहित प्राणीमात्र का वर्णन सुन गुरु से पुनः पुनः इसकी अमित महिमा को सुनाने के लिये अनुरोध करना फिर काशी की समस्त त्रिभुवन में उत्कृष्टता का निरूपण। शिष्य ने गुरु की इस अहैतुकी कृपा का विशेष अभार माना और काशीवास का आनन्द लाभ करने की अपनी चिरअभिवाञ्छित इच्छा प्रगट की। गुरुने उसे गृहस्थधर्म के पालन के अनन्तर इस पवित्रपुरी में साधन करने का आदेश देना चाहा परन्तु शिष्य तो अब सबसे उत्तम इस तत्त्व को छोड़ अन्य किसी को अपना साध्य एवं इष्ट नहीं समझता था उसकी ज्ञानचक्षु से अब आत्मकल्याण की भावना का साक्षात्कार हुआ चाहता था। अतः गुरु की कृपा से गुरुभक्त दीपक को शिवपुरी काशी का सेवन तथा साधनपूर्वक जीवन से इष्ट प्राप्ति का आदेश मिला।

गुरु ने शिष्य को कलि के दोषों और उनसे ग्रस्त व्यक्ति के छुटकारे का उपाय बतलाया। इस सम्बन्ध में प्राचीन ऋषिगण एवं सूतजी के सम्वाद का आख्यान गुरु ने कहा। सत्ययुग के समान पवित्र वातावरण, तपोधन व्यक्ति एवं साधन के श्रेष्ठ स्थान, कलिकाल में दुर्लभ ही नहीं असम्भव हैं। सत्य में ज्ञान से मुक्ति त्रेता में स्वधर्माचरण से, द्वापर में यज्ञों से है कलि में इसे पाने में बड़ी विषमता है; देहही कलि में प्रधान है, सर्वत्र भोग प्रधान पदार्थवाद का बोलबाला है, धन ही

सर्वत्र प्रधान है। वेदाचरण निन्दित माना जाता है बल्कि जिनके हाथों उस अपौरुषेय ज्ञाननिधि की रक्षा शक्य है वेही द्विज अपने अधम आचरणों से उसके ह्रास में प्रवृत्त होते हैं फिर भी काशी की महिमा ऐसी है कि इन कलिकाल के दोषोंवाला व्यक्ति भी पाप कर काशी में आकर शरण लेता है तो वह शुद्ध हो मोक्ष को प्राप्त करता है। ऋषियों को कहे गये सूत के वचनों का गुरु द्वारा अनुवाद सुन शिष्य ने पूछा हे गुरो! जब जितेन्द्रिय पाप से रहित शान्त महान्त, भगवान् विष्णु शिव के चरणों का आश्रय लेनेवाले सभी तीर्थों में मुक्ति लाभ कर लेते हैं तो काशी की क्या विशेषता हुई। गुरु ने तप, इन्द्रियनिग्रह, मनःसंयम द्वारा सम्पूर्णतया आत्मसाक्षात्कार का साधन बनानेवाले व्यक्तियों का वर्णन कर कहा कि कभी-कभी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि पूर्व जन्म के संस्कार प्रबुद्ध होकर व्यक्ति को प्रतिक्षण आगे बढ़ने से रोकते हैं। धीर पुरुषों को भी मोह प्राप्त होता है केवल काशी क्षेत्र ऐसा है जहां साधन के लिये कुछ करने से अत्यधिक लाभ मिलता है। अन्य तीर्थों में मनुष्य के बुरे संस्कारों द्वारा पतन का मार्ग उपस्थित होने का अवसर रहता है परन्तु काशी में भोगेच्छा सम्पूर्ण रूप से निवृत्त होती है। साधन की विकलता अन्य तीर्थों में पूर्ण नहीं हो सकती यहां सुगमता से अन्य साधारण साधनों से विष्णुपद की प्राप्ति होती है। बस यही इस काशी की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यहां तो निष्पाप होकर भगवती काशी की शरण में रहकर साधन करो बस सब परमपद का मार्ग प्रशस्त मिलता है। इस विषय में विष्णुशर्मा ब्राह्मण का आख्यान वह नर्मदा के तीर पर माहिष्मतीपुरी में निवास करता था। अपने ब्रह्मण्यजीवन से वह पवित्रान्तःकरण था। उसके अग्निशर्मा और सोमशर्मा दो पुत्र थे जो विद्वान् वीतराग और मनस्वी थे। एक बार रेवा के तट पर प्रतिदिन के कथा श्रवण के कार्य के बाद दोनों में ऐसा प्रकरण चला कि मुक्तिसाधन का सरल एवं सहज उपायवाला कौनसा तीर्थ है? इसके उत्तर में ब्राह्मणों के

बीच में शैव मृकण्डु के पुत्र ने काशी के क्षेत्र को उपयुक्त बतलाया। सोमश ने रेवा के तटपर ही रहकर साधन किया और अग्निशर्मा काशीरहस्य मार्कण्डेय से सुन वहीं जाकर जीवन बिता परमपद का भागी बनने के लि प्रयत्न करने की सोचने लगा। वह सौभाग्य से काशी जाकर अपने साधन शिव-पार्वती को प्रसन्न कर अन्त में परमपद का भागी हुआ। इधर सोमश ने कठिन तप कर कई सिद्धियां प्राप्त की और अधिकाधिक लोगों को चमत्कृत करने लगा। कभी उसे भाई की दीनगति (काशी जाकर दुःखावस में जीवन बिताने) पर तरसआती, कभी मान अहंकार से अपने को स्वयम्विधा समझ मोह में फूला न समाता, भोगमय जीवन से उसको अन्तकाल में नी गति मिली और दोनों भाइयों की विपरीत बुद्धि से अलग-अलग फल मिल नरक में सोमशर्मा को अपने भाई की उत्तम गति याद आई और अपनी कर पर पश्चात्ताप हुआ। धर्मराज की आज्ञा से काशीस्मरण द्वारा उसका कोलापुर ब्राह्मण के घर जन्म और फिर काशीवास से उसे मुक्ति लाभ हुआ।

कलि की सन्धि सङ्क्रमण वेला और सन्ध्यान्तकाल में धर्म की अवस्था

विषय में गुरु ने शिष्य को विस्तार से समझाया और कलि में अवस्थित सर्वसाधारण जनता के आचरण के विषय में विस्तार से वर्णन किया। कलि में वर्ण आश्रम, आचार, सत्य, दम, दया और दान आदि सद्गुणों का ह्रास; पाखण्ड, दम्भ, मिथ्याचार आदि की वृद्धि; सत्पुरुषों का उपहास और असत्पुरुषों की प्रधानता आदि इसके विशेष लक्षण हैं। धर्म गौण और धन सर्वत्र प्रधान होजाता है इसका एकमात्र उपाय काशीसेवन है, क्योंकि वहां देवाधिदेव भगवान् शङ्कर का आवास सम्पूर्ण देवगण सहित है वहां कलि विचारे की कुछ भी नहीं चलती। इसके विषय में प्राचीन इतिहास महासेन चन्द्रवंशी राजा और वामदेव गुरु के आख्यान का वर्णन। यह महासेन अतिनीच, कामी, क्रूर, कुमार्गगामी, पापी और परद्रव्य तथा परस्त्री सेवी था। एक बार उस दुराचारी ने अक्षौहिणी सेना के साथ प्रतिष्ठान के राजा सुमेधा पर चढ़ाई की परन्तु सुमेधा की धार्मिक वृत्ति और भगवद्भक्ति के सामने वह बड़ी भारी सेना लेकर भी टिक न सका और हार गया। भागकर वह काशी में आया और अपनी पराजय तथा अपने भय का कारण ऋषि वामदेव से पूछने लगा। वामदेव ने उसके दुराचारी जीवन को ही उसका एकमात्र कारण बताया और कहा कि काशी में रहते हुए उसका यह सब असह्य है इसी से पराजय हुई है। अतः उसे अपना धर्ममय जीवन बनाकर सफलकर्मा होना चाहिये। राजा ने अपने काशी वासी जीवन में ऐसी पापाचरण वृत्ति के विघ्नों का कारण पूछा तो ऋषि ने उसकी अधर्मबुद्धि ही इसमें प्रधान बताई। सुमेधा राजा पर अज्ञानी राजा महासेन ने फिर चढ़ाई की कलि एवं द्वापर का सुमेधा राजा को अपने प्रभाव में लाने के लिये परस्पर विवाद। कलि के द्वारा जीजान से प्रयत्न करने पर भी सुमेधा का शिवभक्ति से विमुख न होना और महासेन को पराजित करना। अब राजा को विशेष लज्जा अनुभव हुई उसे सुमेधा ने पकड़वा कर उसे अपने राज्य से बाहर कर दिया और उसके पुत्र का राज्य पर अभिषेक कर उसे धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करनेको

कहा। पराजित राजा महासेन को अब सुबुद्धि आई और उसने काशी की शरण ले अपना जीवन का मार्ग संन्यास द्वारा प्रशस्त किया। इसके साथ सुमेधा के मन्त्रियों ने राजा से काशीराज को हरानेपर राज्य को अधिकार में क्यों नहीं किया यह पूछा तो उसने यही उत्तर दिया कि भगवान् विश्वनाथ की पुरी पर किसी तुच्छ व्यक्ति का अधिकार सम्भव नहीं अतः उसपर किसी भी रूप में अपना स्वामित्व वह नहीं जता सकता। दीपक ने यह सुनकर आनन्दाश्रुओं से गद्‌गद् हो गुरु को साधुवाद दिया और इस पवित्र आख्यान से अपनेको कृतकृत्य समझा।

मुनिगण ने सूत से जीव के पाश को छेदन करनेवाले मुक्तिदायक ब्रह्मज्ञान के विषय में सुनकर सांख्य, योग, अष्टाङ्ग योग, व्रत, तपस्या और तीर्थसेवन के बिना भी सरल मोक्षोपाय का मार्ग पूछा; धर्म सब युगों में एक होने पर भी प्राणिवर्ग के साधन की सामर्थ्य के बाहर की बात होने से भी सरल मार्ग के उपदेश का अनुरोध किया। सूत ने उन्हें बताया कि कपिल का सांख्य योग सनातन भगवान् के ही आदेशानुसार ध्येय है। परन्तु योगादि के साधन मन की शुद्धि न होने पर व्यर्थ हैं मन की शुद्धि ही ज्ञान प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है। कपिल के पास गये हुए मुनियों ने इस प्रकार अपनी कठिनाई कही तो कपिल बोले कि जीवन में व्यक्ति विषय-विष के कारण आत्मसिद्धि के अमृत को प्राप्त नहीं कर सकता फिर भी मोक्षेच्छु किसी प्रकार निराश न हो प्रयत्न न छोड़े। विष्णु की विषयाकार रूप माया सुदुर्जय है। केवल भगवान् की शरण लेकर ही सम्पूर्ण विषयों को

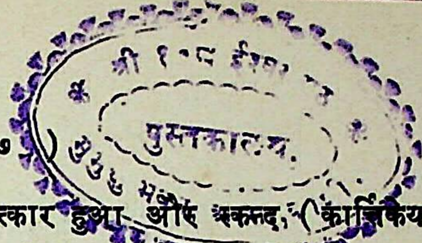
माया रहित बुद्धि से सबको देखे। मोक्ष में सहज विषयवृत्ति बहुत बाधक है। अतः मनुष्य प्रभुपद पद्मपराग का लोभी भ्रमर होकर इन तुच्छ विषयवासनाओं से अपना मन हटा ले और सत्सङ्ग-सेवन, गुरूपदेश एवं शास्त्रचिन्तन द्वारा अपना कल्याण साधन करे। इस विषय में नरनारायण द्वारा नारदजी को जो उपाय बतलाया गया उसका विवरण दिया। नारदजी का नरनारायण से एक ही प्रश्न था कि कलिकाल में सर्वत्र भोग, राग, द्वेष, काम, क्रोध, शोक और मोह इनमें पड़े हुए मनुष्यों के उद्धार का क्या उपाय है। नरनारायण बोले कि यद्यपि जो कुछ कहा जारहा है वह सब गोप्य है फिर भी जगत् कल्याणार्थ योग्य अधिकारी आपको (नारदजी को) कहा जाता है। वाराणसी नगरी सम्पूर्ण देवगण, ब्रह्मा, विष्णु महेश, गणेश और सम्पूर्ण मुनिगण से सेवित है। सभी परमानन्द के अभिलाषी साधु पुरुष इस पुरी में आते हैं। यह अपने प्रभाव से ही आनन्दवन नाम से विख्यात है इसे ही नारायणावास, रुद्रावास और ब्रह्मावास नाम दिया गया है। काशीपुरी धन्य है जिसमें निवास करनेवाले प्राणीमात्र को मोक्ष प्राप्ति के साधन पद-पद पर मिलते हैं। अहो ! काशी ही निष्पाप पुरुषों के उद्धार का एकमात्र उपाय है जहां भगवान् की प्रगति में शास्त्र शरण होकर व्यक्ति धर्म की महत्ता से परमपद के अधिकारी होते हैं। जितेन्द्रिय होना ही सुतपस्या है, स्वभार्यागमन ही ब्रह्मचर्य है तो भगवन्नाम ही सब दुःखों से छुटकारे का एकमात्र साधन है। कामादि पर विजय प्राप्त करने के उपाय पूछने पर नरनारायण भगवान् ने कहा कि सर्व प्रथम काशी माहात्म्य का श्रवण कर काशी में प्रेम करे, फिर क्रोधादि पर विजय करे और शास्त्रादि श्रवणकर शङ्कर में मेरे में या भगवती में मन लगावे तो मनुष्य को एक ही जन्म में निर्वाण प्राप्त होजाता है इससे अधिक सुगम उपाय और कोई नहीं है। इसलिये सदाचारी भगवद्भक्तिपरायण साधक मुमुक्षु को काशी सेवन द्वारा परमार्थसाधन आवश्यक रूपसे साध्य है। फिर नारदजी प्रसन्न हो बिदा लेकर चले गये।

कपिल ने सिद्धों को काशी ही एकमात्र अपने परमार्थ लाभ के साधन की भूमि बतलाकर कहा स्वधर्माचरण युक्त हो साधन करने से शास्त्र-श्रद्धा और त्याग, शम, दम, तितिक्षा तथा उपरति का सद्गुरु की शरण से सेवन करने से अवश्य ही सत्फल मिलता है इसी प्रकार पापों के करने से भी कुफल शीघ्र ही मिलता है। इस पर सिद्धों ने पूछा कि काशी में किये गये पापों से मनुष्य का छुटकारा तथा अपने जीवन में उसके मोक्ष तथा जीवन सुख का क्या उपाय है ? तब श्री कपिल ने शङ्कर पार्वती के सम्वाद को लेकर सारा वृत्तान्त वर्णन किया। पार्वती के प्रश्न पर शङ्कर ने कहा कि ज्ञान में, अज्ञान में मनुष्य से इन्द्रियों द्वारा संस्कारवश सुकृत एवं पाप तो होते ही हैं। मन की गति गहन है सो प्रायश्चित्तत्रय करने से मनुष्य बन्धनों से छुटकारा पा जाता है। इसपर पार्वती ने तीन प्रायश्चित्तों की बात पूछी। शङ्कर भगवान् ने प्रथम प्रायश्चित्त वापी, कूप, और तड़ाग आदि जल के स्थानों का जीर्णोद्धार करना बताया इससे जल के आधार पर जीवित रहनेवाले प्राणियों के उद्धार के साथ साथ पितरों की अक्षय्य तृप्ति होती है। काशी के निवासी आकीट पतङ्ग शङ्कर भगवान् की साक्षात्प्रतिमूर्त्ति हैं। अतः इससे शङ्कर की साक्षात् सेवा है। काशी में धर्मपथ नाम का एक वैश्य अत्यन्त धार्मिक वृत्ति का था। उसने वायव्य कोण में एक तालाब खुदवाया उसकी धर्मवृद्धि आशातीतरूप में होने लगी। काल की गति विचित्र है। दुर्भिक्ष से पीड़ित वह वैश्य निर्धन हो गया और एक ब्राह्मण का कर्जदार हो गया। ब्राह्मण ने अपना

धन मांगा तो वैश्य ने अपनी हीन अवस्था का परिचय देकर विवशता प्रगट की। तब ब्राह्मण ने उसके बनाये हुए तड़ाग को अपने नाम से प्रसिद्ध करने को कहा। वैश्य तैयार होगया। ब्राह्मण ने अपने जातिबन्धुओं को बुलाकर एकत्रित किया और धर्मपथ के द्वारा कर्ज न चुकायेजाने की बात कहकर ब्राह्मणों के सामने धर्मपथ ने ही उससे छुटकारा पाने का उपाय पूछा। ब्राह्मणों ने अपने वक्तव्य में उस लेनदार ब्राह्मण से उचित न्यायसङ्गत बात मानने का वचन मांगकर एक बड़ी शिला मंगवाई और यह शर्त रक्खी कि जितने मूल्य के रूप में पशु-पक्षी मनुष्यों ने इस तालाब का पानी पिया है तबतक शिला नीचे डूबती रहे और मूल्य पूरा होने पर यह ऊपर आजावे यह कह शिला को जल में डाल दिया। इसी समय एक बछड़े के साथ प्यासी गाय आई और उसने तृप्ति पर्यन्त जल पिया। अब वह शिला तत्क्षण ही जल के ऊपर आगई। बस धर्म के गौरव के सामने उसकी अवस्था लघुतर होगई और तुम्बी के समान जल के उपरि भाग में शिला तैरने लगी। लोगों ने इस आश्चर्य को अपनी आंखों से देखा। इस धर्म की विचित्र सृष्टि का रहस्य बतलाने पर पार्वती ने शङ्करजी से तड़ाग आदि के उद्धार पर ही विशेष जोर क्यों दिया गया यह पूछा तो शङ्कर बोले कि काशीक्षेत्र में सर्वत्र ही शङ्कर भूमि के अणु परमाणु में व्याप्त है। अतः कोई भवन आदि नूतन रूप में बनाने के स्थान में पहले के बने टूटे फूटे धर्मस्थानों का विशेष रूप से जलाशयों का जीर्णोद्धार विशेष इष्ट है। इससे न तीर्थ को खोदना होगा न ज्योतिर्लिङ्गों की प्रतिष्ठा को कोई घात ही। मूल धर्मस्थानों का इसीलिये जीर्णोद्धार धर्म की वृद्धि करता है। काशी में बुद्धिपूर्वक किये गये पापों के पापी के मरने पर उसे पिशाच योनि प्राप्त होती है इसकी जिज्ञासा करने पर भूतभावन महेश्वर बोले कि इस पिशाच योनि से बचने का काशी की सत्कथा को सुनना ही एकमात्र उपाय है, कारण बिना इस महत्त्वपूर्ण कथा को सुने मनुष्य को पाप-पुण्य का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं होता अतः भोगादि वृत्ति से निवृत्ति प्रधान मार्ग लेकर साधक मुमुक्षु लोग भगवती

काशी की शरण हो अपना उद्धार करते हैं अन्यथा कालभैरव भैरवी यातना द्वारा उसे पापों से छुड़ाते हैं। इस अध्याय के सुनने और सुनाने के माहात्म्य का वर्णन।

पार्वती ने भगवान् शङ्करजी से विषयासक्त, कामी, पापी, धनलोभी पुरुषों के लिये उद्धार का उपाय पूछा तो शङ्करजी ने क्षेत्रकृत पाप करनेवाले मनुष्यों के लिये उद्धार का दूसरा प्रायश्चित्त बताया। उन्होंने शिवभक्त तपस्वी, मुनियों में श्रेष्ठ जैगीषव्य द्वारा शिष्य के लिये अनुग्रहार्थ उद्धार का जो उपाय पूछा गया, वह कहा। शङ्करजी ने उनके नियत अभिवादन और स्तुति से प्रसन्न हो उसे अपना इष्ट मन्तव्य सुनाने को कहा। जैगीषव्य बोले कि यह शिष्य काशी में रहकर भी सभी अवगुणों में बुरी तरह फंस गया है। इसे जो आवश्यक ताड़ना दी गई उससे कोई सुधरने का मार्ग न देखकर अब मैंने इससे बोलना भी बन्द कर दिया है। उसे जब बाहर निकलजाने को कहा गया और श्राप देने की धमकी दी गई तो वह विन्ध्यपर्वत की गुफा में जाकर तप करने लगा। वहां तीन वर्ष तक तप करने पर भी उसके मन को परितोष नहीं हुआ तो गोदावरी भीमरथी में आया वहां भी स्वधर्मानुचरण के फल का लाभ मनःशान्ति न हुई। फिर श्रीशैल पर स्कन्द की आराधना करने लगा उसे वहां अगस्त्य नाम के ब्राह्मण के मुख से हा काशी! हा काशी! ऐसा काशी के विरह में कातर स्वर से पुकार सुनाई पड़ी। अब उस काशी नाम के प्रभाव से



उसे अगस्त्य और स्कन्द दोनों का साक्षात्कार हुआ और स्कन्द (कार्त्तिकेय) ने उस आगत काशीविरही ब्राह्मण की यथोचित अर्घ्यपात्रादि से सत्कार द्वारा प्रशस्ति की। उसके काशीप्रेम की प्रशंसा कर उससे कुशल प्रश्न किया और अपने करने योग्य कोई काय के लिये पूछा। अगस्त्य ने शीघ्र काशी प्राप्ति के लिये आग्रह किया। इसपर कार्त्तिकेय ने विघ्न बहुलता होने से काशी विरह हुआ है। उसका अन्त होनेपर उसे शीघ्र ही काशी प्राप्ति होगी ऐसा कहा। आगे कार्त्तिकेय ने कहा पुण्यशील व्यक्ति को काशीलाभ मिलता है। काशी जनताप शान्ति के लिये प्राणिवर्ग को अमृत पिलाने के लिये विश्वनाथ भगवान् ने प्रपा (प्याऊ) बनादी है विश्वनाथ अशरणशरण दयालु हैं जिनकी कृपा से भूमण्डल पर काशी जैसा पुण्यक्षेत्र सर्वथैव विद्यमान है। अगस्त्य के पूछने पर स्कन्द ने काशी में स्थूल या सूक्ष्म किये गये पापों के निस्तार का उपाय एकमेव भगवान् शङ्कर ही जानते हैं। इसपर वह दुःखी होकर फिर शङ्करजी से प्रार्थना करने लगा। शङ्करजी ने प्रसन्न हो अगस्त्य से अतीव गोप्य तत्त्व कहा कि ज्ञान के बिना किसी व्यक्ति का प्रायश्चित्त कोई अर्थ नहीं रखता। काशी में देहाभिमानी व्यक्ति किसी प्रकार रह ही नहीं सकता। अतः काशी ब्रह्मप्राप्ति का एकमात्र स्थान है। दूसरे स्थानों पर ब्रह्महत्यादि पाप करने पर काशीवास से प्रायश्चित्त है। परन्तु काशी में किये गये पापों का तो कोई प्रायश्चित्त नहीं। उन्हें करनेवालों को यातना भोगनी ही पड़ेगी परन्तु काशी के चारों ओर पञ्चक्रोश में विस्तृतक्षेत्र की प्रदक्षिणा और शिव के पाताल से उत्थित शिवलोक से ऊपरतक व्याप्त ज्योतिर्लिङ्ग विश्वेश्वर की प्रदक्षिणा से यह सब पाप भी छूट जाते हैं। पञ्चक्रोश क्षेत्र की यात्रा अनन्त फलदायिनी है। मनुष्यगण अपने सारे जन्मभर काशी में रहकर प्रतिवर्ष विधि-विधान से प्रदक्षिणा करें तो वह सब निष्पाप और जीवन्मुक्त हैं धन्य है काशी की महिमा; धन्य हैं काशीवासी और धन्य हैं उनके प्रदक्षिणादि सत् सुन्दर क्रियाकलाप।

ऋषि कुष्माण्ड के पुत्र मण्डप ने सङ्गदोष से बाल्यकाल से ही वेदाभ्यास करने पर भी काशी में रहकर पाप का आचरण किया। माता-पिता भाई-बन्धु और कुटुम्बियों सब ने ही उसे मना किया। परन्तु उसने किसी की भी एक न सुनी। उसकी यह सब बुरी आदतें अवस्था के साथ-साथ बढ़ती ही चली गईं। एक बार वह राजा के महल में अपने दो-तीन साथियों के साथ घुस गया और सफलता से चोरी कर सुरक्षित धन लेकर बाहर निकल आया फिर वेश्या के घर में उसे रखकर उसी के साथ दिन-रात आहार-विहार करता रहा। एक दिन उसे प्यास लगी और मञ्च के नीचे रक्खे हुए मदिरा के भरे ताम्रपात्र को पानी का भरा समझ उसे पी गया। वेश्या से पूछनेपर उसे पता लगा कि वहां तो सब सुरा रक्खी हुई थी। उसी समय उसके दोनों साथी आये। उन्होंने मण्डप से सुवर्ण मांगा, न देने पर उसे खूब पीटा। उन्हें देने को मण्डप ने वेश्या से धन मांगा तो उसने उलटी डांट बताई। अब तो बेचारे मण्डप को वेश्या के घर से चलेजाने के सिवा और कोई चारा ही नहीं था। ज्योंही वह घर पहुंचा तो पीछे से वे दोनों मित्र लड़के भी उसके पिता और माता के पास आये तथा उनसे सारी कथा अपने पुत्र के सम्बन्ध में कह सुनाई। फिर तो कुष्माण्ड ने उन्हें कहा कि ऐसे विपरीत व्यक्ति को

जो राज्य की सुख-समृद्धि में बाधा देता है, अवश्य राजा के पास लेजाकर दण्ड दिलवाना उचित है। इसपर वे दोनों डरे कि कहीं वह क्षमाप्राप्त साक्षी बनकर राज्य की चोरी का सारा भेद न देदे। तब उन्होंने राजा के पास जाने से मना कर दिया। इसपर कुष्माण्ड ने मण्डप को तिरस्कार के साथ घर से बाहर निकाला। इस बुरे कार्य के प्रायश्चित्त करलेने पर ही तुम्हारा उद्धार शक्य है पिता के इस प्रकार कहते हुए छोड़ देने पर वे दोनों मित्र उसे दूर देश में लेगये और उसे खूब पीटा। जब वह मूर्च्छित होगया तो उसे मरणासन्न समझ वे अस्सी सङ्गम के समीप छोड़ पछतावाकर चलते बने। फिर रातभर सिद्धेश्वर में रहकर भूखे-प्यासे उसी ब्राह्मण कुमार को खोजने के लिये गये कि वह मरा या जीवित है। उनके वहां पहुंचने के पहले ही वह मूर्च्छा से उठा तो देखा सामने ही पञ्चक्रोशात्मक शिवलिङ्ग का शिवजी के माहात्म्य को जाननेवाले भक्त लोग प्रदक्षिणा कर रहे थे। उन्हें देख वह साथ हो लिया उस दिन सभी यात्री कर्दमेश की सन्निधि में टिके। वहां वह भी सत्सङ्ग से वेदशास्त्रों के सार को पीनेवाला साक्षात् मण्डप होगया। उसने रात्रि में भगवान् शङ्कर के सामने जागरण किया और सभी ने उसकी भक्ति की साधुवाद देकर प्रशंसा की। कुष्माण्ड के पुत्र का शिवभक्त होना उचित ही है। उनमें से कोई भी उसके पूर्व वृत्तान्तों से परिचित नहीं था फिर भी सत्सङ्गति का ऐसा विलक्षण प्रभाव हुआ कि पहले बाहर से वह साधुपुरुष दिव्य शरीरवाला था ही फिर अन्तःकरण भी उन यात्रियों के साधुवाद से निर्मल होगया। उसे विश्वास हो गया कि सन्मार्ग से ही योगक्षेम तो चलता ही है। अतः यही एकमेव निश्चय किया कि शिवभक्त सन्त पुरुषों की प्रसन्नता, देह की कोई चिन्ता न होने से ही भक्ति सुन्दर मार्ग है ऐसी ही जीवनचर्या बनाने का प्रयत्न किया जाय। भीमचण्डी पर दूसरे दिन सबके साथ मण्डप ने विश्राम किया और सज्जनों के द्वारा सुन्दर भोजन आदि से सत्कृत होकर रात्रि में देवीजी के सामने सभी ने भी भक्तिभावपूर्वक जागरण कर क्षेत्रमाहात्म्य सुना और सुन्दर शरीरवेषधारी मण्डप ने भी खूब प्रेम से नृत्य

किया। तीसरे दिन वह विशेष संयम से चलते-चलते महादेव, वासुदेव, शिव आदि नामों का कीर्त्तन क्षेत्र के दक्षिण भाग से परिक्रमण करते हुए देहली विनायक पर आ पहुंचा और सबकुछ छोड़ केवल भगवन्नामपरायण होगया। उसे अपने पूर्व कुकृत्यों के लिये बारम्बार पश्चात्ताप होने लगा और केवल भगवान् भूतभावन शङ्कर तथा सर्वतापशमनी भगवती काशी की ही एकमात्र शरण समझ उनसे अपने उद्धार की पश्चात्तापपूर्वकप्रार्थना करने लगा। रामेश्वर में आते-आते उसकी भक्ति प्रवणता का भाव देखते ही बनता था। अब तो वह रामेश्वर और सोमनाथ की पूजनकर बिना कुछ खाये-पीये ही नृत्यगीतादि परायण रहने लगा। उसका जीवन शिव, विष्णु एवं काशी के ध्यानपरायण होगया। उसने वृषध्वज में जाकर विधिपूर्वक कपिला के जल में स्नानकर देवगण की पूजा की फिर विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा के दर्शन किये। मण्डप ने अपना वृत्त सुना उद्धार के लिये सभी यात्री सदस्यों से उपाय पूछा। सबने उसे निष्पाप बताते हुए भगवान् के क्षेत्र की प्रदक्षिणा द्वारा सब ठीक किया गया है ऐसे कह आश्वासन दिया और भगवान् विश्वनाथ का स्मरण करते हुए अपने पिता के दर्शन करने और उन्हें बुलाने के लिये कहा। मण्डप ने जैसे ही घर के दरवाजे पर शिव-शिव, महादेव-महादेव की आवाज लगाई तो उसके पिता ने उसकी माता को भेजा। माता ने अपने पुत्र को देख बिना प्रायश्चित्त ही कैसे तूं आगया यह पूछा तो मण्डप ने कहा कि आप दोनों को सदस्यगण बुलाते हैं आप चलिये। कुष्माण्ड को विश्वास नहीं हुआ। फिर भी वह साथ हो लिया। सदस्यों से सारी बातें जानकर मुक्तिमण्डपिका की बातपूछी तो उन्होंने विष्णुभगवान् को ही प्रमाण बताया। वे भगवान् विष्णु, सूर्य, ढुण्ढिनाथ, दण्डपाणि और भैरव की स्तुति करने लगे सब ने प्रगट हो एकस्वर से पञ्चकोश प्रदक्षिणा करनेवाले के पाप शमन होते हैं यह कहा। भैरव ने विशालाक्षी ब्राह्मणी के स्वेच्छामय जीवन की कथा कही जिसने स्वेच्छाचार से काशी में भी आकर पाप किया। परन्तु किसी ब्याज से पञ्चक्रोश प्रदक्षिणा से

उसका उद्धार हुआ यही मण्डप के उद्धार का भी उपाय है। इसपर सब ने साधुवाद दिया और बिदा ली। इस उपाख्यान को सुन जैगीषव्य मुनि ने शिष्य के साथ ५ दिन तक पञ्चक्रोश प्रदक्षिणा की और स्कन्द के प्रसाद से शिष्य का उद्धार होगया। इस अध्याय के पढ़ने का फल।

भगवती ने पञ्चक्रोश प्रदक्षिणा की विधि पूछते हुए निवास के स्थान, भक्ष्य और अभक्ष्य, सीमास्थित देवों की पूजा, दान आदि के विषय में जानना चाहा जिससे यात्रा पूर्ण होसके। भगवान् शङ्कर ने आश्विन आदि तीन मासों में क्षेत्र प्रदक्षिणा का महत्त्व बताया या माघ, फाल्गुन, चैत्र एवं वैशाख इन चार मास में प्रदक्षिणा करने का विधान बताया। पूर्व दिन ढुण्ढिराज की पूजन कर केवल हविष्य का भोजन (फलाहार) ही करे। दूसरे दिन प्रातः गङ्गा में स्नान कर विश्वनाथ की पूजा करे फिर भगवती अन्नपूर्णा और विश्वनाथ की यात्रार्थ पूजा करे मुक्तिमण्डपिका में जाकर प्रजातवाक् काय मन से उत्पन्न ज्ञात अज्ञात अपराध एवं पापों की मुक्ति के लिये सम्पूर्ण पञ्चक्रोशस्थित ५६ देवगण १२ सूर्यों सहित नृसिंह केशव सहित नानावतारों के देवगण और शक्ति सहित ज्योतिर्लिङ्ग की पूजा करता हुआ क्षेत्र प्रदक्षिणा करूँगा यह सङ्कल्प करे। फिर ढुण्ढिराज गणेश को मौन होकर प्रणाम कर पञ्चक्रोश की यात्रा निर्विघ्न करने के लिये उनसे आज्ञा मांगे। मोद, प्रमोद, सुमुख, दुर्मुख एवं गणनायक को

प्रणाम कर षोडशोपचार से पूजन करे और दण्डपाणि की पूजा करे। कालराज और विश्वेश्वर की पूजा कर मणिकर्णिका में जाकर स्नान कर मणिकर्णीश महादेव का पूजन करे। वहीं तट पर गङ्गा, केशव, ललिता, जरासन्धेश्वर, सोमनाथ, दाल्भेश्वर शूलटङ्केश्वर, आदि वाराह, दशाश्वमेध के लिङ्ग का वन्दन अर्चन करे। फिर सर्वेश्वर, केदार, हनुमदीश सङ्गमेश, लोलार्क अर्कसव्ङ्ग-कगणाध्यक्ष की असि सङ्गम पर पूजन करे। क्षेत्र प्रदक्षिणा में कोई भी स्थान बिना दर्शन किये न छोड़े। दुर्गाकुण्ड पर स्नान कर दुर्गविनायक का पूजन करे। वहां पर भगवती दुर्गा की पूजा कर मधु, पायस और लड्डुओं से ब्राह्मणों को तृप्त करे। रात्रि में पुराण श्रवण, श्रीभगवन्नाम का सङ्कीर्त्तन भक्तिपूर्वक करे और परोपकार में अपनेको लगावे फिर प्रातः नित्यकर्म कर भगवती का पूजन करे विष्वक्सेन को पूजे और कर्दमेश की पञ्चधान्यों से पूजा करे। आदि में कर्दम तीर्थ में स्नान कर कूपावलोकन करे एवं सोमनाथ, विरूपाक्ष और नीलकण्ठ की अर्चना करे। वहां कर्दमेश्वर में स्नानादि से निवृत्त होकर होम एवं ब्राह्मणों की श्रद्धाभक्ति से भोजन आदि से तृप्ति करे तथा श्राद्धादि करने से तीन ऋणों (देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण) से उऋण होजावे। प्रातःस्नान कर कर्दमेश्वर का पूजन कर पुनर्दर्शन के लिये आज्ञा ले आगे बढ़े। नागनाथ, चामुण्डा, मोक्षेश और करुणेश्वर, वीरभद्र, विकटा नाम की दुर्गा, उन्मत्त भैरव और कालकूट का पूजन वन्दन करे। विमला नामक दुर्गा को प्रणाम कर महादेव के यहां दर्शनार्थ जावे। नन्दिकेश, भृङ्गिरिटि, गणप्रिय, यज्ञेश, विमलेश्वर, मोक्षद औरअमृतेश्वर का पूजन करे। गन्धर्वसागर पारकर भीमचण्डी में जावे। वहां स्नान कर दुग्ध से भीमचण्डी को स्नान करा पूजन करे और योग्य ब्रह्मवित् विद्वानों को भोजन से तृप्त कर चण्डविनायक में निवास करे। रविरक्ताक्ष, गन्धर्व और नरकार्णव तारक शिव का पूजन कर रात्रि में जागरण से भक्तिपूर्वक सङ्कीर्त्तन हरिकथा आदि करे। प्रातः पूजन कर महाभीम देवस्थान में जावे। यहां

तिलों को छोड़ता जावे। भूतनाथ, सोमेश की सिन्धु के तटवर्त्ती होने की भावना रख पूजन करे। वहां कामेश, गणेश्वर, वीरभद्र, चारुमुख एवं गणनाथ का पूजन करे फिर विघ्नों के समूह को नाश करनेवाले देहलीश के यहां जावे। इन्हें लड्डू, लाज, (खील) सत्तू तथा ईख के दण्ड (गन्ना) से पूजन करे उन्हीं के पास १६ विघ्ननाथों को पूजे। उद्दण्ड गणपति उत्कलेश्वर की पूजन करते हुए रुद्राणी भगवती की तपोभूमि का दर्शन लाभ करता हुआ रामेश्वर मेंजावे यहां वरुणा में स्नान कर तर्पण आदि कर भगवान् रामेश्वर की श्वेत (सफेद) तिल, विल्वपत्र आदि से पूजन कर वहीं पर नाना दिशाओं में विराजमान सोमनाथ भगवान् का पूजन करे। भरतेश, लक्ष्मणेश्वर शत्रुघ्नेश्वर, द्यावा भूमीश्वर नहुषेश्वर की पूजा करे। वहीं रात्रि भर रहकर जागरण करे। प्रातः स्नान कर फिर भगवान् रामेश्वर का पूजन कर वरणा पार के सम्पूर्ण देवस्थानों का दर्शन करता हुआ देवसङ्गेश्वर में दान आदि देकर क्षेत्र के बीच में विराजे हुए पाशपाणि तथा विनायक का पूजन करे और क्षेत्र के बाहर पृथ्वीश्वर को पूजे। स्वर्ग भूमि और मोक्ष भूमि क्षेत्र के मध्य जो स्थित है यह कपिल क्षेत्र है। यहां वृषभध्वज का पूजन करे यहां तर्पण श्राद्ध का विधान बहुत फल देनेवाला है। यहां भी एक दिन-रात निवास कर जागरण आदि करे फिर ज्वाला नृसिंह में जावे और कपिल सरोवर की प्रदक्षिणा कर वरुणा को पारकर सङ्गम में स्नानकर आदिकेशव भगवान् का पूजन करे। वहां जौ विखेरते हुए चलना आवश्यक है। इसके वाद प्रह्लादेश्वर, त्रिलोचन, विन्दुमाधव, पञ्चह्रद, गभस्तीश और मङ्गलागौरी का पूजन करे। फिर वशिष्ठ वामदेव, पर्वतेश्वर, महेश्वर, सिद्धि विनायक और सप्तावरणग गणनायक, सब का पूजन कर मणिकर्णिका में स्नान कर भगवान् विश्वनाथ के यहां आकर पञ्चोपचार से पूजन करे। यहां मुक्तिमण्डप में आकर विष्णु, दण्डपाणि, ढुण्ढि, भैरव, आदित्य तथा पांच गणपों का फिर पूजन करे और यथाशक्ति पञ्चक्रोश

प्रदक्षिणा की साङ्गतासिद्धि के लिये क्षमा याचनापूर्वक दान देवे। घर जाकर ब्राह्मणभोजन करावे। पञ्चक्रोशी प्रदक्षिणा का माहात्म्य और श्रद्धा द्वारा ही यात्रा काल का निर्णय (जब श्रद्धा का उदय हो तभी पञ्चक्रोशी यात्रा करे)।

श्रीदेवी पार्वती ने पञ्चक्रोशी यात्रा के नियमों के विषय में पूछा। महादेवजी बोले यात्रा करनेवाला प्रतिग्रह, परान्न, परस्त्री के साथ संभाषण, परधनग्रहण और स्नेह से कुत्सित वार्ता को भी त्याग दे। पापियों का संग न करे इससे सम्पूर्ण कार्य निष्फल होजाते हैं। विष्णु एवं भैरी (शिव की) निन्दा करनेवालों के साथ न जावे। दूसरे की निन्दा एवं परद्रोह न करे। गुरु-निन्दा, शास्त्र-निन्दा, शिवधर्म, महात्मा, तीर्थ, लिङ्ग और तपस्या की निन्दा न करे। अन्यत्र पाप किया हुआ इस क्षेत्र की परिक्रमा करने से नष्ट होजाता है परन्तु क्षेत्र की प्रदक्षिणा में किया हुआ पाप कोई नष्ट नहीं करसकता। परमतत्त्व के ज्ञान की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, एवं अन्त्यजों को क्षेत्र प्रदक्षिणा करनीं चाहिये। क्षेत्र यात्रा के दिनों में ब्राह्मण, दीन, अनाथ पङ्गु एवं अन्धों को कुछ देता रहे तथा पृथ्वी पर शयन करे; तैल एवं मांस आदि भक्षण न करे। माषान्न (उड़द) मसूर, चना, कोदों, ताम्बूल, मैथुन एवं अन्य भोगों का त्याग करे। दोनों वक्त स्नान एवं नित्य श्राद्ध करे। यहां पर जो किया जाता है उसका कोटिगुणा फल होता है। अन्यक्षेत्र में किया हुआ पाप पुण्यक्षेत्र में नष्ट होजाता है पुण्यक्षेत्र में किया हुआ वाराणसी में और वाराणसी में किया हुआ अन्तर्गेह में नष्ट होजाता है परन्तु अन्तर्गेह में किया हुआ पाप वज्रलेप होजाता है। उस वज्रलेप पाप को मिटाने के लिये यह पञ्चक्रोश की प्रदक्षिणा बतलाई है। यह काशीक्षेत्र सम्पूर्ण प्राणियों के लिये

सिद्धिप्रद है। श्री देवी ने पूछा हे महेश ! प्रदक्षिणा का क्रम क्षेत्र के बाहर से अथवा मध्य से है नियम का भङ्ग न हो और पाप नष्ट हों क्योंकि शरीरधारियों के पाप का सम्बन्ध सर्वदा ही रहता है और जिनकी शक्ति पञ्चक्रोश यात्रा करने की न हो उनका पाप कैसे नष्ट हो सो कहिये। महादेव बोले स्नानकर विश्वा के साथ विश्वेश की पूजाकर मोदादि पञ्चक, ढुण्ढिराज, दण्डपाणि, भैरव और दुर्गा की पूजाकर सात आवरण विनायकों में, बहिरावरण में विद्यमान सिद्धिविनायक की दक्षिणा से परिक्रमा कर अर्कविनायकादि सर्व-विनायक पर्यन्त सातों को बाईं ओर छोड़ परिक्रमा करे। जहांपर अधिक श्रद्धा हो वहां एक रात्रि अथवा दो या तीन रात्रि रहे। दण्डपाणि की नित्य पूजा करे। इससे परिक्रमा सफल होती है। परिक्रमा समाप्ति कर विश्वनाथ की पूजा पूर्ववत् करे। देवी ने पूछा यात्रा करनेवालों के लिये दण्डपाणि की पूजा नित्य ही बतलाई इसका कारण कहिये। श्री शिव बोले काशी में आकर बाहर नहीं जाना चाहिये ऐसा मेरा वचन सुन दण्डपाणि वहीं रहने लगा। फिर कालान्तर के बाद नारदादि ऋषियों ने मेरे से पूछा तो मैंने सुदुर्लभ प्रायश्चित्त बतलाया। इस यात्रा का प्रवर्त्तक दण्डपाणि ही हैं। इसलिये उसकी पूजा नित्य ही आवश्यक है। फिर मैंने दूसरी क्षेत्र यात्रा बतलाई एक पञ्चक्रोश-यात्रा और दूसरी वाराणसी-क्षेत्रयात्रा। तीन प्रदक्षिणा करने से मनुष्य जीवन्मुक्त होजाता है। क्षेत्र प्रदक्षिणा के क्रम का वर्णन। पञ्चक्रोशी यात्रा का विस्तृत वर्णन संस्कृत टीका में किया गया है इसका सविस्तर वर्णन वहीं पर सेतुबन्धा टीका में देखने योग्य है।

पार्वतीजी ने इस रहस्ययुक्त यात्रा के विषय में अपना सब कुछ समाधान कर फिर यह जानना चाहा कि जो व्यक्ति धनी है परन्तु शरीर से अशक्त जैसे लूले, लङ्गड़े, शक्तिरहित, रोगग्रस्त हैं उनके लिये प्रायश्चित्तरूप में काशीस्थ पञ्चक्रोश यात्रा के फल का सुगम उपाय क्या है? इसपर भगवान् महादेव बोले कि धर्म की गति सूक्ष्म है। इसमें देश, काल और पात्र के अनुसार थोड़ा भी श्रद्धा से किया हुआ अधिक फल देनेवाला होता है। अतः ऐसे प्रायश्चित्त करने की इच्छावाले धनी असमर्थ लोगों को इस क्षेत्र के उन देवस्थानों का जीर्णोद्धार या जिन लिङ्गों के ऊपर छत आदि न हो उनका निर्माण करावे अथवा नूतन शिवजी के मन्दिर बनावे तो सारा प्रायश्चित्त होकर उन्हें मोक्ष का लाभ होता है। शिव या विष्णु की मूर्त्ति की प्रतिष्ठा का काशीक्षेत्र में विशेष माहात्म्य है तथा वेदवित् शिव, विष्णुभक्त विद्वान् को सारी सामग्री से पूर्ण घर देना विशेष रूप से फल देनेवाला है।

पार्वती के एक और प्रश्न पर भगवान् शङ्कर ने ब्राह्मण को गृहदान देने का विशेष फल बताया और उन्होंने सूर्यवंशी किसी महातेजा क्षत्रिय का आख्यान बतलाया जिसने व्यापार में खूब धन कमाकर अपना सामाजिक स्तर बनाया दैवात् उसे स्त्री वियोग होगया और वह दासीगामी बन गया। अब वह काशी में रहकर वणिग्वृत्ति से धन बटोरने लगा और उसे व्याजपर वहां ब्राह्मणों को देने लगा। इसके साथ ही और भी कई पाप छिपे-छिपे करता रहा। उस दासी के कोई सन्तान न हुई। वह धर्मपरायणा उस कृपण को धन के सदुपयोग के लिये बहुत समझाती परन्तु वह मानता नहीं। बाहर के वातावरण में अपनी अपकीर्त्ति से उस दासी को गहरी चिन्ता व क्षोभ हुआ। एक दिन बिना भोजन बनाये ही वह भूमि पर लेटी हुई चिन्ता करने लगी और अपने मन में दान की प्रशंसा करती रही। इतने में वह दासीरत क्षत्रिय घर में आया। घर को बुहारा हुआ न देख उसने दासी से इसका कारण पूछा और अपने खाने के लिये मांगा तो दासी ने अपनी बीमारी का बहाना कर भोजन न खाने तथा भोजन में धन का व्यय होता है ऐसा कटाक्ष किया। महातेजा क्षत्रिय ने दासी को धनार्जन का प्रयोजन बताया। परन्तु मानवती दासी चुपचाप लेटी रही। फिर ज्यादा अनुरोध करनेपर वह दासी बोली कि यदि मेरे से व्यवहार रखना इष्ट है तो आप जहां भगवान् शिव और विष्णु की पवित्र धर्मकथा होती है वहां प्रतिदिन जाकर सुनिये वह इतना तो मान गया परन्तु दान के लिये कुछ देना पड़े इसी डर से वह अबतक नहीं गया। इस तरह दासी को समझाने लगा परन्तु वह अपने मान पर अड़ी रही। विवश हो वह तैयार होगया और अपनी दासी को भोजन बनाने को कहकर त्रिलोचन तीर्थ के पास भक्तमण्डली की कथा सुनने चलागया। वहां धर्म के लिये व्यय होनेवाले धन का सदुपयोग व धर्म सुख की प्राप्ति का कारण है तथा अर्थ व काम के वासनावश धन का दुरुपयोग व उससे नारकीय योनियों की प्राप्ति का प्रकरण चल रहा था।

धन के सदुपयोग और उससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति का कल्याणदायक उपाय सुनकर वह चकित और हतप्रभ हुआ और कथा की समाप्ति पर अनमना होकर घर लौटा। घर आनेपर दासी ने भोजन तो बनाया नहीं था अतः उसके सत्त्व की परीक्षा लेने की मनमें ठानी और महातेजा ने गरम जल से स्नान कर अपने हाथों ही माषान्न पकाया। उस अन्न के तैयार होने पर महातेजा ने उसको अतिथियों के खिलाये बिना न खाने का आग्रह किया। जैसे ही वह दासी बाहर गई तो कई भिखमंगे उसने देखे। परन्तु विशेषरूप से बुलाने पर भी कोई उस कृपण का अन्न खाने को तैयार न हुआ। यह बात जैसे ही दासी ने उस क्षत्रिय से कही तो उसे लज्जा एवं दुःख हुआ। फिर उसने भोजन करते-करते बिड़ाल, कुत्ते और कौओं आदि को बुलाया परन्तु वे डर के मारे पास में नहीं आये। इस प्रकार कथा सुनने के पहले दिन उसने और दासी ने ही भोजन किया। फिर वह अपने व्यापार की बात कर रात्रि में अपने पूर्वजीवन का अन्तर्निरीक्षण कर उद्विग्न हो पश्चात्ताप के साथ चिन्ता करने लगा। दासी के द्वारा इस प्रकार की चिन्ता के लिये क्या धन की चिन्ता से दुःखी हो कटाक्ष करने पर भी उसने कोई उत्तर न दिया। फिर प्रातः उठते ही गङ्गा में स्नान करने के लिये गया और फिर धर्मकथा सुनने गया। वहां शान्तव्रत नामक भगवद्भक्त नाना प्रकार की कथा कह रहे थे। उन्हों ने प्रकरणवश काशी-माहात्म्य बताते हुए काशी-वास नानाजन्मों के पुण्यों से होता है यह बताकर कहा कि पापी के पापों का नाश काशी के दर्शनमात्र से हो जाता है। वह पूर्वजन्म के पुण्यों से शुद्ध मनवाला होता है। यदि यहां भी पापकर्म में प्रवृत्त होकर जन्म को व्यर्थ खोता है तो भगवान् त्रिलोचन उसका शासन करते हैं। काशी का उपकार प्राणीमात्र पर बहुत बड़ा है। जो इतना अवसर पाकर भी भगवती काशी का आनन्द लाभ नहीं करता वह अधम है आदि-आदि। इस कथा का उस महातेजा कृपण क्षत्रिय पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उसने पुनः श्रद्धायुक्त होकर गङ्गा में स्नान कर

भगवान् विश्वनाथ की वन्दना स्तुति की और घर में आया। भिक्षुक लोगों को भिक्षा देने के लिये बुलाने लगा परन्तु वे पतित भी ऐसे धनान्ध व्यक्ति की भिक्षा लेने को तैयार न हुए। बेचारे ने दूसरे दिन भी ऐसे ही दासी के साथ देवगण की पूजन कर भोजन किया। वह अपनी दासी को धर्मकथा के लिये की गई प्रेरणा पर साधुवाद देने लगा। तीसरी रात को पहले प्रहर में उसे मानसिक ग्लानि और पश्चात्ताप पहले से बहुत अधिक हुआ और उन्निद्र होकर शिव-शिव की करुणा भरी रट लगाता हुआ अपने किये पर अधिक पश्चात्ताप करने लगा। तीसरे दिन भी स्नान कर विश्वनाथ की पूजा के बाद सत्सभा में हरिकथा सुनने आया। शान्तव्रत ने फिर काशी, काशी सेवन एवं काशी में रहकर दान देने का अपूर्व माहात्म्य कहा। अब तो वह व्याकुल मन हो सबके सामने गिड़गिडा कर अपने दुष्कृत पापों के छुटकारे के लिये उपाय पूछने लगा। उन्होंने प्राचीनकाल में ऋषियों और भगवान् शङ्कर के बीच हुए वार्त्तालाप का उद्धरण देकर उसे काशी में किये गये पापों का प्रायश्चित्त का उपाय बतलाया। वह बोले "अच्छे ब्राह्मण को उपस्कर (सामग्री) सहित सुन्दर निवास योग्य घर देना, देवालय बनाना उनका जीर्णोद्धार करना आदि अन्तर्गृह क्षेत्र में सुन्दर घर बनाकर ब्राह्मण को दिया जाय तो शङ्कर भगवान् के मन्दिर के समान ही फल होता है"। इतना सुनकर महातेजा ने अपने धन से सुन्दर निवास योग्य गृह बनाकर सत्पात्र को देकर अपना जीवन का उद्धार किया। इस आख्यान के सुनने का फल। यहां छठे अध्याय से आरम्भ श्रीकपिल एवं सिद्धों का सम्वाद पूर्ण हुआ।

ऋषियों ने सूतजी से पूछा कि काशी में अनन्त तीर्थ होने से उनके जानने से तीर्थक्षेत्र की प्रदक्षिणा करते हुए इनके दर्शन का लाभ लिया जावे तो ठीक है अन्यथा यात्रा सोद्देश्यक नहीं है। तब सूतजी बोले कि सर्वप्रथम अविमुक्त में रहकर गङ्गास्नान करे मध्याह्न में मणिकर्णिका का आनन्द ले। प्रातः फिर पञ्चनद में भक्ति-पूर्वक स्नान करे फिर आदिकेशव भगवान् का स्थान जहां वरुणा श्री गङ्गाजी से मिली है। असि सङ्गम भी इसी प्रकार महत्त्वपूर्ण है। गङ्गा के किनारे अनन्त तीर्थ हैं उनमें नौ उषर हैं रेणुका, सूकर, काशी, काञ्ची, काली, नरेश्वर, कालञ्जर एवं महाकाल नौ अरण्य और नौ नाग प्रसिद्ध हैं। सप्तपुरी आदि के विषय में पूछने पर भगवान् के और देवी के बीच हुए वार्त्तालाप को उद्धृत कर सप्तपुरियों का स्थान बताया। शङ्खोद्धार प्रदेश में द्वारका, विन्दुमाधव के पार्श्वस्थित विष्णु-काञ्ची, अर्क से उत्तर वरुणा तक मथुरा, सोमेश्वर के समीप वायुकोण में अयोध्या, असि के सङ्गम के कोण पर हरिद्वार, वृद्धकाल से आगे और कृत्ति-वासेश्वर तक महाकालपुरी उज्जयिनी है। इन सप्तपुरियां की क्रमशः वर्षा, शरत्काल, वसन्त, ग्रीष्म, हेमन्त और शिशिर की ऋतुओं में यात्रा करना सर्वफलदायक है। पार्वतीजी के द्वारा सप्तपुरी का यह विभाग कब से किया गया ऐसा पूछने पर पशुपतिनाथ भगवान् ने प्राचीनकाल में देवगण एवं ऋषियों के बीच हुए सम्वाद का विवरण दिया और कहा कि सबने एक स्वर से जीवों की मुक्ति, पापक्षय तथा दुःख-निवृत्ति और सुख प्राप्ति का उपाय जानना चाहा

प
२२४

तब भगवान् विष्णु ने सप्तपुरियों को मोक्षदायक कहा और ब्रह्माजी ने उनके इस सूत्रभूत कथन का बृहत् भाष्य किया और काशीपुरी में इन छवों के साथ जो विलक्षण योग होकर यहां अमित प्रभाव दिखाता है उसका विस्तार से निरूपण किया। शङ्करजी द्वारा सन्देह दूर होने पर देवगण का स्वस्थान जाने का वर्णन और सारी स्थिति जानने पर शौनकजी ने अन्यतीर्थों के विषय में जब जानना चाहा तो सूतजी ने अविमुक्तेश्वर, विश्वेश्वर, मणिकर्णीश्वर, केदारेश, कृत्तिवास, वृद्धकालेश्वर, चन्द्रेश्वर, ब्रह्मेश्वर, त्रिलोचनेश्वर, ओङ्कारेश्वर, कपर्दीश्वर, धर्मेश्वर, और अविमुक्त क्षेत्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की और संसार ताप से तापित जनता के उद्धार का एकमात्र उपाय काशीसेवन बताया धन्य काशीक्षेत्र और धन्य वहां के देवदर्शन लाभ का माहात्म्य।

ऋषियों ने सूतजी को उनसे अविमुक्तक्षेत्र का अलौकिक माहात्म्य सुनकर अनेकानेक साधुवाद दिया और कुछ विशेष जानने के लिये अनुरोध किया। सूत ने कुरुक्षेत्र में बैठे हुए वैशम्पायन आदि ऋषियों और व्यासजी के बीच हुए महत्त्वपूर्ण वार्त्तालाप का विवरण दिया। एक बार महातेजस्वी स्वायम्भुव मनु अपने तपःपूत जीवनसे दुःखित होकर ब्रह्माजी के यहां गये और ब्रह्मा के पूछने पर अपने वैराग्य का कारण कहा कि काशी में जब सब पापों से छुटकारा होने का सुलभ उपाय है तो मुझे वहां जाने की आज्ञा दीजिये। जैसे ही काशीविषयक प्रश्न का उत्तर देने को ब्रह्माजी सोच रहे थे कि उसी समय पापी पुरुषों का शासन करनेवाला यम भी सेवा में उपस्थित हुआ।

उसने कहा भारत में पापीलोगों के पापों का छुटकारा काशी नामोच्चारण, उसके दर्शन एवं वहां पर स्नान करने मात्र से हो जाता है इसलिये पापियों के शासन की अब कोई आवश्यकता नहीं रही। ब्रह्माजी ने दोनों को साथ लेकर भगवान् शङ्कर के पास जाकर उनकी स्तुतिपूर्वक अपने आने का कारण कहा। ब्रह्मा बाले हे भगवन्! आपको जब आदि सर्ग में अपनी प्रसन्नता व भक्तों पर कृपा करने का कारण पूछा गया तो आपने बताया था कि वेदमार्ग से चलनेवाले व्यक्तियों के ऊपर आपकी पूर्ण कृपा रहती है औरों पर नहीं। अब तो एक नया ही रूप सामने आया है; वह यह है कि जो लोग काशी का नाम लेते हैं व उसे प्रणाम करते हैं; वहां जाकर पूजा, जप, स्नान, परिक्रमा और स्तुति करते हैं वे सभी आपके धाम में स्थान प्राप्त करते हैं इसमें पापाचारी या धर्माचारी दोनों ही समान हैं। भगवान् ने उन्हें अविमुक्तक्षेत्र के परम दुर्लभ से दुर्लभ तत्त्व को समझाते हुए ब्रह्म एकमेव सत्य सनातन हैं माया शबलित ब्रह्म के द्वारा ही यह सम्पूर्ण ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त स्थावर जङ्गमात्मक सृष्टि प्रकाशित हैं। माया के प्रभाव से सम्पूर्ण प्राणिमात्र चित्तविक्षेपयुक्त रहते हैं। केवल यह अविमुक्तक्षेत्र शुद्ध ब्रह्म का निवासस्थान है, इसमें शिव, विष्णु का वास है। अतः यहां रहनेवाले को परमगति उसी प्रकार होती है जैसे गङ्गा में मिले हुए सुरा प्रवाह का रूप भी गङ्गाकार होजाता है। जैसे पारस को छूनेमात्र से ही लोहा सुवर्णमय हो जाता है वैसे ही काशी में सम्पूर्ण प्राणी ब्रह्मरूप हो जाते हैं। ब्रह्मा के यह पूछने पर कि एक ही निरङ्कुश ज्योति तमोगुण से परे है उसका परिच्छेदयुक्त होकर काशी में वास किस प्रकार हुआ, इसपर शङ्करजी ने कहा जैसे तेज महाभूतरूप होने से प्रकाशक है और उपाधिभेद से सूर्य एवं दीपक में उसका भास है, अधिष्ठान के अनुसार वैसे ही हिरण्यगर्भ एवं जीवों में अधिकृत भेद है; यही बात इस अविमुक्त के विषय में समझिये। यहां ब्रह्म का सर्वतोभावेन प्रकाश है इसमें कोई भी शङ्का का स्थल नहीं। बस आज से यही

नियम राजाज्ञा रूप में समझिये जो काशी में स्मरण, पूजन, कीर्त्तन, स्नान आदि कर अपने आत्मशुद्धि के साधनों में प्रवृत्त होता है वह कैसा भी हो ब्रह्मलोक क्या शिव और विष्णुलोक तक का अधिकारी होजाता है। ब्रह्मअग्नि स्वरूपा काशी सभी के ज्ञाताज्ञात पापों का नाश कर देती है। इसको विशेषरूप से बताने और पुष्टि करने के लिये शङ्करजी, ब्रह्माजी, स्वायम्भुव मनु और यमराज को साथ लेकर काशीपुरी में आये और उन्होंने प्रत्यक्ष अपनी आंखों से अविमुक्तक्षेत्र का चमत्कार देखा और कृतार्थ होगये। हरिहरक्षेत्र काशी में यह सब क्रियाकलाप एक अभूतपूर्व आदर्श हैं।

१५ काशीविश्वनाथसन्निधौ हरिहरात्मकेऽभेददर्शने सदृष्टान्त

ऋषियों ने पुनः विशेषरूप से काशीमाहात्म्य के विषय में जानने के लिये सूतजी से अनुरोध किया। सूतजी ने मिथ्या संसार से छुटकारे का उपाय काशी को छोड़ और कोई नहीं इस विषय को लेकर एक आश्चर्यकारिणी कथा कही। मगध देश में बहुत वाद-विवाद करनेवाला ब्राह्मणों को वाद में जीतनेवाला एक द्विज जेता नामक ब्राह्मण रहता था। उसने अपनी विद्वत्ता के बलपर ब्रह्मविद् ब्राह्मणों का तिरस्कार कर अपने मनगढ़न्त सिद्धान्तों द्वारा एक नया ही मार्ग अपनाया। एक दिन किसी ब्राह्मण को वाद में हराकर उसका वाद-प्रहार से तिरस्कार तक उसने कर डाला। एक दिन उसने भूख के मारे बहुत अन्न खाया। वह इन्द्रियलौल्य के कारण ज्वर से पीड़ित होकर परलोकगत हुआ। मरने के बाद ब्रह्मराक्षस हुआ और बहेड़े के वृक्ष पर रहने लगा तबसे उसका नाम विप्रध्रुक् (विप्रद्रोही) ब्रह्मराक्षस नाम होगया। अब भी

उसने अपनी प्रकृति न छोड़ी। बड़े मीठे वचन बोल-बोलकर ब्राह्मणों को बुलाकर वह निर्दय खा जाता था। एक बार कोई पथिक ब्राह्मण उस मार्ग से आगया। ब्रह्मराक्षस ने उससे पूछा कि कौन विद्या पढ़े हो, क्या शास्त्रार्थ कर सकते हो? ब्राह्मण ने शास्त्र सम्पन्न ब्रह्मराक्षस को देख कुछ सोचा और अपने यात्रा-प्रसङ्ग का वर्णन किया आगे काशी जाने का विचार है यह भी बताया कि इस जीवन में काशीवास का लाभकर फिर कोई भी मेरे लिये प्राप्त करने योग्य इष्ट वस्तु न रहेगी। ब्रह्मराक्षस भी काशी जाने को लालायित हो गया। अपना प्रस्ताव ज्योंही उसने ब्राह्मण यात्री के सामने रक्खा उसका अपने आधे पापों से छुटकारा होगया और काशी की महिमा से ब्रह्मराक्षस का भय भी उसे न रहेगा यह सोचकर ब्रह्मराक्षस को साथले वह ब्राह्मण आगे चला। रास्ते में पथिक ब्राह्मण ने उससे सारी पूर्वजीवन की बातें पूछी तो ब्रह्मराक्षस ने आद्योपान्त वृत्तान्त कह सुनाया और इस काशी नाम के सुनाने का श्रेय उसे देते हुए अपने निस्तार का उपाय पूछा। ब्राह्मण ने कहा कि काशी की एक रेणु से मलिन पापी लोग शुद्ध हो जाते हैं तुम्हें इस वज्रलेप पाप से छुटकारा देने को बहुत रेणुकणों से स्नान कराया जावेगा। शोण को पार करने पर उन्हें कहीं से आये हुए पाशुपत मिले और उनके साथ भगवान् शङ्कर की पृथ्वी की मूर्धन्यभूता काशी को देखा। पथिक उस ब्रह्मराक्षस को बाहर ही छोड़ आनन्दकानन में जाकर स्नान कर शङ्कर का ध्यान एवं भक्ति से पूजनकर भस्म का ढेर लेकर ब्रह्मराक्षस के पास आया। उसे उस पांशु की रज से नहलाया और शुद्ध कर काशी में प्रवेश किया। दोनों ने मणिकर्णिका में स्नान कर भगवान् शिव का दर्शन व पूजन किया और शिवभक्ति में मग्न दोनोंही काशी में रहने लगे। अब तो उस ब्रह्मराक्षस का शरीर दिव्य होगया और अपनी पहले की बुरी आदतों को उसने पाप के भय से कभी नहीं दोहराया। आगे भगवती काशी की कृपा से वह अद्वैतमय हो गया। सच्छास्त्र

सज्जन सङ्गति, सद्बुद्धि, और सदाचार इन पांचों को करने से मृत्यु का डर नहीं रहता। बस उस ब्रह्मराक्षस का अविमुक्तक्षेत्र में परमपद का साधन होगया। काशीवास से विद्या सच्ची ब्रह्मविद्या द्वारा अमृतत्व लाभ का साधक अधिकारी होजाता है। आत्माराम तपः पूत महानुभाव भी इसीलिये काशीसेवन करते हैं।

ऋषियों ने नित्य यात्राविधान के प्रसङ्ग में जैसे क्षेत्र में किये गये पाप नष्ट होजायँ और अतुल पुण्य वृद्धि हो यह जानना चाहा। सूतजी ने भगवती और महादेवजी के बीच हुए सम्वाद को लक्ष्य कर उनके प्रश्नों का उत्तर दिया। पार्वती से भगवान् शङ्कर बोले कि प्रातःकाल उठकर ढुण्ढिराज, भवानी, शङ्कर, कालभैरव, दण्डपाणि, गणेश, केशव, आदित्य और चण्डिका को स्मरण एवं नमस्कार कर मनुष्य शौच स्नान से निवृत्त होकर सन्ध्या, तपण करे और भगवान् विश्वनाथ का स्मरण करता हुआ पूजा साधनयुक्त होकर भगवती अन्नपूर्णा के मन्दिर में जाकर आगमोक्त विधान से उनकी पूजा करे फिर ढुण्ढिराज और विश्वनाथ के यहां पूजन कर दण्डपाणि एवं आदित्य, द्रौपदी, विष्णु एवं दण्डपाणि तथा महेश्वर की निर्वाणमण्डप में पूजा करे। फिर भगवान् विश्वनाथ की षोड़शोपचार से पूजा करे। तीन प्रदक्षिणा कर पांच प्रकार से प्रणाम करे। निर्वाण मण्डप में विष्णु भगवान् को नमस्कार कर अन्तर्गृह में बैठकर भगवद्ध्यानपूर्वक विश्राम एवं सत्सङ्ग के लिये बैठे। भगवान् स्वयं काशी

में इन मर्यादाओं का पालन कर कृतकृत्य होते हैं। अविमुक्त क्षेत्र का माहात्म्य वर्णनातीत है। यहां रहते हुए परान्न (दूसरे का अन्न), पर-वाद,- (दूसरे की निन्दा), पर-दार (दूसरे की स्त्री), पर-धन (दूसरे का किसी प्रकार का स्वत्व) परदान, आचारहीनता, द्वेष, अभक्ष्य, आलस्य और दैन्य इन दश दोषों से दूर रहे। यहां दुःख नाम की कोई वस्तु नहीं है परन्तु विषयाकुलचित्त व्यक्ति सदा ही दुःख पाते हैं वैसे भगवान् की शरण होने पर यह दुःख नहीं सताता। फिर देवी पार्वती ने यात्रा विधान के रूप में काशी के क्षेत्र में निवास के विषय में विशेष रूप से पूछना चाहा तो शङ्करजी ने योगेश्वर के लिये यम नियम से प्रवृत्ति, गुरूपदेश, परमार्थ दृष्टि, असत्कथावर्ज्जन, जप, आस्तिकतामयी बुद्धि, शिवनाम कीर्त्तन, आत्मा की शुद्धि, मृदु वचन(मीठा बोलना), शान्ति, सदाचार, जप, दान, कामक्रोधादि से दूर रहना, और मान अपमान से सदा दूर रहकर भगवदर्पण बुद्धि से यहां निवास इष्ट है इनसे मनुष्य कैवल्य मुक्ति का अधिकारी होकर भगवान् विश्वनाथ के परमपद का अधिकारी होजाता है। परन्तु प्रवृत्तमार्ग के लोगों के लिये यह मार्ग उपयोगी नहीं है कारण उन्हें संस्कारवश लोलुपता आदि विघ्न-बाधायें उपस्थित करते हैं। इसी से उन्हे सदा यातनाओं का शिकार होना पड़ता है। मोहमद से युक्त जो मनुष्य पाप करता है उसका निस्तार दुःशक है। काशीक्षेत्र ईश्वर साक्षात्कार का प्रमुख स्थान है यहां रहकर जो मनुष्य जितेन्द्रिय होकर भगवद्भक्ति में मन लगाकर निवास करे और प्रतिग्रह, परिग्रह आदि से दूर रहे तो निश्चय ही मोक्षमार्ग का अधिकारी होता है। देवी भगवान् शङ्कर के द्वारा काशीवास, और उसकी विधि का विस्तृत वर्णन सुन अत्यन्त प्रसन्न हुई और बारम्बार उन्हें प्रणाम करने लगी।

ऋषियों ने भगवान् का ज्योतिर्लिङ्ग पञ्चक्रोशात्मक 'काशी' इस स्त्रीलिङ्ग के नाम से क्यों प्रसिद्ध हुआ यह पूछने पर भगवान् महादेव के द्वारा इसी प्रकार से पार्वती के प्रश्न के उत्तर का जो विवरण काशी के विषय में दिया गया सूतजी ने प्रतिपादन किया। यह ज्योतिर्लिङ्ग शिवशक्त्यात्मक है यह वेदों में प्रसिद्ध है। योनि कारणवीज शक्ति और ज्योतिर्लिङ्ग शिव है। प्रकृति एवं पुरुष के ये रूप पुराणादि में प्रसिद्ध है। शिव ही परमात्मा ब्रह्म, शिव, हरि व परब्रह्म नाम से एवं शक्ति माया, अविद्या, विद्या आदि नाम से प्रसिद्ध है। सदाशिव की जो कोई चैतन्यरूपिणी शक्ति है वही काशी नाम से प्रसिद्ध है। कोई इसे अविमुक्त, पञ्चक्रोशक्षेत्र, रुद्रावास, विष्णुवास और वाराणसी नाम से कहते हैं। परन्तु यह एक ही पूर्ण सच्चिदानन्द सदाशिव के सनातन ज्योतिर्लिङ्ग का वाचक है। भगवान् शङ्कर ने एक वार अपनी शक्ति चैतन्य-रूपिणी को अलग कर दिया वही काशी नाम से विख्यात हुई और शङ्कर के वरदान से क्षेत्रस्वरूपिणी अधिष्ठात्री देवता हुई। पश्चिमाभिमुख गङ्गाकेशव की सन्निधि में यह अविमुक्तेश्वर का स्मरण करती हुई सनातनकाल से उसी रूप में प्रकाशित है। जो द्वादशी को प्रातः उठकर स्नान कर काशी का पूजन करता है उसकी बुद्धि पाप में नहीं लगती और चतुर्विध सृष्टि के प्राणी काशी में ही मुक्ति प्राप्त करते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर भगवान् शङ्कर ने काशीमाहात्म्य को कहते हुए एक बार कलिकाल में धर्मवार्त्ता से रहित

प्राणी वर्ग का काशीक्षेत्र में वास करने मात्र से उद्धार देख देवगण विश्वनाथ के पास आये और उन्होंने सर्वपापनाशिनी इस पुरी के विरुद्ध शिकायत की। तब ब्रह्माजी के प्रश्न पर भगवान् शङ्कर ने कहा कि इस विलक्षणपुरी की क्षमता ही ऐसी है कि यह समस्त पापों को अपने शरण में आये हुए व्यक्ति से छुड़ा देती है। इसको प्रत्यक्ष देखने के लिये जब देवगण शङ्कर के साथ वहां आये तो दीनवदन म्लान मुख कान्तिवाली मूर्त्तिरूपा काशी भी वहां आई और शंकरजी से अपने अभियोग कहने लगी कि भगवन्! अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिये अबतक तो सबका निस्तार आपकी कृपा से किया गया है अब घोर कलिकाल आजाने से मैं आपकी शरण में हूं। अब आप जो उचित हो सो करें। इसपर भगवान् शङ्कर ने सब नियम काशी को सुनाये और कहा कि काशी के बाहर किये पापों का निस्तार काशीसेवन से होजाता है परन्तु काशी में किये गये पापों का तो यातना से ही नाश शक्य है। अतः इस नूतन नियम से सब यथावस्थित ठीक है। ऋषियों द्वारा यह पूछने पर कि काशी में कलि का प्रवेश है ही नहीं तो यहांपर रहनेवाले प्राणियों को कलि क्यों बाधा देता है। इसपर सूत बोले कि कलि का प्रवेश काशी में नहीं होता बल्कि प्राणी के पूर्वजन्मार्जित संस्कारों के वश से उनमें वासना का उदय होता है शुभवासनायें पुण्यजनक होती हैं और अशुभ वासनायें पापजनक। बस, अशुद्ध बुद्धि ही कलि नाम से कहा गया है इससे दूर रहनेवाले व्यक्ति की शुद्ध निर्मल बुद्धि होकर भगवती काशी की कृपा से विश्वेश्वर एवं भगवती के चरणों में दृढ़निष्ठा होकर परमपद की प्राप्ति होती है।

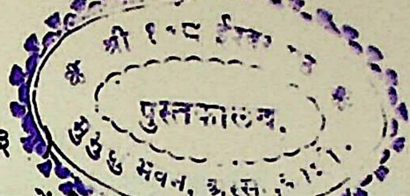
ऋषियों ने सूतजी से भगवान् शङ्कर और काशी के बीच हुए वार्त्तालाप के विषय में प्रश्नकर विशेषरूप से जानना चाहा। सूतजी बोले कि काशी ने पापी लोगों के भार को धारण करने में अपनी अशक्ति बताई और विशेष रूप से काशीक्षेत्र में किये हुए पापों की। इसपर भगवान् शङ्कर ने काशी को आश्वासन दिया कि काशी में पापी पुरुषों की स्थिति भविष्य में नहीं होगी। मेरी आज्ञा से दण्डपाणि उन्हें काशी से बाहर निकाल देंगे। फिर काशी ने उन सज्जन पुरुषों के बाह्यलक्षण पूछे तो शङ्कर ने कहा कि जो व्यक्ति गृह, परस्त्री, धन, पुत्र में रमतेहैं, परमधर्ममोक्ष से विरत रहते हैं ऐसे लोगों के सम्पर्क से सदा ही असद्वृत्त होने का डर रहता है अत; ऐसे लोगों का सम्पर्क दूर से ही टाल देना उचित है। इसपर भगवान् शङ्कर ने विदर्भनगर की किसी वेश्या का दृष्टान्त दिया जो सज्जन पुरुष के दर्शन से विवेक प्राप्तकर वैराग्य से काशी में आई। काशी के पूछने पर शङ्करजी ने कहा कि विदर्भनगर में वीरसेन नामक वासुदेव भगवान् का भक्त राजा राज्य करता था। उसकी प्रजा तथा सभी मन्त्री आदि उसीके समान विष्णुभक्त थे। वे प्रतिदिन पुराणकथाओं को सुनकर अपनी जीवनचर्या आनन्द में बिताते थे। वीरसेन को एक दिन यह विचार आया कि भगवान् विष्णु का साक्षात् स्थान कौनसी पुरी है, इस विषय में उसने

वेदविज्ञ ऋषियों से प्रार्थना की तो सबने कहा कि अन्य पुरियों में भगवान् अंश रूप से स्थित हैं और काशीपुरी में साक्षात् स्वरूप से विराजमान हैं। अन्य पुरियों में भगवान् भक्ति के अनुग्रह कातर होकर रहते हैं, काशी में सभी विष्णु रूप हैं यह चर्चा सर्वत्र नगरी में प्रसिद्ध होगई। वहां एक कामकला वेश्या को भी अपने कुकृत्यों के कारण पश्चात्ताप हुआ और वह बहुत अधिक पूर्वकृत्यों का स्मरण कर अपनी निर्विण्णता को बढ़ाने लगी। उसे भगवती काशी के दर्शनों की उग्र उत्कण्ठा होगई और अपने मन में निश्चय कर ब्राह्मणों से काशी प्रस्थान का शुभ दिन जानकर अपना धन बांटकर दो दास और दासी को साथ लेकर भगवान् केशव का नामोच्चारण करती हुई भक्ति से पवित्र अन्तःकरणवाली वह काशी जानेलगी। कुछ दिन के बाद वह काशी आई। प्रतिदिन भगवान् के नाम का अधिक संख्या के साथ भजन करने से उसके पाप नष्ट होने लगे। काशी आकर उसने मणिकर्णिका में स्नान किया और अपना धन सत्पात्र में दान कर दिया। अब तो उसने अपने केशों को कटवाकर शुद्ध जीवन का व्रत लिया केवल भगवान् का ध्यान करती हुई उनसे दिनरात श्रद्धा की प्रार्थना करने लगी। सर्वत्र केशव का दर्शन उसे होने लगा और हिंसा के डर से उसने कहीं भी आना-जाना बन्द कर दिया। अपने उद्धार के लिये चिन्तित उस भक्तिप्रवरा वेश्या की उन्मत्त से कहीं अधिक दुरवस्था होगई। वह कभी रोती, कभी हँसती, कभी नृत्य करती, कभी हे सखे ! आदि कहकर अपनी पतित अवस्था पर क्षोभ कर भगवान् पतितपावन अशरण शरण केशव को याद करती। उसे एक ही पति भगवान् काशीपति भूतभावन जनार्दन दीखने लगे। ऐसी स्थिति में उसे सुरसा नामक ब्राह्मणी ने देखा और परिचय पूछा तो कामकला ने आदि से अन्ततक अपना परिचय देते हुए अपनी काशीभक्ति का विस्तार से वर्णन कह सुनाया और सर्वत्र ही काशी क्षेत्र में केशवमय मूर्ति के दर्शन होने की बात कही। उसने भगवान्

को अपना पति कह उसे काशी को अपना सच्चा घर बताया और पापी पुरुषों के उद्धार का क्षेत्र। सुरसा ने दूसरे दिन भी कामकला से पूछा कि क्या तुम्हारा देव तुम्हें मिला ? इसपर उसने अनिश्चयात्मक उत्तर दिया। सुरसा ने अहङ्कार निवृत्ति से उस परमाराध्य इष्ट का दर्शन होना बताया। तब तो कामकला ने सुरसा के पीछे पड़कर उससे परिचय एवं इष्टदेव की प्राप्ति का मार्ग पूछा। सुरसा ने अपनेको काशीक्षेत्र की अधिष्ठात्री देवता बता कर कहा कि कल भगवान् केशव के दर्शन करोगी और उसे अपना स्वरूप का दर्शन कराया। श्यामा सोलह वर्ष की युवती करुणामयी मूर्त्ति धारण किये हुए दोनों हाथों में वर और अभय मुद्रा धारण कर विश्वजननी विद्या नाम से प्रसिद्ध जो देखने, स्मरण करने और स्तुति करने एवं स्पर्श करने मात्र से मनुष्यों को आत्मतत्त्व का लाभ अवश्य देती है ऐसी काशी है। दूसरे दिन विलाप करती हुई मध्याह्न में जैसे ही वह वेश्या मणिकर्णिका में स्नान कर भगवान् केशव को पुकारती हुई ध्यान करने लगी उसका देहपात होगया। सूतजी ने शिवजी के मुख से सत्सङ्ग द्वारा वेश्या के मोक्ष का आख्यान कहकर काशी माहात्म्य की पुष्टि की।

ऋषियों ने पूछा कि विदर्भ नगर के राजा वीरसेन को जब काशी के गुणों का पतालगा तो उसने क्या किया और बार-बार वेश्या ने केशव भगवान् के प्रति जो कहा उसे सुनने की इच्छा प्रगट की। सूतजी ने कहा कि वीरसेन अपने

पुत्र प्रसेन को विदर्भ का राजपाट सौंपकर अपनी स्त्री के साथ काशी में आगया और वरणा के तटपर भगवान् केशव की सन्निधि में भक्तिपूर्वक उनकी आराधना करने लगा। उसकी दिनचर्या में प्रातः पादतीर्थ में स्नान और मध्याह्न में मणिकर्णिका में मज्जन कर विश्वेश्वर, अन्नपूर्णा, केशव भगवान् तथा माधव के दर्शनों का लाभ था वह विप्र, देवगण को अन्नदान और धन से सत्कृत कर अपनी इन्द्रियों को जीतकर भक्तिपूर्वक निवास द्वारा उसे पूर्ण करता था। एक दिन उसने कौतुक से कामकला को बुला भेजा। उसके आने पर राजा ने वेश्या से पूछा कि यहां रहकर क्या करती हो? कामकला बोली कि सदा अपने पतिदेव की सेवा में लगी हुई कभी शान्त मन, कभी काशीमाहात्म्य को परिशीलन करती हुई, कभी भगवद्गुणों का श्रवण करती हुई, कभी सज्जन पुरुषों की सभा में कथा सुनती हुई हे राजन्! समय बीत जाता है। अब बहुत समय से वियोजित पति को किसी भी रूप में छोड़ने में असमर्थ हूं। राजा को फिर भी आश्चर्य हुआ उसने पूछा तुम्हारा पति कौन है? कहां रहता हैं? उसका क्या नाम है? किसके सम्मत है? क्या सुख और धन तुम्हें देता है? और तुम्हें कैसे मिलता है? कामकला ने कहा केशव भगवान् मेरे पति हैं वह सम्पूर्ण चराचर पर दृष्टि रखनेवाले सर्वत्र व्याप्त हैं। उसके अनन्त नाम हैं फिर भी परमार्थतः वह सब नाम रूपों से परे है। वह वेद, स्मृति और पुराणवेत्ता पुरुषों का सम्मत है। उसके भक्त कभी स्वयं केशव द्वारा दिये धन को भी नहीं लेते कारण उसके चरणकमलों के लोभी भंवर होने से उसे छोड़ उन्हें और इष्ट ही नहीं होता। उससे मिलकर इस भवाटवी में पुनर्जन्म नहीं होता और गुरु की वाणी से मैं उससे मिलती हूं। फिर राजा ने उससे पूछा कि वह मिलता कैसे है? तो कामकला ने कहा कि गुरुभक्ति, स्मरण से एवं अहङ्कार बुद्धि के नाश होने से वह मिलता है। कामकला ने राजा के कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देते हुए यही प्रतिपादन किया कि



विषयी, कामासक्त, लोभी, पापात्मा पुरुषों से भगवान् केशव दूर रहते हैं। जो उनमें ही एक चित्त होकर भक्तिपूर्वक लगता है उसे साक्षात् प्राप्त होते हैं। काशीपुरी भगवान् विष्णु के साक्षात्कार का क्षेत्र है। यहां गुरु, शास्त्र में श्रद्धा होने से भगवत्साक्षात्कार होता है और प्राणी अमरपद को पाजाता है। जब उसे पूछा गया कि किस पुण्य से श्रद्धा का उदय होता है तो कामकला ने श्रुति, स्मृति, पुराण प्रतिपादित धर्म के अनुष्ठान को ब्रह्मार्पण बुद्धि से करने से ही श्रद्धा की प्राप्ति बतलाई। श्रद्धापूर्ण होगई है यह कैसे पता लगे इस प्रश्न को लेकर कामकला ने विन्ध्य पर्वत के कोटर में भिल्लपल्ली में रहनेवाले रौद्राक्ष नामक पापी भिल्ल का आख्यान सुनाया। जो कोई पथिक उस मार्ग से जाता वह उसे मारकर धन छीन लेता और अपने पाप कर्मों को बढ़ाता रहता। एक बार रास्ते में शान्त निष्काम ब्राह्मण लोग उसे मिले। उसने उन्हें पकड़ लिया और उनसे सारा धन मांगा अन्यथा उनके जीवन को समाप्त करने की धमकी दी। ब्राह्मणों ने सब उसे देदिया और जीवनदान की प्रार्थना की जिससे वे सब काशी जासकें। उस भिल्ल ने ब्राह्मणों से धन की प्रमुखता पर प्रश्न किया तो ब्राह्मणों ने उसे सम्पूर्ण पापकर्मों और अनर्थों की जड़ बताया। भिल्ल ने पता क्या है यह पूछा तो उन्होंने दुःख का मूल इसे बताकर नरक का मार्ग बताया और धर्म करनेवाले के लिये स्वर्ग बताया। भिल्ल ने बात-बात में ब्राह्मणों से दूसरे के धन को बलात् छीन लेना, सत्पुरुषों की निन्दा, अपने लिये जो प्रतिकूल लगे वह दूसरों के लिये करना आदि पाप बताये और सुकृत सबको सुखकारी परद्रोह से वर्जित और संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति के चित्त में उसका प्रवेश बताया। संस्कारों के विषय में पूछने पर ब्राह्मण बोले भाई शरीरधारी की शुद्धि के लिये दश संस्कार होते हैं। सर्व प्रथम विशिष्ट सत्पुरुषों की सङ्गति, फिर अपने उद्धार की बुद्धि, फिर सच्छास्त्र परायणता, फिर विचार, फिर अनुभव का आनन्द और विषयों के सुख से छुट्टी, फिर आहार शुद्धि और

अन्त में भगवान् जनार्दन में पराभक्ति होती है। पापों से मलिन व्यक्ति के हृदय में शास्त्रों के प्रति सद्बुद्धि नहीं होती। भिल्ल ने अब तो विशेष ध्यान देकर अपने उद्धार का उपाय पूछा तो ब्राह्मणों ने भगवत्कथारूपी महौषध के पान से इस संसाररूपी महाव्याधि का नाश बताया। भिल्ल ने पूछा इन सबका एक साथ सम्मेलन कहां शक्य है। इसपर ब्राह्मण बोले काशी में। अब तो भिल्लराज ब्राह्मणों के साथ काशी में आगया और ज्येष्ठेश्वर के निकट उसने शिव, काशी, हरि भगवान् और सदा होनेवाली कथा को दर्शन कर सुना। कथा में कई प्रकार से भगवान् शङ्कर की भक्ति के उदाहरण आते। भिल्ल को शास्त्र श्रवण से श्रद्धा मिली और उसने परम तत्त्व की प्राप्ति के लिये भूख-प्यास छोड़ एक मन से भगवान् की भक्ति में लगकर मोक्ष प्राप्त की। कामकला से यह सब सुनकर वीरसेन भी भगवद्भक्ति में लगकर मोक्षधाम का अधिकारी हुआ। इसके श्रवण का फल।

ऋषियों द्वारा सद्गुरु की सेवा में जाकर सच्छास्त्रों का श्रवण करना

चाहिये उसकी विधि और वक्ता तथा श्रोता कैसा होना चाहिये यह पूछने पर सूतजी ने कहा कि भगवान् सर्वप्रथम कृष्ण द्वैपायन रूप में गुरु में प्रवेश कर वक्ता बनते हैं, जिससे शिष्य को सन्मार्ग में जाने का उपदेश मिलता है। संक्षेप में, व्यास के सदृश गुरु और सूत के सदृश शिष्य होना आवश्यक है। भगवान् की कृपा से गुरुमुख से ही हरियश कथामृत का पान शिष्य करता है। गुरु वही है जिसके सदुपदेश से पापी, कामातुर, मूर्ख व्यक्ति भी धर्म मार्ग में प्रवृत्त होकर शाश्वत ब्रह्मपद के अधिकारी होजाते हैं। निरपेक्ष, कृपायुक्त और शिव, विष्णु में ऐक्य भाव से अनन्य भक्ति रखनेवाला है। आरम्भ में जो पाप से हटाकर शीघ्र गृहस्थ धारण के नियमों से उसे धर्म, अर्थ और काम की शिक्षा दे फिर धर्म के द्वारा निष्कर्म भक्ति का उपदेश देकर उस प्राणी का उद्धार करे वही सच्चा गुरु है। ऋषियों ने पूछा कि गुरुदक्षिणा महर्षियों ने भी राजाओं से ली है तो प्राणी विना गुरुदक्षिणा दिये कैसे उऋण हो सकता है? सूत ने रागयुक्त और रागरहित दो प्रकार के वक्ता गुरु बतलाये। सराग वक्ता के वचन हृदय को स्पर्श नहीं करते। नीराग दो प्रकार का है, एक शिष्य की परीक्षा लेने वाला जो देव, गुरु, धर्म आदि में शिष्य की प्रीति हुई कि नहीं यह देखता है जैसे, याज्ञवल्क्यादि; दूसरे वह हैं जो उपदेश करके यह नहीं देखता कि उसकी कैसी प्रीति है। बिना परीक्षा लिये किया गया उपदेश ऊषर भूमि में बोये बीज के सदृश है। ऋषियों के पूछने पर सूत ने याज्ञवल्क्य और दत्तात्रेय का परिचय बताया। एक वार मिथिला के राजा जनक ने विचार किया कि योग्य ज्ञानी मुझे मिले तो जीव से भी अधिक वित्त मैं उसे दूँ। इस प्रकार उसने १००० हजार गाय अच्छी प्रकार सजाकर तैयार करवाई तथा ब्राह्मणों को बुलाकर कहा कि आपलोगों में जो ज्ञानवान् एवं धर्म के तत्त्व को जाननेवाले हैं वह उन्हें लें दूसरा कोई नहीं। इसपर याज्ञवल्क्य बोले जनक! आप धन्य हैं, आपको इन संसारी पदार्थों में

तृणवत् मोह भी नहीं है अतः आपके धर्मादि सिद्ध हैं। आप सभी गाय ब्राह्मणों को देकर दुःखत्रय को विनाश करनेवाले ज्ञान के विषय में पूछिये। गायें देदी गईं और याज्ञवल्क्य ने उस परम औपनिषद ज्ञान को अधिकारी जनक से कहा और विदेह जनक उससे कृतकृत्य हो गये। ऋषियों ने शिष्य जनक की परीक्षाकर ज्ञान दिया जिससे सबका कल्याण हुआ। दत्तात्रेय ने किन लोगों को ज्ञान दिया जिससे वे बहिर्मुख होगये जब यह पूछा गया तो दत्तात्रेय के विषय में सूत ने कहा यह भगवान् विष्णु के अंश हैं। तीनों युगों में स्थित होकर कलि में छिपे रूप में कदाचित् मिलते हैं। उन्हों ने मिलनेवालों को बिना परीक्षा किये ही एक परमात्मा प्रकृति से परे शिव, सत्य, सदानन्दमय सनातन हैं उसीका ध्यान इष्ट है अवशिष्ट माया है यह कहा। गुरु, शिष्य, उपदेश योग्य वस्तु तत्त्व का कोई ध्यान न रख जो है वही है उसे जानकर जनता सुखी होवे और आत्मचिन्तन में लगी रहे इस लक्ष्य से सभी धर्मादि साधनों को छोड़ सर्वसाधारण आत्मचिन्तन में लग गये। इससे व्यत्क्रिम हुआ और लोग ईश्वर वचनों में आस्था कर भोगपरायण जीवन में लग गये। इसलिये ज्ञान के अधिकारी वे हैं जिन्हों ने प्रथम धर्म, अर्थ, काम को देनेवाली धर्म कथायें सुनी हों और फिर इनके अनित्यत्व का बोध किया हो, निवृत्ति मार्ग में आगये हों वे प्रभु कृपा से भगवत्परमपद के ज्ञान द्वारा उसकी प्राप्ति कर अपना उद्धार करते हैं। इसके बाद काशी विश्वेश्वर के क्षेत्र की सार्वभौम भोगमोक्षप्रदायिका है यह बताया और सम्पूर्ण देवों का शिवकी आज्ञा से काशी में निवास तथा काशी महत्त्वका सविस्तर वर्णन।

सूत ने उत्तमवस्तु को पाने पर नीच पुरुष का भी मन अधम वस्तु में नहीं लगता इसलिये काशी जैसी महिमामयी शिव की चिच्छक्ति मूर्त्तिरूपा महानगरी में व्यक्ति भगवद्भक्तिकथाश्रवण, गुरुसेवा, धर्मज्ञान आदि में मन लगावे, विषयशक्ति में मन न लगावे। इस विषय में व्यासजी ने भगवती भागीरथी के किनारे पूछनेवाले ऋषियों को जो कुछ कहा उस दिव्य कथा को कह सुनाया। व्यास बोले हे मुनिगण! इस काशीरहस्य को श्रद्धालु, गुरुभक्त, साधु आचरण-शील व्यक्ति को देना जिसने कि एक बार इस काशी के स्वरूप का दर्शन कर लिया उसे फिर अन्य कोई भी वस्तु अच्छी न लगेगी। काशी का स्मरण, दर्शन और वास सर्वथा मङ्गलकारी है। उन्होंने देवासुरों के द्वारा समुद्रमन्थन के समय अमृत के निकलने पर स्त्रीरूप मोहिनी वेषधारी भगवान् विष्णु के द्वारा भूल से देवगण की पङ्क्ति में बैठे हुए राहु को जैसे ही अमृत देदिया और पुष्पवान् सूर्य एवं चन्द्रमा ने इसकी सूचना विष्णु को दी तो उन्होंने सुदर्शन चक्र से राहु का शिर अलग कर दिया। अमृत पान से वह ग्रह विष्णु द्वारा अमर किया गया। अब दानवों ने राहु को सुरापान में लिये आमन्त्रण दिया परन्तु राहु ने कहा अमृत पान के बाद सुरापान कौन मूर्ख करेगा। दैत्यों ने राहु की हँसी की परन्तु अब दैत्य राहु ने ही अमृत की विशेषता जानकर सुरा से मुँह मोड़ लिया तो फिर अन्य लोग जो विचारशील हैं वेद शास्त्रोक्त मार्ग द्वारा काशी के रहस्यमय तत्त्व को जानते हैं उन्हें क्यों अन्य विषयों में रुचि होगी यह बताया। दुर्दैव से वे फिर भी विषयों के

अन्धकूप में पड़ेंगे तो इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा। काशीसेवन और गङ्गास्नान सदा ही धर्म में प्रवृत्ति करनेवाले और मोक्ष के द्वार हैं। काशी और गङ्गा इनमें अभेद सम्बन्ध है मोक्ष के साधक को काशीवास करते हुए इसे कभी नहीं भूलना चाहिये। यह सब विश्वनाथ की कृपा से पुण्यात्मा व्यक्ति को ही सुलभ होता है। पुण्यकीर्त्ति नामक पाण्ड्य देश के राजा का आख्यान आता है। वह प्रसिद्ध गङ्गा का भक्त और पुराण सत्कथा को सुनने में अपना जीवन बिताता था। गङ्गा को वह ऐहलौकिक और पारलौकिक पुरुषार्थ का साधन मानता, सभीकुछ वह गङ्गाजल से ही सम्पादन करता। इस सुन्दर आचरण से गङ्गा ने प्रसन्न हो उससे वर मांगने को कहा। राजा ने कहा यदि आप वर देना चाहती हो तो मुझे ऐसा अवसर दीजिये जिससे प्रतिदिन अमृतरूपिणी आपका दर्शन कर सकूं। गङ्गा ने उसे काशी आकर दर्शन करने को ही सदा अपना अमृतस्वरूप दर्शन बताया और काशी की महिमा विलक्षण बताई। यद्यपि सर्वत्र विश्व में मेरी व्यापकता है फिर भी यहां मेरा विशेष स्थान है। काशी में सर्वात्मना विष्णु, शिव, पार्वती, सूर्य, ब्रह्मा और सभी देवगण ऋषि और योगी विराजते हैं। परब्रह्मसुख की इच्छा ही उनके निवास का कारण है। अतः मनुष्य जितेन्द्रिय, शान्त और विषयों से विमुख हो यहां रहे उसे अवश्य ही अमृतत्त्व का लाभ होता है। अतः तुम्हें हे राजन्! काशीपुरी में जाकर निवास करना इष्ट है। इस राज्य को अपने पुत्र का अभिषेक कर उसे सौंप दो। यहां थोड़े से प्रयत्न से और काशीक्षेत्र की महिमा से शीघ्र ही मनुष्य पापों से छूट जाता है। यह कह गङ्गा अन्तर्धान कर गई और राजा ने गङ्गा की आज्ञानुसार पुत्र को राज्य पर अभिषिक्त कर अपनी रानी के साथ काशीवास करने के लिये गणेश को स्मरण कर काशी की ओर प्रस्थान किया। वहां जाकर विष्णुपदी गङ्गा में स्नान कर विष्णु, भगवान् शङ्कर और पार्वती अन्नपूर्णा के दर्शन कर अपना सर्वस्व योग्य ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों को दान कर दिया और

अपनी स्त्री के साथ काशी में श्रद्धापूर्वक त्रिकाल स्नान करने लगा। तब कुछ समय के बाद भगवती गङ्गा ने आकर दर्शन दिया और वर मांगने को कहा। राजा ने काशीवास की परमोयोगिता बतलाकर उसकी कृपा से सम्पूर्ण देवगण के दर्शनों का अमोघ लाभ एवं जीवनउद्धार के सम्पूर्ण साधनों के अवसर प्राप्ति पर भगवती गङ्गा को अपनी ओर से कृतज्ञताज्ञापन की। अब राजा ने काशी के प्रभाव को जानने के लिये सानुरोध गङ्गा से प्रार्थना की। गङ्गा ने इसे सर्वेश्वर की चित्कला बतलाया। यह विष्णु द्वारा पञ्चक्रोशक्षेत्र में स्थित है। जितेन्द्रिय और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को यह शाश्वत पद की प्राप्ति कराती है। प्रभाव सुनने की इच्छा से जब राजा ने अधिक सुनना चाहा तो भगवती गङ्गा ने काशी में सम्पूर्ण देव, देवियों, ऋषि, मुनि, सिद्ध, योगीश्वर लोगों का निवास बताकर इसकी अपरिमेय स्तुति गाई और यहां सभी ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के साधनों की सुलभता बतलाई। संसार में प्रिय इष्ट वस्तु कभी शोककर व चित्त को व्याकुल करनेवाली एवं अधिक संख्या में नहीं होती। वह तो एक है स्वयं परमात्मा; वह सच्छास्त्र की प्रत्यक्ष मूर्त्ति गुरु द्वारा ही प्राप्त होसकता है। गुरु की प्रशंसा। राजा के यह पूछने पर कि हे मातः! गुरु कैसा होना चाहिये तो गङ्गा ने उत्तर दिया कि विष्णुभक्त, शिवपरायण, वेदवेदार्थ रूपवाले, स्वयं भक्त और भक्ति को देनेवाले शान्तमूर्त्ति पुरुष ही गुरु होने योग्य हैं। भक्त ही संसार के पापों का समूल नाश करते हैं। भक्त साक्षात् तीर्थ रूप हैं; भक्तों में अनन्त सुसिद्धियां हैं। अतः भक्तों की सेवा में सदैव लगा रहे उन्हें कभी न छोड़े। व्यासजी ने यह सब कहते हुए गङ्गा के अन्तर्धान करने की बात कही और राजा के भूरि भाग्य की बारम्बार प्रशंसा की। इस काशी कथा के सुनने और सुनाने का माहात्म्य इसके सुनने मात्र से परमगति(पद) की प्राप्ति होती है। सूतजी ने कहा भगवान् व्यास यह सब बताकर शिवमय होकर काशी और गङ्गा को देखने चले।

ऋषियों ने सूत से पूछा कि जो व्यक्ति संसार के सम्बन्ध में अपनी अल्पबुद्धि रखते हैं उन्हें तो सुख एवं मोक्ष का अधिकार मिलता ही है परन्तु जो नरक में गिरने के डरसे ली काशी का आश्रय नहीं लेते उनका मरने के बाद कहां गमन होता है तो सूत ने कहा जो व्यक्ति धन की ओर स्वार्थबुद्धि रखकर उसी के लिये दिनरात येनकेन उपाय से चेष्टा करते हैं उनके लिये तो नरक का कोई डर ही नहीं। धनान्ध व्यक्ति ही ऐसे हैं फिर भी दो प्रकार का धन बतलाया गया है एक बन्धकारक; दूसरा मोक्षसाधन में सहायक। प्रथम देहादि के वैषयिक सुख के लिये जो धन हो वह पाप के सम्बन्ध से बन्धकारक है; दूसरा जो परमार्थ एवं विप्र आदि के सेवार्थ सदुपयोग में लगा वह पुण्यकारक तथा मोक्ष-साधनवाला है। पुण्य के धन का भी दो विभाग हैं, काम्य और मुक्ति हेतुवाला। काम्य का उपयोग धर्म्य विषयभोग के लिये यहां और परलोक के साधन में प्रयुक्त होता है और मुक्ति हेतु वह है जो ब्रह्मार्पण बुद्धि से किया जाता है। केवल धन को ही अपना सर्वस्व समझ जो व्यक्ति दिन-रात उसी के लिये एक करते हैं उनके पापों का कभी अन्त नही होता। फिर मुनिगण द्वारा नरकों की गणना और किस-किस पाप से कौन-कौन नरक मिलते हैं; यह नरक कहां है क्या लक्षण है आदि बातें पूछना और सूत द्वारा लक्षणादि के विषय में राजा सम्वरण और देवर्षि नारद के बीच हुए सम्वाद का आगे कहने का वचन करना तथा नरकों के स्थान के विषय में कहना कि धमराज की नगरी संयमिनी में धार्मिक व्यक्तियों का शासन धर्मराज और पापियों का महायम

करते हैं। उनके गण उनके आदेशानुसार पापियों को कर्मानुसार उनके पापों का स्मरण कराते हुए दण्ड देते हैं। ज्ञाताज्ञात पाप के अपराधियों को भी यम कड़ा दण्ड देते हैं। एक बार धर्मराज कुछ उदास बैठे थे उनके चारों ओर बैठे हुए उन ऋषियों ने एवं धर्म पुरुषों ने इस विमनस्कता का कारण पूछा, अपनी आश्चर्य मुद्रा में धर्मराज ने कहा कि भारत जैसे भूखण्ड के रहते प्राणी अपना जीवन व्यर्थ ही खो देते हैं। मनुष्य देह की अमूल्य सम्पत्ति से अपना परमार्थ साधन नहीं करते केवल विषयों की ओर ही लोलुप होकर दौड़ते हैं। इसका उपाय सदस्यों द्वारा पूछने पर धर्मराज ने बतलाया कि सज्जन पुरुषों को महा सुकृत करने से महापुरुषों का सत्सङ्ग होता है। उनके प्रसाद से धर्मकथा वर्णाश्रम आचार को प्रधानता देनेवाली होती है जिससे यावज्जीवन अपना आनन्दपूर्वक जीवन बिताकर अपना इष्ट सिद्ध किया जाता है। धर्मशास्त्रों का श्रवण, सदाचारमय जीवन फिर धर्म में प्रवृत्ति और उत्तम विश्वास श्रद्धायुक्त रहकर ज्ञान की साधना सकाम एवं निष्काम धर्मप्रवृत्ति निष्काम से परमपद और सकाम साधना भी विधिवैगुण्य से रहित ही फल देनेवाली होती है। सभ्यगण द्वारा निष्काम धर्मप्रवृत्ति के विषय में पूछने पर धर्मराज बोले कि जो व्यक्ति गर्भवास की पीड़ा से दुःखी होकर खेद करते हैं वे नैष्कर्म्य बुद्धि से धर्म प्रवृत्ति द्वारा सुख प्राप्त करते हैं। कामी और मुमुक्षु एक ही धर्म की उपासना करते हैं परन्तु कामी सुख भोग उद्देश्य बनाता है, मुमुक्षु मोक्ष इच्छा को लक्ष्य बनाता है। विराग और राग का फल भिन्न-भिन्न है एक का मोक्ष और दूसरे का बन्धन है। विरक्त लोग ब्रह्मबुद्धि रखते हैं, सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम को नश्वर देखते हैं इसलिए वैराग्य ज्ञान, तप, धर्म और उत्तम सुख को देनेवाला है। वैराग्य ही पापों का नाश करता है। वैराग्य बुद्धि से धर्मसाधन सदा ही करनेवाले व्यक्ति को जीवन में सफलता प्रदान करता है। धर्मराज के अपने एक स्वरूप को ही

लोग क्रूर महाभीम तथा शुभ दर्शन योग्य दो रूपों में देखते हैं। इस पर धर्मराज बोले कि पुण्य के कारण मेरे शुभरूप की और पाप के कारण मेरा क्रूर अशुभ रूप की लोग कल्पना कर लेते हैं। धनविषयादि दुमदान्ध लोगों की धर्मबुद्धि कठिन है। जब धन एवं विषयादि से बुद्धि हटती है तो भगवद्-बुद्धि होकर परमात्मा के साक्षात्कार में प्राणी लग जाता है। धन में स्वबुद्धि एवं भोग बुद्धि नरक एवं पतन का कारण होती है। वही भगवदर्पण बुद्धि मोक्ष का कारण बन जाती है। यह सब काशी के बाहर भी रहकर आचरण करने से वह नर से नारायण होता है फिर काशीवास से यह सब साधन जुटाकर भगवान् विश्वनाथ पशुपति को आठ पाशों से मुक्ति पाने के लिये भजा जाय तो कहना ही क्या। इस प्रकार धर्म रहस्यों की प्रकाशिनी काशी का माहात्म्य अपरिगणनीय है। काशी का सेवन पापरहित हो किया जाय तो अवश्य ही आत्मोन्नति के सोपान का मार्ग प्रशस्त होता है।

इस प्रकार कृत पापों के फल को बताकर बिना जाने किये गये पापों के फल को बताते हुए धर्मराज ने जो सदस्यों द्वारा कितने पाप हैं, कितनी

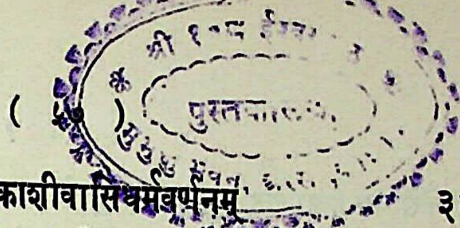
यातनायें हैं, किन-किन यातनाओं में कैसे-कैसे पापी लोगों को जाना होता है, आदि प्रश्न करने पर विस्तार से कहा। इसके पूर्व ऋषियों ने भी सूत से धर्मराज और सदस्यों के बीच इस विषय को लेकर हुए वार्त्तालाप को जानना चाहा था। धर्मराज बोले पहले पाप का चिन्तन फिर उनका संग्रह उनसे पापवासना का उग्र रूप धारण कर लेना आदि ही उपपातक, पातक और महा पातक के रूप में उग्र भयङ्कर परिणाम में उपस्थित होते हैं। अतः पापों की निश्चित संख्या कहना कठिन है परन्तु पापों की जड़ मानसिक पाप चिन्तन से ही आरम्भ होकर मनुष्य की गर्भ यातना आदि पापों एवं स्वर्ग और अपवर्ग पुण्यों के कारण ही होते हैं। संयमिनी में भी जो यातनायें होती हैं एवं सुख प्राप्तिपूर्वक धर्मप्रसङ्ग का वातावरण होता है वह सब भी पाप-पुण्य के ही कारण है। अतः पापों से बचने के लिये ही इतनी उग्र यातनाओं और नरकों की परिकल्पना है। देहाभिमानी व्यक्तियों की निष्कृति कहीं नहीं है भले ही गोवध करनेवाले पापीगण की प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि हो। प्रमत्त व्यक्ति को देख धर्मराज भी कांपते हैं। अप्रमादी को देखकर उन्हें प्रसन्नता होती है। इसी देहाभिमान बुद्धि से पापी को दुःख भोगने पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में प्राचीन इतिहास का आख्यान जिसमें ऋतुध्वज एवं जनक का आख्यान। ऋतुध्वज मिथिला के राजा थे उन्होंने उपासना, कर्म एवं ज्ञान में लगे हुए नाना ऋषियों से विनय-पूर्वक वेद तात्पर्य पूछा। किसी ने दान, किसी ने तप, किसी ने तीर्थ, किसी ने यज्ञ, वैराग्य, ज्ञान-विज्ञान और विविध व्रत किसी ने स्वाध्याय एवं वर्ण और आश्रम व्यवस्था में वेदतात्पर्य की अभिव्यक्ति बतलाई। फिर जनक को भगवती विष्णु-माया द्वारा मोहित इन विप्रगण को देख बहुत आश्चर्य हुआ बाद में उन्हें भरत मुनि के दर्शनों का सौभाग्य मिला। जनक ने इस परम विरक्त परिपूर्ण काम, निष्किञ्चन, वैराग्यावतार भरत को देख विनीत हो उनसे अपना परिचय पूछा। जड़भरत ने ऋतुध्वज जनक को निर्मल ज्ञान की पवित्र वाणी से

प्रवचन करते हुए भोगों की क्षणिक सुखवाली परिणाम दुःख की प्रवृत्ति से विरत हो सच्चिदानन्दमय परिपूर्णतम तत्त्व की ही साक्षात्कार विधि का निरूपण किया और आत्मतत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन किया। फिर जनक ने महाभाग भरत को एक जन्म में इस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय पूछा। जड़भरत ने देवगण द्वारा साम्बसदाशिव को इस सम्बन्ध में किये गये प्रश्न का उन्हीं से दिये गये उत्तर का वर्णन किया और बताया कि सर्वत्र अभेद बुद्धि से किये गये स्वधर्माचरण से ज्ञान प्राप्ति काशी क्षेत्र में अत्यन्त सुलभ एवं सुकर है। विष्णु से शङ्कर ने सम्पूर्ण अपराधों के विषय में पूछा। विष्णु द्वारा अपराधों को वर्णानुसार गिनाना। इनमें ब्राह्मण का स्वधर्मानुसार आचरण न करना, शूद्रान्न सेवन, शूद्रों का सेवन अपराध है। क्षत्रियों का प्रजाद्रोह, रण से भय और पाप से भय न करना पाप है, वैश्यों का व्यवसायादि में कूट बुद्धि बरतना और शूद्रों का द्विजों की असेवा, वेदवाद और दान में रुचि, मद्य-मांसादि का व्यसन पाप बताया। माया से लोक वञ्चन और पूज्यबुद्धि का त्याग इन सबको सदा ही सभी वर्ण के लोग वर्जित कर काशी में रहकर मुक्ति लाभ कर सकते हैं। काशीसेवन का माहात्म्य।

सूत से ऋषियों ने भगवान् विष्णु और देवाधिदेव महादेव के बीच

काशीरहस्य के विषय में जो वार्त्तालाप हुआ उसको सुनने की इच्छा प्रगट की तो विष्णुमुख से कहे गये इसी विषय को सूतजी ने वर्णन किया। विशेष रूप से काशी में निवास सदैव पापशून्य है इसके साथ सदा ही जो धन और स्त्री-पुत्र में विरक्त होकर रहता है उसका कहना ही क्या। धर्माचरण, गुरु एवं शास्त्रसेवा और काशी के निवास के लिये सदाचार सम्पन्नता, भगवान् विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा की भक्ति में विशेष संरभ से साधक को प्रवृत्त करती है जो उसका एकमात्र इष्ट है। यदि शास्त्रश्रवण कर जो मूर्ख पापरत ही रहते हैं उनका कहीं भी उद्धार नहीं। अतः मन पर पूरा निग्रह कर अपने जन्मजात प्रकृतिगत स्वभाव एवं संस्कार को बुरा न बतावे। काशीवास को कभी न छोड़े। शङ्कर ने विघ्नज्ञान के विषय में पूछा तो विष्णु ने कहा कि मन में क्षोभ चञ्चलता ही विघ्नों का समूह है; बस इसे काशीवास के लिये भगवत्प्रीत्यर्थं जीवन अर्पण करने के लिये स्व उद्धारार्थ निग्रह करे; इसपर सनातन ब्राह्मण का आख्यान। यह ब्राह्मण वेद-शास्त्रों के अर्थ तत्त्व को जाननेवाला सम्पूर्ण विद्याओं में पारदर्शी पुत्र-पौत्र कुटुम्ब से युक्त सुखी गृहस्थ था। वह सदा काशी माहात्म्य को सुनने में आसक्त था। सदा ही निर्विघ्न काम होने के लिये प्रयत्नशील था। अपने जीवन को काशीमय बनाने के लिये तत्पर था परन्तु दुर्भाग्य से उसके तीन पुत्र और कई पौत्र कलह, जुआ, पाखण्ड भाण्डपना, वितण्डा में लगे रहते थे। अपने माता-पिता का तिरस्कार करते, वेश्यागमन और निषिद्ध वस्तुओं के सेवन से दुर्व्यसन के बुरी तरह आदी बन गये। उसके ज्येष्ठ पुत्र सिनि को कुछ ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान था बाहर से सौम्य दीखता था। एक दिन राजा के अन्तःपुर की स्त्रियों की हस्तरेखा परीक्षा के बहाने राजमहल में गया और वहां की कोई राजपत्नी से व्यभिचार करने लगा। सुबाहु राजा ने उसे रङ्गे हाथ पकड़ अपने हाथों उसकी यथेष्ट पूजा की। उसके विरुद्ध अभियोग लगाने में जनता ने दोष-समूह का भार राजा के सामने रख दिया और सब ही राजा से देशनिकाले के

लिये प्रार्थना करने लगे। राजा ने उसके पिता सनातन को बुलाकर बहुत अधिक उपालम्भ (उलाहना) दिया और कहा कि हे ब्राह्मण ! तुम्हें बिना दण्ड दिये छोड़ता हूं। मेरे राज्य में तुम्हें कहीं भी नहीं रहना चाहिये। ब्राह्मण ने काशी वास के लिये आतुरता जनाते हुए अपने पुत्रों को छोड़ने की प्रतिज्ञा कर अपना अपराध बतलाने के लिये राजा से अनुरोध किया और अपराधी पुत्रों को दण्ड देने के लिये कहा। राजा ने स्नेहहीन ब्राह्मण का अपने पुत्रों से सम्बन्ध विच्छेद जानकर ब्राह्मण को काशीवास के लिये छोड़ दिया। उसी समय बुरी तरह से अपशब्द कहती हुई सनातन की स्त्री आई। राजा ने फिर सनातन को बुलाया और इस कलहमूर्त्तिरूपा स्त्री के सम्बन्ध में पूछा तो ब्राह्मण ने कहा काशीवास के लिये आतुर मैं इस ब्राह्मणी को भी छोड़ता हूं। अब ब्राह्मण भगवती काशी में नियमानुसार जीवन बिताने लगा। एक दिन उनके भाई-बन्धु कुटुम्बीजन उसे राजा के पास पकड़कर ले गये और यह अभियोग लगाया कि इसके पास पितामह, प्रपितामह से मिला धन है हम निर्धन व्यक्तियों को इसका भाग अवश्य मिलना चाहिये। राजा सुबाहु ने ब्राह्मण सनातन को कुटुम्बियों को धन देने के लिये आदेश दिया तो ब्राह्मण अपना धन भी सब कुटुम्बी लोगों को बांटकर काशीवास की विशेष प्राप्ति को ही इस रूप में हितकर समझने लगा। उस काशीवासी जीवन से अपना भविष्य सुधारकर वह कृतकृत्य हुआ अतः काशीवास में स्त्री, पुत्र, सम्बन्धी आदि के लिये ममता तथा धन के प्रति लोभ बाधक हैं। इन्हें छोड़ मनुष्य सदाही परमपद का अधिकारी होजाता है। भगवान् शङ्कर ने सर्वात्मना अपना जीवन ही काशीवास में लगा दिया।



सूतजी ने विशेषरूप से काशीवासी व्यक्ति के लिये आवश्यक कर्तव्य तथा धर्मों का निर्देश करते हुए बतलाया कि काशी में पापी लोग यह नहीं सोचते कि एक बार भी किया हुआ छोटा-बड़ा पाप अनर्थकारी होता है। वे केवल यही सोचते हैं कि विघ्न (अपराध) क्यों आते हैं। यही उनके पद-पद पर दुःख पाने का एकमात्र कारण है। अतः जो भी एकान्तभाव से सांसारिक बाधाओं के जंजालों को तिलाञ्जलि देकर निःस्वार्थ भाव से काशी का सेवन करते हैं उन्हें ब्रह्म-मोक्ष प्राप्ति का अधिकार है; इसके विपरीत तो केवल पाषण्ड या प्रवञ्चना कर काशीवासी तो कालभैरव को भी ठगने को वहां रहते है अतः भगवान् शङ्कर एवं विष्णु की माया अतीव विचित्र एवं मोहकारी है जिसमें लोक जो प्रत्यक्ष विष है उसे अमृत मान लेते हैं और अमृत को छोड़ वञ्चित होजाते हैं। ऋषियों द्वारा यह प्रश्न कि कलि में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भगवद्भक्ति, काशी में निवास योग्यस्थिति कोई भी परमपद की प्राप्ति के लिये पर्याप्त नहीं फिर कामी पुरुषों का तो संसाररूपी कुँए से निकलना कैसे शक्य है ? तो सूत ने महापाशुपत हिरण्य नामक शिवभक्त जितेन्द्रिय व्यक्ति की कथा कही। उसको महाअभिमान से अपने जीवन में पापाचाररत होकर कालभैरव की यातना से पिशाच योनि भोगनी पड़ी। असत्समागम के द्वारा उसका

पुण्य कैसे नष्ट हुआ यह पूछने पर सूत ने बताया कि वह धर्मेश्वर के निकट एक मठिका में रहता था। लोगों की दृष्टि में वह जितेन्द्रिय और तपोनिष्ठ था परन्तु शास्त्र से नहीं। एक बार धर्मनिधि नामक ऋषि से उसका वार्तालाप हुआ; उसने जप, तप, शुद्ध विद्या, योग, समाधि दान एवं मान द्वारा पूर्णरूप से दिनचर्या चलती है ऐसा कहा। फिर पूर्ण मैं ही हूं ऐसे अभिमान के वाक्यों पर धर्मनिधि ने उसे याद दिलाया कि पूर्ण केवल शङ्कर हैं अन्य नहीं। यदि कोई विषय स्नेहयुक्त अपनेको ब्रह्म कहता है तो एक हजार गर्भवास में उस पापी का जाना होता है। एक बार फिर धर्मनिधि ने उसे कहा कि देखो बड़ेभारी ब्रह्मज्ञानी होने का दम्भ मत भरो कारण सब दास-दासी तुम्हारे पास हैं। गौ, महिषी से तुम व्यापार करते हो, धनधान्य का संग्रह कर रक्खा है; दीन, रागवान् और रजोगुण युक्त हो, फिर भी ब्रह्म कहते हुए लज्जा नहीं आती। इसपर उसने इन सब दृश्य वस्तुओं के संग्रह को कल्पित बताया और स्वयं में पूर्ण होने की पारमार्थिक बुद्धि बतलाई। तब धर्मनिधि ने उसे कहा पापिन्! जाओ। उसे तब भी अपने कुकृत्यों को करते रहने का उत्साह ही हुआ। वह पूर्ववत् सभी काम मिथ्या पाखण्ड और दम्भ अहङ्कार से करने लगा। उसकी यह माया इतनी बढ़ी कि वह सर्वत्र ही नानारूप से अर्थार्जन में लग गया परन्तु एक दिन अचानक जम्हाई लेते-लेते उसके प्राण ऊर्ध्वगत हो गये और वह मर गया। अब भैरव ने उस पापी को ३२ हजार वर्ष और ३२ सौ वर्ष तक भैरवी यातना दी। यातना के बाद कालराज ने उसे ताना मारते हुए पूछा क्यों हिरण्यगर्भ! सबकुछ काशी में अच्छी प्रकार से किया न? तुम्हारे पापों के अनुसार तो तुम्हारा निस्तार कल्पों तक भी यातना भोगने से नहीं होगा। तुम्हें याद है जो व्यक्ति जानते हुए काशी में धनसञ्चय एवं मिथ्या पाखण्ड आदि से पाप करता है उसकी निष्कृति वेदों और पुराणों में भी नहीं मिलती। भैरव ने उसे दण्डपाणि को सम्हालते हुए भगवान् शङ्कर के

पास ले जाने को कहा जिससे वे इस पापों से छुटे हुए पाशुपत को तारक मन्त्र की दीक्षा दें। दण्डपाणि के लानेपर शङ्कर ने हँसते हुए उसे वैसे ही कैतव से पूछा और अपने तपस्वी जीवन द्वारा जो अनर्थ करता है उसे धिक्कारा और माता सदृश काशीपुरी में जो धर्मविरुद्ध रहता है वह महानरकगामी है यह कहा। भगवान् विश्वनाथ ने फिर उसे तारकमन्त्र की दीक्षा दी और उसे ब्रह्मपद का अधिकारी बनाया। अतः काशी में धनसञ्चय न करे। यदि करे भी तो विश्वनाथ के प्रीत्यर्थ उसे शुभकार्य में वहीं देवालयादि के उपयोग में लगादे। काशी में देने का सङ्कल्प करनेपर उसे तुरन्त देना इष्ट है अन्यथा कई गुना देना पड़ता है। अतः शक्तिभर दे उससे बाहर नहीं। काशी में ऋण करनेवाले की मृत्यु होजाय तो क्या गति होती है ? इस प्रश्न पर सूत बोले कि एक सदाचारी सत्याशिष नामक वैश्य रहता था, उसके दो लड़के थे, एक कल्याण नाम का दूसरा धनप्रिय। वह समय आनेपर धन को अपने दोनों बेटों में बांटकर काशी की शरण में आगया। कल्याण ने अपना धन खाने-पीने और याचकों को बांटकर खर्च कर दिया। कुछ समय बाद वह ऋणी होगया। धनप्रिय जो पापबुद्धि था पिता के धन को नष्ट कर ऋणवाला होगया। अपने दुराचरण से उसने अपने ऊपर ऋण बहुत कर लिया। संयोग से दोनों ही (पुण्य करनेवाला और पाप करनेवाला) मर गये और काशी मरण से उन्हें मुक्ति यातना पाकर मोक्ष मिला। इसका ऋषियों के पूछने पर सूतने समाधान किया। ऋण भीति से धार्मिक व्यक्ति का निस्तार भगवान् विश्वनाथ करते हैं क्योंकि ऐसे व्यक्ति की बुद्धि विश्वेश्वर के चरणारविन्द में रहती है उसके लिये भगवान् ऋणी होजाते हैं। उसे तारक मन्त्र देते हैं। यह तो धर्मप्रिय कल्याण की गति हुई। धनप्रिय को कालराज ने भैरवी यातना से निष्पाप कर उसे यातना के बाद तारक मन्त्र दिया इसलिये काशी में ऋणशुद्धि विश्वनाथ के कृपा से शक्य है।

ऋषियों ने सूतजी के प्रति काशीविषयक महाज्ञानमयी सत्कथा को सुनकर कृतज्ञतापूर्ण आभार प्रदर्शित करते हुए काशी में निवास करनेवाले महानुभावों की उच्चस्थिति के सम्बन्ध में जानने की इच्छा प्रगट करते हुए उस उपाय के विषय में पूछा जिससे मनुष्य कालभैरव के द्वारा दी हुई यातना को न प्राप्त करे। सूतजी ने कहा सज्जन गोष्ठी में सत्सङ्ग, भगवद्गुणानुवादश्रवण, सङ्कीर्त्तन; निन्दा व अन्य व्यक्तियों के प्रति द्वेष बुद्धि और विषाद न करने; व्रतोपवास इन्द्रियों पर संयम रखने और दान लेने लिवाने के विषय से दूर रहने से साधु पुरुष सदैव भगवत्सम्मुखी भाव प्राप्त कर विराग द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसके साथ जो पुरुष कटुवचन बोलते हैं वह यातना के अधिकारी होते हैं। पर निन्दा करनेवाला, पापात्मा, सब पापों में प्रवृत्त और अस्थिर मन के निश्चय वाला भी निःसन्देह नरकगामी होता है। इसीपर प्राचीन इतिहास का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है जिससे विष्णुशर्म्मा को निन्दा का शीघ्र फल मिला। यज्ञशर्मा मुनि ने अपने पुत्र को साङ्गोपाङ्ग वेद और उपनिषद् पढ़ाये फिर सब शास्त्रों को पढ़कर विष्णुशर्मा ने अपने पितुः श्री से पूछा कि क्या और भी कुछ आदेश है। पितुः श्री ने कहा कि पुरुषार्थ फल को देनेवाली ऐसी एक महाविद्या है जिसे लेकर मनुष्य सम्पूर्ण मोक्ष का भागी होजाता है। सम्पूर्ण

प्राणीमात्र में परमात्मा जनार्दन निवास करते हैं। जो कोई भी उस प्राणी की निन्दा करता है या उसे दुःख से पीड़ा देना चाहता है, वह नरकगामी है क्योंकि प्राणी का तिरस्कार कर उसने शिवद्रोही होने का काम किया है। यह सार्वभौम सिद्धान्त तपो विद्या विशारद मुनिवर्यों द्वारा प्रशंसित है; अतः सम्पूर्ण विश्व को देवीमय अथवा शिवमय देखकर किसी की निन्दा न करे अथवा किसी प्रकार भी पीड़ा न देवे। विष्णुशर्मा ने प्रश्न किया कि देह की सबने निन्दा की है आत्मा की किसी ने नहीं ? इसपर यह पीड़ा किस प्रकार की हुई इसपर गुरु ने देह और आत्मा के संयोग से अभिमान की स्थिति बतलाई अतः उसे निन्दित बताने से विद्वान् पुरुषों को बहुत अधिक दुःख होता है अभ्यास ही इसका कारण है। मूर्त्ति मानकर उनकी निन्दा नहीं करे। विष्णुशर्मा के इस प्रश्न पर कि जो मिथ्यावादी हैं उनके पापों का रूप कैसा है ? तो सूत बोले ये कई प्रकार के हैं परन्तु वेद प्रतिपादित जो मिथ्यावाद है वही यहां स्वीकरणीय है उससे सदा बचना आवश्यक है। भूठ बोलनेवाले का कभी उद्धार नहीं होता ऐसा पापी रौरव नरक में जाता है। कण्ठों में प्राण आनेपर भी भूठ नहीं बोले क्योंकि सभी की भूठ बोलने से ही अधोगति हुई। पुराणों में नानाविध आख्यानों द्वारा भूठ बोलने का बिलकुल निषेध किया है। अनृत भूठ कभी न बोले इससे पाप बढ़ते हैं और पुण्य का क्षय होता है। विष्णुशर्मा के पूछने पर व्यासोक्त पुराण एवं उपपुराण कौन-कौन है इसपर पिता ने उसे ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव, शैव, लिङ्ग, गरुड़, भागवत, भविष्य, वामन, नारदीय, अग्नि, मार्कण्डेय, कूर्म, मत्स्य, ब्रह्मवैवर्त्त, वाराह, स्कन्द और वायु इसप्रकार महा-पुराणों को गिनाया। कोई अवतारों तथा कोई प्रश्नकर्त्ता और श्रोता के नाम से प्रसिद्ध हैं इसे कृष्ण द्वैपायन व्यास ने एकत्र कर जन हितार्थ संसार को अर्पित किया। विष्णुशर्मा अपने पितुः श्री की आज्ञा मानकर निन्दा से मुँह मोड़ असज्जनों का सङ्ग छोड़ पुराणस्वाध्याय में जुट गया। सभी उदाराशय इसीलिये

मिथ्या निन्दा से बचने के लिये धर्मकथा नित्य सुनते और कहते हैं। ऋषियों ने १८ अन्य पुराणों के नाम पूछे तो सूतजी ने बताया कि सनत्कुमार, नारद, नृसिंह, शिवधर्म, दुर्वासा, कापिलेय, मनु, शुक्र, वरुण, ब्रह्माण्ड, काली, वशिष्ठ, लिङ्ग, महेश, साम्ब, सूर्य, पराशर मरीचपुराण और भृगु पुराण ये अठारह है, ये उप पुराण हैं उनके सुनने से पुरुषार्थ का मार्ग प्रशस्त होता है, शुभाशुभ का विवेक होता है जिससे मनुष्य असदाचरण से वंच जाता है। इनमें एक ही तत्त्व का वर्णन है आत्मामाया के भय से मुक्त हो उसका निस्तार काशीवास है। ऋषियों ने सूतजी के द्वारा इस प्रकार उत्कृष्ट काशी सत्कथा के सुनाने पर उन्हें साधुवाद देकर स्वयं काशीक्षेत्र की महिमा गाई और काशीक्षेत्र के माहात्म्य को सुनने, काशी को देखने और उसके स्मरण द्वारा मुक्ति प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों को वन्द्य और पूज्य कहा। ऋषियों ने पूछा योगी लोग अन्तर्दृष्टि से काशीरूपी देह को विमुक्तिद कहते हैं वह कैसे? इसपर सूतजी ने विरक्त की परिभाषा कही और कहा कि ऐसे व्यक्ति द्वारा काशी सेवन से शुद्धबुद्ध निर्मल सच्चिदानन्दरूप ज्ञान का आभास होने से सभी का विजय होता है इतनी मङ्गलकारक पुस्तक का संग्रह सदा ही इष्ट है।

टीका में "काश्याम्मरणान्मुक्तिः" इस सिद्धान्त का ऊहापोह पूर्वक साधक बाधक प्रमाणों से प्रतिपादन।

भागवतनिर्णयवर्णनम् ३५०

देवीभागवत अठारह पुराणों में परिगणनीय है कि नहीं इस विषय में नीलकण्ठ भट्टाचार्य द्वारा देवी भागवत की अपनी टीका में प्रथम अध्याय के आरम्भ के उपोद्घात में विद्वत्तापूर्ण वर्णन कर एक विशिष्ट विलक्षण बात कही है उसका सार यही है कि शिवपुराणों के मत से देवीभागवत महापुराण है और वैष्णवपुराणों के मत से श्री विष्णुभागवत महापुराण है इस विषय पर

विशेष विचारणीय यही है कि जब भागवत के लक्षण दोनों पुराणों में ही प्राप्त होते हैं तो सिद्धान्ततः कौन भागवत महापुराण कहा जाय। विद्वान् पाठक महानुभावों के लापन के लिये उस अंश को अविकल इन पृष्ठों में उद्धृत किया है साथ में विष्णुभागवत के विषय में उपलब्ध इस विषय के शंका-समाधान परिशिष्ट (क) में जोड़े हुए हैं। सदसद्विवेकशाली विद्वन्मूर्द्धन्य इस पर विचार करें।

काशीपञ्चकम् ३६४

इन पांच श्लोकों में भगवती काशी की महिमा का सुन्दर भावपूर्ण वर्णन है इनसे सार बात यही पाई जाती है कि काशीवास द्वारा शिवसायुज्य प्राप्ति मनुष्य को सदा सुलभ है।

काश्यष्टकम् ३६४

काशी में विशिष्ट वातावरण का उद्घाटन कर काशी के महत्त्व का प्रतिपादन विशेषरूप से श्लोकबद्ध किया है।

परिशिष्ट (क)

विष्णुपुराणमतेन भागवतनिर्णयवर्णनम् ३६५

श्रीमद्भागवत के महापुराण पारमहंस्य संहिता होने में तो कोई विवाद नहीं परन्तु भागवत से कौन ग्राह्य है इसपर विशिष्ट सिद्धान्त अवलोकन योग्य है। विशेष ज्ञान सर्व विषय को अवलोकन एवं हृदयगम्य करने तथा विशेष गवेषणा से हो सकता है। साथ ही श्रीमद्भागवत व्यासदेव रचित है कि नहीं इसपर भी विवाद उठाकर उनकी शङ्काओं का इसमें निवारण किया गया है। प्रस्तुत पढ़ने से वस्तु तत्व शीघ्र बोधगम्य होता है।

आभारप्रदर्शन

इस ग्रन्थ की अविकल प्रति की प्राप्ति वाराणसी के श्रीमद्भागवत मार्त्तण्ड श्री० पण्डित माधव बालशास्त्री दातार महोदय के पास हुई है। उनकी सहज भक्ति निष्ठा द्वारा भगवती काशी का रहस्योद्घाटन करनेवाला यह ग्रन्थरत्न विद्वज्जनों की सेवा में प्रस्तुत है। तदर्थ बालशास्त्री महानुभाव का मैं पूज्य पिताजी की ओर से हृदय से सादर आभार ज्ञापन करता हूं।

॥ ॐ शान्तिः ३ ॥

निवेदक—
राधाकृष्ण मोर
५, क्लाइव रो
कलकत्ता-१

॥ श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत श्रीकाशीरहस्य

इ

श्री० पणि

भक्ति नि

विद्वज्जनों

की ओर

|| श्रीगणेशाय नमः ||

A GUIDE TO THE BLOCK-PHOTO OF ROSARY CONSISTING OF SHLOKAS 108 IN KASHIRAHASYA.

श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत "श्रीकाशीरहस्य"-स्थाष्टोत्तरशत सूक्तिरत्नावली की पथप्रदर्शिका (निर्देशिका)

मणिमाला के ऊपर सुमेरुस्थानीय इस प्रकार अपूर्व श्लोक उद्घाटित हैं

भवानीतनयाऽऽद्याऽऽद्य तनयानन्ददायक ।
काशीवासिजनाघौघहारिन्ढुण्ढे नमोऽस्तुते ॥

श्रीमन्महागणाधिपतये नमः ।

परंधाम परंब्रह्म परेशं परमीश्वरं, विघ्ननिघ्नकरं शान्तं पुष्टं कान्तमनन्तकम् ॥
सुरासुरेन्द्रैः सिद्धेन्द्रैः स्तुतं स्तौमि परात्परम् ।
सुरपद्मदिनेशञ्च गणेशं मङ्गलायनम् ॥ १ ॥
शृण्वन्तु मुनयः सर्वे मुक्तिबीजमनुत्तमम् ।
श्रद्धावते विरक्ताय गुरुभक्ताय साधवे ॥

देयमेतत्कथारत्नं श्राव्यं श्रवणमङ्गलम् ।
काशीरहस्यमतुलं नानारत्नसमुद्रकम् ॥
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं काशीकथामृतम् ।
पिबन्ति ये महाभागा स्तेषां भीतिर्न भैरवी ॥
महापातकयुक्तोऽपि शृणुयाद्यः कथामिमाम् ।
स युक्तो मुक्तिमाप्नोति पुण्यसम्भारदुर्लभाम् ॥
विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्माहमिति यो वदेत् ।
गर्भवाससहस्रेषु पच्यते पापकृन्नरः ॥ (१०८ । २५-२४)

फिर माला में निम्न प्रकार से श्लोक मणिरूप से ग्रथित है

प्रियाणि किं शोककराणि सन्ति, प्रियाणि किं व्याकुलयन्ति चित्तम् ।
प्रियाणि किं वत्स ! बहूनि सन्ति, प्रियः प्रियात्मा हरिरेक एव ॥ १ ॥
गुरुसेवा पुराणस्य श्रवणं चेन्नृणां भवेत् ।
सर्वाणि साधनान्येव भवन्ति हि शनैः शनैः (१—५७) ॥ २ ॥
पापेनैव नृणां वाणी भवेत्कटुकभाषिणी (१—१०१) ॥ ३ ॥
न देवः पर्वताग्रेषु न देवो विष्णुसद्मनि ।
देवश्चिदानन्दमयो हृदि भावेन दृश्यते (२-४) ॥ ४ ॥
यः स्तौति स्मरते काशीं यः कीर्त्तयति मानवः ।
तेन तप्तं हुतं जप्तं कृतं ध्यानमहर्निशम् (२-६८) ॥ ५ ॥
कलौ विश्वेश्वरो देवः कलौ वाराणसी पुरी ।
कलौ भागीरथीगङ्गा दानं कलियुगे महत् (२-७२) ॥ ६ ॥
जड़ेषु सर्वेष्वपि मज्जमानेष्विं चिदानन्दमयी न मज्जति ।
स्वयं निमग्नः कथमुद्धरेत्परान् लोकेऽपिवेदेऽपि विचार्यमेतत् (२-१७)॥७

सन्तः सेव्याः सन्मुखात्काशिकायाः श्रोतव्यास्ते सद्गुणाः सिद्धिरूपाः ।
यस्यां वासः पापनिर्मूलकारी यस्यां मृत्युर्मोक्षदः प्राणिनां हि (२-१३५) ॥ ८ ॥
गुरूपदिष्टं न करोति यस्तु शिष्यः कथं तस्य शुभामतिःस्यात् ।
विदेहवत्पश्यति सर्वदं गुरुं स सर्वसिद्धिं समवाप्नुयात्कृती (३-६७) ॥ ९ ॥
पापान्निवारयति धर्मपदे युनक्ति, सिद्धिं प्रयच्छति ततः परमस्ति किं तत् ।
सद्ब्रह्म दर्शयति पदं परमं विवृण्वन्, यस्तीक्ष्णतां च जगतः कथयेत्कृपालुः (३-६८)॥१०

वेदैः पुराणैः स्मृतिभिः सुखं समुपदिश्यते ।
तत्सुखं गुरुवक्त्राद्धि श्रूयते धार्मिकैर्जनैः (३-६९) ॥ ११ ॥
कृतानि साधनान्यत्र स्वल्पान्यपि महामते ।
भवन्ति काशीमाहात्म्यात्सिद्धान्येव न संशयः (४-२८) ॥ १२ ॥
अन्यत्र साधुसुकृतैः कृतैर्मुच्येत वा न वा ।
भोगेच्छाग्रस्तहृदयः सापीच्छाऽत्र निवर्त्तते (४-२९) ॥ १३ ॥
कलिकालस्तथाकाशी पापाद्भीतं मनो यदि ।
एतत्त्रयसमायुक्तो नरो जीवन् विमुच्यते (४-३७) ॥ १४ ॥
न पापं ब्रह्महत्या स्यान्न पापं गोवधःस्मृतः ।
देहाभिमानपापस्य कलां नार्हति षोडशीम् (४-११६) ॥ १५ ॥
नाश्वमेधाः परं पुण्यं तुलादानादिसम्भवम् ।
गोसहस्रादिजनितं यथाऽहङ्कारवर्ज्जननात् (४-११७) ॥ १६ ॥
धीरो जितेन्द्रियो यस्तु तं कलिर्न प्रबाधते ।
अजितेन्द्रियलोकस्य कलिः स्वामी भवेदिह (५-१५१) ॥ १७ ॥
विषयाकाररूपेयं माया विष्णोः सुदुर्जया ।
तच्छनैर्विषयान्सर्वानीक्षेतेश्वरमाश्रितः (६-१८) ॥ १८ ॥
काश्यां स्वदारेष्वपि नित्यवृत्तिः, काश्यां स्वचित्तेष्वपि सुप्रवृत्तिः ।
काश्यां कुटुम्बेष्वपि यत्स्वबुद्धिर्देहे ह्यहं यस्य न तस्य शुद्धिः (६-४७) ॥ १९ ॥

रोगग्रस्ता निरोगा वै दृश्यन्ते विविधाजनाः। संसाररोगसुग्रस्ताः सदेवासुरमानवाः।
न विना काशिकां केचित् अरोगाः सम्भवन्त्युत (६-५४-५५) ॥ २०॥
न कोऽपि दृष्टो मनुजो विना पापं शरीरभाक्।
कुर्वन्नपि महापुण्यं पापं संस्कारतश्चरेत् (७-११) ॥ २१ ॥
देहः स्वकार्यं कुरुते इन्द्रियाणि स्वकर्मसु ।
प्रवर्त्तन्ते बलादेव मनः केन निवार्यते (७-१२) ॥ २२ ॥
काश्यामागत्य सततं श्रोतव्या काशिसत्कथा ।
न विना श्रवणं पुण्यं पापं वावेत्ति कश्चन (७-६१) ॥ २३ ॥
विदित्वा यतते भूयो निस्ताराय पराय च ।
सर्वं लोकेषु वेदेषु विचारः श्रवणाद्भवेत् (७-६४) ॥ २४ ॥
जड़ानां देहगेहादि प्रीतियुक्तमनोधियाम्।
अन्यप्रदेशवत्काशी भाति नित्यं दुरात्मनाम् (८-३४) ॥ २५ ॥
ज्ञानं तु दुर्लभं नृणां विषयासक्तचेतसाम्।
तज्ज्ञानं काशिकायान्तु साक्षाद्भवति देहिनाम् (८-५७) ॥ २६ ॥
देहाभिमानिनां सौख्यं ऋषीणामपि दुर्लभम्।
अत्रानन्दवने ज्ञानमाच्छादयति दुर्मतिः (८-५८) ॥ २७ ॥
यावज्जीवं वसेत्काश्यां प्रत्यब्दं सुप्रदक्षिणम्।
जीवन्मुक्तास्तु ते ज्ञेया निष्पापाः काशिवासिनः (८-७३) ॥ २८ ॥
पुत्रो भ्राता पिता वाऽपि यः काश्यां पापमाचरेत्।
त्याज्य एव स पापात्मा भवेत्संसर्गजं भयम् (६-३६) ॥ २६ ॥
काश्यां वसेद्धर्मपरो महात्मा न वित्तकामादिपरः कदाचित्।
वित्तं पुरा दैवकृतं तु यावत् तावद्भवत्येव न चात्र वादः (१२-७३) ॥३०
बीभित्सिते दुर्विषहे कदाचित् यो वाऽनुरागो भविता नरस्य ।
स चेद्भविष्यत्परमात्मनीशे को नामयुक्तोनभवेद्भवाब्धेः (११-५३) ॥३१॥

द्वेषोमानस्तथादम्भो रागो लोभः सुदारुणः ।
प्रवृत्तिभाजां सततं भवन्त्येते न संशयः (१२-१०६) ॥ ३२ ॥
क्व काशिकायां सुखदा प्रवृत्तिः क्व पापराशौ विषये प्रवृत्तिः ।
क्व विश्वनाथानुगतिः परप्रदा क्व दीनमर्त्त्योपसृतिः सुदुःसहा (१२-११०) ॥ ३३ ॥
समस्तदेवशरणं सर्वतीर्थाश्रयं शुभम् ।
अविमुक्तं महाक्षेत्रं सेव्यं धीरैर्जितेन्द्रियैः (१३-७६) ॥ ३४ ॥
वसन्ति पापा नहि काशिकायां वसन्ति चेदत्र मृतिर्नजायते ।
मृतिर्भवेच्चेन्नहि यातनाक्षयः क्षये भवेन्मोक्षसुखन्तुधिक्कृतम् (१३-७६) ॥३५॥
न लोलुपाः कामपराः क्रुधान्विताहिंसाऽक्षमाऽदानपराः सदाशिवम् ।
पश्यन्ति लोकाः परवादकारिणः पैशून्यपाखण्डविवादवादिनः (१३-८०) ॥३६॥
पश्यन्ति ये शान्तसमानवृत्तयः सदा सदाचाररता द्विजातयः ।
परोपकारादिषु चाऽप्रमत्ताः प्रमत्तसंसर्गविवर्जिताश्च (१३-८१)॥३७॥
शिवामृतं ये श्रुतिभिः पिबन्ति, गङ्गामृतं ये मुखतःपिबन्ति ।
पिबन्ति ये काश्यमृतं पुनः पुनर्नजातु मातुः स्तनपा भवन्ति (१३—८२) ॥ ३८ ॥
क्षेत्रं यत्र न तत्र तीर्थनिचयस्तीर्थानि यत्रापि चेत् ।
तीर्थक्षेत्रसमागमेऽपि न शिवः सर्वस्य धाताऽच्युतः ॥
देवा यत्र मिलन्ति तत्र गमनं लोकस्य नो भाव्यते ।
सर्वं ह्येतदबाधितं सुखकरं लोकस्य काश्यां ध्रुवम् (१३—८३) ॥३९॥
यथा तेजो महाभूतरूपं ब्रह्मन् प्रकाशकम् ।
उपाधिरूपमासाद्य सूर्यदीपकयोरपि ॥
अधिष्ठानानुसारेण प्रकाशं कुरुते पुनः ।
हिरण्यगर्भबीजानां यथा भेदः पृथक्पृथक् (१४-४३-४४) ॥ ४० ॥
एवं महन्मयं पात्रं अविमुक्तं सनातनम् ।
तत्र ब्रह्मप्रकाशो हि न सन्देहास्पदो भवेत् (१४—४५) ॥ ४१ ॥

पृथ्वी पृथ्व्यामग्निरग्नौ यथा हि वायुर्वाते तोयतत्त्वं जलेषु ।
एवं शुद्धे कारणे काशिरूपे जीवोपाधिं दह्य जीवो विमुच्येत् (१४—४७) ॥ ४२ ॥
मीमांसते ये मम वासभूमिं तेषां विचारो हृदयान्न याति ।
सन्देहभाजः खलु दुःखभाजः सन्देहिनां नाम कुतः सुखं स्यात् (१४-५५) ॥४३॥

ब्रह्माग्निरूपा काशीयं दहेत्पापानि सर्वशः ।
दृष्टा स्पृष्टा स्मृता वाऽपि किम्पुनर्धर्मवासिनाम् (१४—५६) ॥ ४४ ॥

सच्छास्त्रं सज्जनासङ्गः सद्बुद्धिः सद्वचोऽसकृत् ।
सदाचारः पथ्य युञ्जन् पथ्यत्वेनावसीदति (१५—४५) ॥ ४५ ॥

विश्रामः सत्सु परमो विश्रामः शिवकीर्त्तनम् ।
विश्रामो लोभहननं विश्रामः पार्थसारथिः (१६—२२) ॥ ४६ ॥

परान्नं परवादाश्च परदारास्तथा धनम् । अदानाचारविद्वेषाऽभक्ष्यालस्यानुदैन्यता॥
दशदोषा महादेवि ! वर्ज्याः काशिनिवासिभिः (१६-३६) ॥ ४७ ॥

योगेश्वराणां धनतो विरक्त्या गुरूपसत्त्या परमार्थदृष्ट्या ।
असत्कथाऽसज्जनवर्ज्जनाज्जपादास्तिक्यबुद्ध्या शिवनामकीर्त्तनात् (१६-४६) ॥४८॥
आहारशुद्ध्या मृदुभाषणेन शान्त्या सदाचारजपेन दानैः ।
कामादिरागादिविवर्जनेन क्रोधादिमात्सर्यमदादिवर्जनैः (१६—४७) ॥ ४९ ॥
मानापमानादि विचारवर्जनैर्जन परं देवमुमासहायम् ।
पश्यत्यथोऽनुग्रहमेति शङ्करात्काश्यां सुखं वा समवाप्नुयाद्वरम् (१६—४९) ॥५०॥

स्थानानु रूपावृत्तिर्हि पुरुषस्य विराजते ।
न ह्यग्निहोत्रशालायां क्रियते मलमोचनम् (१६-६०) ॥५१॥

कृते काश्यां ज्ञाननिष्ठा वसन्ति त्रेतायान्ते यज्ञदानप्रधानाः ।
पूजादानं द्वापरेतुप्रकुर्युः तिष्ये दानं केवलं मोक्षहेतुः (१६-६६) ॥५२॥

असत्समागमः काशि ! पापादपि सुदारुणः ।
पापं भोगात्प्रणश्येत पापाः पापविवर्द्धनाः (१८—११) ॥ ५३ ॥

अहङ्कारनिवृत्त्या तु केशवो न हि दूरतः।
अहङ्कारयुतानाञ्च मध्ये ये पर्वतराशयः (१८-१०१) ॥ ५४ ॥
न देहगेहादितनूजजायाधनानि सर्वाण्यपि पावनानि।
नरस्य कुर्वन्ति सुखं कदाचित्तस्मात्सुकाशीगमनात्सुखीभवेत् ॥५५॥
गुरुभक्त्या स मिलति स्मरणात्सेव्यते बुधैः।
मिलितोऽपि न लभ्येत जीवैरहमिकापरैः (१६—१६) ॥ ५६ ॥
संस्कारा दश कथ्यन्ते देहिनः शुद्धिहेतवः।
आदौ सद्भिः सङ्गतिर्हि ततो निस्तारबुद्धिता ॥
ततः सच्छास्त्र परता विचारस्तदनन्तरम्।
ततश्चानुभवास्वादस्ततो विषयमोचनम् ॥ ५७ ॥
आहारशुद्धिश्च पुनस्ततः प्रीतिर्जनार्दने।
ततः सर्वं विष्णुमयं सर्वदानन्द एव च ॥ ५८ ॥
यावत्पापैस्तु मलिनं हृदयन्तावदेव हि।
न शास्त्रे सत्यबुद्धिः स्यात्सुबुद्धिः सद्गुरौ तथा (१६—५५) ॥५६॥
अनेकजन्मजनित पुण्यराशिफलं महत्।
सत्सङ्गशास्त्रश्रवणादेवं प्रेमादि जायते (१६—५६) ॥ ६० ॥
रसो महान् विष्णुकथा तदुक्तम्पथ्यमुच्यते।
उपदेष्टा सुहृद्वैद्यो रोगः संसार एव च (१६—६३) ॥ ६१ ॥
स्नातव्यं जाह्नवीतोये द्रष्टव्यः पार्वतीपतिः।
स्मर्त्तव्यः कमलाकान्तो वस्तव्यं काशिकास्थले (१६—६५) ॥ ६२ ॥
प्रीतिर्न विद्यते यस्य विषये विषमप्रदे।
ज्ञानाधिकारमतुलं लभते स महामतिः (२०—३१) ॥ ६३ ॥
धनादिस्नेहकृद्यस्तु स पापात्माऽतिवञ्चकः।
आत्मघाती न शुद्ध्येत श्रुतैः शास्त्रैरनेकधा (२०—३२) ॥ ६४ ॥

यस्य भक्तिर्भगवति गुरौ परमपूरुषे ।
तस्य श्रुतं फलत्यत्र नान्यस्य विकृतात्मनः (२०—७७) ॥ ६५ ॥
खेदो विरागः सन्तोषः कामादिमलकर्त्तनम् ।
दृश्यन्ते यत्र चैतानि मुमुक्षा च हरौ रतिः ॥
तस्मिन्नभिन्ने सत्पात्रे क्षिपेज्ज्ञानामृतम्महत् ।
विष्णुभक्तिस्तु महती निष्पापा काशिकास्थितिः (२०-७३-७४) ॥६६॥
गृहं न काशी सदृशं सुखाय पिता न विश्वेशसमः क्वचिद्भवेत्
माता भवानी सदृशी न गर्भदा कुटुम्बमत्रत्यजनोजनार्दनः (२०—६५) ॥६७॥
काशी दृष्टा येन पुंसा सुराच्या प्रष्टुं चान्यन्नेच्छते रूपवच्च ।
श्रोत्राभ्यां वै यैः श्रुता काशिवार्त्ता तेषां श्रोत्रं श्रोतुमन्यन्नचैति (२१-५) ॥ ६८ ॥
असत्सङ्गान्नूनं भवति विविधं दुःखमुचितं,
विचारो ह्याचारप्रभृतिभिरथो याति विलयम् ।
अतः पुण्याः सन्तो विविधविकृतिस्थानमखिलं,
विहायास्यां कामं शिवसदनमेकान्तसदनाः (१६—१५) ॥ ६९ ॥
ये काशीगुणवर्णनेष्वभिरतास्तेषां न जिह्वा पुन-
र्निस्सारं जनजन्मजीवनमृतिप्रायं पुनर्वर्णयेत् ।
येषां पादयुगं विसर्पति मुदा श्रीकाशितीर्थेष्वहो॥
तेषाञ्चङ्क्रमणं सुखाय न भवेत्कैलासलोकेष्वपि (२१—६) ॥७०॥
काशी काशीति काशीति रसना रससंयुता ।
यस्य कस्याऽपि भूयाच्चेत्स रसज्ञो न चाऽपरः (२१—८) ॥ ७१ ॥
आदिमध्यावसानेषु सरसा सुरसात्वियम् ।
काशिका सर्वरसिकैः सेव्या प्रार्थ्या त्वहर्निशम् (२१-३१-३२) ॥७२॥
यज्ञार्थिनां यज्ञफलं यदत्र तीर्थार्थिनां तीर्थफलं पवित्रम् ।
योगार्थिनां योगफलं महत्तथा दानार्थिनां दानकृतं फलं स्यात् (२१—४०) ॥७३॥

उमासहायः शशिशेखरोऽत्र लक्ष्मीसहायो मधुसूदनोऽत्र ।
धर्मः सुखं शान्तियुतं यदत्र ह्यतोऽविमुक्तं परमम्पदं स्यात् (२१—८८) ॥ ७४ ॥
काशिका सकलतीर्थसेविता काशिका सकलदेवपूजिता ।
काशिका सकलशास्त्ररूपिता काशिका परपदप्रकाशिका (२१-६१)॥७५॥
जले विलोडिते राजन् कलुषं बिम्बघातकम् ।
स्वस्थे बिम्बप्रतिबिम्बप्रतीतिः पुरुषस्य हि (२१—१०२) ॥ ७६ ॥
तथा काश्यां व्यापृतानां नैवामात्मा प्रतिबिम्बति ।
अतः कदाचित्येकेचित्प्राप्नुवन्ति गतव्यया: (२१-१०३) ॥ ७७ ॥
धनधान्यगृहक्षेत्रमित्राणि पशवस्तथा ।
यत्सम्पर्कात् प्रियाणिस्युस्तमात्मानं हरिम्भज (२१-१०५) ॥ ७८ ॥
भक्ताः पापहराः समस्तजगतां भक्ताः परं साधवो,
भक्ता एव पुनन्ति तीर्थतनवो भक्ताः सुसक्तामपि ।
भक्तेष्वेव सुनिश्चलाः परतराः संसिद्धयो भूरिशो,
भक्तानाशु न सन्त्यजेत्सुमनसो भक्तेषु विष्णुः स्थितः (२१—१२२) ॥७९॥
यदा धनादिषु प्रीतिर्न भवेत्सुकृतैर्धनैः ।
तदा प्रीतिर्भगवति वासुदेवे शिवे भवेत् (२२—६१—६२) ॥ ८० ॥
एक एव मनः सम्यग् विषये वा परात्मनि ।
योजितं याति सततं नृणामेव तदात्मताम् (२२—६३) ॥ ८१ ॥
धनस्नेहादधो याति पुण्यस्नेहादुपर्यपि ।
हरिस्नेहाद्व्यापकत्वं विचार्यस्नेहमाचरेत् (२२—६३) ॥ ८२ ॥
पवित्रं कनकम्प्रोक्तमपवित्रम्परं स्मृतम् ।
भोगसाधनबुद्ध्यातु रक्षितन्नरकावहम् ॥
अपवित्रम्परम्प्राहुर्द्रव्यं शुद्धिविघातकम् (२२—६४—६५) ॥ ८३ ॥
व्ययीकृतम्विष्णुबुद्ध्या महापावनपावनम्,

न सुवर्णसमम्मित्रं न सवर्णसमो रिपुः ।
मैत्रीम्विहाय तु कथं शत्रुत्वं साधयेद्बुधः (२२—७३) ॥ ८४ ॥
तथादेवार्पणम्मुक्त्वा पापार्थं कथमर्पयेत् ,
काश्यां जीवनपर्याप्तं हिरण्यं सुखदम्भवेत् ।
भुञ्जते ये महात्मानः सदाचारनिवासिनः (२२—७२) ॥ ८५ ॥
अनित्यताऽनुसन्धेया जगतो विकृतात्मनः ।
परतः स्वतस्तथा शास्त्राद्दृष्टश्रुतविचारतः (२२—८३) ॥ ८६ ॥
निरालम्बम्मनोराज्यं करोति विषयैर्युतम् ।
काश्यां न पातकैर्योगः सम्पाद्यः साधुभिः सदा ॥ ८७ ॥
सावकाशनराः सर्वे पूर्वाभ्यासकृतश्रमाः ।
गच्छन्त्यशास्त्रमार्गेण सर्वधर्मविवर्जिताः ॥ ८८ ॥
अतः सत्सङ्गशास्त्राणि शिवविष्णुपरायणः ।
अवकाशानिरोधार्थं साधयेज्जीवनावधि (२२—९७ ॥ ८९ ॥
क्व काशी क्व शरीरं हि मानुषं पुरुषार्थदम् ।
क्व पापविषयाः सर्वे परिणामार्त्तिशोकदाः (२२–१००) ॥ ९० ॥
न काश्यां व्याकुलीभूय नीरसेषु मनो नयेत् ।
अनेन जन्मनैकेन स्वीकुर्याच्छाश्वतम्पदम् (२२—१०१) ॥ ९१ ॥
जीवता यत्सुखं काश्यां अविक्षिप्तेन्द्रियात्मनाम् ।
न तत्सत्ये न कैलासे न वैकुण्ठे कथञ्चन (२२—१०२) ॥ ९२ ॥
देहाभिमानाद्यत्पापं न तद्गोवधकोटिभिः,
नश्वरे विकृतेऽशुद्धे दुःसाध्ये च सुदुर्लभे ।
प्रवृत्तिर्विषये नृणां पातकं किमतःपरम् (२३—१०—१५–१६) ॥९३॥
मत्स्मृत्या सर्ववृषयुक् विस्मृत्या पापयुग्भवेत् ।
यदा यदा विस्मरणं करोति तदा तदा दूरतरम्प्रयामि ॥

यदा यदा मां स्मरते महात्मा तदैवसद्यस्प्रविशामिबन्धुः (२३-७१) ।।९४।।
यैरहं सुकृतैर्दृष्टः स्पृष्टः सम्पूजितः श्रुतः,
स्मृतस्तएव मां नित्यं न त्यजन्ति कदाचन ।
कलावपि प्रसन्नोऽहं प्रयच्छामि महेश्वर !
काशीं ये न प्रमुच्यन्ते संसाराद् दुःखसागरात् (२३-९४-९८) ।। ९५ ।।
सर्वे सरागैः परिकल्प्यमाना भवन्ति रागादिसमृद्धयेऽलम् ।
अतः कलौ दानमेकङ्कथश्चित् काशीं सुतीर्थेषु समाश्रयेत (२३-१०२) ।।९६

श्रीविष्णुरुवाच

अहम्विचार्याखिलशास्त्रजालं सुखस्य मोक्षस्य निधानमेकम् ।
प्रसन्नरूपः खलु वै दिशामि काश्यां स्थितिर्मरणम्पापशून्यम् (२४-५) ।।९७।।
न ये गुरुं स्वात्मरहः प्रकाशं भजन्ति भावैः सकलैर्मनुष्याः ।
न तच्छ्रुतं कार्यकरं भवत्यलं मुमूर्षवे, दत्तमिवौषधम्परम् (२४-८६) ।।९८
पुण्यस्य पापस्य निदानमेकं शृणुष्व देव ! प्रवदामि सत्यम् ।
मनुष्यदेहम्परमं समाप्य स्वात्मान्रतिर्वा विषये भवेद्वा (२४-१४) ।।९९।।
मोक्षलक्ष्मीप्रदे क्षेत्रे विषयेषु दरिद्रता,
आकण्ठमग्नो गङ्गायां म्रियते स पिपासया ।
विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्माऽहमिति यो वदेत् ।।
गर्भवाससहस्रेषु पच्यते पापकृन्नरः (२५-२४) ।। १०० ।।
या काशी धर्मजननी या काशी मोक्षदायिनी ।
पापक्षयकरी या च तां काशीं द्रुह्यतेऽधमः (२५-७३)
दानमेव कलौ नृणां प्रायश्चित्तं न चेतरत् (२५-८८) ।। १०१ ।।
सताम्प्रसङ्गैः श्रवणैः सुकीर्त्तनैर्निन्दापरद्वेषविषादवर्जनैः ।
दानैश्च तैरिन्द्रियनिग्रहैश्च प्रतिग्रहग्राहविवर्जतैश्च ।।

भवन्ति लोकाः सुखिनो विरागाः कामारिवासे वृषरागयुक्ताः।
विशेषतो निन्दनवर्जिता जना जनार्दनं सानुनयम्प्रकुर्वते (२६-३४)॥१०२
वक्ता परुषवाक्यानां विज्ञेयो नरकागतः।
सन्देहो न मुनिश्रेष्ठाः पुनर्यास्यति यातनाम् (२६-५) ॥ १०३ ॥
सर्वज्ञत्वं बुद्धिमत्त्वं धार्मिकत्वं तथात्मनि,
निन्दन्ति पापा आरोप्य स्वस्मिंल्लोकान् पृथग्विधान्।
अतएव त्वया वत्स। निन्दितस्याऽपि देहिनः।
न श्रोतव्या न कर्त्तव्या न स्थेयं तत्र यत्र सा (२६-२७-३३) ॥ १०४ ॥
ऋषयो राजऋषयो वैश्याः शूद्रास्तथान्त्यजाः।
अन्येऽपि देवयक्षाद्याः पतिता अनृतेन हि।
अनृतंन वदेत्प्राज्ञः प्राणैः कण्ठगतैरपि (२६-४५-४६) ॥ १०५ ॥
दुःखप्रदोऽतो भवति नानृतात्पातकम्परम्।
पुराणेषु पृथग्गीतं नानाख्यानैरनेकशः।
अनृतं नैव वक्तव्यं अनृतात्सुकृतं क्षरेत् (२६-५०) ॥ १०६ ॥
सर्वं सविघ्नं मोक्षस्य साधनङ्काशिकाम्विना,
काशीनिर्विघ्नजननी काशी मोक्षस्य सत्खनिः।
विष्णुविश्रामभूमिश्च शिवविश्रामभूमिका (२६-८२-८२) ॥ १०७ ॥
विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्माऽहमिति यो वदेत्।
गर्भवाससहस्रेषु पच्यते पापकृन्नरः (२५-२४) ॥ १०८ ॥

श्रद्धाधर्मस्य मोक्षस्य श्रद्धापापप्रणाशिनी। श्रद्धया सुखिनो लोकाः श्रद्धया शान्तिराप्यते॥

बीचमें ऐसा लेख है
श्रद्धारूपी सुवर्ण के तार में
श्लोकरूपी रत्नों को खचित करके, यह अलौकिक, अपूर्व
अमूल्य, अत्यद्भुत और सुन्दर माला का जो निर्माण हुआ है, उसके तार को ब्रह्मार्पणधिया कृतकर्मों द्वारा खूब बँटकर दृढ़ करके धारण करना चाहिये जिसमें रत्नों के भार से माला किसी प्रकार भङ्ग न हो; श्रद्धा की प्राप्ति का उपाय केवल सुश्रवण है, जिसका क्रम इस प्रकार 'काशीरहस्य' में वर्णित है, जो प्रश्न और उत्तर के रूप में यहां लिखा गया है।

कथं श्रद्धा अवाप्यते? गुरौ शास्त्रे च महति श्रद्धा पुण्यैरवाप्यते। किं तत्पुण्यं? श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तं ब्रह्मार्पणधिया यत् शुभं कर्तव्यं कर्म क्रियते तदेव पुण्यम्। श्रद्धापूर्णेति कथं ज्ञातव्या? या किं सत्यमनृतं चेति विचारः सम्प्रवर्तते अथ च सत्यपरिवर्जनं न भवति, तदा महाफला श्रद्धापूर्णा भवति।

ब्रह्मार्पणधिया शुभं कर्म कदा क्रियते? यदा सद्गुरुकृपाभवति। सद्गुरुकृपा कदा भवति? यदा सुश्रवणं भवति (सद्गुरोस्सकाशात्)। सुश्रवणं कदा भवेत्? यदा साक्षाद्भगवति शिवतनौ गुरौ मर्त्यासद्धीः न भवति, तदा सुश्रवणं, श्रद्धा प्रथमसोपानं हृद्देशे उपजायते अन्यत्र अ० २१ श्लोक १११ में "ये शास्त्रविग्रहन्देवं गुरुं सेवनैर्दानमानश्च प्रभजन्ति तेषां श्रवणम्भवेत् अन्यथा श्रवणं श्रुतं अनर्थाय श्रवणं विघ्नतः भवेत्॥ शिवतनौ गुरौ मर्त्यासद्धीः कदा न भवति? यस्य विश्वेश्वरस्तुष्टस्तस्य स्याच्छ्रवणे मतिः, जायते पुण्ययुक्तानां महानिर्मल-चेतसाम्॥

श्रीकाशीरहस्यान्तर्गत श्रीकाशीमाता का स्वरूप
बीच में काशी का चित्र है :—

चित्र के नीचे ऐसा लेख है—

श्यामा षोडशवार्षिकी सुकरुणा मूर्तिर्दधानावरं,
हस्ताभ्यामभयं च विश्वजननी विद्येति सा गीयते ॥
या दृष्टा स्मरणङ्गताऽपि सततं या कीर्त्तिता संस्तुता ।
या स्पृष्टा नृभिरात्मतत्वममलं दद्याद्ध्रुवं काशिका ॥

अ० १६ श्लो० १०७

जयति जयति काशी काशितज्ञानराशिः, शिवहरिरविधातृश्रीगणेशाम्बिकानाम् ।
निवसतिरियमाद्या तां भजध्वं भजध्वं स्मरत नमत शुद्धाशुद्धये कीर्तयध्वम् ॥ २ ॥

जिस श्रवण के द्वारा श्रद्धा का उदय हुआ, उस श्रवण का माहात्म्य इस प्रकार इसी ग्रन्थ में निरूपित है ।

गजस्य मत्तस्य यथाङ्कुशोभवेत् तथा नृणां श्रवणं मार्गदायि ।
श्रुत्वाऽपि ये पापरता वराका ह्यसाध्यपिण्डे नहि कृत्यमौषधैः ॥ ३ ॥

"श्रवणे सर्वमस्तीह श्रवणं नान्यतः क्वचि । अन्यत्सर्वं परित्यज्य श्रवणम्परिसाधयेत्"

इस सूक्तिरत्नमाला का श्री बदरीप्रसाद खण्डेलवाल (मानमन्दिर) (काशी) ने श्रद्धापूर्वक ग्रथनकर रत्नाकर श्रीसाङ्गवेदविद्यालय में प्रतिष्ठापनार्थ वेदशास्त्र-संरक्षक मेहता पं० श्री मुरारीलालजी महोदय को सादर समर्पित किया ।

श्री वैक्रम सम्वत् २०१३ वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया ।

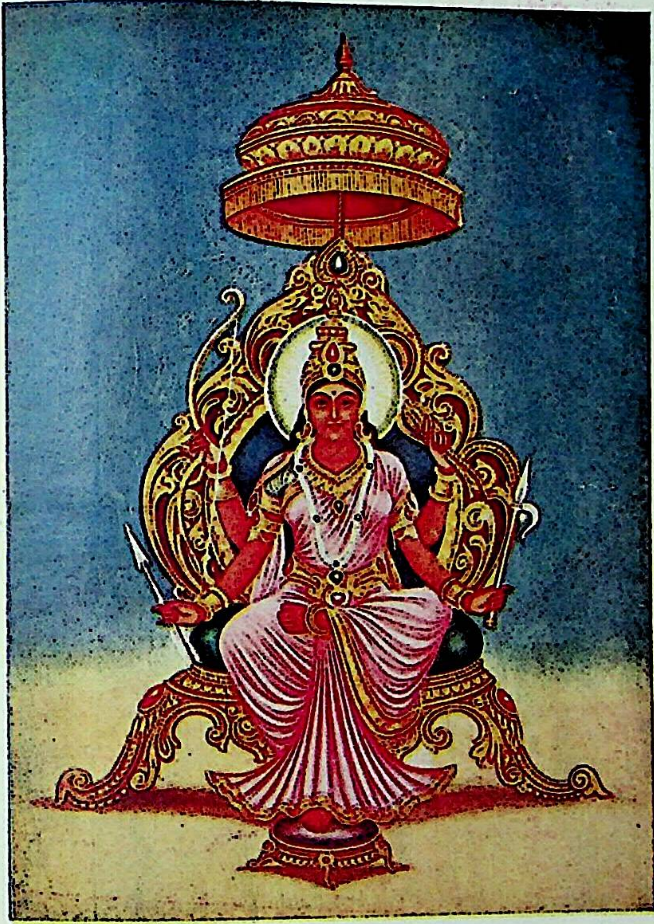
श्रवणेन परा सिद्धिः श्रवणेन परं सुखं । श्रवणेन परं ज्ञानं धर्मादि श्रवणे न च ॥

(यह श्लोक ब्लाक में टेढ़ी लाइनोंवाला है ।)

अतःपरं (ब्लाक में नीचे दक्षिणभाग में)

इदं दैवज्ञ नीलकण्ठात्मजरमानाथसुतकमलाकरनाम्ना लिखितम् । १३-५-१९५६



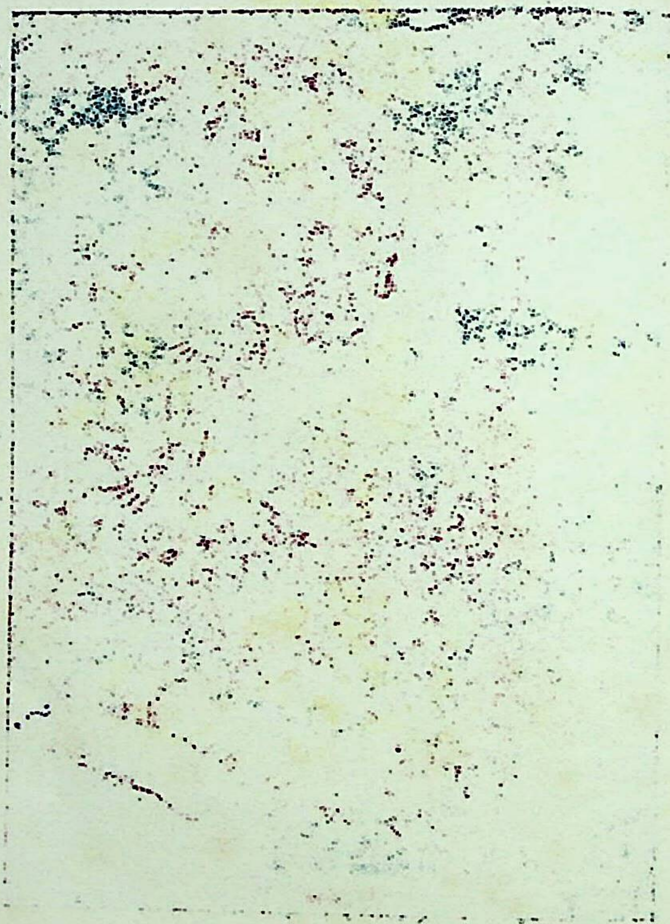


भगवती भवानी

उद्यद्भास्करसन्निभां त्रिनयनां माणिक्यवर्णां शिवाम्
पाशं चाङ्कुशमिक्षुचापमनिशं बाणान्दधानां पराम् ।
ध्यात्वा कल्पलतां समस्तफलदां नित्यां नितान्तप्रियाम्
विश्वेशस्य विनायकस्य जननीं गौरीं नमेद्यो नुताम् ॥

काशीरहस्ये अ० २०

श्लोक—११२



॥ श्रीगणेशायनमः ॥

अथ श्रीब्रह्मवैवर्त्तपुराणस्थ तृतीयखण्डान्तर्गतम्

सटीकं

काशीरहस्यम्



(परिशिष्टरूपम्)

प्रथमोऽध्यायः

मुनिसूतसम्वादवर्णनम्

ऋषयऊचुः

युगानि युगमानं च युगधर्माः सनातनाः ।
युगेषु लोकचरितं श्रुतमस्माभिरादितः ॥ १ ॥
पुनः कलियुगस्याऽस्य स्वरूपं वर्णयाऽऽदितः ।
कलिनाऽधर्ममित्रेण वंचिता अपि सज्जनाः ॥२॥

सेतुबन्धाभिधाटीका

अथेयमारभ्यतेऽवतरणिका टीकाकर्तुः श्रीविद्यानन्दयतीन्द्रस्य

उपोद्घातः

महामाया महाकालसहायं यत्प्रभोरिव ।
लीलया पञ्चकृत्येशं हार्ल्लेखं धाम मन्महे ॥ १ ॥

पंचकृत्यानि तु पंचविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहतितिरोभावस्तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्येति तंत्रोक्तानि हार्ल्लेखंहृल्लेखमेवहार्ल्लेखंहृदयस्थितमित्यर्थः ।

कंठे कलंकान्निटिले शशांकात्करे मृगांकाद्गिरिजायुतांकात् ।
नेत्रे पतंगाद्धृतमौलिगंगाद्भूषाभुजंगादपरं न मन्ये ॥

कंठेकलंकोयस्येत्यर्थे हलदन्तात्सप्तम्याइत्यलुक् एवमन्यत्र भूषा भुजंगाद्भुजंग भूषणाच्छिवादित्यर्थः मृगांको मृगरूपं चिन्हम् ।

अनंगरंगरंगिता तरंगशर्वसंगदाप्यभंगमंगलानि मे सुमंगली प्रयच्छतु ।
पतंगकोटिभासना विहंगमंजुनिस्वना कुरंगदारलोचना भुजंग भूषणांगना ॥

ब्रह्माण्डपुराणे सुमंगली सुखकरी सुवेषाढ्या सुवासिनीत्यत्र सुमङ्गली शब्दो देवीवाचकः । विहंगोऽत्र कोकिलाकुरंगदाराहरिणी हरये हराय हरये हरजायायै हराङ्गजायापि गायत्र्यैतत्पतये श्रुतये स्मृतये नमो लक्ष्म्यै ।

नमः श्रीशङ्कराचार्यपादाब्जायोपकारिणे । यस्य प्रत्युपकाराय नम इत्येव केवलम् ॥
श्रीमल्लक्ष्मवतीं लक्ष्मीं मातरं देशिकोत्तमाम् । पितरं रंगनाथाख्यं देशिकोत्तममाश्रये ॥
सदाशिवयतिं नत्वा शिवानन्दन्तथैव च । काशीरहस्यव्याख्येयं सेतुबंधाऽभिधा मया
विद्यानन्दयतीन्द्रेण शिवयोः पूजकेन च ।
तन्यते बालबोधाय शिवयोः प्रीतिकारिणी ॥
श्रीमद्देवीभागवतव्याख्यया तोषिता शिवा ।
काशीरहस्यव्याख्यातस्तोषयामि शिवौ मुदा ॥
झंझामारुतवेल्लिताऽमरधुनी कल्लोलदर्पापहा ।
वाग्गुंफाः प्रसरंति वक्त्रकुहराद्येषां तु तेषाम्पुरः ॥
एतत्किन्तु तथापि तेऽपि विलसद्बालाननादुद्गतां ।
वाणीं काणभुजीं विहाय परमां शृण्वन्ति वाणीं बुधाः ॥
यद्वा दीनदयालवः सुहृदया ये साधवः क्ष्मातले ।
ते तोक्ष्यन्ति न चाऽपि ते यदि पुनस्तुष्येन्महेशः परः ॥

सोऽप्येवं न हि चेतदीयदयिताकारुण्यवारांनिधिः ।
तोक्ष्यत्येव यतोऽम्बिकास्वतनये कारुण्यपूर्णा सदा ॥

तत्र तावन्महाप्रलयान्ते माया चिच्छक्तिः शवलपरप्रकृति शब्दवाच्यं ब्रह्म स्वशक्तौ लीनानन्तप्राणिनो मोचयितुं तत्तत्प्राणिकर्मफलोपभोगयोग्यं प्रपञ्चं रचयामास । तदुद्धारार्थं वेदमपि प्रादुश्चकारेति सर्ववेदसिद्धान्तः । स च सर्वोऽपि वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः सर्वपुरुषाणां निसर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात् दृष्टविषये च यद्यपि नागमान्वेषणा दृश्यते तथाप्यदृष्टविषये साऽऽवश्यक्येव तथा चास्त्यात्मादेहांतर सम्बन्धीत्येवं प्रतिपत्तुर्देहांतरगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायार्थिनस्तद्विशेषज्ञापनाय कर्मकाण्डमारब्धम् आरब्धे च तस्मिन्यावत्संसारकारणमविद्यारूपं न निवर्तितं तावदयं लोकः स्वाभाविकाविद्यादोषेण धर्माधर्मसमाचरणेन जन्ममरणादिनानादुःखमयसंसारफलमनित्यमेव प्राप्नोति न मोक्षमतस्तस्माद्विरक्तस्याविद्यायाः सर्वसंसारानर्थनिदानभूताया निवृत्तये तद्विपरीत ब्रह्मविद्याप्रतिपत्त्यर्थं ज्ञानकाण्डमारब्धम् तदधिकारसिद्ध्यर्थमुपासनाकाण्डमप्यारब्धं वेदे । तत्राप्यतिप्रयासं जनानां दुर्लभतां चालोक्य परमप्रकृतिरूपः परमेश्वरो भवजलधिमग्नान् जनान्मोचयितुं चिच्छक्तिस्वरूपं पञ्चक्रोशात्मकं ज्योतिर्लिङ्गं प्रादुश्चकार । तदुक्तं सनत्कुमारसंहितायां "इदं तत्परमं देवि ! ज्योतिर्लिङ्गं त्वदात्मकमिति" तथा ब्रह्मवैवर्ते कदाचिल्लिङ्ग रूपेण शिवेन परमात्मना शक्तिः पृथक्कृता शान्ता काशीति प्रथितिं गतेति तथा तत्रैवाधिष्ठात्री देवताऽपि परशक्तिरेवास्तीत्युक्तम् "अधिष्ठात्री देवतात्वमितिक्षेत्र स्वरूपिणी । भव त्वं सर्वभक्तानां महामोक्षप्रदायिनी" इति श्रीदेवीभागवतमत्स्यपुराणयोरपि इदं क्षेत्रं देव्यात्मकमित्युक्तं तथा च देवीभागवते सप्तमस्कंधे देवीगीतायां देवीपीठगणनायां "वाराणस्यां विशालाक्षी गौरीमुखनिवासिनी" इति मत्स्यपुराणेऽप्येवमेव । तथाऽन्यत्रापि "इयं या परमादेवी पंचक्रोशात्मिका परा" ।

"अस्या मन्त्रं शृणु प्राज्ञ ! जीवमोक्षप्रदायकम् ।
मायाबीजं काशिकायै नम इत्येव संवदेत् ॥
मंत्रोऽयं सर्वफलदो भजतां कल्पपादपः ।
ऋषिःस्याद्दक्षिणामूर्तिर्गायत्रं छन्द उच्यते ॥
देवतामहती गौरी सच्चिदानन्दरूपिणी ।
षट्दीर्घभाजा बीजेन षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥
श्यामां षोडशवर्षीयां वराभयकराम्बुजम् ।
नानालङ्कारसुभगां ध्यायेद्देवं तु काशिकाम्" ॥

इत्येवमन्यपुराणैस्तन्त्रैरपि काशीक्षेत्रं देव्यात्मकमेवेति स्पष्टं प्रतीयते तथापि शिवशक्त्योरविनाभूतत्वाच्छक्तिक्षेत्रस्यापि शिवात्मकत्वसंभवात्। शिवशक्त्यात्मकत्वमेतस्य क्षेत्रस्यतदुक्तम्पुराणे "न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः। नानयोरन्तरं किञ्चिचन्द्रचंद्रिकयोरिव !।" इति। एतदभिप्रायेणैव ब्रह्मवैवर्ते शिवशक्त्यात्मकं लिंगं श्रुतिभिः परिपठ्यते "योनिः शक्तिः शिवो लिंगं प्रकृतेः पुरुषस्य च।

स्वरूपं प्रथितं वेदे पुराणादिषु पार्वती ।
सदाशिवस्य या काचिच्छक्तिश्चैतन्यरूपिणी ॥

सैव काशीतिसम्प्रोक्ता लिंगरूपानपायिनी" इत्यादिवाक्यैस्तथा "यत्तच्छिवानंदमनंतमाद्यं यदावयोर्नित्यमभिन्नरूपम्। दृश्यं समस्तोपनिषत्सु मुक्तैर्जानीहि तेजस्तददोषविमुक्तम्" इत्यादि पुराणवाक्यैः शिवशक्त्युभयात्मकत्वं प्रतिपादितं तस्याऽस्य ज्योतिर्लिङ्गस्य शिवशक्त्युभयात्मकस्य प्रादुर्भावः पुराणभेदेन बहुधा दृश्यते कुत्रचिद्देवैः प्रार्थितो विष्णुः सदाशिवं प्रार्थयित्वा स्थितस्तत्प्रार्थनया तुष्टो देवो ज्योतिर्लिङ्गरूपेण प्रादुर्बभूवेति कुत्रचिद्ब्रह्मनारायणयोस्त्वत्तोऽहमुत्कृष्ट इति परस्परं मोहवशात्स्पर्धया कलहे प्राप्ते तत्कलहशान्त्यर्थं ज्योतिर्लिङ्गरूपेण महादेवः स्वस्यैव सर्वोत्कृष्टतां दर्शयितुं प्रादुर्बभूवेति। कुत्रचिद्देवदारुवने ऋषिपत्नीमोहनार्थं गतस्य विष्णुसहितस्य

शिवस्य ऋषिभिः शापे दत्ते लिंगं पतितं तल्लिंगं पश्चाच्छिवेन द्वादशखण्डं कृत्वा काश्यादिद्वादशस्थलेषु ज्योतिर्लिंगरूपेण स्थापितमिति स सर्वोऽपि वक्ष्यमाणरीत्याऽविरोधाभावेन समुन्नेयः सर्वप्रकारेणापि शिवशक्तिमयत्वं ज्योतिर्लिङ्गस्य सिद्धं श्रुतिप्रसिद्धं चैतज्ज्योतिर्लिङ्गम्। तदुक्तं जाबालोपनिषदि 'अथैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्य! य एषोऽव्यक्त अनंत आत्मा तं कथं विजानीयामिति। स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्ते उपास्यो य एषोऽव्यक्तोऽनंत आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठितो वरणायां नास्यां च प्रतिष्ठित इति का च वरणा? का च नासीति? सर्वानिन्द्रियदोषान्वारयति तेन वरणेति, सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयति तेन नासीति। तथा तत्रैव 'अविमुक्तो वै देवानां यजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनमत्र हि जंतोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षीभवति तस्मादविमुक्तमेव निषेवेताविमुक्तं न विमुंचेदेवमेव वै तद्याज्ञवल्क्येति' तथा रामतापनीयेऽपि वाराणसीमहिमा स्पष्टमुक्तः। तत्र तारकोपदेशविषये बहुधा विकल्पाः महादेवाष्टाक्षरस्तारको मंत्र इति जाबालोपनिषदि, रामषडक्षरोमंत्र इति रामतापनीये, श्रीभुवनेश्वरीमंत्र स्तारकमंत्र इति भुवनेश्वरीसंहितायां, प्रणवस्तारको मंत्रः श्रुतिपुराणादिषु। तत्र विकल्पपरिहारार्थं, शैवेभ्यो महादेवाष्टाक्षरो, वैष्णवेभ्यो रामषडक्षरः, शाक्तेभ्यो भुवनेश्वरीमंत्रो दीयते अन्येभ्यस्तु मंत्रत्रयमध्ये कोऽपि दीयते संन्यासीभ्यस्तु प्रणव इति केचिद्व्यवस्थां कुर्वंति। वस्तुतस्तु उपासनया अज्ञाननाशस्य सर्वशास्त्रविरुद्धत्वात् तादृशश्रुतिवाक्यानां तत्तन्मंत्रस्तावकत्वेनैवोपक्षीणत्वं वक्तव्यं ज्ञानादेवहि कैवल्यं "तमेव विद्वानमृतत्वमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतिभिरज्ञाननाशे ज्ञानस्यैव समर्थत्वात्। नहि रज्जुसर्पाज्ञानजन्यःशतवर्षमप्युपासनया नश्यति किंतु ज्ञानेनैवेति शास्त्रकारैर्युक्तिपूर्वकमुपहासाच्च। तस्मान्महावाक्यमेवाज्ञाननाशकम् वेदान्तेषु प्रतिष्ठितं तस्यैव भगवता महादेवेनोपदेशः क्रियतइतिसिद्धान्तः इत्यपिकेचिद्वदंति इदं सर्वमग्रे स्पष्टीभविष्यति। इत्थमनेकपुराणश्रुतिप्रथितपृथुमहिम्नो भगवत्याः परशक्तेः काश्याः कियान्महिमा मादृशैर्लिखनीय इत्युपरम्यते। तस्याः काश्या माहात्म्यं श्लोक ऋषयऊचुः युगानि युगमानंचेत्यारभ्यत एव वंद्याः पूज्याश्च कृतार्था मुक्तिभागिन इत्यन्तं षड्विंशाध्यायात्मकमस्ति तस्यैव लोके काशीरहस्यत्वेन प्रसिद्धिरस्ति; तद्यथामति व्याक्रियते "गुरुं विना न शास्त्रादि तीर्थादि फलभाग्भवेत्। यतस्ततो गुरोरेव माहात्म्यमुपवर्ण्यते। काशीयद्यपि पापघ्नी तथाप्यारब्धकर्मणाम्। न हंत्रीत्येतदप्यत्र विस्पष्टमुपवर्ण्यते॥"

सूतउवाच

संहृत्य सर्वं सुप्तोऽम्भस्यद्धयो हरिरव्ययः ।
प्रबुद्धो बुधसंसेव्यस्तदा नाभेरजायत ॥ ३ ॥
आत्मानं च परं वाऽपि न वेत्ति स यदा महान् ।
तदा भगवता प्रोक्तं मां भजस्वेति सत्तम ! ॥४॥

पूर्वकथां श्रुत्वा ऋषयऊचुः किमित्यत आह युगानीति युगानि सत्यत्रेताद्वापर-कलिसंज्ञकानि युगानां मानं परिमाणं कियत्संवत्सरपर्यन्तं किं युगमिति युगेषु ये धर्माः सत्यादयोऽनादिसिद्धाः स्वाभाविकास्तेषु युगेषु लोकानां चरितमाचरणं च त्वयोक्त-मस्माभिरादितः श्रुतमित्यर्थः ॥१॥ तर्ह्यतः परं किमुच्यते तत्राऽऽह पुनः कलियुगस्येति येनाऽधर्ममित्रेण कलिना सज्जना अपि वंचितास्तस्य पुनः स्वरूपमादितोवर्णयेत्यर्थः। अतिदुष्टस्य कलेर्गुणदोषज्ञाने जाते कर्मकरणे जनानां विश्वासोदयेन कर्मसु प्रवृत्त्या कल्याणं स्यादितिभावः ॥२॥ ऋषिवाक्यं श्रुत्वा प्रथमतः कलेरुत्पत्तिप्रदर्शनार्थं सृष्टि-माह । सूतउवाच संहृत्येति कल्पसमाप्तौ सर्वं जगत्स्वात्मनि संहृत्यानंतरमम्भसि जले सुप्तो यदा हरिः प्रबुद्धस्तदा नाभेः सकाशादजायतार्थाद्ब्रह्मा ॥३॥ आत्मानमिति स महान् ब्रह्माऽऽत्मानं कोऽहं किमर्थमुत्पन्न इति परं विष्णुं च कोऽसौ किंकार्य इतिच न वेत्ति न जानाति इति यदाऽभवत्तदा भगवताऽहं त्वन्नियंता त्वं मन्नियम्य इति बोधयितुं मां भजस्वेति प्रोक्तमित्यर्थः ॥ ४ ॥

तच्छ्रुत्वा शरणं गत्वा ननाम भुवि दण्डवत् ।
जय देव ! जगन्नाथ ! न त्वां जानामि तत्त्वतः ॥ ५ ॥
प्रसीद तात वरद ! किं करोमि तवाऽऽज्ञया ॥ ६ ॥

श्रीभगवानुवाच

तात ! मा ते व्यथा काचित्सृष्टिकर्मणि जायताम् ।
कुरुष्व महतीं सृष्टिं द्विचतुर्लक्षणां शुभाम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मोवाच

अज्ञस्य मम का शक्तिः सृष्टौ सर्ववरेश्वर ! ।
देहि सामर्थ्यमतुलं यथासृष्टिं प्रवर्धये ॥ ८ ॥

श्रीभगवाननुवाच

वेदान् गृहाण द्रुहिणशक्त्या सह सुदुर्लभान् ।
वेदं दृष्ट्वा प्रवर्तन्तां न कदाचित्पराभवः ॥ ९ ॥

सूतउवाच

वेदान्प्राप्य ततो वेधाः ससर्ज विविधाः प्रजाः ।
स्थावरान् जंगमांश्चैवाप्यण्डजादिचतुर्विधान् ॥१०॥

तद्वाक्यं श्रुत्वा यं मम शरणमाश्रयो भवतीतिमत्वा तं नियन्तारं ब्रह्मा ननामेत्यन्वयः तत्त्वत इति यद्यपि त्वं नियन्तेति त्वद्वाक्यान्मया ज्ञातं तथापि तत्त्वतस्तव रूपं न जानाम्येतादृशोऽहमर्भकोऽतो मयि प्रसीदाऽथच तवाऽऽज्ञया किं करोमि किं करिष्यामि आशंसायां भूतवच्चेति भविष्यति लट् तदपिवदेतिशेषः॥५-६॥ तातेति तातेति ब्रह्मसंबोधनं ते व्यथा मा जायतां सृष्टिकर्मण्युद्विग्नो मा भव उत्साहयुक्तो भूत्वा द्विचतुर्लक्षणां द्विलक्षणां चतुर्लक्षणां सृष्टिं कुरुष्वेत्यर्थः । स्थावरजंगमभेदेन द्विप्रकारामण्डजस्वेदजजरायुजोद्भिज्जलक्षणभेदेन चतुःप्रकारामित्यर्थः एतेन किंकरोमीत्यस्य प्रत्युत्तरं दत्तम् ॥७—८॥ वेदानिति शक्त्या सृष्टिशक्त्या सह वेदान् गृहाणेत्यन्वयः धाता यथा पूर्वमकल्पयदितिश्रुतेर्वेदार्थं दृष्ट्वा तदनुरूपामेव सृष्टिं कुर्वित्यर्थः । तेन तव सृष्टिकरणे पराभवो न भविष्यति ॥ ९—१० ॥

भगवच्छक्तियुक्तस्य स्मरणेन जगत्त्रयम् ।
आविर्भूतमनायासाद्वेदं दृष्ट्वा प्रकुर्वतः ॥ ११ ॥
सृष्टिक्रमं प्रवक्ष्यामि शृण्वन्तु परमर्षयः ।
यथाश्रुतं यथाज्ञातं यथा ब्रह्माऽकरोद्धरेः ॥ १२ ॥
कृष्णद्वैपायनात्साक्षाच्छ्रुतं जैमिनिनाऽपि च ।
वैशम्पायनपैलाद्यैः श्रुतं च ऋषिभिः पृथक् ॥ १३ ॥
सनकादीन्ब्रह्मनिष्ठान्मरीच्यादींस्तु कर्मगान् ।
तद्द्वारा देवदैत्यांश्च ससर्ज जगदीश्वरः ॥ १४ ॥
सत्यादीनि युगान्यादौ सृष्टवा धर्मान्विभक्तवान् ।
युगादिमध्यधर्मांश्च कलिधर्मान्पृथक्स्थितान् ॥ १५ ॥
व्यभजद्देवदेवेशो लोकानुग्रहकाम्यया ।
सत्यमाहूय भगवानपृच्छत्त्वं निरुद्यमः ॥ १६ ॥

साधनानन्तरं विना कथं ससर्जेति चेत्तत्राऽऽह भगवदिति भगवता दत्ता या सृष्टिशक्तिस्तद्युक्तस्य वेदं दृष्ट्वा सृष्टिं प्रकुर्वतो ब्रह्मणः स्मरणेन पूर्वकल्पीयजगत्करणानुभवजन्यस्मरणेनैव पुनः पुनः संकल्पेनैव जगत्त्रयं प्रतिकल्पमाविर्भवति ततः साधनान्तरं विनापि गन्धर्वनगराकारं स्वप्नसदृशं मिथ्याभूतं जगदनायासादेवाऽऽविर्भूतमित्यर्थः ॥ ११ ॥ यथा ब्रह्मा सृष्टिमकरोत्तद्यथा ज्ञातं यथाश्रुतं तत्सर्वं वक्ष्यामि भवन्तः शृण्वन्त्वित्यर्थः हरेरित्युत्तरेणान्वेति ॥१२॥ कस्मात्कैः कैः श्रुतमिति चेत्तत्राऽऽह कृष्णद्वैपायनादिति ॥ १३ ॥ तद्द्वारा मरीच्यादिद्वारा ॥ १४ ॥ पृथक् स्थितानिति वेदप्रतिपादितधर्मात्मकेभ्यो युगत्रयधर्मेभ्यः पृथक् स्थितान् पृथक् भूतानधर्मात्मकानित्यर्थः ॥ १५—१६ ॥

कथमाशु वदस्वेति समयस्तव वर्तते ॥ १७ ॥

सत्ययुगउवाच

न मन्मध्ये प्रवर्तन्ते विषयेषु पृथग्जनाः ।

सर्वे निवृत्तिधर्मज्ञाः सर्वे शान्ता हरिप्रियाः ॥ १८ ॥

सर्वे सुमनसः प्राणदेहेन्द्रियपराङ्मुखाः ।

नियन्तव्याः कथं तेषु तेषु धर्मेषु सत्तमाः ॥ १९ ॥

शान्तं निवृत्तं भगवत्प्रियं नरं न कर्मकालादिगुणाः प्रधर्षकाः ।

अशान्तमार्त्तं भगवत्पराङ्मुखं निन्दन्ति देवाधिकृतोऽस्मदादयः ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

मृत्युलोकं विशस्त्वाशु त्वद्धर्माः संप्रवर्तताम् ।

कालएव शनैर्लोकान्प्रवर्तयति सर्वदा ॥ २१ ॥

युगेष्वपि च सर्वेषु सर्वान्तर्भाव एव हि ।

भवत्यवश्यं सततं पुण्यापुण्यजनैः कृतः ॥ २२ ॥

समयस्तवेति सत्ययुगमिदं भवति त्वं स्वोद्योगं कुतो न करोषीत्येवं सत्ययुगाधिष्ठात्रीं देवतामाहूयापृच्छदिति पूर्वेणाऽन्वयः ॥१७॥ मन्मध्ये विषयेषु जना न प्रवर्तन्ते विषयोन्मुखा नैव सन्ति ये मया निरोद्धव्या इत्यर्थः ॥ १८—१९ ॥ देवैर्भवादृशैरधिकारे कृता नियुक्ता अस्मदादयो न भगवत्प्रियं निन्दन्ति किंतु भगवत्पराङ्मुखं निन्दन्ति ॥ २०—२१ ॥ सर्वान्तर्भाव एव हीति सर्वेषां धर्माणामधर्माणाञ्च सर्वेषु युगेष्वंतर्भावोऽस्तीत्यर्थः अयमन्तर्भावः पुण्यापुण्यजनैः कृतो भवतीत्यर्थः न त्वया मन्तव्यः सर्वे मत्समये धार्मिका एवेति किन्तु धार्मिका बहवो विरलास्त्वधार्मिका अपि सन्त्येवाऽतस्तान्नियन्तुं त्वं गच्छेतिभावः ॥ २२ ॥

सूतउवाच

रूपमाकृतिकर्मादियुगानां श्रूयतां द्विजाः ।
यच्छ्रुत्वा युगरूपं च न रूपैरभिभूयते ।। २३ ।।
सत्यं वैराग्यबहुलं ज्ञानवत्पूर्णविग्रहं ।
यज्ञोपवीताक्षमालाप्रकोष्ठं ब्राह्मणप्रियम् ।। २४ ।।
इत्यादिर्लिंगं सुभगं सत्यं प्राख्यापयत्प्रभुः ।
ततस्त्रेताद्वापरं च कलिश्चेति युगत्रयम् ।। २५ ।।

तत्र सत्ययुगं प्रति ब्रह्मणा स यथोक्तं तथान्ययुगानि प्रति ब्रह्मणोक्तमेवेत्यर्थादवगंतव्यं इत्थं ब्रह्मयुगसंवादं समाप्य ब्रह्मणा युगधर्माः सूत्ररूपेणोक्तास्तान्विशदीकर्तुं सूतउवाच रूपमाकृतीति रूपं तदधिष्ठातृ देवतास्वरूपमाकृतिर्जातिः कर्मक्रिया आदि पदेन गुणो न रूपैरभिभूयत इति एतादृशयुगस्वरूपज्ञानेन तदनुरूपकर्माचरणेन, रूप्यन्ते इति रूपाः संसारान्तःपातिविषयास्तैर्नाभिभूयते न पराभवं प्राप्नोतीत्यर्थः ।। २३ ।। तत्र प्रथमतः सत्ययुगस्वरूपमाह सत्यमिति सत्यं सत्ययुगमित्यर्थः अनेनैवानेकसत्ययुगनिष्ठा सत्ययुगत्वजातिरुक्ता भवति वैराग्यबहुलमित्यादिः कर्मनिर्देशः ये युगस्यधर्मास्त एव तद्गतप्राणिनोभवंतीत्यर्थः । पूर्णविग्रहमिति तस्मिन्काले सर्वेषां प्रायशो वैराग्यज्ञानयुक्तत्वात्पूर्णोव्यापकोविग्रहः संभवत्येव यज्ञोपवीतमित्यादिः स्वरूपनिर्देशः यज्ञोपवीतयुक्तमक्षमालाकरमित्यर्थः ।। २४ ।। इत्यादीति आदिना शांतिदयेत्यादि परिग्रहः प्राख्यापयदित्ति स्वव्यापार प्रवृत्यर्थमगमयदित्यर्थः ततो युगत्रयं प्रति ब्रह्मा प्रोवाचेत्याह ततइति कलिश्चेति यद्युगत्रयं तत्प्रतीति शेषः ।। २५ ।।

उवाच भगवान्वेधाः स्वव्यापारः प्रवर्त्यताम् ।
त्रेताऽऽहृततनुः सद्भिर्जुह्वन्स्रुवकरो वृषः ॥ २६ ॥
धर्मप्रवर्तकश्चापि प्रियधर्मः प्रकीर्तितः ।
द्वापरः खड्गखट्वांगपाणिः शरधनुर्धरः ॥ २७ ॥
लक्षणैर्लक्षितः शांतः पुण्यपापात्मकः कटुः ॥ २८ ॥
कलेः स्वरूपं शृणुताऽथविप्रा ! विवेकिनां शीघ्रफलप्रदं यत् ।
विचारहीनाः प्रयतन्त्यबोधाः कलौ यतस्ते सुविचारहीनाः ॥२६॥
पिशाचवदनः क्रूरः कलिः कलहवल्लभः ।
वामेन शिश्नं दक्षेण जिह्वां धृत्वा ननर्त च ॥ ३० ॥
पाणिना पामरैस्तुल्यः पुण्यापुण्यविमिश्रकः ।
ब्रह्मणोऽग्रे हसन् खिद्यन् रुदन्मुह्यन्नवस्थितः ॥ ३१ ॥
स्मितपूर्वमुवाचैनं ब्रह्मा पद्मवरासनः ॥ ३२ ॥

ब्रह्मोवाच

लिंगं जिह्वां दृढं धृत्वा किन्नृत्यसि कले ! मुहुः ।
गच्छ स्वकार्यपरमो भव भावेन भण्डवत् ॥ ३३ ॥

त्रेतास्वरूपमाह त्रेतेति स्रुवकरोऽजुह्वन् होमंकुर्वन्नित्यर्थः। कर्मकाण्डप्रियोऽयं रूपजात्यादिकमस्य पूर्ववदुन्नेयम् ॥ २६-२७॥ पुण्यपापात्मकः पुण्यकर्ता पापकर्ता चेत्यर्थः । कटुः क्रूरः इत्यादिलक्षणैर्लक्षितो ज्ञात इत्यर्थः ॥ २८ ॥ विवेकिनामिति वक्ष्यमाणरीत्या कलिगुणं ज्ञात्वा ये सदाचारवन्तस्तेषामित्यर्थ। शीघ्रफलप्रदं स्वल्पाराधनेनाऽपि शीघ्रफलप्रदमित्यर्थः ॥२६॥ वामेनेत्यस्य पाणिनेत्यनेनान्वयः ॥३१॥ इत्थं कलेश्चेष्टां दृष्ट्वा ब्रह्मोवाच लिंगमिति ॥ ३३ ॥

कलिरुवाच

मा मां प्रेषय सर्वेश ! सर्वोच्छेदकराकरम्। निरंकुशं निरानंदं निद्राकलहवल्लभम् ।।३४।।

परदारपरद्रव्यपरद्रोहपरायणं। वंचकं दंभमात्सर्यभेदप्रियजनप्रियं ।। ३५ ।।

एकांतयोगसंन्यासच्छलेनोदपूरकाः ।
आत्मानं च परं चापि वंचयंति मयि प्रभो ! ।। ३६ ।।

ब्रह्मोवाच

पापात्मानस्त्वयि नराः पुण्यात्मानस्तथोज्झिताः ।
भविष्यन्ति जनाजीर्णाः सोद्यमाश्च शुभाशुभे ।। ३७ ।।
त्वयि ये सावधानाःस्युः पुण्यभारकृतावनाः ।
स्वल्पमायुर्विदित्वा हि करिष्यन्ति स्वकं हितं ।। ३८ ।।
तेषां त्वमेव साहाय्यं कुरुष्व मम शासनात् ।। ३९ ।।

कलिरुवाच

बिभेमि शत्रुवर्गेभ्यः स्थितिर्मम सुदुर्ल्लभा ।
यैः कृता भारते खण्डे, कथं यास्यामि तद्वद ।। ४० ।।

ब्रह्मवाक्यं श्रुत्वा कलिरुवाच सर्वोच्छेदकराणां सर्वनाशकराणामाकरं खनिमत्यन्तं सर्वनाशकरमित्यर्थः स्पष्टमन्यत् ।। ३४—३५—३६ ।। मम प्रेषणे सर्वेऽपि पापिनः स्युस्ततश्च सर्वे दुःखिनः स्युस्तथाच न कस्यापि कल्याणं भविष्यति कलिवाक्यं श्रुत्वा ब्रह्मोवाच पापात्मान इति सत्यं त्वत्प्रसंगेन जनादुःखिनःस्युर्यदित्वयिकश्चित्सर्वकर्मणां शीघ्रफलप्रदत्वरूपो गुणो न स्यात्तस्मिंस्तु सति शीघ्रफलप्रदः कलिरिति मत्वा साधवः सत्कर्माचरिष्यन्ति ततश्च कल्याणमपि केषांचिद्भविष्यतीत्यर्थः उज्झिताः पापेनेत्यर्थः ।। ३७ ।। पुण्यभारेण कृतं कलिदोषादवनं स्वस्य रक्षणं यैस्ते ।। ३८ ।। सहाय्यं कर्मणां शीघ्रफलप्रदानेन ब्रह्मवाक्यं श्रुत्वा कलिरुवाच बिभेमीति यैर्ममभारते खण्डे स्थितिर्दुर्लभा कृता तेभ्यः शत्रुभ्यइत्यर्थः ।। ३९—४० ।।

ब्रह्मोवाच

के शत्रवस्तव वद किं शत्रुत्वं कृतंच तैः। त्वं कालात्मा दुराधर्षो दुर्ज्ञेयश्चापि पंडितैः ॥४१॥

कलिरुवाच

देव देव श्रुणुष्वाद्य शत्रुवर्गं ममानघ। उपद्रुतोऽहं न सुखं प्राप्स्ये निर्दयैरहम् ॥ ४२ ॥

शिवनामहरेर्नाम गंगा वाराणसीपुरी।
सत्संगदानतीर्थादिकथा विष्णोः शिवस्यच ॥ ४३ ॥
अन्यान्यपि च पुण्यानि मम क्षोभकराणि च।
सन्तिवेदेशं किमहं वदामि तव सन्निधौ ॥ ४४ ॥
यदा शांतः क्षणं कोऽपि भवति प्राकृतोऽपि हि।
तदा मम भयं भूरि जायते दांभिकादपि ॥ ४५ ॥
व्यग्रान् व्यापृतचित्तांश्च पुत्रदारपरीवृतान्।
दृष्ट्वा हृष्यामि भगवन्वेदसिद्धान्तविद्विषः ॥ ४६ ॥
जितेंद्रियैः शिवपरै रागद्वेषविवर्जितैः।
सह न स्थातुमिच्छामि धीरैर्धैर्यविवर्धकैः ॥ ४७ ॥
उन्मूलितुं मामिच्छन्ति बिभेमि तदनारतम्।

ब्रह्मोवाच

तव प्रभावात्तेषां हि प्रचारो विरलः सदा ॥ ४८ ॥

अनन्तरं ब्रह्मोवाच के शत्रवइति ॥४१॥ कलिरुवाच देवदेवेति ॥४२-४३-४४॥ दांभिकादपि भयं भवति किं पुनः साधुभ्यइत्यर्थः ॥४५-४६-४७-४८॥ ब्रह्मोवाच तव प्रभावादिति तव महिम्न इत्यर्थः प्रायशः कलियुगे नरके येऽवस्थिताः प्राणिनस्त एव पापकर्मशेषेण जन्म गृह्णन्तीति देवीभागवते षष्ठस्कंधे एकादशेऽध्याये यदा कलियुगस्यादिर्द्वापरस्य क्षयस्तथा नरकात्पापिनः सर्वेभवंति भुवि मानवा इत्यादिना स्पष्टं तथा च तेषां प्राणिनां सत्कर्मणि श्रद्धाभावेन तेषां बाहुल्येन साधूनां प्रचारो विरलः स्यादित्यर्थः।

भविष्यति न संदेहो गच्छ तिष्ठ यथासुखम् ॥ ४९ ॥

कलिरुवाच

मम तेषां स्वभावस्तु विरुद्धः केन हेतुना ।
उन्मूलितुं मामिच्छन्ति ते तु तानहमप्यहो ॥ ५० ॥

ब्रह्मोवाच

त्वं कालमल इत्युक्तो मले शुद्धिर्न विद्यते ।
शत्रवो निर्मलास्ते तु ततः कलह एव च ॥ ५१ ॥
यदा यः प्रबलस्तिष्ठेत्तदा विजयते परम् ।
तेषां प्रचारो विरलस्तव प्रौढो भविष्यति ॥ ५२ ॥
विवेकिनां समीचीनस्त्वं विचारवतां सदा ।
धीराः खलु कलौ जन्म वाञ्छन्ति भगवत्पराः ॥ ५३ ॥

यथा सुखंगत्वा तिष्ठेत्यन्वयः ॥ ४९ ॥ कलिरुवाच मम तेषामिति ते मामुन्मूलयितुमिच्छन्ति तानहमपीत्यर्थः ॥ ५० ॥ विरोधनिमित्तं वक्तुं ब्रह्मोवाच त्वं कालेति निर्मलानां समलानां च कलहस्तथा धर्मिणामधर्मिणांच कलहो विरुद्ध-धर्मवतां लोके दृष्टस्ततः स एव धर्मो विरोधहेतुरित्यर्थः ॥५१॥ ननु यदि ते विरोधिनः सन्ति तर्हि मम कथं निर्वाहः स्यादिति चेत्तव युगे तवैव प्राबल्यस्येश्वरेच्छावशेन सत्वा-त्तांस्त्वंजेष्यसि ततश्च तेषां प्रचारो विरलोभविष्यतीत्याह यदाय इति प्रौढ़ उत्कृष्टः॥५२॥ ननु तर्हि साधवः केचित्पुण्यकर्तारः कलावपि भविष्यन्ति सर्वयुगेषु धर्माधर्मात्मक-प्राणिनां सत्त्वात् युगतारतम्येन तु क्वचिद्धर्मिणामाधिक्यं क्वचित्त्वधर्मिणां तथा च ते मम द्वेषं करिष्यन्तीत्याह विवेकिनामिति समीचीनः शीघ्रफलदानेनातस्तेषामुप-कर्ता त्वं ततस्त्वयि द्वेषं न करिष्यन्तीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

कलिरुवाच

केनांशेन समीचीनस्त्वं प्रोक्तं भवता मम।
तदहं श्रोतुमिच्छामि यास्यामि च तवाऽऽज्ञया ॥ ५४ ॥

ब्रह्मोवाच

धैर्यमालम्ब्य यैः शुद्धैः शुद्धिः संपादिता नरैः।
न तेषां त्वत्कृतोदोषः काश्यां निवसतामपि ॥ ५५ ॥
न तेषां कलिदोषोऽस्ति लोभादिजनितः क्वचित्।
ये भजन्ति महात्मानं शिवं वाऽपि जनार्दनम् ॥ ५६ ॥
गुरुसेवा पुराणस्य श्रवणं चेन्नृणाम्भवेत्।
सर्वाणि साधनान्येव भवन्ति हि शनैः शनैः ॥ ५७ ॥
सुकृतैः शास्त्रपरता गुरुसेवा च जायते।
सारासारविवेकस्तु ततो भवति तत्त्वतः ॥ ५८ ॥

कलिरुवाच केनांशेनेति केनांशेन गुणेन त्वं समीचीन इति यद्भवता प्रोक्तं मम मां प्रति तत्केन गुणेनेत्यर्थः ॥५४॥ ब्रह्मोवाच धैर्यमिति धैर्यं चित्तनिश्चयइत्यर्थः। सुकृतिनस्त्वया न हन्यन्ते इति यो गुणः पूर्वोक्तश्च शीघ्रफलदानरूपस्तेन त्वं समीचीन इतिं मयाप्रोक्तमितिभावः ॥ ५५ ॥ काश्यांनिवसतामपीति काशी पराशक्तिर्भजन-कर्तृणाञ्चेत्यर्थः। श्लोकद्वयोक्तपुरुषेषु तव पराक्रमो न चलति। अथ च तेभ्यः शीघ्रं फलं प्रयच्छसि ततस्त्वं, समीचीनएवेतिभावः ॥ ५६ ॥ ननु यदि पूर्वोक्तश्लोकद्वयोक्ताः सुकृतिनः सन्ति तदा मम समीचीनत्वं भविष्यति मम युगे तु तेषामेव दौर्लभ्यमत आह गुरुसेवेति तथा च सुकृतिनां न दौर्लभ्यमितिभावः ॥ ५७ ॥ ननु गुरुसेवादिक-मपि ममप्रभावान्नभविष्यतीतिचेत्तत्राह सुकृतैरिति एतज्जन्मस्थसुकृताभावेऽपि जन्मा-न्तरस्थसुकृतैर्गुरुसेवादिकं भविष्यतीत्यर्थः अतएव पूर्वमुक्तं धर्मात्मान इति ॥५८॥

आत्मसारं विदित्वाऽज्ञः काशीं संसेवते कृती ।
काश्यां संसेवितायां तु लभ्यते शाश्वतं पदम् ॥ ५९ ॥
अतः सुकृतहीनानां न शर्म तु कलेर्भवेत् ।
भयात्प्रमत्तो न भवेत्कलौ सुकृततत्परः ॥ ६० ॥

कलिरुवाच

गुरुशब्दस्य तात्पर्यं वद लोकेश्वरेश्वर ! ।
को गुरुः किंच वा तस्य स्वरूपं कस्य वा गुरुः ॥ ६१ ॥

ब्रह्मोवाच

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः ।
उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः ॥ ६२ ॥

तत्त्वविवेकिनां शाश्वतपदप्राप्तावपि अज्ञानिनां का गतिस्तत्राऽऽह आत्मसारमिति आत्मैव सारोऽन्यदसारमिति विहित्वा आत्मेच्छया यो ह्यज्ञः काशीं भगवतीं पराशक्तिं संसेवते इत्यन्वयः । संसेवत इति लिङर्थे लट् संसेवेदित्यर्थः आर्षः प्रयोगः॥५९॥ भयादिति कलेर्भयादित्यर्थः ततः प्रमत्तो वेदं मर्यादारहितो न भवेत् सुकृतिनां कलेर्भयं नास्ति. दुष्कृतिनान्तु तदस्त्येवेत्यर्थः ॥ ६० ॥ इत्थं पुरुषार्थचतुष्टयप्राप्तिमुख्यकारणं गुरुः शास्त्रञ्चेति ब्रह्ममुखाच्छ्रुत्वा गुरुस्वरूपं प्रष्टुं कलिरुवाच गुरुशब्दस्येति तात्पर्यं गुरुशब्दस्यार्थं वद तथा को वा गुरुः को वा गुरोर्महिमा तमपिवद किंच तस्य गुरोः स्वरूपं लक्षणं तदपि वद किंच यथा पितृत्वं पुत्रनिरूपितं यथा वा भर्तृत्वं जायानिरूपितं तथा कस्य वा गुरुः किं निरूपितं गुरुत्वं तदपि वदेत्यर्थः ॥६१॥ कलेः प्रश्नचतुष्टयं श्रुत्वा ब्रह्मोवाच गकार इति गणेशस्य सिद्धिदत्वात्तद्बीजस्य गकारस्यापितदात्मकत्वाद्गुरुशब्दस्थगकारेण सिद्धिदत्वं लक्ष्यते इत्यर्थः । गु शब्दे उकारस्तूच्चारणार्थः । तथाग्नेर्दाहकत्वात्तद्बीजस्यापि रकारस्य तदात्मकत्वात् गुरुशब्दस्थरकारेण पापदाहकत्वं लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

गणेशो वाऽग्निना युक्तो विष्णुना च समन्वितः। वर्णद्वयात्मको मन्त्रश्चतुर्वर्गफलोदयः
गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुरेव परः शिवः। शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुरेव परन्तत्त्वं तस्माद् गुरुमुपाश्रयेत् ॥६५॥

हरौ प्रसन्नेऽपि हि वैष्णवा जनाः सम्प्रार्थयन्ते गुरुभक्तिमव्ययाम्।
गुरौ प्रसन्ने जगतामधीश्वरो जनार्दनस्तुष्यति सर्वसिद्धिदः॥ ६६॥
गुरुम्भजन् शास्त्रमार्गान्प्रवेत्ति तीर्थं व्रतं योगतपांसि धर्मान्।
आचारवर्णादिविवेकधर्मान् ज्ञानं परं भक्तिविरागयुक्तम्॥ ६७॥

कलिरुवाच

देवदेव! महच्चित्रं सर्वधर्ममयो गुरुः। धर्मादिसकलाध्यक्षः शिव एव गुरुः कथम्॥६८

विष्णोरव्यक्तस्वरूपत्वात्तद्बीजस्योकारस्यापि "अकारो भगवान् ब्रह्माऽप्युकारो विष्णुरुच्यते" इति वचनात्तदात्मकत्वात् गुरुशब्दस्यान्तिमोकारेणाव्यक्तं लक्ष्यते एतत्त्रितयात्मा एतत्त्रयस्वरूपः परो गुरुरेवं गुरुशब्दस्यार्थ इत्यर्थः। एतेषां त्रयाणां वर्णानां कर्मधारयसमासे कृते सिद्धिदायकः पापदाहकः परमात्मा गुरुशब्देनोक्तो भवति स गुरुशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ५६॥ न केवलं गुरुशब्द इतरशब्दवदिति मन्तव्यं, किन्तु मन्त्ररूप एवेति मन्तव्यमित्याह गणेशो वेति गणेशो गकारः, अग्निः रेफः, विष्णुरुकारस्तेन समन्वितो गकारो रकारश्चेति वर्णद्वयात्मको मन्त्र इत्यर्थः ॥ ६३॥ इत्थं गुरुशब्दार्थमुक्त्वा गुरोर्महिमानमाह गुरुः पितेति ॥ ६४—६५॥ हरौ प्रसन्नेऽपीति गुरुप्रसादादीश्वरे प्रसन्नेऽपि पुनर्गुरावभक्तावुत्पन्नायामीश्वरप्रसादस्य विनाशभयात् स्वस्य कृतघ्नता परिहारार्थम्वा गुरावेवभक्तिम्प्रार्थयन्त इत्यर्थः ॥ ६६॥ अथ गुरुलक्षणमाह गुरुम्भजन्निति सद्धर्मोपदेशकर्ता गुरुरिति।

गुरुलक्षणम्फलितं किन्निरूपितं गुरुत्वमित्यस्योत्तरन्तु यो गुरोः सकाशाद्धर्मादिकञ्चेति तन्निरूपितमित्यर्थादुक्तम्भवति ॥ ६७॥ महच्चित्रमिति गुरुः सर्वोत्तरः कथं जात इति महच्चित्रं महदाश्चर्यमेव भवतीत्यर्थः ॥ ६८॥ कलिवाक्यं श्रुत्वा

ब्रह्मोवाच

गुरुम्विना न श्रवणं भवेत्कस्याऽपि कुत्रचित् ।
शास्त्रस्य यस्य श्रवणान्मुच्यते त्वत्कृताद्भयात् ॥ ६९ ॥
अत्राऽर्थे सम्प्रवक्ष्यामि कथां सर्वार्थदायिनीम् ।
यां श्रुत्वा गुरुभक्त्या च धर्मेण च युतो भवेत् ॥ ७० ॥

अस्ति गोदावरीतीरे मुनेराङ्गिरसः शिवः । आश्रमः सर्वविख्यातः पुण्यद्रुममृगाकुलः
ब्रह्मक्षत्रर्षयस्तत्र तप्यन्ते तप उत्तमम् ।तन्मध्ये वेदधर्मा च ऋषिः पैलात्मजः कृती ॥७२
तस्य शिष्यास्तु बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः । तेषां सन्दीपको नाम शिष्यो गुरुपरायणः

श्रुत्वा शास्त्रपुराणानि निगमान् प्राप्य सद्गुरोः ।
नैष्ठिको न्यवसद् गेहे गुरोः सेवार्थमादृतः ॥ ७४ ॥

एकदा तत्र महता स्वकार्यार्थं महात्मना । आगच्छ सन्दीपकेति गुरुणाऽऽहूत एव च॥

आगतो जयजीवेति वदन् शीघ्रतरं महान्

वेदधर्मोवाच

मम शिष्येषु वत्स ! त्वं मयि प्रीतिसमन्वितः ॥ ७६ ॥

विचार्य वद मत्पृष्टं यदि कर्तुं क्षमो ह्यसि । पूर्वजन्मसहस्रेषु यान्यघानि कृतानि मे

पूर्वश्लोकोक्तमेव निमित्तं दृढीकुर्वन् सर्वोत्तरत्वेनाऽऽश्रयं कर्त्तव्यमित्याह गुरुम्विनेति त्वत्कृतात्कलिकृतादित्यर्थः। इदमुपलक्षणं सर्वभयस्यापि गुरुम्विनाऽविद्याजन्यसंसार-भयस्य नाशाभावात्। तदुक्तम् 'गुरोः शास्त्रं ततो धर्मस्तस्मादर्थादिकन्त्रयम्' इति ॥७४

वाराणस्यां स्वल्पमपीति ननु "महापातकयुक्तोऽपि श्रद्धयारहितोऽपिवा। काशी-प्रवेशादनघः सम्यक्स्थित्वा सुखीभवेत्" इति वक्ष्यमाणवचनेन तथा 'जन्मान्तरसह-स्रैस्तु यत्पापं पूर्वसञ्चितम् । अविमुक्तं प्रविष्टस्य तत्सर्वं व्रजतिक्षयम्' इति वचनेन च काशीप्रवेशमात्रेणैव सर्वपातकनाशसिद्धौ वेदधर्ममुनिना किमिति प्रायश्चित्तमाचरित-मिति चेन्न, तथात्वे काशीप्रवेशोत्तरं दशाश्वमेधीयादिलिङ्गानां दर्शनेन दशजन्मार्जित-

तानि सर्वाणि हि शनैः क्षालितानि तपोवलात् ।
वाक्कायमानसानीति मोक्षविघ्नकराणि च ॥ ७८ ॥
कानिचित्तेषु शिष्टानि भोक्तव्यानि मतिर्मम ।
अभुक्तानि विनश्यन्ति न कदाचिदपि ध्रुवम् ॥ ७९ ॥
पापानि सर्वशास्त्रेषु विहितेयं स्थितिः परा ।
वाराणस्यां स्वल्पमपि प्रायश्चित्तं महाघहृत् ॥ ८० ॥
पापद्वयस्य युगपद्भोग आरभ्यते मया । शुश्रूषा चेत्त्वया कार्या वद वत्स! महामते!॥
अथवाऽन्यं वृणे शिष्यं सेवार्थं सोऽहमादरात् ॥ ८२ ॥

पापनाशप्रतिपादकवचनानाम्वैयर्थ्यापत्तेः, प्रवेशमात्रेणैव कार्यनिर्वाहात् । ननु प्रवेशमात्रेण सर्वपापनाशो लिङ्गदर्शनेन तु पापवासनानाशस्तत्तद्वचनेषु पापपदेन पापवासना ग्राह्या इति चेन्न, लिङ्गप्रदर्शनोत्तरं पापवासनानुदयाल्लोकानां पापे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । दृश्यते च तत्तल्लिङ्गदर्शनवतामपि पापप्रवृत्तिस्तस्मादुभयवचनानामेवं व्यवस्था; कानिचित्पातकानि लघुजातीयानि, कानिचित् गुरुगुरुतरगुरुत्तमादिजातीयानि तथा च प्रवेशवाक्यस्थसर्वपदेन लघुजातीयानि ग्राह्याणि लिङ्गदर्शनवाक्यस्थसर्वपदेन गुरुजातीयानि अन्तर्गृहपञ्चक्रोशप्रदक्षिणाप्रतिपादकवचनस्थसर्वपदेन गुरुतरगुरुतमजातीयानीति न काचिदनुपपत्तिः । अतएव काश्यां प्रायश्चित्त प्रतिपादकानि "वाराणस्यां स्वल्पमपि प्रायश्चित्तं महाघहृत्" इत्यादि वचनानि संगच्छन्ते अन्यथा काशीप्रवेशमात्रेण तत्रस्थलिङ्गादिदर्शनेन च सर्वपापनाशे प्रायश्चित्तानुपयोग एव स्यादेतस्मादेव वचनात्प्रायश्चित्तनाश्यं प्रायश्चित्तेनैव नश्यति तच्च प्रायश्चित्तं गङ्गास्नानादिसामग्रीसमवधानेन स्वल्पमपि महापापहरं भवतीति स्वल्पपदेन सूचितं काश्यपराधजन्यपातकानि तु अन्तर्गृहादियात्रयेति वेदधर्ममुनिना प्रायश्चित्तमाचरितं युक्तमेवेति ॥ ८० ॥ पापद्वयस्येति प्रारब्धपापस्य भोगेन संचितपापस्य प्रायश्चित्तेनेत्यर्थः । इदं सर्वं त्वया शुश्रूषा क्रियते चेत्तदा भविष्यति नान्यथेति तवाऽभि-

दीपक उवाच

आहूतानि समायान्ति प्रेरितानि व्रजन्ति च । पापानि पापदहन! किमर्थं दुःखसंग्रहः

वेदधर्मोवाच

जीवता मनुजेनेह प्रायश्चित्तं कृतं न चेत् ।
तस्य बुद्धिं भजन्त्येव पापानि विविधानि च ॥ ८४ ॥
देवान् ऋषीन् मनुष्यांश्च न त्यजन्ति कृतानि यत् ।
तस्मात्पापक्षयायाऽऽशु यतितव्यं विजानता ॥ ८५ ॥

दीपक उवाच

करिष्यामि गुरोः सेवां यथाशक्ति विधानतः ।
आज्ञापयन्तु गुरवो ह्यसंकोचेन चेतसा ॥ ८६ ॥

वेदधर्मोवाच

अहं कुष्ठी भविष्यामि चक्षुर्हीनश्च सुव्रत ! । मच्छरीरंपालयस्व वर्षाणामेकविंशतिः

दीपक उवाच

विद्यमाने मयि विभो ! कथमेवम्प्रभाषसे । कुष्ठी कुरुष्व मामद्य तव पापार्थमेव च
आरोप्यतां मच्छिरसि पापन्त्वं कुशली भव ॥ ८९ ॥

वेदधर्मोवाच

न पुत्राय न शिष्याय पापं यच्छन्ति केचन ।
पापभोगस्तु कर्त्तारं बाधतेऽन्यं न कुत्रचित् ॥ ९० ॥
ततो मयैव भोक्तव्यं त्वं शुश्रूषापरो भव । भोगादपि महत्कष्टं शुश्रूषायाम्भविष्यति
नय मां काशिकां शुद्धां पुरीं देवस्य धूर्जटेः ।
समाप्य सर्वं प्रारब्धं मोक्षं प्राप्स्यामि शाश्वतम् ॥ ९२ ॥

प्रायं वदेत्याह शुश्रूषा चेदिति ॥ ८१—८२ ॥ दीपक उवाच । आहूतानीति त्वत्सामर्थ्यादित्यर्थः हे पापदहन ! एतादृशसामर्थ्यवांस्त्वं किमर्थन्तव दुःखसङ्ग्रह इत्यर्थः ॥८३

दीपक उवाच

अवश्यमेव गन्तव्यं क्षेत्रं देवस्य धूर्जटेः। मया त्वच्चरणाम्भोजसेवकेन शिवार्थिना॥६३

ब्रह्मोवाच

ततस्तौ सहितौ विप्रौ काशीं गत्वा स्थितौ सुखम्।
मणिकर्ण्युत्तरे कूले कम्बलेश्वरसन्निधौ ॥ ६४ ॥

स्नात्वा देवं समभ्यर्च्य विश्वेशं विश्वया सह। प्रारब्धभोगमशुभं गुरुर्भोक्तुमुपक्रमे॥
कुष्ठरोगं समासाद्य नेत्रान्धत्वमपि प्रभुः। स्थितः परमदुःखार्त आर्तानां दुःखमोचकः
स दीपकोऽकरोत्तस्य सेवां श्रद्धासमन्वितः। पूयविण्मूत्रविष्ठाश्च सोपसारयतिद्विजः॥
भिक्षित्वा चान्नमादाय भोजयेत्सगुरुर्गुरुम्। जितेन्द्रियोऽपि स ऋषिर्वेदधर्मा जितेन्द्रियः
जातो रोगवशात्साधुरसाधुत्वमुपागतः। कदाचित्सर्वमानीतमन्नम्भुङ्क्ते कदाचन॥
स्वल्पमश्नाति स क्रुद्धो मिष्टन्नेति वदन्मुहुः। कदाचिद्वत्स तातेति कदाचित्पापपूरुषः
वदत्यनुचितं सर्वं महारोगग्रहान्वितः। पापेनैव नृणां वाणी भवेत्कटुकभाषिणी॥
दैन्यमात्सर्यपरमा शुभाशुभविवर्जिता। दैन्यस्य दुःखदस्याऽत्र महापातकरूपिणः॥१०२

अन्यानि दुःखपापानि कलान्नार्हन्ति षोडशीम्।
निरन्तरं वेदधर्मा शिष्यं धर्मपरायणम्॥ १०३॥

दैन्यग्रस्तो वदत्येव देहि देहि क्षणे क्षणे। सर्वं सोढ्वा श्रद्धधानः सेवते गुरुमीश्वरम्॥

यथा यथा मनस्तस्य मिष्टान्नादिषु सस्पृहम्।
तथा तथाऽऽशु भिक्षित्वा प्रयच्छति स दीपकः॥ १०५॥

जीवतेति अयम्भावः सत्यमस्मिञ्जन्मनि मम सामर्थ्यमस्ति॥ नैतत्सामर्थ्या-ज्जन्मान्तरे स्यात्तदेमान्येव पापानि दुःखदानि स्युस्ततस्तन्नाशार्थं यत्न एवाऽऽस्थेय इति॥ ६३॥ ततः कलिम्प्रति ब्रह्मोवाच ततस्ताविति॥ ६४॥ उपक्रमे उपचक्रमे चलोप आर्षः उपपराभ्यामित्यात्मनेपदम्॥६५ विण्मूत्रेति विट्पदेन नेत्रमलः॥६६-६७ रोगवशादजितेन्द्रियो जात इत्यन्वयः॥ ६८॥

न तीर्थयात्रा न च देवयात्रा स्वदेहयात्राऽपि न लोकयात्रा ।
अहर्निशं ब्रह्महरीशबुध्या गुरुम्प्रपन्नो न हि सेव्यमन्यत् ॥ १०६ ॥
पश्यत्यमुं सर्वगतं जनार्दनं गुरुं गरिष्ठं स तु दीपकः कृती ।
श्रुतिस्मृतीशः खलु पार्वतीशः स एव साक्षादिति दीपकः कृती ॥१०७॥
भिक्षितम्बहुतरं न चेद्भवेत्स्वल्पमेव किल भक्षयत्यसौ ।
न स्वपित्यपि कदापि दीपकः सावधानहृदयः सदार्थदृक् ॥ १०८ ॥
यद्यत् गुरुः प्रार्थयते शुभाशुभं तत्तत्समानीय समर्पयत्यसौ ।
एकाग्रबुद्ध्या परमादरेण स्नेहेन कालस्य विवर्जनेन ॥ १०९ ॥
न निर्घृणो नाभिवदत्यनन्वितं नासूयकः खेदयुतोऽपि नो गुरौ ।
न द्वैतवादी न विरागबुद्धिर्दास्ये प्रवृत्तो न परम्विचिन्तयेत् ॥ ११० ॥
कदाचिदेकाग्रमनाः स दीपकः सेवापरो व्यजनासक्तहस्तः ।
ददर्श विश्वेश्वरमग्रतः स्थितम्वरं गृहाणेति गृणन्पुनः पुनः ॥ १११ ॥

विश्वेश्वर उवाच

गुरुभक्त ! महाप्राज्ञ ! वरम्ब्रूहि सनातनम् ।
गुरुभक्त्या न यावत्स तोषितोऽस्मि जगत्प्रभुः ॥ ११२ ॥

दीपक उवाच

मृत्युञ्जय ! महादेव ! प्रसन्नोऽसि यदीश्वर ! ।
गुरुम्पृष्ट्वा पुनर्वक्ष्ये नाऽहं जानामि किञ्चन ॥ ११३ ॥

कालस्य विवर्जनेन स्वानुष्ठानकालस्य विवर्जनेनाऽपीत्यर्थः । यद्वा, स्नेहेन कालस्य विलम्बमकृत्वेत्यर्थः ॥ १०९ ॥ न द्वैतवादी गुरोर्मतमेकं स्वस्यान्यदिति न वदति विपरीतवक्ता नास्तीत्यर्थः न विरागबुद्धिर्गुरुसेवायां विचिन्तयेदिच्छतीत्यर्थः इच्छार्थेभ्य इति लडर्थे लिङ् । दीपकस्य गुरुसेवां दृष्ट्वा तुष्टो विश्वेश्वर उवाच गुरुभक्तेति मनुष्यचर्मणा बद्धः साक्षात्परशिवः स्वयमित्यादि वचनैर्गुरुरूपोऽहमेवाऽस्मि ततस्तत्सेवया त्वयाऽहं तोषितोऽस्मीत्यर्थः ॥ ११२ ॥

इत्युक्त्वा गिरिशं दीपः श्रीगुरुम्पर्यपृच्छत ।
अविमुक्तेश्वरो देवो ददाति वरमुत्तमम् ॥ ११४ ॥
श्रीगुरोराज्ञया देवम्प्रार्थये रोगनाशनम् । यद्वा यन्मन्यसे कार्यं भगवँस्तद्वदस्व मे ॥

वेदधर्मोवाच

न प्रार्थ्यो रोगनाशाय देवदेवस्त्वयाऽनघ ! ।
मत्कृते पातकं स्वीयं भुक्त्वा शुद्धो न चान्यथा ॥ ११६ ॥
देहभोगनिवृत्यर्थं को देवम्प्रार्थयेच्छिवम् । संसाररोगदहनं मनोमलविनाशनम् ॥
इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं गत्वा देवस्य सन्निधौ ।
प्रणम्य न वरं देव ! गृह्णामीत्युक्तवान् वटुः ॥ ११८ ॥
पुनः पुनः शिवेनोक्तो न गृह्णामि वरम्वरम् । शङ्करोऽपि निजं स्थानं जगाम सगणस्तदा
शङ्करोप्युमया सार्द्धं स्थित्वा निर्वाणमण्डपे ।
उवाच सर्वदेवानां शृण्वतां मधुसूदनम् ॥ १२० ॥
नारायणारविन्दाक्ष ! ममाऽप्यानन्ददायक ! ।
गुरुभक्तिर्विचित्रा मे दृष्टा सन्तोषकारिणी ॥ १२१॥

गुरुम्पृष्ट्वेति एतेन निरिच्छोर्गुर्वधीनो दीपकः शिष्य इति दर्शितम् ॥ ११४ ॥ रोगनाशनमित्यत्र भवत इतिशेषः ॥ ११५ ॥ न प्रार्थ्यो रोगनाशायेति मत्कृते न प्रार्थ्य इत्यन्वयः अयम्भावः ईश्वराः प्रसन्ना अपि न कर्मनाशं कुर्वन्ति किन्तु कर्मनिरोधं भोगम्विना कर्मणो नाशो न भवतीश्वरस्यैव नियमा ततश्च निरुद्ध-कर्मभोगार्थं जन्मान्तरग्रहणं स्यात्किञ्च परमेश्वरम्प्रति क्षुल्लकमेतादृशं वरयाचन-मनुचितमित्यस्मिन्नेव जन्मनि तत्कर्मफलम्भोक्ष्य इति ॥ ११७ ॥ वटुर्बालः ॥११८॥ पुनः पुनः शिवेनोक्तोऽपि वरमुत्कृष्टं वरं न गृह्णामीत्येवोक्तवानित्यर्थः ॥ ११६ ॥ इदमाश्चर्यं सभायां विष्णुम्प्रति शिवः प्रोक्तवानित्याह शङ्करोऽपीति ॥ १२० ॥ नान्यत्पश्येदिति गुरुम्विना अन्यन्न पश्येन्नेच्छतीत्यर्थः ॥ १२१ ॥

विष्णुरुवाच

को गुरुः कश्च वा शिष्यः कुत्र दृष्टो वृषध्वज ! ।
कीदृशी वा गुरोर्भक्तिः श्रोतव्या सविशेषतः ॥ १२२ ॥

विश्वनाथ उवाच

शृणुष्व महदाश्चर्यमेकाग्रेण जनार्दन ! । बालेन दीपकेनाऽहमाकृष्टो गुरुभक्तितः ॥१२३

गोदावरीतीरवासी वेदधर्मा महातपाः ।
काशीमाहात्म्यविच्छान्तो विरक्तः सर्ववस्तुषु ॥ १२४ ॥
तस्य दीपकनामाऽस्ति शिष्यः शासितविग्रहः ।
एतादृग्गुरुभक्तस्तु न दृष्टो न मया श्रुतः ॥ १२५ ॥

गतो वरानहं दातुं न गृह्णाति गुरुप्रियः । प्रलोभितोऽपि बहुधा पुरुषार्थवरैरपि ॥१३६
निश्चयग्रस्तहृदयो नान्यत्पश्येद्गुरुम्विना । गुरवे देहमारोप्य तदधीनः करोत्यलम् ॥

सेवां सकलशास्त्रेषु सम्मतां पुरुषोत्तम ! ।
त्वाञ्च माञ्च सुरान् सर्वान् पितॄँस्तीर्थवृषद्विजान् ॥ १२८ ॥

सर्वम्पश्यति सर्वात्मगुरौ गुरुतरोऽर्भकः । किम्बहूक्तेन मे विष्णो द्रष्टुं योग्यः स दीपकः
दीप एव भवध्वान्तनाशको गुरुवल्लभः । धर्मज्ञानादिसकलं गुरौ सर्वम्विभाव्य सः॥

भक्तिङ्करोति विविधां गुरुपादाब्जयोः कृती ।
इति श्रुत्वा शिवमुखाद्विष्णुः सकलधर्मवित् ॥ १३१ ॥

गुरुशिष्यसमीपं स गतो ह्येकाग्रवल्लभः । दृष्टवान्दीपकं विष्णुः सेवन्तं गुरुमात्मनः ॥

यथोक्तं शङ्करेणाऽऽशु ददर्शाऽग्रे ततोऽधिकम् ।
आहूय चोक्तवान्देवो वरम्ब्रूहि निजेच्छया ॥ १३३ ॥

इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्तमान इति लडर्थे लिङ् ॥ १२७ ॥

आहूयेति दीपकमितिशेषः यद्ब्रह्मणा कलिम्प्रति पूर्वमुक्तम् "गुरौ प्रसन्ने जगतामधीश्वरो जनार्दनस्तुष्यति सर्वसिद्धिदः" इति तस्येदं निदर्शनम्ब्रह्मणोक्तमिति

दीपक उवाच

वासुदेव ! नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ! । कया भक्त्या प्रसन्नोऽसि मह्यं बालाय तद्वद
त्वामात्मतत्त्वं जगतामधीश्वरं भजन्ति ते साधनकोटिभिर्नराः ।
न त्वाम्प्रपश्यन्त्यपि सर्वगं हरे ! तेऽपि स्वमात्मानमधोक्षजम्परम् ॥१३५॥
अहन्त्वनाथः खलु बालबालो यावज्जनिस्मरणं नाऽपि ते मे ।
तथाऽपि दातुं प्रवरान् वरप्रदः समागतोऽसीति महद्विचित्रम् ॥ १३६ ॥

श्रीविष्णुरुवाच

गुरुभक्त्या प्रसन्नोऽस्मि श्रद्धया च दमेन च ।
गुरुभक्त्या मया पूज्याः पालनीयाः प्रयत्नतः ॥ १३७ ॥

दीपक उवाच

वेदवेदान्ततर्कांश्च पठित्वा सुविचारितम् । अयमेव परो देवो ह्ययमेव परन्तपः ॥१३८
अयमेव परन्तीर्थं यत्प्रसादान्मयेक्षितम् ।
ज्ञानं सर्वात्मकं शुद्धं परमानन्ददायकम् ॥ १३९ ॥
अतो गुरुम्विहायान्यम्प्रार्थये न कथञ्चन ।
यदि देयो वरो मह्यं गुरुभक्तिम्प्रयच्छ मे ॥ १४० ॥
गुरुस्वरूपं जानामि यथा तदुपदिश्यताम् ॥ १४१ ॥

श्रीविष्णुरुवाच

ज्ञातं त्वया निजगुरोः स्वरूपम्ब्रह्मदम्मुने ! ।
तथापि वक्ष्ये वात्सल्यात्तव तात ! सुखप्रदम् ॥ १४२ ॥

बोध्यम् ॥ १३३ ॥ वासुदेवेति । ननु यथा जनार्दनदर्शने जाते दीपकेनाऽऽश्चर्यं कृतं तथा शिवदर्शने कुतो न कृतमिति चेदुच्यते दीपकस्य तद्गुरोश्च शिवोपासकत्वात्-स्वोपासितदेवतादर्शने जाते किमाश्चर्यम् जनार्दनस्य त्वनुपास्यत्वात्तद्दर्शने विस्मयो युक्त एवेति ॥ १३७ ॥ वेदवेदान्तेति अयमेव गुरुरेवेत्यर्थः ॥ १३९ ॥

सद्बुद्धिं लौकिकीं यस्तु प्रयच्छति समानभाक् ।
यस्तु धर्मोपदेष्टा स्यात्स गुरुस्तत्त्वतोऽधिकः ॥ १४३ ॥
वेदान्यः पाठयेत्साङ्गांस्ततोऽपि स विशिष्यते ।
वेदार्थरूपकस्तस्मात्ततोऽपि मम चिन्तकः ॥ १४४ ॥
मत्स्वरूपं यतः शुद्धम्प्राप्यते श्रवणाद्यतः । स्वयं ज्ञात्वा श्रावयति स गुरुस्त्वहमेव हि
कामादिदोषबहुलं मनस्त्वाशीविषोपमम् । न विमुञ्चति दौर्जन्यं नरके पातयत्यपि॥
तच्छोधयति यः शास्त्रैः पुराणैर्मलदारुकैः ।
ततः परः परो देवः कोन्योऽस्ति जगतीतले ॥ १४७॥
शुभाशुभं दर्शयति कृत्यञ्चाकृत्यमेव च ।
मार्गामार्गौ विरागादि रहस्यं सम्प्रकाशयेत् ॥ १४८ ॥
अयमेवानुग्रहोऽयमयमेव परो वरः । अयमेव परः स्वार्थो यद्गुरुः सेव्यतेऽनिशम्॥१४९
यदा मम शिवस्याऽपि ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य हि ।
अनुग्रहो भवेन्नॄणां सेवते सद्गुरुन्तदा ॥ १५० ॥

दीपकउवाच

महावरस्त्वया दत्तो गच्छ देव यथासुखम् ।
कृतार्थोऽस्मि गुरुं ज्ञात्वा त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ! ॥ १५१ ॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वाऽन्तर्हितो विष्णुः स गुरुं पर्यतोषयत् । आहूतश्चैव गुरुणा श्रुत्वा सम्वादमद्भुतम्

किञ्च, गुरुभक्तिन्दत्त्वा गुरुस्वरूपं यथार्थं यथाऽहं जानामि तथा तदुपदिश्यताम् ॥१४१
मानभाक् प्रमाणज्ञः यः स गुरुरित्यर्थः सद्बुद्धिम्विशिष्टाचारलक्षणां अधिकः पूर्वापेक्षया ॥ १४३ ॥ रूपको निरूपकः मम चिन्तकः समाधिनिष्ठोऽनुभवी ॥ १४४ ॥ मत्स्वरूपमित्यनेनानुभवी बोधकश्चोच्यते यतो यस्माद्गुरोः सकाशान्मत्स्वरूपं ब्रह्म प्राप्यते य एतादृशो मत्स्वरूपमनुभूय श्रावयति स गुरुर्ब्रह्मानुभवी ब्रह्मबोधकश्च सोऽहमेव नाऽन्य इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

दीपको गुरुणा पृष्टः किमुक्तं स्वामिभिः शुभम्। वत्स! दीपक केन त्वं सम्वादं कृतवानसि
किम्वा प्राप्तं त्वया तात निवेदय ममाऽग्रतः। इति पृष्टः स गुरुणा शिष्यः प्राह कृताञ्जलिः

दीपक उवाच

विष्णुनाऽनुगृहीतोऽस्मि शिवेन च सुरैरपि। वरार्थं को वरो याच्यः किं वरेणावरेण च
अयमेव वरोऽस्माकं तवपादाम्बुजार्चनम्। सर्वदा मम सिध्येच्चेच्छ्रद्धया त्वत्प्रसादतः॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा गुरुं शिष्यस्तत्सेवायां परोऽभवत्।
गुरुः प्रारब्धकदनात्तीर्त्वा सर्वाङ्गसुन्दरः॥ १५७॥
अभवद्धर्मपरमः कृतार्थः काशिसंश्रयः। दीपकम्प्राह हृष्टः सन्क्रोधादिमलवर्जितः॥

वेदधर्मोवाच

तीर्णोऽहं कर्मपाशाद्धि कृच्छ्रात्प्रारब्धसञ्ज्ञितात्।
संसारादपि तीर्णोऽहं काशिवासफलाश्रयः॥ १५९॥
न काशिकायां पतितोऽपि धर्मकृत् दुःखं समाप्नोति मम प्रसादात्।
इति प्रतिज्ञा जगदीश्वरस्य महानुभावस्य शिवस्य नित्या॥ १६०॥
काश्यां प्रदीपप्रभया प्रकाशितः पापान्धकारः खलु नाशमेति।
विश्वेशदेहोद्भवया सुविद्यया महात्मनां पुण्यकृतां कृतात्मनाम्॥ १६१॥

इति श्री ब्रह्मवैवर्ते तृतीयभागे काशीरहस्ये प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

विष्णोः सकाशाद्गुरुस्वरूपं श्रुत्वा दीपक उवाच महावर इति॥ १५१॥ ब्रह्मोवाच इत्युक्त्वेति सम्वादं जनार्दनदीपकयोः॥ १५२॥ स्वामिभिः कैश्चिच्छ्रेष्ठैरित्यर्थः। गुरुणा शिवस्यागमने शिष्यमुखाज्ज्ञातेऽपि विष्णोरागमनस्याऽज्ञातत्वादियमुक्तिः। अतएवाऽग्रे केन सम्वादं कृतवानसीति सङ्गच्छते॥१५२॥ विष्णुनेति सुरैरपीत्यनेनाऽन्येऽपि देवा वरदानार्थमागता इति सूचितम् अवरेण त्वद्भक्त्यपेक्षया निकृष्टेन वरेणेत्यर्थः॥ १५५—१५६—१५७॥ प्रदीपप्रभयेति प्रकाशितो मूलाज्ञानेन प्रकटीकृतः विश्वनाथरूपप्रदीपस्य प्रभया विश्वेशदेहोद्भवया विश्वेशोपदिष्टया सुविद्यया ब्रह्मविद्यारूपयेत्यन्वयः॥ १६१॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

शिष्याय वरप्रदानवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

कदाचित्सुप्रसन्नोऽभूद्वेदधर्मा महामतिः। शिष्याय सुविनीताय वरदानमचिन्तयत् १

वेदधर्मोवाच

दीपकाऽऽगच्छ भद्रन्ते वरम्वरय सुव्रत!।
त्वयाऽहं तोषितः सम्यक् सेवया चाऽनयाऽनघ ॥ २ ॥

एवमेकाग्रचित्तानां श्रद्धया वृषसेविनाम्। मृदः सर्वा महाभाग सिद्धयोऽष्टौ भवन्ति हि
न देवाः पर्वताग्रेषु न देवो विष्णुसद्मनि। देवश्चिदानन्दमयो हृदि भावेन दृश्यते॥४
यत्र कुत्र दृढा भक्तिर्यदा यस्य महात्मनः। तत्र तत्र महादेवः प्रकाशमुपगच्छति ॥५॥

अहो तात! महाभाग! प्रसन्नोऽहं तवाऽनघ!।
येन स्वचित्तकुहरात्साधिताः सिद्धयः शुभाः ॥६॥

दीपक उवाच

सन्तोषेण तवाऽद्याहं कृतार्थः सद्वरैर्युतः। जातोऽस्मि भगवँश्छुद्धस्त्वत्सेवक इति श्रुतः॥
किञ्चिद्विज्ञप्तुकामोऽहमाज्ञापयति चेद्गुरुः। पृच्छामि सन्दिग्धपदं परमाश्चर्यकारणम्

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीशिवानन्दसरस्वती पूज्यपादशिष्येण नीलकंठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

श्रीपराशक्तिपादाभ्यां नमः ॥ १ ॥

ब्रह्मोवाच कदाचिदिति ॥१॥ वृषोधर्मः सर्वाः सिद्धयो मृदः मृत्तिकासमाः॥३॥ भावेन भक्त्या सा भक्तिस्तव दृढाऽस्तीति तव किं दुर्लभमितिभावः॥ ४—८—१०॥

गुरुरुवाच

पृच्छ दीपकभद्रन्ते नाऽवक्तव्यं त्वयि क्वचित्। यस्य ते गुरुभक्त्यैव देवदेवाः प्रसाधिताः

शिष्य उवाच

त्वं साक्षात्तपसाम्मूर्तिर्धर्मवेत्ता यथा मनुः। पैलपुत्रो भाष्यकर्ता वेदार्थाचारचञ्चुरः॥

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वज्ञपरिपूजितः। ब्रह्मविद्देहगेहादिममतारहितः स्वदृक् ॥११

त्वत्पादाब्जरजोभिर्मां पूतं विषयवासनाः। न स्पृशन्तिदुराधर्षाः सूर्यन्तु मिहिका यथा

यत्र त्वं तत्र तीर्थानि तत्र देवा महर्षयः। निवसन्ति सदा ब्रह्मन्! काशीं किं त्वमिहागतः

गुरुरुवाच

आदौ त्वमेवचात्मानं पश्य वत्स! विचार्य च। बहुकालं बहिः सेवा कृता ते मम सुव्रत!

देवान् कश्चित्ते दृष्टाः सेवया दीर्घयाऽपि हि।
काश्यां स्वल्पेन कालेन दृष्टो देव उमापतिः॥ १५ ॥
लक्ष्मीपतिरपि प्रीतः पश्य क्षेत्रमहीं शुभाम्।
अन्यत्र यः कृतो धर्मः स साङ्गः श्रद्धयाऽन्वितः ॥१६॥

अनेककालसम्पाद्यः स सिद्धोऽत्र क्षणाद्भवेत्। वर्षायुतसहस्राणि ये सेवन्ते हरिं हरम्॥

तेऽत्र क्षणात्प्राप्नुवन्ति वत्स! त्वमिव धार्मिकाः॥ १८ ॥
काश्यां कृतं स्वल्पमपि ध्रुवं स्यात्पुण्येतरत्पुण्यमपि स्वभावात्।
शिवः शिवा श्रीहरिरत्रहारिर्विधिर्विधिः स्वात्मजनेषु नूनम् ॥१६॥

काशीं किन्त्वमिहागतः। एतादृशो महानुभावो ज्ञानिवर्यस्त्वं किमर्थं काशीमागतोऽसीति वदेत्यर्थः॥ १३ ॥ आदौ त्वमेवेति स्पष्टे समाधाने किमिति प्रश्नं करोषीत्यर्थः स्पष्टत्वमेवाऽऽह आत्मानं पश्येति॥ १४—१७॥ पुण्येतरत्पापम् शिवा उमा भुवनेश्वरी हारिर्हरस्यापत्यं गणेशः विधिः सूर्यः द्वितीयविधिपदेन ब्रह्मा एते देवाः सर्वे स्वात्मजनेषु स्वभक्तेषु नूनं निश्चितं शीघ्रं प्रसन्ना भवन्तीति शेषः तथा चैतादृशीं शीघ्रफलप्रदां स्वपापनिर्हरणार्थं कथं न गन्तव्यमिति सर्वप्रघट्टकार्थः ॥ १६ ॥

शिष्य उवाच

यदि प्रसन्नोऽसि गुरो ! यदि देयो वरो मम ।
महिमानं काशिपुर्या वदस्व वरणार्थिनः ॥ २० ॥

सत्यमेव त्वया प्रोक्तमाश्चर्यं सर्वथा हि तत्। अन्यत्र बहुकालेन स्वधर्मैः सत्कृतैरपि ॥
विष्णुरुद्रौ न दृश्यौ तौ दृष्टावानन्दकानने। अन्याश्च देवताः सर्वा दृश्यन्ते धर्मवत्सलः
अन्यत्र बहुकालेन प्रकाशस्तु प्रजायते। काश्यां पापैश्छादयन्ति स्वदृष्टिं ये नराधमाः

काश्यां स्थितोऽपि विश्वात्मा दृश्यते तैर्न हि क्वचित् ।
इति श्रुता मया सद्भ्यो वेदविद्भ्यो महत्फला ॥ २४ ॥

का काशी केन रचिता कथमाश्चर्यकारिणी। महाप्रभावा महती महादेवहरिप्रिया ॥

सर्वोत्तरम्महिमानं श्रुत्वा शिष्य उवाच यदि प्रसन्नोऽसीति अत्रेदम्विचार्यते किमयं वेदधर्मा मुनिर्ज्ञानीवोताज्ञानी ननु "सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वज्ञपरिपूजितः। ब्रह्मविद्देहगेहादि ममतारहितः स्वदृग्" इत्यादि शिष्येणोक्तत्वात् ज्ञान्येवेति चेत्तर्हि प्रारब्धकर्मणाम्भोगेनैव क्षयात्सञ्चितकर्मणान्तु ज्ञानेनैवनाशात्सञ्चितकर्मणां नाशार्थं काश्यामागमनम्प्रायश्चित्तकरणादिकमनुपपन्नमेव स्यात्सञ्चितकर्मणां "क्षीयन्तेचास्य कर्माणि" इतिश्रुतेर्ज्ञानसमकालमेव नाशादितिचेद्द्वितीयपक्ष एवाऽस्तु सर्वज्ञत्ववाक्यानि तु स्तावकत्वेनैवोन्नेयानीति।२०। सत्यमेवेति "अन्यत्र यः कृतोधर्म स साङ्गः श्रद्धयान्वितः। अनेककालसम्पाद्यः स सिद्धोऽत्रक्षणाद्भवेत्" इत्यादि वचनैः प्रोक्तं सत्यमेव तथैव ममाऽप्यनुभवोजातस्तच्च सर्वथाऽऽश्चर्यमेव भवति अस्य क्षेत्रस्य किमर्थमेतादृशो महिमेति ।।२१।। तदेवोपपादयति अन्यत्रेति।२२-२३। इति श्रुतेति कथयेतिशेषः।२४। का काशीतिकाश्याः किं स्वरूपं तद्वदेतिशेषः केनेयं रचितोत्पादिता तदपि वद कथं केन प्रकारेणाऽऽश्चर्यवती शीघ्रफलप्रदत्वदेवादिदर्शकत्वादिविस्मयकारकगुणवती जाता तदपि वद किञ्च महाप्रभावा महादेवहरिप्रिया च कथञ्जाता तदपि वदेत्यर्थः ॥ २५ ॥

कथञ्जाता महानन्दरूपिणी रूपवर्जिता ॥ २६ ॥

गुरुरुवाच

धन्योऽसि वत्स ! भद्रन्ते यस्य ते मतिरीदृशी ।
यया वशीकृताः सर्वे देवा विप्राः सहात्मना ॥२७॥
सर्वं धर्मफलं सम्यक् काश्यां श्रद्धते मनः ।
काशी ब्रह्मेति विख्याता यद्विवर्तो जगद्भ्रमः ॥ २८ ॥

पञ्च प्रश्नाञ्छ्रुत्वा गुरुरुवाच धन्योऽसीति इयमुक्तिर्वक्ष्यमाणार्थ-श्रवणोत्साहार्था यया मत्या वशीकृताः सर्वे देवादयः सहात्मना हिरण्यगर्भेण सह तादृश्याऽपि मत्यात्वं वशीकृतो मोहितो नाऽसीति भावः ॥ २७ ॥ तत्र प्रथमप्रश्नो-त्तरमाह काशी ब्रह्मेति यद्ब्रह्म सर्ववेदप्रतिपाद्यं सैव काशी कं सुखमाशयति भोजयति स्वभक्तानिति व्युत्पत्तेः। अत्र कर्मण्यणि तदन्तान्ङीब्बोध्यः। यद्वा, काशन्ते तनुत्यागमात्रेणाऽऽनन्दरूपतया राजन्ते प्राणिनो यस्यां सा काशी पिप्पल्यादेशाकृति-गणत्वान्ङीप्। काशीखंडे तु "काशते त्रयतो ज्योतिस्तदनाख्येयमैश्वरम्।अतो नाम्नापरं वस्तु काशीति प्रथितं विभोः" इति। यथा गरुडपुराणे "काशी ब्रह्मेति विख्यातं तद्ब्रह्म प्राप्यतेऽत्रहि। तस्मात्काशीति संप्रोक्तमित्युक्तम, अत्र ब्रह्मशब्देन हिरण्यगर्भव्यावृत्यर्थे यद्विवर्तो जगद्भ्रम इति विशेषणं यस्मिन् ब्रह्मणि जगद्भ्रमो विवर्तो भवति विषम-सत्ताको भवति मिथ्याभूतो भवतीत्यर्थः। तादृश मिथ्याजगदधिष्ठानभूतं यद्ब्रह्म 'यतो-वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि सम्विशन्ति' इति श्रुति-प्रतिपाद्यं सर्वकारणकारणं स्वतस्त्वविवर्तं विवर्तभिन्नं तदेव ब्रह्मकाशीत्याहुर्वेद-वादिन इत्यर्थः। ब्रह्मणश्चित्सम्विद्रूपत्वात्तयोश्च शब्दयोः स्त्रीलिङ्गत्वात्काशी शब्दे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। ततश्च चिद्रूपा भगवती काशीपदवाच्येति फलितम् तथा-जाबालो-पनिषदि 'अथैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्य! एषो व्यक्तोऽनन्तः आत्मा तं कथं विजानी-यामिति सहोवाच" इत्यादिना काशीमहिमावर्णनम् श्रुतावुक्तम् रामतापनीयेऽपि तथै-वोक्तम् "तच्च ब्रह्ममायाशवलं सगुणमेव तेन सशक्तिकब्रह्मणः काशीति नाम"। अत्रार्थे

अविवर्तन्तदेवाहुः काशीति ब्रह्मवादिनः ॥ २६ ॥

यथा विष्णोः शंकरस्यापि नाम्ना लोकाः शोकं नाशय मोक्षम्प्रयान्ति ।
वाराणस्या नामगृह्णन्विशेषा तीर्त्वामृत्युं मृत्युजेता स्वयं स्यात् ॥ ३० ॥
तीर्थानि सन्ति विविधानि फलप्रदानि कामप्रदानि धनधान्यसुखप्रदानि।
जीवन्विवेकसुखमाप्य सुखेन तीर्त्वा । काश्यां भवार्णवमथो परिपश्यति स्वम् ॥३१॥
येऽत्रद्विजाग्र्याः श्वपचास्तुनिन्द्या ये चक्रवर्तिष्वपि धर्मरूपाः ।
ये वा दरिद्राः परमार्तिरूपाः समानरूपां गतिमाप्नुवन्ति ॥ ३२ ॥
मृत्वा शीर्त्वा काशिकायां स्थिता ये विघ्नान्सर्वान्नाशय देवीप्रसादात् ।
ते देहान्ते तारकं प्राप्य शुद्धं शुद्धं नित्यं प्राप्नुवन्त्येव सत्यम् ॥ ३३ ॥
वासः काश्यां सज्जनानां प्रसङ्गो गङ्गास्नानं पापकर्म्मारुचिश्च ।
पुण्ये प्रीतिः स्वेच्छया लाभसौख्यं दानं शक्त्या न प्रतिग्राह्यमत्र ॥ ३४ ॥

पुराण वचनान्युदाहरिष्यामः पद्मपुराणे "ब्रह्म वैतन्निर्गुणं निर्विकारं निरन्तरं क्षेत्ररूपेण नित्यं तिष्ठत्येवं त्र्यम्बकोऽप्यत्रनित्यं त्तद्रूपत्वाच्छक्तियुक्तः सदास्ते" इति। सनत्कुमार-संहितायां 'यत्तच्छिवानन्दमनन्तमाद्यं यदावयोर्नित्यमभिन्नरूपं दृश्यं समस्तोपनिषत्सु सिद्धं जानीहि तेजस्तददोऽविमुक्तम्' 'आवयोः शिवशक्त्योः ज्योतिर्लिङ्गं त्वमेवासि-लिङ्गी चाहं महेश्वरः तदेतदविमुक्ताख्यं ज्योतिरालोक्यताम्प्रिये' इति। काशीखण्डे "पर-ब्रह्म यदाम्नातं निष्प्रपञ्चं निरात्मकं तदेतत्क्षेत्रमापूर्य स्थितं सर्वगमप्यहो शंभुशक्तिरियं-काशीकाचित्सर्वैकगोचरा" इति। तथा च शिवशक्त्यात्मकं लिङ्गं काशीतिपदवाच्यम् ।२६। इत्थं काशीस्वरूपमुक्त्वा तन्नाममाहात्म्यमाह यथा विष्णोरिति पाद्मे 'काशीति वर्णद्वितयं स्मरंस्त्यजति पुद्गलं यत्र काऽपि भक्तस्य कैलासे वसतिः स्फुटा' इतिस्कान्दे 'काशी काशीति काशीति रसना यदि संस्कृता यस्य कस्यापि भूयाच्चेत्स मुक्तो नाऽत्र संशय' इति ॥३०॥ परिपश्यति स्वमात्मानमित्यर्थः ॥३१—३२—३३॥ न प्रतिग्राह्य-मत्रेति देहयात्रामात्रोपयोगिपदार्थातिरिक्तपदार्थप्रतिग्रहो न कर्तव्यइत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अष्टावेते यस्य सन्त्येवयोगा योगाभ्यासैस्तस्य किं काशिकायाम् ।
येऽत्र स्थित्वा शङ्करम्वा हरिम्वा नोपासन्ते विघ्नपूगास्तु तेषाम् ॥ ३५ ॥
काशीस्थलोकं सहसाऽपि ये न प्रधर्षयन्ते मनसा महान्तः ।
तेऽधोगतान् स्वानपराञ्जनौघानुद्धर्तुमीशाः परदोषशून्याः ॥ ३६ ॥
काश्यां स्थित्वा हीन्द्रियाणां व्ययन्नो कुर्याद्बाल्यात्सत्कृतं रक्षणीयम् ।
अन्तर्यामी प्रेरकः कारणानां सोऽयं द्वेष्टा हीन्द्रियैर्नाशितैः स्यात् ॥ ३७ ॥
यत्र स्वेच्छाचारदोषात्प्रनष्टा लोकाः कामाद्भ्रान्तिभाजो भवन्ति ।
तस्मात्सद्भिर्नैव पन्था ह्यशुद्धः सेव्यः सेव्यो वेदमूलो हि धर्मः ॥ ३८ ॥
दानं यज्ञान् पूजनं कुर्वतां यत्प्राप्यं काशी लीलया तत्प्रदद्यात् ।
सत्यादौ यद्दुर्लभं स्वात्मरूपं तिष्ये काशी सम्प्रदद्यादपाये ॥ ३९ ॥
पापं काश्यां वाङ्मनः कर्मभिर्नो कुर्यात्कुर्याद्वाङ्मनः कर्मभिस्तत् ।
यद्वै साक्षाद्विष्णुना शम्भुना वा व्यासाद्यैश्च प्रोच्यते सर्वकालम् ॥४०॥
कालाद्भयन्नास्ति यत्र यत्र पापभयन्न हि । जन्मान्तरसहस्रेषु कृतं नश्यति दर्शनात्

तत्क्षेत्रमहिमानं कः सम्यग्वर्णयितुं क्षमः ।
तीर्थानि यानि लोकेऽस्मिन् जन्तूनामघहान्यहो ॥ ४२ ॥

स्वान् पितॄन् अपरांश्चेह विद्यमानान् जनौघान् ॥३६॥ बाल्यात् मौढ्यात् इन्द्रियाणां विषयेषु व्ययं नो नैव कुर्यात् किन्तु सत्कृतमेव रक्षणीयं अन्यथा दोषमाह इन्द्रियैर्विषयेषु नाशितैर्जीवस्याधोनयनात्तदभिन्नस्येश्वरस्याऽप्यधोनयनदोषेण सर्वज्ञ ईश्वरो द्वेष्टा शत्रुः स्यात्ततश्च कदाप्युद्धारो न भविष्यतीत्यर्थः कारणानामिन्द्रियाणाम्प्रेरकः ॥३७॥ यत्राऽविशुद्धपथि ॥ ३८ ॥ यत्प्राप्यमैहिकं पारलौकिकञ्च अपाये मरणे देहपातोत्तरं काशी दद्यादित्यनेन तद्दाने पराशक्तेः काश्या भगवत्याः स्वातन्त्र्यं दर्शितम् । अपापे इति वा पाठः ॥३९॥ तीर्थानि यानीति तदुक्तं देवीभागवते देवीगीतायां "अथवा सर्वक्षेत्राणि काश्यां सन्ति नगाधिप !" इति ॥ ४२—४३—४४ ॥

तानि सर्वाणि शुद्ध्यर्थं काशीमायान्ति नित्यशः ।
यस्तु काश्यां वसेज्जन्तुः सर्वव्यापारकृन्नरः ॥ ४३ ॥
तस्यापि या गतिः प्रोक्ता न सा यज्ञैर्न चान्यतः ।
स्मरन्ति ये नराः काशीं यत्र कुत्राऽपि संस्थिताः ॥ ४४ ॥
तेऽप्यघौघविनिर्मुक्ता भवन्ति ज्ञानभागिनः ।
परं साहसमालम्ब्य काश्यां स्थेयम्मुमुक्षुभिः ॥ ४५ ॥
साहसात्सिद्धिमाप्नोति नरो विकलमानसः ॥ ४६ ॥

दीपक उवाच

किं तत्साहसमाख्यातं गुरुणा येन मानवः ।
सिद्धिमाप्नोत्यविकलां महाबन्धविघातिनीम् ॥ ४७ ॥

गुरुरुवाच

समुद्रतरणं वत्स ! महागरलभक्षणम् । स्वशिरश्छेदनं कूपपतनञ्चाग्निभक्षणम् ॥ ४८ ॥
पर्वतात्पतनं सर्ववृश्चिकैः सह खेलनम् । अगम्यागमनञ्चैव तथा ब्रह्मवधादिकम् ॥४९

परं साहसमिति परं साहसं महासाहसं महासाहसमाश्रित्यापि काश्यां-स्थेयमित्यर्थः अहमजितेंद्रियः पापकर्ताऽस्मीति न मया काश्यां स्थेयमितिमत्वा न काशी त्यक्तव्येत्यर्थः । अत्र कैमुतिकन्यायेन सदाचारेण काश्यां स्थेयमिति दृढी-क्रियते न तु काश्यां पापाचरणानुमतिः क्रियते इति मन्तव्यम् ॥ ४५ ॥ ननु तर्हि काश्यां साहसकरणे मोक्षो न स्यात्ततश्च काशीवासो विफल इतिचेन्नेत्याह "साहसा-त्सिद्धिमाप्नोति" इति साहसादपि मरणे मरणोत्तरं भगवदुपदेशान्मोक्षं प्राप्नोत्येवे-त्यर्थः विकलमानसोऽपीत्यर्थः ॥ ४६ ॥ किं तत्साहसमिति ॥ ४७ ॥ तत्र गुरुः प्रथमतः साहसस्वरूपं दर्शयित्वा महासाहसस्वरूपं कथयितुमाह समुद्रतरणमिति सार्धद्वये-न तत्र समुद्रतरणादीनां जीवनाशकत्वात्साहसत्वं अगम्यागमनादीनान्तु परलोक नाशकत्वात्साहसत्वम् ॥ ४८ ॥ परन्त्वेतानि साहसानि साहसाभासा वक्ष्यमाण-

तथा पापान्तरञ्चैव हननञ्च गजस्य च। एते तु साहसाभासाः कृता नश्यन्त्यपि क्वचित्
अजितेन्द्रियवर्गस्य कृतं कल्पशतैरपि। न नश्यति महाबुद्धे! साहसं किमतः परम्॥
अजितेन्द्रियवर्गस्तु स्वात्मानं स्वयमेव हि। अनेकगर्भजालेषु पातयत्यनिशं हठात्॥५२

अतो महासाहसिनो जितेन्द्रियान्ज्ञात्वा तु नश्यत्यपि शास्त्रजालम्।
जितेन्द्रियाश्चापि हि साहसैर्युता ह्यशक्यमप्याऽऽशु यतः प्रकुर्वते॥ ५३॥

अन्नदानन्तु यः कुर्याद्यस्य कस्यचिदप्यहो।
यावन्त्यब्दानि तावन्ति युगानि स वसेद्दिवि॥ ५४॥

महासाहसस्याभासाः सन्ति यत एते कृता अपि क्वचिन्नश्यन्ति समुद्रतरणादिकं नौकाश्रयणेन मन्त्रादिसामर्थ्येन च नश्यति जीवनाशकं न भवति यथा दधीचेः शिरश्छिन्नं संयोजितमश्विनीकुमाराभ्यां अगम्यागमनादिकन्तु प्रायश्चित्तादिना नश्यति परलोकनाशकं न भवति अत एते साहसाभासाः केवलं साहसरूपा एव भवन्ति॥ ५०॥ तर्हि महासाहसं किं तत्राऽऽह अजितेन्द्रिय वर्गस्यत्विति अजितेन्द्रियवर्गस्यास्वाधीनेन्द्रियवर्गस्य कृतं तेन कृतमित्यर्थः। तेन यत्कृतं देहतादात्म्यमूलकं कृतघ्नतादिकं तत्कदापि प्रायश्चित्तादिना न नश्यति "कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः" इतिस्मृतेः "देहाभिमानाद्यत्पापं न तद्गोवधकोटिभिः" इतिस्मृते; "किं तेन न कृतं पापं चोरेणाऽऽत्मापहारिणो" इति पुराणाच्च। ततस्तस्मात्परं साहसं किन्तदेव महासाहसमित्यर्थ. ।५१। तदेव स्पष्टीकरोति अजितेन्द्रियवर्गस्त्विति पातयति पुनः पुनर्देहतादात्म्यसम्पादनेन ।।५२।। अजितेन्द्रियपुरुषान् दृष्ट्वा वेदादिकं सर्वं नश्यतीत्याह अतो महासाहसिन इति अतो देहादिषु तादात्म्यसम्पादनादजितेन्द्रियान् ज्ञात्वा शास्त्रजालं नश्यति एतादृशमहदनर्थकरमेतन्महासाहसमित्यर्थः। तत्र कैमुतिकन्यायमाह जितेन्द्रिया अपीति तेऽपि साहसैर्युता अशक्यमपि कुर्वन्ति किं पुनरजितेन्द्रिया इत्यर्थः अतस्तन्मयोक्तं महासाहसं युक्तमेवेति॥ ५३॥ पुनः काशिवासिधर्मानुत्थापयति अन्नदानन्त्विति यावन्त्यब्दानि अन्नदानंकुर्याद्यावन्ति युगानीत्यर्थः ।।५४

वाराणस्यां निवसतां यत्पुण्यमुपजायते ।
तदेव संवासयितुः फलं भवति नान्यथा ॥ ५५ ॥
यैर्यैरुद्वेजितो जन्तुस्त्यजेत्काशीं सुदुःखितः । ते ते नरकजालेषु पच्यन्ते पितृभिः सह ॥५६
यं कश्चिद्वै ब्राह्मणं काशिकायामन्नाद्यैर्यो वासयेत्सुप्रतर्प्य (र्क्य) ।
त्रैलोक्यं स्याद्रक्षितं तेन वत्स ! ह्यात्मा मग्नः संसृतेरुद्धृतश्च ॥ ५७ ॥
आनन्दाख्ये कानने ये वसन्ति क्षेत्रन्यासं सन्निधायाऽत्र पुत्र ! ।
तैर्वस्तव्यं रुद्ररूपैर्हि यत्नाद्यतो रुद्रो धर्मपालः प्रसिद्धः ॥ ५८ ॥
ये क्षेत्रसंन्यासकरा महामते ! ते वन्दनीयाः कृतबुद्धयः सदा ।
ते शङ्करत्वं समवाप्य जीवा भवन्ति चेदिन्द्रियार्थेषु लोलाः ॥ ५९ ॥
ते दाम्भिका वञ्चकाः स्वार्थकामाः कामारिमप्याऽऽत्मना वञ्चयन्ति ।
लक्ष्मीपतिः किं वद भिक्षुकः स्याद् गृहे गृहे दीनमनाः परिभ्रमन् ॥६०॥
सन्यस्तदेहः किल काशिकायां यः कश्चनेशः स कृती महेशः ।
स चेद्भवेद्दैन्यपरो जनेषु ततः परः कोऽन्यतमः शिवध्रुवक् ॥ ६१ ॥

स्वस्य काशीवासासामर्थ्ये ब्राह्मणद्वाराऽपि काशीवासः कर्त्तव्य इत्याह वाराणस्यामिति ॥ ५५ –५६ ॥ उद्वेजित उद्वेगं प्रापितः पीडादिकरणेन ॥ ५७ ॥ अथ क्षेत्रसंन्यासिधर्मानाह—आनन्दाख्ये इति तैः क्षेत्रसंन्यासिभिः शिवरूपैरितरापेक्षया यत्नादधिकधर्माचरणे न स्थातव्यं यतो रुद्रो धर्मपालकः प्रसिद्धस्ततस्तत्स्वरूपत्वात्तैरपि तथैव भवितव्यमित्यर्थः ॥ ५८ ॥ ये क्षेत्रे यदि ते क्षेत्रसंन्यासिन इन्द्रियार्थेषु लोला आसक्ता भवन्ति तदा ते शङ्करत्वं प्राप्याऽपि जीवा एव भवन्ति ते दाम्भिका वञ्चकाश्च भवन्ति अर्थे कामो येषां तथा भूताः शिवमप्यात्मना वञ्चयन्ति तस्मात्क्षेत्रसंन्यासिना तथा न भाव्यमिति भावः ॥ ५९ ॥ लक्ष्मीपतिरिति लक्ष्मीपतिः सन् किं भिक्षुवदाचरेत्तथा शिवः सन् किं जीववदाचरेदित्यर्थः ॥ ६० ॥ यदि तथाचरेत्तदा शिवध्रुगेव स्यादित्यर्थः ॥ ६१ ॥

शिवद्रोहात्काशिकाद्रोह एव भवत्यवश्यन्न विचार्यमत्र ।
पशुं प्रविक्रीय पुनर्न तस्य चिन्तां प्रकुर्वन्त्यपि पामरा ये ॥ ६२ ॥
सन्तः पुनः किन्नरदेहं समर्प्य जनं जनं दीनवत्प्रार्थयन्ते ।
क्षेत्रसंन्यासशब्देन नैश्चित्यं परमं विदुः ॥ ६३ ॥
अन्यत्र योगाभ्यासेन यावज्जीवं कृतेन च ।
वाराणस्यां प्राणरोधात्तत्पुण्यं समवाप्यते ॥ ६४ ॥
सर्वतीर्थावगाहाच्च यत्पुण्यं स्यान्नृणामिह । तत्पुण्यं कोटिगुणितं मणिकर्ण्येकमज्जनात्

ननु क्षेत्रसन्न्यासिनां देहयात्रासङ्कटे जीववदाचरणं विना न निर्वाह इतिचेत्तत्राह पशुं प्रविक्रीयेति यथा पशुविक्रेता पशोश्चिन्तां न करोति तथैवानेन शिवाय देहविक्रेत्रा देहचिन्ता न कर्तव्या शिव एव तद्देहसंरक्षिता भवतीत्यर्थः । तदुक्तम् "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते" इति ॥ ६२ ॥ क्षेत्रसंन्यासेति नैश्चित्यं क्षेत्रनिर्गमनविषयकचित्ताभावत्वं शिवाय देहसमर्पणं कृत्वा काशीमयेतः परं न त्यक्तव्येति निश्चयक्षेत्रसंन्यासइत्यर्थः । अत्र प्रसङ्गात्क्षेत्रसंन्यासविधिरुच्यते उपपुराणे "माघशुक्लचतुर्दश्यामुपोष्येह परेऽहनि ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चादेकं वाऽपि सदक्षिणम् । गत्वा मौनेन च स्नानं ज्ञानवाप्यां समाचरेत् । शुक्लाम्बरधरोभूत्वा नत्वा ढुण्ढिविनायकम् । दण्डपाणिन्ततो नत्वा दृष्ट्वा विश्वेश्वरञ्च माम् । श्रीमुक्तिमण्डपं गत्वा कुर्यात्संकल्पमात्मना । प्राणायामत्रयं कृत्वा जपेत्पञ्चाक्षरं मनुम् । करिष्येक्षेत्रसंन्यासमिति सञ्चिन्तयेद्बुधः । पञ्चक्रोशाद्बहिःक्षेत्रान्नगच्छाम्यम्बिकापते । इमं मंत्रं पठेदुच्चैर्द्विस्त्रिः पञ्च च सप्त च । नमस्कृत्य महादेवं दण्डपाणिं ततो व्रजेत् । साक्षीकृत्य महात्मानं दण्डपाणिं विनायकम् । श्रीकालभैरवञ्चापि साक्षीकुर्यात्प्रयत्नतः । एवं कृत्वा विधानेन पश्चात्कुर्यात्तु भोजनम् । पूर्वसञ्चितवित्तादि दद्यात्सर्वं ममाऽऽज्ञया । य एवं कुरुते न्यासं चैत्रे देवि ! विधानतः । सर्वपापविनिर्मुक्तो मुच्यते नाऽत्रसंशयः" । अत्र यो विशेषस्तं पञ्चक्रोशीयात्राप्रकरणे वक्ष्यामः ॥६३॥ काश्यां प्राणायामफलमाह अन्यत्रेति ॥६४॥ मणिकर्णिकास्नानफलमाह सर्वतीर्थेति ॥ ६५ ॥

अन्यत्र ब्राह्मणानान्तु कोटिं सम्भोज्य यत्फलम् ।
वाराणस्यां मुदैकेन भोजितेन तदाप्यते ॥ ६६ ॥

दिनेनैकेन यच्छ्रेयो हेलया लभ्यतेऽत्र यत् । वर्षाणां तु शतेनापि तदन्यत्र न लभ्यते॥
यः स्तौति स्मरतें काशीं यः कीर्त्तयति मानवः । तेन तप्तं हुतं जप्तं कृतं ध्यानमहर्निशम्

महापातकयुक्तोऽपि श्रद्धाविरहितोऽपि हि ।
काशीप्रवेशादनघः सम्यक्स्थित्वा सुखी भवेत् ॥ ६९ ॥
अस्मिन् कलियुगे घोरे लोकाः पापानुवर्तिनः ।
भविष्यन्ति महाबुद्धे वर्णाश्रमविवर्जिताः ॥ ७० ॥

नान्यत्पश्यामि जन्तूनां मुक्त्वा वाराणसीं पुरीम् । सर्वपापप्रशमनं प्रायश्चित्तं कलौयुगे
कलौविश्वेश्वरोदेवः कलौवाराणसीपुरी । कलौ भागीरथी गङ्गा दानं कलियुगे महत्
निन्दन्ति न कलिं धीरा विजितेन्द्रियमानसाः । भगवद्भजने रक्ताः सक्ता धर्मेष्वनुक्षणम्
कलिमलमपहन्तुं काशिका काशतेऽसौ स्मरहरहरिसूर्यब्रह्मविश्रामभूमिः ।
न हि विरमितचित्तो दुःखमाप्नोति किञ्चिज्जननशतसहस्रैर्दुर्दर्शं ब्रह्म भूयात् ॥७४॥

शिष्य उवाच

अन्यत्र ये मृता दैवाज्जीवास्तेषां यदि प्रभो ! । कीकसम्प्रपतेदत्र तेषां का गतिरुच्यते

गुरुरुवाच

अन्यत्र पतितानान्तु जीवानां कीकसं यदि । वाराणस्यां प्रपतति नरकं न पतन्ति ते

स्वर्गदुष्कृतनः पापा अपि गच्छन्ति नान्यथा ।
अस्थिकेशनखा मांसं यदि काश्याम्पतेदिह ॥ ७७ ॥

ब्राह्मणभोजनफलमाह अन्यत्रेति ॥ ६६ ॥ काशी नमस्कारफलमाह यस्तौति ॥६७॥
काशीप्रवेशफलमाह महापातकेति ॥ ६९ ॥ काशी सर्वभावेनाश्रयणीयेत्याह
अस्मिन्कलीति स्पष्टमन्यत् ॥ ७०—७१—७२—७३ ॥ विरमितं विशेषेण स्थापितं
चित्तं काश्यां येन सः दुर्दर्शमतिप्रयासेन दृश्यं ज्ञेयं ब्रह्म ॥७४॥ कीकसमस्थि ॥७५॥

महापापास्तदा स्वर्गं यान्ति साहस्रवत्सरान् ।
पुनः काशीं समासाद्य मुक्ताः स्युः सर्वजन्तवः ॥ ७८ ॥

शिष्य उवाच

अहो माहात्म्यमतुलं काश्याः पापाशनेः श्रुतम् ।
महानुभावा ऋषयः पण्डिता शुद्धबुद्धयः ॥ ७९ ॥

वसन्ति काश्यां न कथं तपसः फलरूपिणीम् । या हि भागीरथीतीरे अर्धचन्द्राकृतिः कृता

केशवेन महापुण्या पुण्यदा मोक्षदा स्मृता ।
तच्छ्रोतुमहमिच्छामि विष्णुना शिवसात्कृता ॥ ८१ ॥

गुरुरुवाच

शृणु वत्स ! महाप्राज्ञ ! कथां पापापनोदिनीम् ।
यस्याः श्रवणमात्रेण काशिका काशिका भवेत् ॥ ८२ ॥

वाराहकल्पे यद्वृत्तं तद्वदामि तवानघ । कदाचित्पृथिवीमग्ना प्रलयाब्धौ तलङ्गता ॥

महर्जनस्तपोलोकवासिभिस्तु जनार्दनः । स्तुतः श्रुत्यनुकूलाभिर्वाग्भिः सर्वेश्वरो हरिः ॥

प्रकटोऽभून्महाविष्णुर्मुनीनां भावितात्मनाम् ।
उवाच स महाविष्णुः किमर्थं संस्तुतस्त्वहम् ॥ ८५ ॥
वदन्तु तन्मयाऽऽपाद्यं ऋषयः स्वार्थमुत्तमम् ॥ ८६ ॥

पतितानां मृतानां ॥ ७६ । ७७ । ७८ ॥ अहो इति पण्डिताः सन्तः कथं न वसन्ति अपि तु वसन्त्येवेत्यर्थः ॥ ७९ ॥ इत्थं काशीस्वरूपं तन्महिमानं च श्रुत्वा केन रचितेत्यस्योत्तरं प्रष्टुमाह याहि भागीरथीति याऽर्धचन्द्राकृतिः कृता दृश्यते वस्तुतस्तु वर्तुलैवेत्यर्थः । या विष्णुना शिवसात्कृता शिवरूपाकृता तच्छ्रोतुमिच्छामीत्यर्थः । यद्यपि केशवेन शिवसात्कृतेति शिष्येणाऽद्यापि न ज्ञातं तथापि लोकप्रवादं तथा श्रुत्वा तदभिप्रायेणेदमुक्तमिति बोध्यम् ॥ ८१ ॥ काशिका भवेद् ब्रह्मप्रकाशिका भवेत् ॥८२॥ कथामुत्थापयति वाराहकल्प इति ॥८३-८४-८५॥ आपाद्यं सम्पाद्यं ।८६।

ऋषय उचुः

देवदेव ! जगन्नाथ ! दीनानाथाश्रयाश्रय ! । सर्वज्ञस्य सदा ज्ञस्य तवाऽग्रे मधुसूदन
विज्ञाप्यमस्ति विश्वेश ! महीमग्ना महाम्भसि । तस्या उद्धरणे यत्नं कुरुष्व जगदीश्वर!
छत्राकारन्तु किं ज्योतिर्जलादूर्ध्वम्प्रकाशते ।
निमग्नायान्धरिण्यान्तु न निमज्जति तत्कथम् ॥ ८६ ॥
किमेतच्छाश्वतं ब्रह्मवेदान्तशतरूपितम् । तापत्रयाग्निदग्धानां जीवानां छत्रताङ्गतम्॥
दर्शनादेव भगवन्कृतार्थाःस्मो जगद्गुरो ! । वारम्वारं तवाऽप्यत्र दृष्टिर्लग्ना जनार्दन !
परमाश्चर्यरूपोऽसि आश्चर्येण प्रपश्यसि ॥ ९२ ॥

विष्णुरुवाच

वाराहरूपमास्थाय पृथिवीमुद्धराम्यहम् । प्रतीक्षन्तु कियत्कालं यावद्दैत्यसमागमः॥
दैत्यं हत्वा निमग्नाङ्गामानयिष्ये जलोपरि। ततः प्रवर्ततां धर्मो वर्णाश्रमनिबन्धनः।९४

ज्ञस्य ज्ञानस्वरूपस्य ॥ ८७ ॥ तस्या इति तस्याः पृथिव्या उद्धरणे निःसारणे यत्नङ्कुरुष्व ॥ ८८ ॥ किञ्च छत्राकारन्तु यज्ज्योतिः स्वरूपञ्जलात्प्रलयजलादुपरि प्रकाशते इदं ज्योतिः स्वरूपं सर्वप्रलये जाते धरण्यान्निमग्नायान्तया सह कथं न निमज्जति कथन्ननिमग्नम् ॥८६॥ यतो न निमग्नं तस्मात्किमेतच्छाश्वतं नित्यम्वेदान्तशतरूपितं निरूपितं यद्ब्रह्मतदेवाऽस्तीत्यर्थः । ननु ब्रह्म चेत्तस्यानाकारत्वाच्छत्रताङ्कथं गमिष्यतीति चेत्करुणारूपत्वात्तापत्रयार्त्तिदग्धानाञ्जीवानां शान्त्यर्थं छत्रताङ्गतमिति वक्तुं शक्यत इत्यर्थः। तस्यानाकारत्वेऽपि अचिन्त्यमायाशक्तियोगाच्छत्राकारताऽपि भविष्यतीति भावः ॥ ९० ॥ किम्भगवन्वक्तव्यं यस्य दर्शनादेव कृतार्थता सम्पद्यते इति न केवलमस्माकमेव किन्तु तवाऽपि यतो वारम्वारन्त्वमालोकयसीत्याह दर्शनादेवेति तदेव ज्योतिः किमस्तीति च वदेतिशेषः ॥ ९१—९२ ॥ इति ऋषीणां प्रश्नद्वयं श्रुत्वा विष्णुरुवाच वाराहं रूपमिति ॥ ९३—९४ ॥

छत्राकारं परञ्ज्योतिर्दृश्यते गगनेचरम् । तदिदम्परमञ्ज्योतिः काशीति प्रथितं श्रुतौ
रत्नं सुवर्णे खचितं यथा भवेत्तथा पृथिव्यां खचिता हि काशिका ।
न काशिका भूमिमयी कदाचित्ततो न मज्जत्यसकृत्कृती यत् ॥९६॥
जडेषु सर्वेष्वपि मज्जमानेष्वियं चिदानन्दमयी न मज्जति ।
स्वयं निमग्नः कथमुद्धरेत्परान्लोकेऽपि वेदेऽपि विचार्यमेतत् ॥ ९७ ॥

ऋषय ऊचुः

देवदेव ! जगन्नाथ ! विश्वनाथ ! जगन्मय ! । वासुदेव महादेव ब्रह्मरूप नमोऽस्तुते
तत्स्वरूपा कथङ्काशी कथम्वा रचिता त्वया । भूमौ भुवननाथेन किमर्थम्वा पृथक्कृता ॥

विष्णुरुवाच

कस्मिंश्चित्सुमहाकल्पे लोका धर्मपरायणाः ।
साधनानि प्रकुर्वन्ति मोक्षार्थं तपआदिभिः ॥ १०० ॥

प्रथमप्रश्नोत्तरन्दत्वा द्वितीयप्रश्नोत्तरमाह छत्राकारन्त्विति यद्भवद्भिश्छत्राकारं ज्योतिः पृष्टन्तच्छ्रुतौ बृहज्जाबालादिषु "परं ज्योतिः काशी" इति यत्प्रथितं प्रसिद्धं तज्जानथेत्यर्थः ॥ ९५ ॥ पृथिव्या सह कथन्न निमग्नेत्यस्योत्तरमाह रत्नम् सुवर्णे खचितमिति यदि पृथिवीमयी काशिका स्यात्तदा तया सह निमज्जेताऽपि न तु पृथिवीमयी किन्तु पृथिव्याङ्खचितेव भाति ततो न निमज्जति यत्कृती दीर्घइकारश्छान्दसः यत्कृतम् कृतकमुत्पादितम् तदेव निमज्जति इदन्तु न तथेति भावः । कृतं यदितिपाठः । त ह्येतस्याः किं स्वरूपमितिचेच्चिदानन्दस्वरूपमेवाऽस्या इत्याह चिदानन्दमयीति ॥ ९७ ॥ देवदेवेति तत्स्वरूपा ब्रह्मस्वरूपा कथम् केन प्रकारेणेत्यर्थः । श्रुतिप्रामाण्याद्ब्रह्मरूपत्वं भवत्येवेति चेत्तर्हि त्वया भूमौ रचितेति प्रवादः कथम् न हि ब्रह्मस्वरूपम् रचितुं शक्यते, किञ्च सा भूमौ रचिता चेद्भूमिसम्बद्धापेक्षिता नेयं तथा किन्तु पृथक्कृता भूमेः सकाशात्पृथक् स्थापिता तच्च किमर्थन्तत्सर्वम्वदेत्यर्थः ॥ ९८ । ९९ ॥ कस्मिंश्चित्सुमहाकल्पे इति अत्र कल्पनामनिर्देशाभावात्सर्वे

तथाऽपीन्द्रियवैषम्यान्मोक्षे विघ्ना भवन्ति हि ।
आगत्य सर्वैर्विज्ञप्तिः कथं मुच्यामहे विभो ! ॥ १०१ ॥
नानातीर्थैस्तपोभिश्च वृत्तैर्दानैर्जपैर्व्रतैः । कृतैरपि मनःशुद्धिर्दृश्या तेन नृणामिह ॥१०२
मनःशुद्धिम्विना देव न मोक्षो धर्मदुर्लभः । कथं मुच्येमहि वयं दुस्तराद्भवसागरात् ॥
न तं धर्मं सूक्ष्मरूपं विदामो मुक्ताः स्यामो येन पापाद्भवाब्धेः ।
तं त्वात्मानञ्जीवजीवञ्जताःस्मो विद्याबीजम्बीजनिर्मूलहेतुम् ॥ १०४ ॥
नानापाशैः पाशितान्नः सुरेश ! त्राहि त्रस्तांस्त्वन्न चान्यत्र मुक्तिः ।
युक्तिः सेयम्वेदशास्त्रानुकूला मूला तूला नश्यति त्वत्प्रसादात् ॥ १०५ ॥

विष्णुरुवाच

इति श्रुत्वा वचस्तेषाञ्जनानाम्पुण्यकर्मणाम् । सदाशिवो महादेवो लिङ्गरूपधरः प्रभुः
मया स्मृतो लोकमुक्त्यै प्रादेशपरिमाणतः ।
लिङ्गरूपधरः शम्भुर्हृदयाद्बहिरागतः ॥ १०७ ॥

महाकल्पेष्वितिबोध्यम् ॥ १०० ॥ विज्ञप्तिः कृतेतिशेषः ॥ १०१ ॥ जीवजीवञ्जीवानामपि जीवनकर्तारम् हिरण्यगर्भरूपं विद्याया बीजङ्कारणम् बीजं संसारकारणा विद्यारूपं तन्निर्मूलनन्तस्य नाशनन्तस्य हेतुम् ॥१०४॥ तूला तूला संज्ञकाऽविद्यामूला तत्संज्ञकाविद्येत्यर्थः ॥ १०५ ॥ इति तेषाम्वच इति इति तेषां लोकोपकारकम्वाक्यं श्रुत्वा महासङ्कटे निमग्नेन मया स्वहृदयान्तर्गतो महादेवो मम नित्यमुपास्यो ममेष्टदेवो लोकमुक्त्यर्थम् लिङ्गरूपेणाध्यातः प्रार्थितश्चेत्यर्थः परमात्मनो महादेवस्य व्यापकत्वेऽपि प्रादेशमात्रहृदये प्रकाशमानत्वात्प्रादेशमात्रपरिमाणत्वमुक्तमिति बोध्यम्; तथा च कठवल्लीष्वाम्नायते "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः" इति सचैवं मयाध्यातः प्रार्थितश्च महादेवो मदनुग्रहार्थं लिङ्गरूपधरः सन्नेव हृदयाद्बहिरागतः ॥ १०७ ॥

महतीम्वृद्धिमासाद्य पञ्चक्रोशात्मकोऽभवत् ।
आपातालादावैकुण्ठम्व्याप्य चोर्ध्वमवस्थितः ॥ १०८ ॥

पश्चात्प्रादेशलिङ्गोऽपि महतीम्वृद्धिम्प्राप्य पञ्चक्रोशपरिमाणोऽभवदित्यर्थः । आपातालादिति इयं मर्यादा स्थूलमानेनोक्ता वस्तुतस्त्वादिमध्यान्तरहित इत्यर्थः । अतएव ब्रह्मणोविष्णोश्चलिङ्गस्यान्तापरिज्ञानमुक्तम् देवीभागवते । ननु 'काशी ब्रह्मेति सम्प्रोक्ता इति पूर्ववचनेन "ब्रह्मैवैतन्निर्गुणं निर्विकारम्" इति पद्मपुराणे वचनेन च काश्या ब्रह्मरूपत्वात्तस्य ब्रह्मणो व्यापकत्वाद्विष्णुहृदयान्निर्गमनं पञ्चक्रोशरूपेण परिणामश्च न सम्भवतीति चेन्न अत्र शिवस्य पराशक्तेरेवाविर्भावस्याभिप्रेतत्वात् नह्यन्यथा ब्रह्मणोऽचलस्य निर्गमनादिकम्, पञ्चक्रोशपरिमाणादिकञ्च सम्भवतीति तस्माद्ब्रह्मशक्तेरेवाऽऽविर्भावउक्तः । न च ब्रह्मवद्ब्रह्मशक्तेरपि व्यापकत्वात्तस्याअपि निर्गमनादिकं न सम्भवतीतिवाच्यं मोक्षप्रदत्वे तेजोमयत्वशक्तिरूपेण परिच्छिन्नायास्तस्या निर्गमनादिसंभवात् । तथा च मोक्षप्रदत्वतेजोमयत्वशक्तिभ्योऽपरिच्छिन्नं पराशक्तिरूपं विष्णुहृदयान्निर्गत्य काशीस्थब्रह्मशक्त्यभिन्नं सद्विराजत इति सिद्धम् । एतेन तस्मिन्समये इदं ज्योतिर्लिङ्गमुत्पन्नमिति केषांचिद्भ्रमो निरस्तः । लिङ्गस्यानादित्वेन तद्भूमानवकाशात् । न चैवं ब्रह्मणोनित्यत्वात्तस्य तिरोधानासंभवेन "कलावन्तर्हितो देवस्तत्पुरञ्च विशेषतः । पुरी तु वसते नित्यं सर्वप्राणिविमोक्षदा" इत्यादि वचनानां का गतिरिति चेदुच्यते तेजोमयत्वशक्तेरन्तर्धानापेक्षया तेषां वचनानान्नेयत्वात् तेजोमयत्वशक्तेरन्तर्धानेऽपि मोक्षदत्वशक्तेरन्तर्धानाभावापेक्षया तु "पुरी तु वसते नित्यं सर्वप्राणिविमोक्षदा" इत्येवम्वचनानां नेयत्वात् । अतएव ब्रह्मविष्णोर्मोहनिवारणार्थं प्रथमतस्तेजोमयत्वरूपेण यदासीत्ततिरोभूतं पश्चात्तेजोमयत्वरूपेण प्रादुर्भूय तयोर्मोहो नाशितः । तदुक्तम् ब्रह्मवैवर्त्ते "कदाचिल्लिङ्गरूपेण शिवेन परमात्मना । शक्तिः पृथक्कृता शान्ता काशीति प्रथितिङ्गता" इति । नन्वेवं मोक्षदत्वशक्तिर्ब्रह्मणो नित्याव्यापिकैवेति काश्यां को विशेष इति चेत् ज्ञाताज्ञातशक्तित्वेन विशेषसम्भवात् ।

ममेष्टदेवो दयितः परमात्मा पिनाकधृक्। कैलासादप्यगाद्देव्या भवान्या सहितः प्रभुः

दृष्ट्वा लिङ्गं परानन्दं ज्योतीरूपं सुनिर्मलम्।
दृष्ट्वा मामुक्तवान् रुद्रस्त्वया सम्यगिदं कृतम्॥ ११०॥
ज्योतिर्लिङ्गं प्रकटितं सर्वप्राणिविमुक्तिदम्।
रुद्रस्य वचनं श्रुत्वा मया तत्स्थाणुरूपधृक्॥ १११॥
शुद्धसत्वात्मकं ज्ञात्वा स्तुतं श्रुतिशतैः पृथक्।
लिङ्गाकारं क्वचिद्भाति दण्डाकारं क्वचित्पुनः॥ ११२॥

छत्राकारं क्वचिद्भाति पिण्डाकारं त्रिकोणकम्। दृश्यते मुनिसङ्घैस्तद्यथामति तथैव तत्

अजडत्वात्सावकाशं क्षेत्राकारतया स्थितम्।
आनन्दनिविडत्वाच्च लिङ्गाकृति तथा महत्॥ ११४॥

अन्यत्र साक्षात्कृता मोक्षदत्वशक्तिर्मोक्षम्प्रयच्छति काश्यान्त्वसाक्षात्कृताऽपीति विशेषसम्भवात्। ननु देवदारुवनम्प्रति मुनिपत्नी मोहनार्थङ्गतस्य शिवस्य मुनिभिः शापे दत्ते लिङ्गम्पतितन्तस्य द्वादशधा खण्डानि कृत्वा काश्यादिस्थलेषु तानि खण्डानि शिवेन स्थापितानि" इति नागरखण्डे उक्तम्। तथा च काशीलिङ्गस्यानादित्वं न सिध्यतीति चेन्न विद्यमाने एव ज्योतिर्लिङ्गे तस्यापि ज्योतिर्मयखण्डस्य प्रथमदीपे द्वितीयदीपयोजनस्येव योजनेनातिशयतेजोमयत्वं सम्पादनपरत्वेनाऽपि तेषाम्वचनानां योजनकल्पनादित्यलमतिविस्तरेण॥ १०८॥

इत्थं लिङ्गव्याप्तौ सत्यां पश्चात्किञ्जातन्तत्राऽऽह ममेष्टदेव इति। भवान्या श्रीभुवनेश्वर्या समेतः। स्वस्य स्वरूपं प्रकटीभूतं ज्ञात्वा कैलासान्ममेष्टदेवः शिवोऽप्यागतः, काशीवासार्थमित्यर्थः॥ १११॥ तच्च ज्योतिर्लिङ्गमनेकधा भातीत्याह लिङ्गाकारमिति यथावह्नेर्ज्वालायाः क्षणमात्रेणैव लिङ्गदण्डछत्रपिण्डाद्याकारता भवति तेजःस्वभावात् तथा तथा ज्योतिर्लिङ्गस्याप्यनेकाकारता भवतीत्यर्थः॥ ११२—११३॥ तत्र हेतुरजडत्वादिति चेष्टमानज्वालासदृशत्वादित्यर्थः॥११४॥

जडत्वात्पृथिवी मग्ना सप्राणिनगकानना। अजडत्वादिदं लिङ्गं छत्राकारमवस्थितम्
चैतन्यजडयोरैक्यं कथमेकस्थयोरपि। भवेदिति महाभागा जानन्ति कथयन्ति च॥

तस्मात्काशी ब्रह्मरूपा जडपृथ्वीर (ध्व्या अ) संगता।
महर्जनस्तपोलोकवासिभिर्मुनिभिर्मही॥ ११७॥

जलम्प्रविष्टा दृष्टा सा छत्राकारम्महद्युति। दृष्टन्तत्काशिकारूपं निर्मितं न मया परम्
वदन्ति लोकाः सततं काशी केशवनिर्मिता। निर्माणन्तु जडस्यात्र क्रियते न परात्मनः

उद्धरिष्यामि च महीं वाराहं रूपमाश्रितः।
तथा पुनः पृथिव्यां हि काशी स्थास्यति मत्प्रिया॥ १२०॥

इत्युक्त्वा ऋषिमुख्येभ्यो भगवानादिसूकरः। उद्धारमहादेवो महीं मग्नां महाम्भसि

एकीकृता काशिकया पुनर्जीवानमोचयत्॥ १२२॥

यस्यां स्थावरजङ्गमाजडधियः सुज्ञाः सुधर्मान्विताः।
पापाश्चैव सदाशिवेन मिलिता जीवा भवन्ति ध्रुवम्॥
या गङ्गादि समस्ततीर्थशरणं या देवतादैवतम्।
सा काशी मम शङ्करस्य वसतिः प्रार्थ्या न कैः सद्गुणैः॥ २३॥

गुरुरुवाच

एवं विष्णुर्महाभाग! प्रार्थितो मुनिभिः पुरा।
इमां कथां कथितवान्काश्याः सन्देहशान्तये॥ १२४॥

जले कुतो न निमग्नमित्यस्योत्तरमाह जडत्वादिति॥ ११५॥ चैतन्यजडयोरिति यदि तयोरैक्यं स्यात्तदा पृथिव्या सह निमज्जेताऽपि न तु जडचैतन्योरैक्यं सम्भवति विरोधात् इति भावः॥ ११६—११७—११८॥ इत्थमस्य लिङ्गस्य सनातनत्वे सिद्धे ये लोकाः काशी केशवनिर्मितेति वदन्ति तन्मुधैवेत्याह वदन्तीति असम्भवदुक्तिकत्वं स्फुटयति निर्माणन्त्विवति। तदेवम्प्रकारेण क्षेत्रस्य शिवशक्तिरूपत्वे सिद्धे क्वचिद्वैष्णत्वम् क्षेत्रस्योक्तम् तत् विष्णुनिमित्तेन प्रादुर्भूतत्वाद्बोध्यम्॥ १२०॥ इत्थं विष्णुऋषिसम्वादमनुवदति इत्युक्त्वेति॥ १२१॥ सदाशिवेन मिलिता

गुरुभक्तो विष्णुभक्तः शिवभक्तस्त्वमेव हि। यस्य काशीकथायान्तु प्रीतिर्जाताविमुक्तिदा

अन्यत्किञ्चिद्वरय मां त्वयाहन्तोषितः शिशो ! ।
महत्या सेवया प्राज्ञ ! पाप्मभिर्दुर्लभं शिवम् ॥ १२६ ॥

काश्यां ये पशुपक्षिकीटतरवस्ते कामलोभादिभि-
र्हीनाः पापवृषादिशुद्धमनसा कुर्वन्ति नो कर्हिचित् ॥
मर्त्याः पापविकारकाममनसा कुर्वन्त्यपि स्वादतः
पापम्पापरतास्तथार्थरहिता यान्त्येव ते यातनाम् ॥ १२७ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु पापभीरुः सुदुर्लभः । भीरुष्वपि सहस्रेषु दुर्लभः पापवर्जकः ॥
वर्जकेष्वपि धर्मात्मा धर्मात्मसु जितेन्द्रियः। तेष्वपि मुमुक्षुर्यः साधनैः परमैर्युतः ॥१२९

साधनैः परमैर्युक्तः समदृक् शान्तमानसः ।
ब्रह्मात्मभावं यद्याति तत्काश्यां हेलयाऽऽप्यते ॥ १३० ॥
सेवाफलं त्वयैवाऽऽशु प्राप्तं गुरुकृतम्महत् ।
न हि पापा गुरोर्भक्तिं कुर्वन्ति ह्यात्मवञ्चकाः ॥ १३१ ॥
यत्प्रसादात्प्राप्नुवन्ति शाश्वतम्पदमव्ययम् ।
गुरुभक्त्या शिवो दृष्टो गुरुभक्त्या जनार्दनः ॥ १३२ ॥
गुरुभक्त्या महासिद्धिः काशिका दर्शनङ्कृता ।
मयाऽपि सुप्रसन्नेन गुरुणाङ्काशिका गुणाः ॥ १३३ ॥

जीवा ध्रुवम् ध्रुवपदवाच्यं ब्रह्मभवन्तीत्यर्थः ॥१२३॥ इममर्थमुपसंहरति गुरुरुवाचेति ॥ १२४—१२५—१२६ ॥ काश्यां ये इति पशुपक्ष्यादयोऽपि लोभादिभिर्हीनाः सन्तः पापवृषादि पापकर्मादिकं नो कुर्वन्ति इत्थं सति मर्त्याः सन्तो यदि पापं कुर्वन्ति तर्हि यातनां यान्त्येवेत्यर्थः ॥१२७-१२८—१२९॥ हेलयाऽऽप्यते एतादृशो दुर्लभोऽपि ब्रह्मभावो हेलयाऽत्र प्राप्यते ततः काशीसदृशं किमस्ति न किमपीत्यर्थः। एतावत्पर्यन्तं काशी केन रचितेत्यादि शिष्यप्रश्नानां गुरुणा प्रत्युत्तरम् दत्तम् भवतीति बोध्यम् ॥ १३०—१३१—१३२—१३३ ॥

उपदिष्टा बहुमता स तान्नत्वसताम्मुने ! ॥ १३४ ॥

सन्तः (सद्भिः) सेव्याः सन्मुखात्काशिकायाः श्रोतव्यास्ते सद्गुणाः सिद्धिरूपाः ।
यस्याम्वासः पापनिर्मूलकारी यस्याम्मृत्युर्मोक्षदः प्राणिनां हि ॥ १३५ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्ते काशीमाहात्म्ये तृतीयभागे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठ सरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्य व्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

काशीवासिजनैः कर्तव्यधर्मप्रतिपादनम्

शिष्यउवाच

काशिकायाः स्वरूपन्तु श्रुतम्वेदादिगोपितम् ।
त्वत्प्रसादाद्देवदेव ! शरणागतवत्सल ! ॥ १ ॥
ब्रह्मादयस्त्रयोदेवा दृष्टा मे त्वत्प्रसादतः । धर्मस्वरूपमखिलम् ज्ञातन्त्वत्कृपया महत् ॥२
अविमुक्तस्य माहात्म्यं शृण्वंस्तृप्यामि नो गुरो ! ।
विचित्रममृतं ह्येत च्छृण्वताममृतप्रदम् ॥ ३ ॥
न हि धर्मादयो लोके प्रयच्छन्ति श्रुताः फलम् ।
अयमेव वरो मह्यम् भगवान्काशिसत्कथाम् ॥ ४ ॥
कथयस्व कृपासिन्धो ! न तृप्याम्यमृतम्पिबन् ॥ ५ ॥

गुरुरुवाच

दृष्ट्वा काशीम् साङ्ख्यभूमिं सुखाख्याम् संसाराब्धेस्तारकं केशवञ्च ।
ब्रह्माणञ्च ब्रह्मघोषैरुपेतङ्कस्तां काशीम् सन्त्यजेन्मोक्षदात्रीम् ॥ ६ ॥

अतः परम् शिष्यो गुरुप्रसादात्प्राप्ताम् कृतकृत्यतामनुवदति शिष्यउवाच काशिकाया इति यद्यन्मया काशिकायाः स्वरूपादिकं पृष्टं तत्सर्वम्भवन्मुखाच्छ्रुतं तन्नातः परम् प्रष्टव्यमस्तीत्यर्थः ॥ १—२ ॥ तथाप्यविमुक्तक्षेत्रस्य महिमानं श्रुत्वा न तृप्याम्यतस्तन्महिमानं पुनः कथयेत्यर्थः ॥ ३ ॥

धर्मादयः श्रुताः फलं न प्रयच्छन्ति इदन्तु श्रवणादेव केवलममृतप्रदम् मोक्षप्रदम्भवतीति कथन्तच्छ्रवणे तृप्तिः स्यादितिभावः ॥ ४—५ ॥ गुरुरुवाच दृष्ट्वेति साङ्ख्यभूमिं ज्ञानभूमिं ज्ञानभूमिं सुखाख्यां सुखरूपणाम् ॥ ६ ॥

ये येऽपराधा भविनां भवेयुर्भवापहाःकाशिका तान्क्षमेत ।
शिवं शिवां केशवं काशिकां यः स्मरन्वसेत्पापभीरुः सदाऽत्र ॥ ७ ॥
बुधैर्नशुद्धिर्विहिता तथागमैर्न तीर्थमन्त्राहुतिदानपावनैः ।
वाराणसीम्प्राप्य जितेन्द्रियाणां यथा भवेच्छङ्करभक्तिभाजाम् ॥ ८ ॥
यन्नाममात्रेण समस्तदोषान् दूष्यान्सुतीर्थीकुरुते हि जन्तुः ।
तां काशिकांकाशिताकाशरम्यां को विस्मरेत्सुकृती शान्तचित्तः ॥ ९ ॥
ये स्थावराः काशिकायाम्वसन्ति ते सर्वयोगिष्वपि योगनिष्ठाः ।
क्षुब्धम्मनो नैव सुखाय यत्र सम्प्राप्यते तत्सुखं शान्तचित्तैः ॥ १० ॥
काशीस्थलोको न यमाद्बिभेति न दुःखसङ्घान्न च गर्भवासात् ।
बिभेति चैकान्महतो भयात्परं यन्मानुषं जन्म शिवेन हीनम् ॥ ११ ॥
न कुर्वन्ति त्रिधा पापं त्रिधा पुण्यं प्रकुर्वते । लोकाः काशितकाशाश्च वसन्ति शिवसद्मनि
केचिन्महादेव ! शिवेश ! शम्भो ! केचिज्जगत्पालक ! विश्वमूर्ते ! ।
केचिन्महापातकनाशनाद्य (नेति) केचिन्महायोगदा भोगदेति ॥ १३ ॥

भविनां संसारिणां क्षमेत यतो माता सर्वस्य काशिकापराशक्तिर्भवन्तीति भावः । शिवां श्रीभुवनेश्वरीं यस्माद्ये स्मरन्ति तेषाञ्चेत्यर्थः ॥ ७ ॥ बुधैर्मन्वादिभिः आगमैः स्मृत्यादिभिः ॥ ८ ॥ काशितः प्रकाशितश्चिदम्बररूप आकाशे यया तत एव रम्या ताम् ॥ ९ ॥ सुखाय ब्रह्मसुखं प्राप्तुं क्षुब्धं मनो नैव समर्थम्भवति तदपि ब्रह्मसुखं दुर्लभम्प्राप्यते यत्रेत्यर्थः ॥ १० ॥ शिवेन हीनं शिवाराधनेन हीनम्भवति तदेव महद्भयमित्यर्थः ॥ ११ ॥ महान्तो वाराणस्यां पापमत एव न कुर्वन्तीत्याह न कर्वन्तीति त्रिधा कायिकवाचिकमानसभेदेन काशितम्प्रकाशितङ्काशो ब्रह्मेति वाक्योक्तं ब्रह्म यैस्ते ब्रह्मसाक्षाकारवन्त इत्यर्थः । तेऽपि सदाचारवन्त स्तिष्ठन्ति किम्पुनरन्ये इत्यर्थः ॥ १२ ॥ इति नामानि गृणन्तो वसन्तीति पूर्वेणान्वयः आद्येतिच्छेदः ॥ १३ ॥

पश्य तात परमार्चितां पुरीं योगभिः सुकृतिभिर्मुनीश्वरैः ।
यां निरीक्ष्य पुरुषः पुराकृतैः पातकैः शतमितैर्वियुज्यते ॥ १४ ॥
पूर्वजन्मशतकोटिसञ्चितम्पापराशिमतुलं विनाशयेत् ।
काशिकापरपदप्रकाशिका दर्शनश्रवणकीर्त्तनादिभिः ॥ १५ ॥
पश्य तात ! निवसन्ति साधवो माधवैकशरणाः शिवाज्ञया ।
मानयन्ति सुकृतन्न पातकम्पातकाद्भयमुपापतेर्भवेत् ॥ १६ ॥
शरीरसंस्कारकृतो महाजना बहिस्तथान्तः शिवदर्शनार्थम् ।
असंस्कृतम्पश्यति नो हरः स्वयं ह्यसंस्कृता नो भगवन्तमीश्वरम् ॥ १७ ॥
पश्यन्त्युमावल्लभमीश्वरम्पतिम्पतिव्रतावन्नियताङ्गमानसाः ।
स किं महात्मा व्यभिचारिणां नृणां सुदर्शनं याति रतिप्रियः सदा ॥१८॥
लिङ्गानि तीर्थानि सुमङ्गलानि दिशन्दिशम्प्राप्य मुदावहानि ।
स्थितानि सद्भिः परिपूजितानि काश्यां न कः प्राप्नुयाद्धर्ममार्यः ॥ १९ ॥
काशीमहोत्सवमवाप्य महाजनोऽयं सम्प्रार्थयत्यखिलसाधनसिद्धिरूपम् ।
विश्वेश्वरं सकललोकगुरुं सदाऽऽनन्द्रष्टुं शुभाशुभविनाशकरं शिवाख्यम् ॥२०॥

योगिभिः परमार्चितामित्यर्थ ॥ १४—१५ ॥ शिवाज्ञया वसन्ति भवेदिति हेतोः ॥ १६ ॥ अन्तर्बहिः शरीरसंकारकृतो भवन्ति अन्तः संस्कारः पश्चात्तापरूपः वहिःसंस्कारः प्रायश्चित्तरूपः यतो संस्कृता ईश्वरं न पश्यन्ति तानपीश्वरो न पश्यतीति हेतोरित्यर्थः ॥ १७ ॥ नियतमेकस्मिन्महादेवेस्थापितमङ्गं करचरणादिकं मानसञ्च यैस्ते व्यभिचारिणाम्महादेवादन्यत्र प्रीतिभाजामित्यर्थः । रतिप्रियो भक्तिप्रियः ॥ १८ ॥ लिङ्गानीति एतादृश्यां काश्यां स्वतो धर्मानाचरणेऽपि नानातीर्थलिङ्गानामनायासेन दर्शनात्कः पुरुषो धर्मं न प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ १९ ॥ काशीति महाजनः काशीरूपम्महोत्सवम्प्राप्य विश्वनाथमेव द्रष्टुम्प्रार्थयति तस्मात्सर्वैः स एव प्रार्थनीयो न त्वन्यदित्यर्थः (न्वय इत्यर्थः) ॥ २० ॥

पश्य वत्स ! तरणेतरिन्ततांस्वःस्थिताङ्गमनवर्जितां गतिम् ।
दारुलोहरहिताम्भवार्णवात्तारिताखिलजनाम्प्रकाशिकाम् ॥ २१ ॥
काश्यां येषां नाम गृह्णन्ति लोका बीजन्तेषाञ्जायते मोक्षमार्गे ।
काशीं ये वै संस्मरन्त्यन्यदेशे तानप्यात्मा शङ्करस्तारयेच्च ॥ २२ ॥
काश्यां ये वै शीघ्रमायुर्व्ययेन सिद्धिम्प्राप्तास्ते तु तीर्णाभवाब्धेः ।
देशः कालो लोकजात्युक्तधर्मास्तिष्ये दुष्टा नाशमायान्ति सर्वे ॥ २३ ॥
वदन्ति जानन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णं पश्यन्ति पुण्यानि च पातकानि ।
तथापि मुह्यन्ति कलावधर्मजैः सौख्यैश्च वर्णाश्रमधर्मवर्जिताः ॥ २४ ॥
कलौ पूर्वावस्था न भवति परा सर्वजगतां यथा सत्ये सम्यक्प्रतिदिनमपारः शुभचयः
अतः काश्यां सर्वैर्जितविविधलौल्यैर्गुरुनतैः प्रवस्तव्यं नित्यं हरिहरकथास्वादनपरैः ॥
न काशिकायामजितेन्द्रियाणां सुखाय काशी हरवासभूमिः ।
तपोभिरुग्रैर्नियमैर्यमैर्जपैर्दानैर्विविक्तासनभक्तियोगैः ॥ २६ ॥

तरणे संसाराब्धितरणे तरिन्नौकां स्वःस्थितामन्तरिक्षस्थिताम्भूम्यसम्बद्धामित्यर्थः । गतिं सद्गतिरूपान्तस्या दात्रीं गमनवर्जितामचलांसन्मार्गरूपान्दारुलोहरहितान्तेजोमयीम् ॥ २१ ॥ काश्यां येषामिति स्पष्टोऽर्थः ॥ २२ ॥ आयुर्व्ययेन मरणेन तिष्ये कलावन्ये देशादयः क्षेत्रादयः सव धर्मा जात्युक्ताश्च कलिदोषेणाऽधर्मेण दुष्टाः सन्तो नाशमायान्ति ततः काशीम्विहाय नान्या गतिरस्तीत्यर्थः ॥२३॥ तदेवोपपादयति वदन्तीति । वदन्ति धर्ममिति शेषः । कलावधर्मजन्यैर्विषयसौख्यैर्मुह्यन्तीत्यन्वयः । लोकान्प्रत्येव धर्मोपदेष्टारो न तु स्वयं धर्मकर्त्तार इत्यर्थः । तस्मात्काश्येव शरणमिति भावः ॥ २४ ॥ कलाविति यथा सत्यादियुगेषु तपश्चर्यातः पूर्वम्पूर्वावस्था मलिनावस्था भवन्ति तपश्चर्योत्तरन्तु शुद्ध्योत्तरावस्था भवति अन्तःकरणशुद्ध्या ह्यनुभवान्न तु तथा कलावनुभूयते, किन्तु पूर्वाऽवस्था मलिनाऽवस्थैव भवति न परा । तस्मात्काश्यामेवेतरधर्माविश्वासेन प्रवस्तव्यमित्यर्थः, सर्वधर्माचरणेऽपि यद्यजितेन्द्रियत्वं स्यात्तदा काशी न सुखायेत्याह न काशिकायामिति ॥२५

श्रीभैरवाज्ञाप्रतिपालनैश्च वैराग्यसाम्राज्यसुखैर्विशोकैः ।
शरीरशोषैर्मलमूत्रशोषैर्बाह्यागमाचारगुरूपसत्तिभिः ॥ २७ ॥
मानायमानादिविवर्जनैः सदा ह्यन्येषु मानप्रियदानदायकैः ।
वाक्यैः पवित्रैरभिमानवर्जितैः पाखण्डनिन्दापरदारवर्जनैः ॥ २८ ॥
अन्यैरनेकैः श्रुतिसाधनैर्ये युक्ताः स्वधर्मप्रतिपालकाश्च ।
वसन्ति काश्यां शिववासभूमौ युक्ताः परत्रेह च शंल्लभन्ते ॥ २९ ॥
ये लिङ्गम्विश्वमूर्तेर्भवभयहरणं शोकशोषं विशोकम्
सेवन्तेऽर्चन्ति पश्यन्त्यथविमलजलैः पुष्पधूपादिभिश्च ।
स्तोत्रैःस्तुत्वा गिरीशं बहुविधिनटनैर्भावयन्तो दिनेन
सम्पूर्णार्थाः कृतार्थाः परमसुकृतिनो यान्ति ते शुद्धमीशम् ॥ ३० ॥
स्थित्वाऽविमुक्ते शिवदर्शनार्थं कुर्वन्ति कुर्वन्ति बहूनि लोकाः ।
कार्याण्यकार्याणि भवन्ति तेषाम् तस्माच्छिवम्प्रत्यहमर्चयेदिह ॥ ३१ ॥
स्थित्वा काश्याम्विश्वनाथन्त्वदृष्ट्वा सुप्तास्ते ते मोहसङ्ग्रस्तचित्ताः ।
दृष्टो देवः साधयत्येव सर्वं तस्मात्पश्येद्देवदेवम्महेशम् ॥ ३२ ॥
पश्य तात सुकृतैकसंश्रयम्ब्रह्मकाननमिदं परात्परम् ।
तारितैकभुवनम्भुवङ्गतं भूधरार्चितसुरासुरार्चितम् ॥ ३३ ॥

तर्हि काश्याङ्कथम्वस्तव्यमिति चेत्तत्राऽऽह श्रीभैरवाज्ञेति पापन्न कर्तव्यमिति भैरवाज्ञा ॥ २७ ॥ मानप्रिय दानदायकैर्वाक्यैरित्यन्वयः । मानदायकैः प्रियदानमिष्टदानन्तस्य दायकं वाक्यन्तुभ्यमिष्टपदार्थदानन्दास्यामीत्येवं रूपन्तादृशैर्वाक्यैश्चेत्यर्थः ॥ २८—२९ ॥ दिनेन एकेनाऽपि दिवसेन काश्यां शिवदर्शनार्थं स्थित्वा येऽन्यकार्याणि पुनः पुनः कुर्वन्ति तानि कार्याण्येव भवन्ति कृतान्यप्यकृतान्येव भवन्ति कर्तव्यस्याकरणात् ॥ ३१ ॥ विश्वनाथमदृष्ट्वा ये सुप्तास्ते मोहग्रस्तचित्ता इत्यन्वयः ॥ ३२ ॥ ब्रह्मकाननं काशीरूपम् ॥ ३३ ॥

आनन्दकाननमिति प्रवदन्ति देवा धर्माख्यकाननमिति प्रवदन्ति विप्राः ।
अर्थार्थकाननमिति प्रवदन्ति लोकाः कामारिकाननमिति प्रतिकृत्तकामाः ॥३४॥

विश्रान्तिम्प्राप्य यत्र व्रजति परसुखम्मूलविश्रान्तिरूपम्
विश्रान्ताः साधवो ये श्रमधनखचिता व्यग्रतां सन्त्यजन्ति ।
वैय्यग्रग्रस्तचिता विषयवनमिवाज्ञाय सम्यक्प्रवृत्ताः ।
प्रारब्धव्याधिरूपा अमृतमिव खलाः शौचकार्याणि कुर्युः ॥३५॥

यथाकथञ्चिन्मरणं शुभात्मनां शुभन्तथा पापकृतां सुदुःखम् ।
अतः कलावप्यधमैस्तथोत्तमैर्धर्मः सदा सेव्य उदारबुद्धिभिः ॥३६॥

यत्र प्रविष्टा द्विपदश्चतुष्पदः सरीसृपास्थावरजङ्गमाः परे ।
सर्वेन्द्रियैः सर्वसुखानि भुञ्जते न भुञ्जते ते सुखदुःखमात्मनः ॥३७॥

आनन्दकाननमिति देवानामानन्दस्येष्टत्वादानन्दकानमिति वदन्ति देवाः; विप्राणान्धर्मस्येष्टत्वाद्धर्मकाननमिति विप्रा वदन्ति; पामरलोकानामर्थस्येष्टत्वादर्थार्थङ्काननमर्थकाननमिति वदन्ति; प्रतिकृत्तकामास्त्यक्तैषणास्तु कामारिकाननम्विश्वनाथकाननमिति वदन्ति पद्येन प्रार्थ्यते तस्य सर्वस्याऽत्र प्राप्तेस्तत्तत्काननमिति व्यवहारो युक्त एवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ विश्रान्तिमिति । यत्र जनो विश्रान्तिमिन्द्रियाणमुपरतिम्प्राप्य परमसुखं ब्रह्मसुखम्मूलमविद्या तस्या विश्रान्तिर्व्यापाराभावो यत्र तादृशम्प्राप्नोति । तस्मिन्क्षेत्रे ये साधवः श्रमधनखचिताः कर्मानुष्ठानश्रमवन्तोऽपि ते व्यग्रतां सन्त्यजन्ति स्वस्थचित्ता भवन्ति ये तु वैय्यग्रमस्वस्थता तया ग्रस्तञ्चित्तम् येषान्ते क्षेत्रम्विषयवनम्विषयारण्यमिवाज्ञाय प्रवृत्ता विषयादिषु भवन्ति ते प्रारब्धव्याधिना संयुक्ताः शौचकार्याय तदर्थं खला यथामृतङ्कुर्यु स्तद्वद्भवन्तीत्यर्थः । योग्यस्यायोग्यकार्ये योजनादित्यहो महत्कष्टमितिभावः । शमधनखचिता इति पाठः सुगमः ॥ ३५ ॥ यथाकथञ्चिदिति केनाऽपि प्रकारेण शुभम्वा सुखदुःखरूपम्वा मरणं सर्वेषामवश्यम्भावि ततो धर्मेणैवाऽऽयुः क्षपणं कर्तव्यन्न हि धर्मादन्यः सखाऽस्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ यत्रेति काश्यामित्यर्थः । जीवन्तः

केचिद्देवाः क्वेऽपि शुद्धा मुनीन्द्रा देवर्षीणां येऽपि भक्ता भवन्ति ।
ब्रह्मानन्दे कानने सम्वसन्ते पक्षिव्याजाः सन्मृगाश्चाऽपिचाऽन्ये ॥३८॥
विधिनिषेधपरा मनुजाः सदा विधिनिषेधकृतः सुखवर्जिताः ।
विधिनिषेधभिया मृगपक्षिणो न खलु कर्मधियां सुखभूरियम् ॥ ३९ ॥
हरिरपि सुखकारी काशिकायां सुखार्थी विविधकरणहीनो हीनशुद्धस्वरूपः ।
सुवसतिमुपयातो वासिताशेषपुण्यः कथमितरजनोऽत्र व्यापृतात्मासुखी स्यात् ॥४०

सुखानि भुञ्जते मरणोत्तरं तु सुखदुःखे न भुञ्जते । मुक्तत्वात् एतादृशस्थले कथ मधर्मेण स्थातव्यमितिभावः ॥ ३७ ॥ काश्यान्धर्मेणैव स्थातव्यन्न त्वधर्मेणाऽत एवाधर्मभयं न । देवादयो मृगपक्षिरूपेणैव वसन्ति न तु मनुष्यरूपेणेत्याह केचिदिति केऽपि ये भक्ता भवन्ति तेऽपि पक्षिव्याजाः पक्षिणाम्व्याजेन युक्ताः पक्षिणो भूत्वा च सन्तीति शेषः ॥३८॥ मनुष्यजन्माग्रहणे को हेतुस्तत्राऽऽह विधि निषेधपरा इति । मनुष्याः सर्वे विधिनिषेधपरा एव शास्त्रस्य मनुष्योद्देशेनैव प्रवृत्तेः ये तथा सन्ति तेऽपि कर्माधिकारिणो विधिनिषेधकारिणोऽपि सुखेन हीना भवन्ति। "प्लवा ह्येते दृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जराम्मृत्युन्ते पुनरेवाऽपियन्ति" इति श्रुतेः, "न तत्कर्मभिराप्नोति" इतिस्मृतेश्च। किञ्च यतः कर्मधियां, कर्मनिष्ठानामिया सुखभूर्नास्ति किन्तु ज्ञानिनामेव ततो विधिनिषेधभिया ते पक्षिमृगरूपेण वसन्ति न तु मनुष्यरूपेण । स्वीकृते मनुष्यजन्मन्यधर्मभयस्यापरिहार्यत्वादितितात्पर्यम्मनुष्याणामुपायान्तराभावदीश्वरार्पितकर्मभिः कर्मभयाभावाच्च तैः स्वधर्माचरणेनैव स्थातव्यमिति महत्कष्टमितिभावः ॥ ३९ ॥ विष्णुरप्यत्र सदाचारेण वसति तदा किम्पुनरन्यैः सदाचारेण स्थातव्यमिति वक्तव्यमित्याह हरिरपीति । सुखार्थी ब्रह्मसुखार्थी विविधकरणानि विषयोन्मुखकरणानि तैर्विहीनो हीनमनस्तं शुद्धस्वरूपं सत्वं यस्य तथा भूतो वासितं सम्पादितमशेषपुण्यं येन सः व्यापृतात्माविषयेष्वसक्तचित्तः ॥ ४० ॥

काश्याम्मृताःस्निग्धरूपाः क्षितीन्द्रास्तिष्ठन्त्येव प्राणिमात्रानुकूलाः ।
लोकानान्ते सर्वभावैः कृतार्था धिक् चाञ्चल्यं यत्र काशीवियोगः ॥४१॥
तदेवजन्माऽस्तु सुखं सुखाप्तये येनात्र वासः परिपाकमोक्षदः ।
येनात्रवासः परलोकदुःखकृत् सदुक्तमार्गे निरतो भवेच्चेत् ॥ ४२ ॥
पश्य पश्य मृगपक्षीवीरुधाङ्कीटवृक्षकृमिकामजन्मनाम् ।
देहदैहिकविषादवर्जितः प्रीतियुक्तमनसां सुखम्महत् ॥ ४३ ॥
स्थाने स्थाने सङ्घशः शातिताघाः शब्दब्रह्म ब्रह्ममूलम्वदन्तः ।
वन्यैर्योग्यैर्जीवनङ्कल्पयन्तः सन्तः शान्ताः साधितार्था वसन्ति ॥४४॥
शैवसौरहरिदासविघ्नहृच्छक्तिभासितमनोभिराततम् ।
स्वस्वदेवपरिसेवनार्थिभिः साधिताखिलफलैर्निषेवितम् ॥ ४५ ॥

काश्यामिति । सर्वभावैः सर्वपदार्थैर्लोकानाम्मनोरथपूरणेन कृतार्थाः सर्वप्राणिमात्रस्यानुकूला ये क्षितीन्द्रास्तेऽपि राज्यम्विहायाऽत्र तिष्ठन्ति अनन्तरञ्च स्निग्धरूपाः कोमलहृदया भवन्ति काश्याम्मृताश्च भवन्ति। यद्वा, काश्याम्मृताःस्निग्धरूपाः रसघनब्रह्मरूपा भवन्ति । इत्थं सति यत्र यस्मिंश्चाञ्चल्ये काशीवियोगस्तदाश्रित्य ये काशीन्त्यजन्ति तेषाञ्चाञ्चल्यन्धिगस्त्वित्यर्थः । यद्वा, क्षितीन्द्राः पर्वताः ॥४१ येन जन्मनाऽत्र काश्याम्वासः सदुक्तमार्गे अनिरत इतिच्छेदः निरतो न चेद्भवेत्तर्हि परलोकदुःखकृदेव तज्जन्म माऽस्त्वित्यर्थः परिपाकोऽन्तःकरणशुद्धिः ॥ ४२ ॥ विषादादिवर्जितानामत्रसुखमेव भवतीत्याह, पश्यपश्येति । कामेन मैथुनेन जन्म येषां दैहिका देहसम्बन्धिनः पुत्रादयः ॥४३॥ इत्थं वृक्षादीन्मृगादींश्च निर्वैरान्दर्शयित्वा मुनीनामाश्रमान्दर्शयति स्थाने इति । शब्दब्रह्म वेदः प्रणवो वा ब्रह्ममूलं ब्रह्मप्रापको वेदजनको वा धन्यैः फलैः । अत्राऽपि पश्येत्यस्यानुषङ्गः ॥ ४४ ॥ शैवैश्च सौरैश्च हरिदासैर्वैष्णवैश्च विघ्नहृद् गणेशः शक्तिः पराशक्तिर्भुवनेश्वरी ताभ्याम्भासितं शोभितम्मनोयेषान्तैर्गाणेशैः शाक्तैश्चेत्यर्थः । पञ्चायतनदेवतोपासकैराततम्व्याप्तमित्यर्थः । अत्राऽपि पश्येत्यनुषङ्गः ॥ ४५ ॥

स्वभाववैरम्परिहृत्य यत्र व्याघ्रादयोऽपि प्रतिहृष्टमानसाः ।
तृणञ्चरन्तो न च सङ्ग्रहेच्छवो यत्सङ्ग्रहाद्वैरपरः सदा भवेत् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मोवाच

ततोऽप्यग्रे दृष्ट्वा सदयहृदयान् शङ्करपरान्सुवर्णान्काशीस्थान्परमसुहृदः स्थावरचरान्
क्वचिच्छाकाहारान्क्वचिदपि च धात्रीफलचरान्
क्वचिद्बैल्वैः पत्रैः कृतशमदमांश्छान्तमदनान् ॥ ४७ ॥

स दृष्ट्वा सौभाग्यं मदनरिपुपुर्याः प्रकथयन् प्रदीपाग्रे विप्रस्थितिवृषपरः शासितपरः
यथा देवो देव्याः पुरत इहसर्वंकथितवांस्तथा शिष्यस्याऽग्रे कथयति गुणान्गौरवगुरुः
या निर्वृतिम्वितनुते जितमानसानां योद्वेगदा विविधपापरतात्मनाञ्च ।
या विष्णुलोकशिवलोकपरापरेयं सा तापपापशमनी शुभसेविता स्यात् ॥४६॥

ततः प्रदेशान्तरमाससाद सरोवरैर्मण्डितमप्रमेयम् ।
कैलास वैकुण्ठसुरालयाधिकन्धिगस्तु तान्ये न चरन्ति तत्र ह ॥ ५० ॥

यत्सङ्ग्रहाद्यस्मात्सङ्ग्रहादित्यर्थः । न च सङ्ग्रहेच्छवो व्याघ्रादयो मांसादीनामपि तस्मादेव संङ्ग्रहस्त्याज्यः ॥ ४६ ॥ सुवर्णास्तेजस्विनः स्थावरचरान् पर्वतगतान् फलचरान् फलभक्षकान् ॥ ४७॥ सगौरवेण गुरुर्न केवलन्नाम्नैव विप्राणां स्थितिकरो वृषोधर्मस्तत्परः शासिताः परा दुष्टा येन सः शङ्करपरांश्छैवान् दृष्ट्वा पुर्याः सौभाग्यं च दृष्ट्वा पुर्या गुणान्प्रकथयन् कथयतीत्यन्वयः ॥ ४८ ॥ किं कथयति तदाह या निर्वृतिमिति । विष्णुशिवलोकादपि(भ्यां) परोत्कृष्टा ॥४६॥ अथ श्लोकचतुष्टयेन कलिम्प्रति ब्रह्मोक्तिः । ततः प्रदेशान्तरमिति आससाद वेदधर्मा मुनिः । कीदृशम्प्रदेशान्तरन्तत्राह हंसा इति । यत्र प्रदेशान्तरे हंसादयः शुष्कवादो निरर्थकवादः किमिति कर्तव्य इति हेतोः शुष्कवादे समूका इव स्थिता वर्णोच्चारन्न कुर्वन्तीत्यर्थः । तर्ह्यव्यक्तशब्देन चूं चूं शब्देन वादं किमिति कुर्वन्तीति चेच्छिव-प्रतिपादनार्थमित्याह नादैरिति अव्यक्तनादात्मकं मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धं शिव-

हंसाश्चकोराश्चटका वकाः शुका लूकाः समूका इव शुष्कवादे ।
नादैः सदानन्दमयैः सनातनन्निरूपयन्तः सुरुतैः सदाशिवम् ॥ ५१ ॥
शिवानुकम्पा यदि नाऽऽश्रिता स्यादभूषणन्दूषणञ्जन्मभाजाम् ।
सुजन्मभाजामपिदूषणन्तन्नानाविवादैः कलहप्रियाणाम् ॥ ५२ ॥
मन्दारसन्तानकपारिजातकल्पद्रुमाख्यान् हरिचन्दनञ्च ।
पश्यन्विचित्रान् सुबहून् सनातनान् मोक्षादिसिद्धिप्रदपुष्पपत्रान् ॥५॥
यजन्ति यज्ञैः प्रतपन्ति तापैः कुर्वन्ति दानानि वहूनि सुव्रताः ।
शोचन्ति गत्वा दिवमुत्पतन्तः शोकापहं सौख्यकरन्तदेतत् ॥ ५४ ॥
माधवी मधुरवल्लिवेष्टितम्माधवैकनिलयम्महार्चनम् ।
सर्वजीवरमणं रमाप्रियम् प्रीतिरत्र सुकृतैः परा भवेत् ॥ ५५ ॥

स्वरूपम्भवतीति निरूपयन्तः प्रतिपादयन्तस्तिष्ठन्तीति शेषः । तदुक्तं शारदायाम् "भिद्यमानात्पराद्विन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्" इति । अतोऽत्रवादस्त्याज्य इति भावः लूकाउलूकाः ॥५१॥ यद्यस्मिन्क्षेत्रे शिवानुकम्पा शिवदया नाऽऽश्रिता स्यात्तदा दूषण-जन्मभाजां दुष्टजन्मनामिदं क्षेत्रमभूषणमेवाऽशोभाकरमेव तथा नानाविवादैः कलहप्रियाणां सुजन्मनामपि उत्तमकुलोत्पन्नानामपि शिवदयाभावे क्षेत्रन्दूषणमेव भवति अकल्याणकरत्वात्ततोऽत्राऽवश्यं शिवानुकम्पा सम्पादनीयेति भावः । एतादृ-शन्तत्प्रदेशान्तरमितिभावः । तदुक्तम् देवीपुराणे "क्षेत्रदेवे प्रसन्ने तु तत्क्षेत्रं सफलम्भ-वेत्" इति ॥५२॥ मन्दारेति । येषां पुष्पपत्रभक्षणहेतुकवासेन मोक्षादिसिद्धिर्भवति तान्वृक्षान्पश्यन्वेदधर्मा मुनिस्ततो वक्ष्यमाणमुवाचेतिशेषः ॥ ५३ ॥ किमुवाच तदाह यजन्तीति । यज्ञदानादिभिर्ये दिवङ्गत्वा पुनरत्रोत्पतन्त आगच्छन्त शोचन्ति तेषां शोकापहन्तदेतत्क्षेत्रमित्यन्वयः एतत्फलस्यनित्यत्वात् ॥ ५४ ॥ वनम्वर्णयति माधवीति "वासन्ती माधवीलता" इत्यमरः । अत्र सुकृतैरेव प्रीतिर्भवति नान्यथेति भावः ॥ ५५ ॥

महालक्ष्मी ह्येषा प्रतिदिवसमाराध्य नृहरिम्, प्रसन्ने देवेशे वरयतिरतिम्मोक्षगहने ।
ऋषीणान्देवानां नरतुरगकीटान्तभविनाम्
सुखम्विश्रान्तानाम् तदिहवरमानन्दगहनम् ॥ ५६ ॥

ब्रह्मोवाच

दृष्ट्वाऽविमुक्तेश्वरमादिदेवं आनन्दमानन्दवनन्तथाऽन्यत् ।
तत्रत्यजीवान्सुखसारपुष्टान् शिवान्निजानन्दसमाधिजुष्टान् ॥ ५७ ॥
उवाच शिष्यः परमादरेण स दीपकः काशिपुर्याः प्रदेशात् ।
प्रपश्यमानः सुचिरम्महात्मा गुरुम्प्रणम्याऽथ महानुभावः ॥ ५८ ॥

दीपकउवाच

स्वामिन्प्रसीदपरमम्परमार्थयुक्तं, काश्याः पुनर्वदवदान्यमनोभिरामम् ।
तृप्तिर्न मे भवति काशिनिवासिजन्तून् दृष्ट्वा महाफलयुतान् शिवभक्तियुक्तान् ॥५६॥
या ददाति सुकृतैकसाधनं या करोति सुखिनं सुसेविता ।
या हरत्यघचयं पुराकृतं या विमुक्तिदसुरासुरार्चिता ॥ ६० ॥
तत्र तत्र स गुरुर्गिराम्पतिर्मानदः परमशिष्यवत्सलः ।
लिङ्गतीर्थ शिवविष्णुकाननान्यप्यदर्शयदथो महामुनिः ॥ ६१ ॥
श्रोत्रदृष्टिमनसां सुखावहां काशिकाम्परिकलय्य पूज्य च ।
तस्य भक्तिरुदिता महामतेः काशिकाविषयिणी विमुक्तिदा ॥ ६२ ॥

गहने कानने रतिम्वासं कीटान्तभविनाम् कीटान्तयोनीनाम् यत्र सुखन्तदानन्दगहनमानन्दकाननमित्यर्थः ॥ ५६ ॥ ब्रह्मोवाच । दृष्ट्वेति ॥५७॥ तान्दृष्ट्वा प्रदेशान्प्रपश्यमान अथ गुरुम्प्रणम्योवाचेत्यन्वयः ॥ ५८ ॥ मनोऽभिरामम्महिमानमित्यर्थः ॥ ५६ ॥ या ददातीति ॥६०॥ तस्यांकाश्यान्तत्रतत्रैत्यन्वयः इयमुक्तिः कलिम्प्रति ब्रह्मणो बोध्या ॥ ६१ ॥ परितः समन्तात्कलय्य दृष्ट्वा तस्य दीपकशिष्यस्य ॥ ६२ ॥

शिष्यउवाच

वशीकरणविद्येयमात्मसाद्धार्मिकञ्जनम्। करोति ब्रह्मसुखदा प्रयच्छत्यमृतम्महत् ॥६३

दर्शितेयम्भगवता गुरूणां गुरुणा मम। गङ्गातीरगता काशी दृष्टादृष्टफलप्रदा ॥६४॥

गुरो! त्वत्तः किञ्चित्परमपरमञ्चेतनजडम्, न देवस्तीर्थम्वा नच निगमशास्त्रादिपठनम्

त्वया नित्यञ्ज्योतिः परमसुखदम्वेदपठितम

कृपामूर्त्ते! सिद्धम्प्रकटितमिदं शम्भुसदनम्॥ ६५ ॥

अवश्यपूज्यम्वददेववृन्दम् पृच्छामि निर्विघ्ननिवासकामः।

सर्वापराधान्परिहृत्य भक्तं रक्षन्ति काश्यामधिकारिणो ये ॥ ६६ ॥

गुरूपदिष्टन्न करोति यस्तु शिष्यः कथन्तस्य शुभा मतिःस्यात्।

विदेहवत्पश्यति सर्वदं गुरुं स सर्वसिद्धिं समवाप्नुयात्कृती॥ ६७ ॥

पापान्निवारयति धर्मपदे युनक्ति सिद्धिम्प्रयच्छति ततः परमस्ति किन्तत्।

सद्ब्रह्म दर्शयति पदम्परमम्विवृण्वन् यस्तीक्ष्णताञ्च जगतः कथयेत्कृपालुः ॥६८॥

वेदैः पुराणैः स्मृतिभिः सुखं समुदिश्यते तत्सुखं गुरुवक्त्राद्धि श्रूयते धार्मिकैर्जनैः ॥६९

भक्तावुदितायान्तद्भक्तेरभिलापं शिष्यः कृतवानित्याह शिष्यउवाचेति। वशीकरणेति धार्मिकञ्जनंमात्मसात्करोति वशीकरोति ॥६३॥ हे परमोत्कृष्ट गुरो! त्वत्तः परममुत्कृष्टञ्चेतनादिकं नास्ति यतस्त्वया नित्यञ्ज्योतिर्ब्रह्म बोधितम् सिद्धन्नित्यम् यच्छम्भुसदनङ्काशी तदपि बोधितम्॥ ६४—६५ ॥ अधुनाऽयम्प्रष्टव्यांशोऽस्तीत्याह अवश्येति। अवश्यन्नित्यम्पूज्यन्देवम्वद काश्यां येऽधिकारिणस्तानपि वदेत्यर्थः ॥६६ ननु मदुपदिष्टेऽर्थे तव विश्वासो न स्यादिति चेत्तत्राऽऽह गुरूपदिष्टेति। विदेहवच्छुद्धब्रह्मवत्॥ ६७ ॥ तीक्ष्णतां दुःखप्रदताम्॥ ६८—६९ ॥

गुरुरुवाच

ये काश्यान्निवसन्ति शङ्करपरा विष्णोः समाराधका-
स्तेषाम्पापचयोऽपि याति विलयम्मुक्तिं लभन्तेऽपि च ।
ये काश्याम्भवनाशिनीम्भगवतीं श्रीमद्भवानीञ्जनाः
सेवन्ते सततं सुपूजनपराः कामादिभिस्ते स्थिराः ॥ ७० ॥

सर्वेषाम्विघ्नहर्तॄणामपि सर्वेश्वरेश्वरी । अतो भवान्यधीनं हि क्षेत्रम्पूज्यात्ततः परा॥

ये काश्याम्प्रभजन्ति ढुण्ढिगणपं सर्वाघविघ्नापहम्
तेषां ढुण्ढि समस्तशास्त्रविहितान्भोगान्प्रयच्छत्यसौ ।
ये नानाविधमोदकैः सुमधुरैर्विप्रान्सुपूज्याऽऽदरात्
स्तुत्वा मोदकदास्त एव सुखिनः काश्यामवश्यञ्जनाः ॥ ७२ ॥

ढुण्ढिराजः प्रियः पुत्रो भवान्या शङ्करस्य च । तस्य पूजनमात्रेण त्रयोऽपि वरदाःसदा
गणेशः सर्वदेवानामादौ पूज्यः सदैव हि । सर्वैरपिमहाविघ्ननाशकोऽन्यत्र किन्त्विह॥

ये कालराजङ्कलिकालभीषणं ह्याराधयन्तो वटकाज्यभक्तैः ।
भजन्तिकाश्यामपर्गहेतोस्त एव काश्यामपवर्गभाजः ॥ ७५ ॥
आराधितः कालरजो महेशः पापानि सर्वाणि विनाशयत्यलम् ।
मनस्तु शुद्धम्प्रकरोति येन भजत्यजस्रं शिवमीशितारम् ॥ ७६ ॥
ये दण्डपाणिं द्विजभोजनाद्यै र्भजन्ति काश्यां सुखवासहेतोः ।
ते विघ्नपूगान्परिहृत्य दूरादारात्पदं शाश्वतमाप्नुवन्ति ॥ ७७ ॥

भवानीमन्नपूर्णाम्भुवनेश्वरीम्, भवनाशिनीम्मोक्षदात्रीं सर्वेश्वराणां ब्रह्मविष्ण्वादीनामीश्वरी ॥ ७० ॥ तेषां ढुण्ढिरित्यत्र प्रथमाविभक्तेर्लोपआर्षः तेषां ढुण्ढिः प्रयच्छतीत्यन्वयः ॥ ७२ ॥ अन्यत्र काशीव्यतिरिक्तस्थलेऽपि पूज्य इह पूजने तु किञ्चित्रमित्यर्थः ॥ ७४ ॥ इत्थं नित्यपूज्यदेवानुक्त्वा काश्याधिकारिणो देवानाह ये कालेति ॥ ७५ ॥

दण्डपाणिभवनं सुखावहं सम्भ्रमोद्भ्रमविकारनाशकम् ।
भक्ष्यभोज्यसुखमोक्षदं यतस्तद्विना भवति चाऽकुलाकुलः ॥ ७८ ॥
लोकार्कादिरवीन् रवौ सुमधुरैर्दुग्धादिभिस्तुद्विजा-
न्नाराध्याश्रमवासिनोऽपि सततं भावैर्भजन्ते जनाः ।
तेषां शोकरुजादिदोषनिवहान् दूरीकरोत्येकदृक्
सर्वेषामभिवाञ्छितञ्च विदध(ा)त्याराधितो भास्करः ॥ ७९ ॥
काश्यां ये सूर्यभक्ताः शमदमसहिताः शङ्करराधकास्ते
विष्णुम्ब्रह्माणमग्निम्विविधसुरगणांस्तेऽर्चयन्तीति नूनम् ।
आत्माऽयं स्थावराणां श्रुतिशतपठितो जङ्गमानान्तथाऽऽत्मा
शीघ्रं काश्यामवश्यम्फलति वृषफलं धर्मकामादिशुद्धम् ॥ ८० ॥
ये ये देवाः प्रार्थिताः प्राणिनां हि सिद्धिन्दद्युः प्रार्थितामन्यतीर्थे ।
तेषाम्भक्ताः प्राप्नुवन्त्येव सिद्धिमेकां काश्यां यत्र देवा अदेवाः ॥८१

किम्वर्णितेन बहुधा काश्यां ये वासिनः कृशाः ।
तेऽपि स्थूलतराः प्रोक्ता यतो व्यापकमूर्त्तयः ॥ ८२ ॥
काशीस्थजन्तुजातस्य सेवकः शिवसेवकः ।
काशीवासिविरोधेन विरोधो हि भवे भवे ॥ ८३ ॥

सम्भ्रमो ह्यहङ्कारजन्यो मादको वृत्तिविशेषः उद्भ्रमस्तूच्चाटः तद्भवनम्विना रक्षकाभावाल्लोक आकुलादप्याकुलो भवतीत्यर्थः ॥७८॥ रवौ तद्वासरे रविम्भजन्ते इत्यन्वयः, एकदृक् एकद्रष्टा सूर्यः ॥ ७९ ॥ सूर्यस्याऽऽराधनेन सूर्यस्य सर्वात्मत्वात्सर्व-देवताराधनञ्जातमेवेत्याह काश्यामिति शीघ्रमिति श्रीसूर्यप्रसादादिति शेषः ॥८०॥ यत्र काश्यामदेवा अपि देवा भवन्ति तस्यांकाश्यामन्यदेशस्था देवाः कथन्न वसन्ति, ततस्तेषामत्र निवासात्तेभ्यः सिद्धिम्प्राप्नुवन्त्येवेत्यर्थः ॥८१ – ८२॥ भवे भवे इति भवे संसारे भवेशिवे विरोधो भवतीत्यर्थः ॥ ८३ ॥

काशीकथाश्रवणमङ्गलपूर्णमूर्तिर्मूर्तः स एव भगवान् शिवशान्तमूर्तिः ।
ते पापराशिमपहृत्यपरम्प्रियस्य शुद्धातिशुद्धसुखरूपपदम्भजन्ते ।। ८४ ।।
वेदैः पुराणैः स्मृतिभिः सुखं समुपदिश्यते चतुर्विधन्तत्तु सुखं काशिका सम्प्रयच्छति।।
तीर्थान्तराणि सुखदानि भवन्त्यवश्यं काशी सुखादिसकलम्प्रविनाश्य तद्धि ।
किञ्चित्प्रयच्छति तु येन स तीर्थवासी जानाति नैव बहिरर्थमनर्थहेतुम् ।। ८६ ।।

शिष्यउवाच

कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोस्मि जगद्गुरो ! ।
त्वत्प्रसादान्मया काशीरहस्यं श्रुतमद्भुतम् ।। ८७ ।।

नैष्ठिकम्ब्रह्मचर्यस्य धर्मस्य परिपालने । बुद्धिर्मम दृढ़ाभूयात्तवाऽनुग्रहतो गुरो ! ।।८८।।

गुरुरुवाच

कथन्त्वमुपकुर्वाणः पूर्वन्नाद्य तथा भवान्। स्नात्वा दारगृहं कृत्वा ह्याश्रमम्व्रज सुव्रत!

शिष्यउउवाच

गुरुसेवांकाशिसेवाश्चिन्तायुक्ता न कुर्वते ।
चिन्ताचक्रं गृहंहित्वा सुखं स्थास्येविमुक्तिदे ।। ९० ।।

कथाश्रवणमङ्गले न पूर्णा तुष्टा मूर्त्तिर्यस्य तमाराधयन्ति ये ते पुरुषा इत्यर्थः ।। ८४ ।। चतुर्विधन्धर्मार्थकाममोक्षजन्यम् ।। ८५ ।। सुखदानीति सांसारिकसुखदानीत्यर्थः । काशी तु सकलम्विषयसुखादिकम्विनाश्य किञ्चिदनिर्वचनीयन्प्रयच्छति येन जनोऽनर्थहेतुमर्थन्न जानाति ।८६। शिष्यउवाच । कृतार्थोऽस्मीति ।।८७ नैष्ठिकब्रह्मचर्यस्य यावज्जीवब्रह्मचर्यस्य ।। ८८ ।। गुरुरुवाच । पूर्वं काश्यामागमनात्पूर्वन्त्वमुपकुर्वाणो ब्रह्मचर्यव्रतसमाप्तीच्छावान्स्थितो ह्यधुना कथन्नासीत्यर्थः । यदि तथेच्छाऽस्ति तदा स्नात्वा दारसङ्ग्रहं कृत्वा गृहस्थाश्रमम्व्रज ।। ८९ ।। चिन्तायुक्ता गृहचिन्तायुक्ता अतश्चिन्ताचक्रं गृहम् हित्वेत्यन्वयः ।। ९० ।।

गुरुरुवाच

धन्योऽस्यवश्यन्धर्मात्मा गुरुभक्तो महामतिः ।
तिष्ठ काश्याम्भज शिवौ गङ्गां स्नाहि हरिं स्मर ॥ ६१ ॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्तो गुरुणा शिष्यो दीपकः कुलदीपकः । गुरुसेवापूर्वकञ्च स सर्वं समकल्पयत् ॥
पुनः प्रोवाच तं श न्तम्वेदधर्मा महामुनिः ।
भक्तिमन्तं शिष्यवर्यं काशीवाससुखाप्तये ॥ ६३ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

शिवौ पार्वतीपरमेश्वरौ भज ॥ ६१–६२ ॥　काशीवासस्य सुखेन प्राप्त्यर्थम् यदुपकारकन्तदित्यर्थः ॥ ६३ ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

कलेर्दोषास्तद्दोषग्रस्तस्य मोचनोपायः

गुरुरुवाच

शृणु त्वं कलिदोषान्हि प्रसरन्ति यतस्ततः ।
ताञ्ज्ञात्वा वर्जनात्पापान्मुच्यते साधवः सदा ॥ १ ॥
पापिनाङ्कुर्वभक्तानां श्रवणम्विघ्नितम्भवेत् । तस्माद्गुरुम्प्रपद्येत श्रवणेच्छुः सुपण्डितम् ॥
पण्डितोऽसि महाप्राज्ञ ! धर्ममूलविचारक ! । त्वदग्रे कथयिष्यामि सूतोक्तामृषिसंसदि ॥
कथांकलिप्रसङ्गेन काशीस्थितिविधायिनीम् ॥ ४ ॥

ऋषयऊचुः

कलिदोषगुणग्रस्तो नरो मुच्येत्कथञ्चन । वद तत्सूत सर्वज्ञ ! गुर्वनुग्रहभाजन ! ॥५॥

सूतउवाच

शृण्वन्तु ऋषयः सर्वे गुर्वनुग्रहमद्भुतम् । विद्याधनेषु मुनिषु पैलादिषु तपस्विषु ॥ ६ ॥
विलोमजन्दीनतरम्माम्विलोक्य महातपाः ।
कृष्णद्वैपायनो विष्णुर्माम्वक्तारञ्चकार ह ॥ ७ ॥
अष्टादशपुराणानि सेतिहासानि चानघाः । उपदिश्याऽवदद्देवः श्रावयस्व महामते !

गुरुरुवाच शृणु त्वमितिकलिदोषायतस्ततः सर्वतः प्रसरन्ति तान् ज्ञात्वा तेषाम्वर्जनादित्यन्वयः विघ्नितमश्रद्धादिभिरुपद्रुतन्तस्माद्भक्त्यैव गुरुम्प्रपेद्यतेत्यर्थः । सूतोक्तामिति अत्र प्रथमतः सूतर्षिसम्वादस्तदन्तर्गतो ब्रह्मकलिसम्वादस्तदन्तर्गतो गुरुशिष्यसम्वादस्तदन्तर्गतः पुनः सूतर्षिसम्वादानुवाद इति बोध्यम् ॥ ३—४ ॥ तस्मिन्सम्वादे ऋषयऊचुः कलिदोषेति तन्मुक्तिदायकमित्यर्थः ॥ ५—६—७—८ ॥

भवन्तस्तत्समाःसन्तः साधवः समदर्शनाः । कृपयन्ति महात्मानः कथाश्रवणतत्पराः
कालः समः सत्ययुगे कलावपि हि नान्यथा । अधिष्ठातृषु वैषम्यं युगादिषु भवेत्पुनः॥

सत्ये ज्ञानन्ततो धर्मस्त्रेतायां द्वापरे मखाः ।
कलौ व्यवस्था काचिन्न दृश्यते व्याकुलात्मनाम् ॥ ११ ॥
देह एव कलावात्मा सुखन्देहस्य लालनम् ॥ १२ ॥
यथाकथञ्चिद्धि धनस्य सङ्ग्रहः कलौ (?) नृणाम्पुरुषार्थपरोऽयम् ।
धर्नं कुलन्धनमायुर्धनेन मान्या लोकाः स्युः पापरूपातिनीचाः ॥१३॥
कलौ द्विजाः शूद्रवदाचरन्तो हसन्ति वेदान्विषयेषु सक्ताः ।
शूद्रा रहस्यम्प्रविचारयन्ति श्रुतेः श्रुतिं धर्मपरास्त्यजन्ति ॥ १४ ॥
कृत्वा बहूनि पापानि काश्यामेव कलौ यदि ।
म्रियते यातनान्ते हि शुद्धो मोक्षमवाप्नुयात् ॥१५॥

कलावन्यत्र पापानि करोति यदि पापकृत् । तान्येव मानवम्पापे प्रेरयन्ति पुनः पुनः
तैः प्ररितो विशत्यन्धन्तमः शोकभयापहम् । न पारं संसृतेर्याति कलौ पापकृदुन्मदः॥

गुरुरुवाच

एवम्विधाः सुबहवो धर्माः सूतेन संसदि । मुनीनां कथिता वत्स ! कलिदोषगुणैःसह॥

तत्रैव श्रुतवानस्मि द्वापरान्ते बहूंस्ततः ।
तच्छ्रुत्वा काशिकाम्प्राप्तस्त्वया सह विकम्पितः ॥ १६ ॥

दीपक उवाच

कृपाकर ! कलेर्दोषान्गुणान्वद विदाम्वर !। सूतोक्तान्काशिसम्बद्धान्धर्मांश्च कलिनाशकान्

यथा मयि गुरोः कृपा तथा भवतामप्यस्तीत्याह भवन्त इति ॥९॥ कालः सम इति । एक एव सर्वयुगेषु कालोऽधिष्ठातृभेदेन तु भिन्नभिन्नधर्मवान्भवतीत्यर्थः ॥ १०-११-१२-१३-१४ ॥ एतत्पर्यन्तं कलिदोषानुपपाद्य कथम्मुच्येतेत्यस्योत्तरमाह कृत्वा बहूनीति ॥ १५ ॥ गुरुरुवाच एवम्विधा इति ॥ १८-१९ ॥ दीपक उवाच कृपाकरेति । कलेर्दोषान्वद कलिनाशकान्धर्मांश्च वद ॥ २० ॥

जितेन्द्रियाः पापविवर्जकाश्च शान्ता महान्तो मधुसूदनाश्रयाः ।
अन्येषु तीर्थेष्वपि मुक्तिभाजो भवन्ति काश्यामपि को विशेषः ॥ २१ ॥

श्रीगुरुरुवाच

कामक्रोधादयो दुष्टाः सूक्ष्मच्छिद्रनिरीक्षकाः । प्रविशन्ति च सर्वेषु क्रियासु महतामपि
बहवः शत्रवो दुष्टा बाह्यान्तःकरणेषु च । प्रविश्य धीरमप्याशु न धीरं कारयन्ति हि
एकेन बहवो धूर्ता निवार्यन्ते कथम्वद । महानपि महामोहं याति धीरतरोऽपि हि ॥
यैर्वञ्चितः प्रपतति व्यग्रः संस्कारतो वशी । विशेषं शृणु वक्ष्यामि काश्याः कथयतो मम
जितेन्द्रियत्वन्धीरत्वमन्तःकरणनिग्रहः । तपो जपः स्वधर्मश्च दानं योगादिकाः क्रियाः
निर्वाणसुखपूगस्य साधनानि भवन्त्युत । तथापि वासनाजालं न विमुञ्चति मानवम्

कृतानि साधनान्यत्र स्वल्पान्यपि महामते ! ।
भवन्ति काशिमाहात्म्यात्सिद्धान्येव न संशयः ॥ २८ ॥

अन्यत्र साधुसुकृतैः कृतैर्मुच्येत वा नवा । भोगेच्छाग्रस्तहृदयः सा पीच्छाऽत्र निवर्त्तते

मुमुक्षोः प्राणिमात्रस्य पापाद्भीरोः शिवात्मनः ।
जाते साधनवैकल्ये काशी पूर्णम्प्रकल्पयेत् ॥ ३० ॥

तीर्थान्तरेषु वैकल्याद्विघ्नः सञ्जायते नृणाम् । मुमुक्षवः सावधानाः पापसंसर्गवर्जकाः

काश्यां को विशेषस्तमपि वदेत्याह जितेन्द्रिया इति । यथा काश्याम्मुक्तिस्तथाऽन्यक्षेत्रेऽपि मुक्तिरस्तीति काश्यां को विशेष इत्यर्थः । इत्थम्प्रश्नत्रयं शिष्यस्योपलभ्य काश्याम्विशेषवर्णनेऽत्युत्साहवान् गुरुरध्यायान्तन्तृतीयम्प्रश्नम्प्रथमतो निराकरोति; उत्तराध्याये प्रथमौ द्वौ प्रश्नौ निराकरिष्यतीति बोध्यम् ॥ २१ ॥
गुरुरुवाच । कामक्रोधेति । यद्यप्यन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि काशीप्राप्तिकराणि वै इति समाधानमस्ति तथापि तदतिरिक्तमपि समाधानमस्तीत्यभिप्रायेणेदमुच्यते इति बोध्यम् । अन्यत्र पूर्णसाधने जाते मोक्षो भवति वा न भवति काश्यान्तु स्वल्पे साधने जातेऽपि भगवत उपदेशात्काश्याः पराशक्तेरनुग्रहाच्च मोक्षो भवत्येवेति सर्वप्रघट्टकार्थः ॥ २३ ॥

पश्यन्ति शीघ्रम्मनुजास्तद्विष्णोः परमम्पदम्। अतएव विचित्रेयं काशी शीघ्रफलप्रदा ॥
सेव्या धीरैर्मोक्षपरैर्न पापैः पापिसङ्गिभिः ॥ ३३ ॥
कलौ न काशीम्विसृजेत्कथञ्चिन्मुमुक्षुरन्यग्रमना मनागपि ।
धैर्यम्विधायाऽत्र यथाकथञ्चित्स्थेयम्विचार्याऽऽशु कलिप्रभावम् ॥३४॥
कालस्तु भगवान्विष्णुः समः सत्यादिनामसु ।
युगेषु प्राणिनो वत्स ! विषमा विषयङ्ग्रहाः ॥ ३५ ॥
प्राप्नुवन्ति फलन्तत्र यथा यद्यदनुष्ठितम् । कलिकालस्तथा काशी पापाद्भीतम्मनोयदि
एतत्त्रयसमायुक्तो नरो जीवन्विमुच्यते ।
अत्र ते कथयिष्यामि कथाम्पापापनोदिनीम् ॥ ३७ ॥
यां श्रुत्वा मुच्यते जन्तुः सन्देहविषयैरघैः । अस्ति माहिष्मती नाम नगरी नर्मदातटे
तत्र कश्चिद्द्विजवरो विष्णुशर्मेति कीर्तितः । वेदयज्ञतपोदानस्वधर्मैः संयुतो वशी ॥३९
तस्य पुत्रौ महात्मानौ वीतरागौ मनस्विनौ । अग्निशर्माऽभवज्ज्येष्ठः सोमशर्मा तथैव च
गतौ तौ प्रत्यहन्तीरं शुभं श्रवणतत्परौ । रेवायाः शिवविष्ण्वर्ककथापूरविराजिते ॥
ब्रह्मवादः समभवत्कदाचित्तत्र बन्धनुत् । कथम्बन्धविनिर्मुक्तः कथं शान्तिसुखन्नृणाम्
कथन्निर्विघ्नता भूयात्तपसस्तापहारिणः । यत्र तीर्थविशेषे तु स्वल्पम्बहुकृतम्भवेत् ॥४३
यत्र नारायणः साक्षाद् दृश्यते चाऽनुभूयते । यत्र देवो महादेवः सोमः साक्षात्कृपानिधिः
साक्षात्क्रियेत सर्वात्मा विघ्नविघ्नो गणाधिपः ।
यत्र तु द्वादशादित्या ब्रह्माद्या देवतागणाः ॥ ४५ ॥
भजतां सर्वलोकानां सिद्धिं यच्छन्ति मानिताः । एवम्प्रश्नसमवायं कथयन्तु द्विजातयः

विषमा भिन्ना भिन्ना विषयेषु ग्रहा ज्ञानानीत्यर्थः । तदुक्तम्मार्कण्डेयपुराणे "ज्ञान-मस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे । विषयाश्च महाभाग ! यान्तिचैवम्पृथक् पृथक्" इति ॥३५॥ अत्रार्थे इतिहासमाह अत्रत्ते इति । सन्देहविषयैरघैर्मुच्यते सन्देहैर्मुच्यत इत्यर्थः ॥३८-३९-४०॥ ब्रह्मवादो ब्राह्मणसम्वादः सम्वादविषयमाह कथम्बन्धेति ॥४२

गुरुरुवाच

एवम्परस्परन्दृष्ट्वा तूष्णीम्भूतान्द्विजर्षभान्। शैवो मृकण्डुतनयः स्मृत्वा वचनमब्रवीत्

मार्कण्डेय उवाच

अहो माया भगवती विष्णोर्मोहकरी नृणाम्। अविमुक्ते विद्यमाने ब्रह्मविष्णुशिवाश्रये मृगयन्त्यघनाशाय भोगम्मोक्षम्विमोहिताः। शृण्वन्तु मुनयः सर्वे श्रुतिस्मृतिनिरूपितम् रहस्यं कथयाम्यत्र ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्। महापातकसंयुक्तो महापुण्यसमन्वितः ॥५० समां गतिमवाप्नोति शरीरव्ययमात्रतः। ब्रह्मानन्दस्य जननीं ब्रह्मादिपरिसेविताम्॥ सुकृतैः सर्वतः पूर्णाम्पापद्वेष्टाऽऽश्रयेन्नरः। रागादिमलनिर्मुक्तधियां शीघ्रम्फलप्रदाम्॥ तां काशीं को न सेवेत वर्णाश्रमविभागवान्। इत्यादिवहुसाहस्रगुणाः प्रोक्ता महर्षिणा श्रुता महर्षिभिः श्रेष्ठैर्विष्णुशर्मसुतैरपि। तेष्वग्निशर्मा च तथा सोमशर्मा विचारकः॥ प्राप्तौ फलम्विलम्वेन शीघ्रेण च विचारतः॥ ५५॥

दीपक उवाच

विचारनिष्ठौ द्वौ प्रोक्तौ फलभेदः कथन्तयोः।
को वा विचारस्तु तयोः फलम्वा किं समापतुः (?)॥ ५६॥

ब्रह्मोवाच

इति शिष्येण स गुरुः पृष्टः प्राह फलन्तयोः।
शीघ्रम्विलम्वेन तथा सोमाग्निशर्मणोः पृथक्॥ ५७॥

अथानभिज्ञतया तूष्णीम्भूतान् मार्कण्डेय उवाच। अहोमायेति। स्पष्टेऽर्थे विद्यमानेऽपि यत्तदज्ञानं मायया कृतं सा माया अहो आश्चर्यम्भवति स्पष्टमेवाऽर्थमाह अविमुक्ते इति ॥ ४७—४८॥ इत्यादि बहुसाहस्रेति। शिष्यम्प्रति गुरूक्तिः॥ ४९—५०—५१—५२—५३॥ विष्णुशर्मसुतैरप्रीतिवहुवचनमार्षम्पुत्रद्वयस्यैवप्रागुक्तेः ॥५४ एको विलम्बेन तथैकः (श्च) शीघ्रेण कालेन फलम्प्राप्तौ (प्राप्तवन्तौ)॥ ५५—५६॥ ब्रह्मोवाच। इति शिष्येणेति॥ ५७—५८॥

वेदधर्मोवाच

भ्रातरौ परमस्निग्धौ कदाचिन्नर्मदातटे। उपविष्टौ मोक्षपरावूचतुस्तौ परस्परम् ॥५८॥

अग्निशर्मोवाच

सोमशर्मन्महाप्राज्ञ ! गमिष्यामि हरेः पुरीम्।
वाराणसीम्मोक्षकामो विश्वेशादिभिरर्चिताम् ॥ ५६ ॥
त्वमप्यागच्छ शैघ्र्येण यत्र मोक्षः प्रलभ्यते।
न्यूनातिरिक्तन्तपसो धर्मस्याऽन्यस्य शङ्करः ॥ ६० ॥
त्रिगुणं सद्गुणंकुर्यात्परमात्मा जनार्दनः ॥ ६१ ॥

सोमशर्मोवाच

मया रेवातटे भ्रातस्तप्तव्यन्तप उत्तमम्। मोक्षादिसिद्धयो येन प्राप्यन्ते विजितेन्द्रियैः

रागद्वेषविहीनानाञ्चिन्ताचाञ्चल्यवर्जिनाम्।
सर्वत्र काशी विज्ञेया ब्रह्मज्ञानरतात्मनाम् ॥ ६३ ॥

अग्निशर्मोवाच

मार्कण्डेयमुखाच्छ्रुत्वा रहस्यं काशिसंश्रयम्। तथाऽपि स्वबलेन त्वम्मोक्षं साधितुमुद्यतः
गन्तव्या काशिकानौका मज्जताम्पारदायिनी। मया धर्मासमर्थेन वीतरागेण धार्मिक !

न काशीसदृशी माता गर्भवासप्रदायिनी।
गर्भवासादिदुःखानि पापानि च महान्त्यपि ॥ ६६ ॥

क्षालयत्येव निर्दिष्टा दुष्टानामपि सेविता। कलिकालस्त्वयन्तीक्ष्णः क तपः क परात्मदृक्
काश्येव शरणं शुद्धा शुद्धिदा मलिनां नृणाम्। इत्युक्त्वा भ्रातरम्विद्वानग्निशर्मा महामतिः
जगाम काशीं धर्मादिसाधनैः पूर्णविग्रहाम्। काश्यामागत्य धर्मेशं नत्वा धर्मपरो वशी

हरेः पुरीं हरिणा निर्मिताम्वस्तुतस्तु शिवस्वरूपत्वाच्छिवस्यपुरीम् ॥ ५६-६०-६१—६२—६३—६४ ॥ अगर्भवासप्रदायिनीतिच्छेदः। यद्वा,मातागर्भवासदायिन्येवेयन्तु गर्भवासादिनाशिन्येव ततो मातृतोऽप्यधिकेत्यर्थः ॥ ६६ ॥ परात्मदृक् परात्मदृष्टिः ॥ ६७ ॥ मलिनाम्मलवताम् ॥ ६८ ॥

सधर्मविद्धर्मपरो महात्मा सुमानदो मानविवर्जितस्त्वयम् ।
श‍ृण्वन्कथाः श्रावयन्काशिकायाः कुर्वन्वृषान्कारयन्वासमाप ॥ ७० ॥
वचोमनःकायगुणैः परेशं धर्मेश्वरम्प्रीणयन्प्राप्ततत्त्वः ।
वसत्यवश्यं शिवनामतत्परः पापार्त्तिदुःखादिविवर्जितः कृती ॥७१॥
एवं स्वधर्मनिरतो ह्यग्निशर्मा शिवार्चकः । प्राप वाराणसीं शुद्धः शुद्धिदां साधुसम्मतः ॥
प्राणोत्क्रमणकाले तु भवान्या तु भवः स्वयम् ।
व्याचष्टे तारकम्ब्रह्मस्थितिं तस्य सुवर्णयन् ॥ ७३ ॥

श्रीईश्वर उवाच

अहो निश्चयवान्विप्रः काश्यां सद्भिः समादृतः ।
प्राप माम्परमात्मानं शास्त्रदृग्लौल्यवर्जितः ॥ ७४ ॥
एवमेव महाभागा मम क्षेत्रनिवासिनः । अग्निशर्मा यथा प्राप्तः प्राप्स्यन्ति परमम्पदम्
रागद्वेषविवर्जिता दृढधियो धर्मेषु पापेष्वपि
ग्राह्याग्राह्यविचारतः सुमनसः सिद्धिम्परां यान्ति ते ।
ये तु प्राप्य मनुष्यदेहममृतं निष्कास्य हालाहलम्
सम्पूर्याऽत्र परत्र यान्ति विषमान्ताम्भैरवीं यातनाम् ॥ ७६ ॥
अतएव वसेत्काश्यां यावज्जीवञ्जितेन्द्रियः । यथाऽग्निशर्मणा प्राप्तम्मक्षु ब्रह्म सनातनम्

वेदधर्मोवाच

इत्युक्त्वा भगवाञ्छम्भुरानन्दगहने चरन् ।
देव्यै सन्दर्शयामास सौभाग्यं काशिवासिनाम् ॥ ७८ ॥

दीपक उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि सोमशर्मकथाम्पुनः । यथा तप्त्वा तपः प्राप गतिन्तां कथय प्रभो !

वृषान्धर्मान्स्वयं कुर्वन्नन्यैश्चकारयन्नित्यर्थः ॥ ७०–७१—७२—७३-७४ ॥ धर्मेषु ग्राह्यत्वम्पापेष्वग्राह्यत्वमिति विचारतः । अमृतं धर्मम् । निष्कास्य न कृत्वा हालाहलं विषसदृशमधर्मम् । सम्पूर्य सम्यक्कृत्वा अत्र काश्यां ये वसन्ति ते इत्यर्थः ॥ ७५-७६-७७—७८—७९—८० ॥

गुरुरुवाच

सोमशर्मा विप्रवर्यश्चचार विपुलन्तपः। अद्रिकूटेषु तीर्थेषु तथा क्षेत्रेषु चाऽऽत्मवान्॥

शाकाहारः फलाहारो वायुभक्षो जलाशनः।
जितेन्द्रियमनोबुद्धिर्विदितात्मा स चाऽऽत्मवान्॥ ८१॥

बहुप्रकारान्महतीं सिद्धिम्प्राप यदृच्छया। दूरदर्शनदूरस्थश्रवणं दूरगामिता ॥ ८२॥

अन्याश्च सिद्धयः प्राप (द्धीः सम्प्राप्य) तत्परः समजायत।
मानयन्ति ततो लोका मुनयो देवतागणाः॥ ८३ ॥

सोमशर्माणमत्युग्रसाधनं गर्वगर्वितम्। कश्चिच्छपति विश्वस्तमनुगृह्णाति कञ्चन॥

कश्चिद्दरिद्रं कुरुते धनिनं कश्चिदेव तु। पुत्रपौत्रादिसम्पन्नं करोति कमपि स्फुटम्॥८५

निगृह्णात्यनुगृह्णाति लोकांल्लोकैश्च सेवितः। गर्वपर्वतमारूढो न पश्यति पुरः सतः॥

नानाविषयसम्भारसम्पन्नस्त्रीभिरन्वितः। दिवानिशम्विस्मृतात्मगतिस्तापससत्तमः॥

भक्ष्यभोज्यपरो नित्यम्भोगसौभाग्यगर्वितः। जातो न मानयत्येव पितॄन्देवान्गुरूनपि

कदाचिद्भ्रातरं काश्यां स्थितं दीनधिया स्मरन्।
नाशितं जन्म मद्भ्रात्रा दीनेनाऽनित्यदर्शिना॥ ८९॥

तपः फलम्मया प्राप्तं यस्य सर्वम्वशं जगत्।
भोगान्भुक्त्वा ततश्चाऽन्ते यास्यामि परमाङ्गतिम्॥ ९०॥

अथ काल उपावृत्ते कालधर्ममुपेयिवान्। स्मरन्नानाविधान्भोगान्पञ्चत्वं प्राप तापसः

जातो म्लेच्छमहीपालः सिन्धुतीरेऽतिलोलुपः। पुनर्यथेष्टाचरणान्नरके विनिपातितः॥

अतएव तयोर्भ्रात्रोर्विरुद्धा मतिरादितः। श्रुता त्वया काशिवासिन्विचारय बलाबलम्

यः स्वात्मनि समारोप्य वर्तते कामकारतः। कर्तृत्वं स महापापो वर्तते सोमशर्म्मवत्

सोमशर्मा महाभागस्तपस्वी कुलशीलयुक्।
तपसा सिद्धिमासाद्य सिद्ध्याभोगान्समाप्य च॥ ९५॥

अथकाले मरणकाले उपावृत्ते प्राप्ते कालधर्मम्मरणम्॥९१॥ म्लेच्छ-महीपालस्तामसधर्माचरणेनेत्यर्थः।९२। अतएव तामसत्वसात्विकत्वहेतोरित्यर्थः॥९३

भोगैर्विषयतादात्म्यन्तादात्म्यान्नरकम्पुनः ।
अतः कलौ तपो विद्यायज्ञदानादिकाः क्रियाः ॥ ९६ ॥
साङ्गा भवन्ति न कृताः कुशलैरपि देहिभिः ।
तस्मात्काश्येव हि कलौ सुकृता पूर्तिकारिणी ॥ ९७ ॥
आत्मासम्भावितोयस्मात्तस्मात्स नरकङ्गतः। नरके पच्यमानस्य भ्रातुः स्मरणमागतम्
मद्भ्राता काशिकायां यस्तिष्ठत्येव विरक्तिभाक् ।
स धन्यो येन तपसा परलोकः सुसाधितः ॥ ९९ ॥
इति स्मरन्नेव स सोमशर्मा शान्तः सुखम्प्राप मनोऽनुकूलम् ।
विचारयास किमेतदद्भुतं कस्य प्रभावात्सुखमुत्थितन्त्विह ॥१००॥
अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा तपोभिरुग्रैर्नियमैर्यमैश्च ।
न भ्रातुराज्ञा सुकृता दुरात्मना महाभिमानात्पततात्तमोऽन्धम् ॥१०१
महासिद्धिप्रदां काशीं न सेवन्ते दुरात्मनः । महातपोभि रुग्रैश्च साधयामो वदन्ति ये
साभिमानाः पतन्त्यन्धं यथाहन्तेऽपि मानवाः ।
न तपो न जपः शौचं तीर्थदानव्रतादयः ॥ १०३ ॥
नाशयन्ति महाज्वालामभिमानानलैर्युताः ।
अहोलोकाः काशिकाया माहात्म्यं न विदुःपरम् ॥१०४॥
अज्ञातेनाऽपि येनाऽऽशु मोचितोऽस्म्यभिमानतः ॥ १०५ ॥

समारोप्य कर्तृत्वं कामचारतो यथेष्टाचरणतः ॥ ९५—९५—९६—९७ ॥ आत्मा देहः सम्भावितः पोषितः ॥ ९८ ॥ सुखम्प्रापेति काशिकायाः पराशक्तेः स्मरणेनेत्यर्थः ॥ १०० ॥ भ्रातुराज्ञा काशीसेवनीयेति तमोऽन्धन्नरकरूपम्भवति ॥ १०१॥ ये ते दुरात्मान इत्यन्वयः । साधयामो मोक्षमितिशेषः ॥१०२॥ महाज्वालां संसारानलस्य यतो ऽभिमानरूपानलेन युताः ॥ १०४ ॥ अज्ञातेन माहात्म्येन ॥ १०५ ॥

ज्ञात्वा काश्यां श्रद्धया ये वसन्ति तेषाम्पुण्यम्वेत्ति नो कश्चिदत्र ।
नानातापैस्तप्यमानैः सुभीमैर्यन्नाम्नाऽहं मोचितो गर्वराशिः ॥१०६॥
काशी काशीति काशीति बहुधा संस्मरन् द्विजः ।
न पश्यति हि नरकान्वर्तमानान्स्वयं कृतान् ॥१०७॥

गुरुरुवाच

यमदूतैस्तदाश्चर्यं दृष्ट्वा विज्ञापितो यमः ।
शास्यमानोऽप्ययम्विप्रो न शास्तिम्परिपश्यति ॥१०८॥
आक्रन्दरहितो जातः प्रसन्नवदनः सुखी । केन पुण्यविशेषेण मध्यआश्चर्यकारिणा ॥

धर्मराज उवाच

न जानाम्यहमप्याऽऽशु सूक्ष्मम्पुण्यम्विचारयन् ।
आनीयतां सोमशर्मा ममाऽग्रे सत्वरम्भटाः! ॥ ११०॥
इत्युक्ता यमदूतास्ते यमेन यातनागृहात् ।
आनिन्युर्ब्राह्मणं शीघ्रं काशीकाशीति जापकम् ॥१११॥
अभिमाननिधे ! विप्र ! किंस्मरस्यत्र मद्गृहे । वद ते यातना बह्व्यः समाप्तिकथ मागताः

सोमशर्मोवाच

ताड्यमानोऽहमनिशं यातनासु विचित्रधा । स्मृतवान्भ्रातरं स्वीयमग्निशर्माणमस्मि भो!
तेनोक्तम्पूर्वमेवाऽऽशु काशीमागच्छयाम्यहम् ।
मया पापात्मना काशी निन्दिताऽहं कृतात्मना ॥११४॥
स्वसामर्थ्यम्प्रकटितन्तथा वस्तुस्वरूपया । अभिमानकृतैर्धर्मैस्तपोभिस्तीर्थसुव्रतैः ॥
म्लेच्छत्वम्प्रापयित्वाऽऽदौ नरके विनिपातितः ।
न पापम्ब्रह्महत्या स्यान्न पापं गोवधःस्मृतः ॥११६॥

गर्तराशेर्नरकात् गर्वराशिरित्यपि पाठः ॥ १०६ ॥ स्वयङ्कृतान् स्वकर्मणा सम्पादितान् ॥ १०७ ॥ तदाश्चार्यन्नरकेऽपि सुखप्राप्तिरूपम् ॥ १०८ ॥ आक्रन्द-आक्रोशः ॥१०६–११०-१११-११२॥ अहङ्कृतात्मना अहङ्कारेणयुक्तात्मना ॥११४॥

देहाभिमानपापस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।
नाश्वमेधः परम्पुण्यं तुलादानादिसम्भवम् ॥११७॥
गोसहस्रादिजनितं यथाहङ्कारवर्जनात् । अहन्तपस्वी पुण्यात्मा जितेन्द्रियगणस्त्वहम्
अहन्धीरो व्रती शान्तः साधयिष्ये परम्पदम् ।
मनस्यभिमतिं कृत्वा त्यक्त्वा भ्रातरमात्मनः ॥११९॥
स्थितोऽसत्सङ्गतिरतः प्राप्ताश्चोग्रा हि यातनाः ॥ १२० ॥

धर्मराज उवाच

गच्छ काशीम्मुक्तिदात्रीम्भजस्वाऽम्बायुतं शिवम् ।
स्नाहि भागीरथीं रम्यां सम्प्राप्नुहि परम्पदम् ॥ १२१ ॥

गुरुरुवाच

धर्मराजाज्ञया जातो विप्रः कोलापुरे शुभे ।
तारुण्यम्प्राप सर्वात्मा गतो वाराणसीम्पुरीम् ॥१२२॥
सुशर्मणः सुतः सोऽथ सर्वात्मा शिवभक्तिमान् ।
धर्मेश्वरप्रसादेन प्राप्तः काशीम्विमुक्तिदाम् ॥ १२३ ॥
अहङ्कारादिदोषाणां नाशकर्त्रीं नृणामिह । धर्मज्ञः को न सेवेत कृतज्ञः साधुसत्कृतः
सोमशर्मकथान्दिव्यां सुखमोक्षफलप्रदाम् । श्रुत्वा विमुच्यते जन्तुरहङ्कारादिबन्धनात्

इति श्रीब्रह्मवैवर्ते काशीरहस्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अभिमतिमभिमानम् ॥ ११९ ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

कलिदूषणविषये गुरुशिष्यसम्वादवर्णनम्

गुरुरुवाच

सन्ध्यासन्ध्यान्तयोस्तात ! कलौ धर्मो हि दृश्यते ।
मध्ये क्रमात्क्षयं याति दीनैर्विषयिभिर्हतः ॥ १ ॥

दीपक उवाच

सन्ध्यायाम्पूर्वसंस्काराद्विद्यते हि वृषः क्वचित् ।
सन्ध्यान्ते तु कलौ कुत्र धर्मः स्थास्यति सद्गुरो ! ॥ २ ॥

गुरुरुवाच

जनार्दनः कल्किरूपोऽवतरिष्यति दीपक ! । तेन प्रवर्तितो धर्मः सन्ध्यान्ते सम्भविष्यति

अथ टीका सेतुबन्धाभिधा पञ्चमाध्यायस्य

इत्थं शिष्यस्य प्रश्नत्रयमध्ये तृतीयप्रश्नसमाधानं कृत्वाऽवशिष्टप्रश्नद्वयं समाधातुं गुरुः पुनस्त्याज्यान्कलिधर्मान्वक्तुमाह

गुरुरुवाच सन्ध्येति । द्वापरान्तः कलि(ले)रादिश्चकालः सन्ध्या तथैव कलेरन्तः कृतयुगस्यादिः कालः सन्ध्यान्तः कलिसन्ध्यातः मध्ये कलिमध्ये अयमर्थोऽग्रिमश्लोके स्पष्टीभविष्यति ॥ १ ॥ तत्र शङ्कते दीपकेति । दीपक उवाच । पूर्वसंस्कारात्कृतादियुगेषु यत्स्वधर्माचरणं कृतन्तत्संस्कारात् वृषो धर्मः कलियुगे कलियुगस्यादौ सन्ध्यायान्तिष्ठतीति युक्तं कलियुगमध्ये तु धर्माचरणाभावान्निरयवासिनाम्पापिनामेव कलौ जन्मन उक्तत्वाच्च । धर्मसंस्काराभावात् सन्ध्यान्ते कलियुगान्ते धर्मःकथं कुत्र निमित्ताभावाद्देशाभावाच्च स्थास्यतीत्यर्थः ॥२॥ गुरुरुवाच प्रवर्तित इति । पापिनाम्भगवता नाशे क्रियमाणे पुण्यवताम्विद्यमानत्वात्पुण्यवतामेव तस्मिन्काले देवीभागवतादिषु जन्मन उक्तत्वाच्च । पुण्यसंस्काराद्धर्मः प्रवर्तितो भविष्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

कलेस्तु प्रथमे पादे धर्मो भवति कश्चन । ततश्चानुदिनन्धर्मः सत्यं शौचन्दया तथा ॥
कालेन बलिना विप्र नश्यत्यायुर्बलं स्मृतिः ॥ ५ ॥
वित्तं गुणाचारकुलादिहेतुर्न्यायव्यवस्थासु बलम्प्रयुञ्जते ।
दाम्पत्यमेवाऽत्र रुचिङ्करोति पूज्याश्चपाखण्डिन एव सर्वे ॥ ६ ॥
यज्ञोपवीतं द्विजहेतुरेव लिङ्गं हि वर्णाश्रमकारणं स्यात् ।
अनाढ्य एवाऽत्र कलावसाधुराढ्यस्तु साधुः कृतदम्भ एव ॥ ७ ॥
अभ्यङ्गमेवाऽत्र परस्परं सदा ह्यलङ्कृतिं श्मश्रुकर्मातिसौख्यम् ।
तीर्थप्रदेशेव (ष्व) सतान्नृणान्नहि श्रद्धास्वतीर्थेषु कदाचिदत्र ॥ ८ ॥
देशान्तरं कामदम्वर्णयन्ति गत्वा च तत्राऽप्यपराधयुक्ताः ।
कलौकलुष चित्तानाम्पुरुषार्थः परो हि सः ॥ ९ ॥
यथाकथञ्चित्पुरुषः कुटुम्बभरणोद्यतः । सत्यवादी जनैर्धृष्टः प्रोच्यते पापवानपि॥१०
कलौ धर्मः सुविरलो यशोऽर्थे यत्र तिष्ठति । राजानो निर्घृणा लुब्धाः परदारधनारताः
न ब्राह्मणा वेदवेदार्थनिष्ठाः प्रतिग्रहार्थं श्रुतिधर्मयुक्ताः ।
विक्रीय कन्याश्च सुतान्परस्परं कुलाद्युपेक्ष्यैव विवाहकारिणः ॥१२॥

कलिमध्ये क्रमात्क्षयं यातीत्युक्तम्विशदयति कलेस्त्विति ॥४—५॥ गुणाचारकुलादिहेतुर्वित्तन्धनवानेव गुणाचारकुलादिमान्नत्वन्य इत्यर्थः । यस्य बलं स एव न्यायव्यवस्थांकरोति न तु धार्मिक इत्यर्थः ॥ ६ ॥ द्विजहेतुरेवेति लोका माम्ब्राह्मणं जानन्तु एतदर्थमेव यज्ञोपवीतधारणङ्कुर्वन्ति न तु धर्माचरणार्थमित्यर्थः । तत्र प्रसिद्धिमाह लिङ्गं हीति यज्ञोपवीत ह्येव वर्णाश्रमकारणं तथा च तत्सत्त्वे वर्णाश्रमवन्तम्वक्ष्यतीत्यर्थ ॥ ७ ॥ परस्परं स्त्रीपुरुषौ नित्यमभ्यङ्गं शरीरमृदुतार्थमित्यर्थः । कुर्वन्ति तथाऽलङ्कृतिमलङ्कारं शरीरशोभार्थन्तथाऽश्मश्रुकर्म पुरुषस्यातिसौख्यन्न तु जटाधारणादि ॥ ८ ॥ देशान्तरन्तीर्थान्तरं यथाकथञ्चित्पापेनाऽपि कुटुम्बपोषको यः स पुरुषार्थीत्यर्थः । पापवानपि जनैः सत्यवादी प्रोच्यते यशोऽर्थ एव धर्मो नत्वपूर्वार्थ इत्यर्थः ॥ १० ॥ श्रुतिधर्मोऽग्निहोत्रादिः कुलादि उत्तमकुलादि ॥ १२ ॥

वदन्ति धर्मन्नतु धर्मनिष्ठा निन्दन्ति पापं खलु पापकारिणः।
देवान्गुरून्पितृयज्ञादिसर्वान्प्रपञ्चयन्ते धनलोलुपा द्विजाः ॥१३॥
क्षत्रियाः परमदुर्लभाः कलौ धर्मशास्त्रगुरुदेवपूजकाः ॥ १४ ॥
आहारमैथुनरताः परमादरेण ब्रह्मस्वसंग्रहपराःपरवादशूराः।
न प्राणिरक्षणपराः परमादरेण कुर्वन्ति धर्मइननन्द्रविणार्थमेव ॥१५
पैशून्यवञ्चनपरा वणिजो नृपाद्या धर्मादिकार्यकरणे परमात्मनिष्ठाः।
आहारमैथुनधनानि सदाऽऽदरेण रक्षन्ति शास्त्रविमुखाः पलमद्यभक्षाः ॥ १६ ॥
वैश्याः कलौ नहि भवन्ति कुलादियुक्ता ये वा भवन्ति नहि तेषु वृषः कदाचित्।
शूद्रादिवृत्तय इमे द्विजदेवनिन्द्या विप्रद्विषः परमदारुणवुद्धयश्च ॥ १७ ॥
शूद्रास्त्वन्नं स्वल्पमेव दत्वा विप्रेभ्य एव हि।
कारयिष्यन्ति महतीं सेवां सेवाविवर्जिताः ॥ १८ ॥
अन्नादिभिर्व्यवहरन्ति तु ये मनुष्या वैश्या भवन्ति खलु ये व्यवहारदुष्टाः।
शिष्टास्तएव धनिनस्तु यतः सुपूज्या लोके धनं सुखकरन्नतु तिष्यकाले ॥ १९ ॥
शूद्रा विशुद्धा न हि तिष्यकाले द्विजादिवेषाः श्रुतितत्पराश्च।
शास्त्रार्थवादैर्जनवञ्चकाश्च कलौ भविष्यन्ति निरङ्कुशास्ते ॥ २० ॥
कलौ दुष्टा दुराचारा निर्दयाः शुष्कवैरिणः। दुर्भगा भूरितर्षाश्च सर्वे वर्णास्तथाश्रमाः
तदा मायाऽनृतन्दम्भो निद्रा हिंसा विषादनम्।
शोको मोहो भयन्दैन्यं लोकानां प्रचुरम्भवेत् ॥ २२ ॥

स्वयन्तु ये धर्मनिष्ठा न भवन्ति तेऽप्यन्यम्प्रतिधर्मम्वदन्ति। प्रपञ्चयन्ते वञ्चयन्तीत्यर्थः १३॥ परमात्मनिष्ठा वयं ज्ञानिनः किमर्थन्धर्मञ्चरिष्याम इत्यर्थम्। पलम्मांसम्॥१६ कुलादियुक्ता· वैश्यकुलम्प्रायशः कलावुच्छिन्नमित्यर्थः। यदि सन्ति तथाऽपि धर्मरहिता इत्यर्थः ॥ १७ ॥ सेवाविवर्जिताः ब्राह्मणसेवारहिताः ॥१८॥ अन्नादि-विक्रयकारिण एव वैश्या न तु जात्येर्थः ॥१९॥ विषादनम्विषभक्षणम् ॥ २२—२३ ॥

क्षुद्राः क्षुद्रसुखप्रदाः कलियुगे मर्त्या महाभोजनाः
क्षुद्रप्राणधनादिपोषणपराः कामाधिकाः क्रोधिनः।
लोभाविष्टमनोजुषः परदयाहीनाः सदा वञ्चका-
रागद्वेषपराः परापरविचाराद्यैः सदा चोज्झिताः ॥ २३ ॥
वित्तेर्हीनाः स्वैरवृत्तिप्रसङ्गाः स्वैरिण्यश्च स्त्रीषु या श्रेष्ठवर्णाः
दस्यूत्कृष्टा लोकसङ्घाः सपापा वेदाः क्षीणा ब्राह्मणाः सेवकास्ते ॥२४॥
कलौ न विप्राः समयस्थिताः क्वचिन्नृपाः प्रजाभक्षणवित्तलोलुपाः।
व्रतादिहीना बटवो विशुद्धा गृहस्थरूपाः खलु तस्करा मताः ॥ २५ ॥
वनेन वासो बत वासिनां हि धनार्थिनः प्रव्रजिताः कलौ युगे।
ह्रस्वाःस्त्रियो विपुलम्भक्षयन्ति बालाः क्षुधार्ता बटवः कदर्याः ॥२६॥
वचांसि तिक्तानि वदन्ति चाङ्गनाश्चौर्यादिवीभत्सनिषिद्धकर्त्र्यः ॥२७॥
पाखण्डप्रभवा विप्राः क्षत्रियो वणिजो मताः। वणिजः कूटकर्तारः सम्पदः पापहेतवः
पतिन्त्यक्ष्यन्ति निर्द्रव्यं भृत्या अप्यखिलोत्तमम्।
भृत्यम्विपन्नम्पतयः कौलं गाञ्चापयस्विनीम् ॥ २९ ॥
पितृपक्षम्परित्यज्य भार्यापक्षम्भजन्ति हि।
गुरुवाक्यं न कुर्वन्ति स्त्रीणां दास्यपरा नराः ॥ ३० ॥
शूद्राःप्रतिग्रहपरा निर्णयज्ञास्तपस्विनः। नानावेषैर्वञ्चयन्तो लोकान्वाक्पाटवैः शनैः॥
प्रायश्चित्तं करिष्यन्ति पापं कृत्वाऽपि नो जनाः।
धर्मम्वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥ ३२ ॥

स्त्रीषु याःस्वैरिण्यस्ताः श्रेष्ठवर्णाः सर्वोत्तमा इत्यर्थः। दस्यूत्कृष्टाश्चौरा इत्यर्थः॥ २४-२५-२६ ॥ निषिद्धकर्त्र्यः स्त्रियो वचांसि तिक्तानि वदन्तीत्यन्वयः ॥ २७ ॥ येषां सम्पदः पापहेतवः पापकर्मणे नियोजिताः ॥ २८ ॥ कौलं कुलपरम्परागतम्भृत्यमित्यन्वयः ॥ २९—३०—३१—३२ ॥

स्वमानार्थं यत्नपरा महत्सु द्विजसाधुषु । प्रजाः कलौ पापशीला अतो दुःखसमन्विताः
नित्यमुद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरकर्शिताः । निरन्ने भूतले मंक्षु (?) व्याधिदस्युभयार्दिताः
वासोऽन्नपानशयनव्यवायस्नानभूषणैः। हीनाः पिशाचसन्दर्शी भविष्यन्ति कलौ युगे
काकिण्यर्थे जीवनं सन्त्यजन्ति स्नेहं हित्वा बन्धुभिस्ताड्यमानाः ।
रागद्वेषाक्रान्तदेहाः पतन्ति कूपे भक्ष्यं भक्षयन्तो म्रियन्ते ॥ ३६ ॥
पितरम्मातरञ्चैव न सेवन्ते कदाचन । पुत्रदारापराधीना मैथुनादिप्रियाः सदा ॥
कलौ कृतघ्नाः पाखण्डा उपकारविहिंसकाः । उपकारेऽपि कृपणाः प्रतीकारविवर्जिताः
उपकारे महति च स्वल्पोपकृतिवर्जिताः ।
निर्लज्जा विष्णुशिवयोर्द्रोहिणः काश्यसम्मताः ॥ ३९ ॥

शिष्य उवाच

गुरो! श्रुत्वा कलेर्धर्मान्सत्यमेव दिने दिने। सर्वग्रासे समुत्पन्ने न शास्त्रं न गुरुः शिवः
स्मरणीयानि लोकस्य ग्रस्तस्य मूढचेतसः । त्वं नश्चक्षुः परम्पुण्यं येन पश्यामहे वयम्॥
प्रकाशय परं ज्ञानमज्ञानध्वान्तनाशनम् ॥ ४२ ॥

गुरुरुवाच

कलौ न वर्णाश्रमधर्मतत्पराः सच्छास्त्रसत्सङ्गविवर्जितास्तथा ।
अतो महापापमये हलाहले कलौ शरण्या किल काशिकैव ॥ ४३ ॥

महान्तो मामयं साधुरिति वदन्त्विति हेतोर्यत्नं कुर्वन्तीत्यर्थः । महद्भिः स्वसम्मानोऽनुचित इति भावः ॥ ३३—३४ ॥ पिशाचसन्दर्शी पिशाचसन्दर्शिन इत्यर्थः । वचनव्यत्यय आर्षः ॥ ३५ ॥ वराटिकानान्दशकद्वयं यत्सा काकिणी । अभक्ष्यम्विषम् ॥ ३६—३७—३८—३९ ॥ मध्ये एव शिष्यः पृच्छति गुरो ! श्रुत्वेति कलेर्धर्मान् श्रुत्वा वयन्दिने दिने भीताःस्म इति शेषः ॥ ४०—४१ ॥ एतादृशे काले शास्त्रादीनि स्मरणीयानि नव सन्ति ततो येन ज्ञानेन वयम्परमात्मानन्द्रक्ष्यामस्तत्परं ज्ञानम्प्रकाशयेति सम्बन्धः ॥ ४२ ॥ सूत उवाच । कलाविति ॥ ४३ ॥

यथा पराभूय जनाः शरण्यं गच्छन्ति शीघ्रम्परमार्तियुक्ताः ।
तथाऽतिशीघ्रं शरणप्रदां नृणां काशीम्प्रगच्छेच्छिवराजधानीम् ॥४४॥
मनुष्यदेहे सुरदेवपूजिते सुकर्मभूमौ विविधार्तिनाशने ।
स्थितो हि जीवः समुपेक्षणीयो भवेन्न बालादिषु वै कदाचित् ॥ ४५ ॥
सम्यक्कृतं लालनपालनादि यदस्य देहस्य नरैः कृतज्ञैः ।
तदापकारः स्थिरतामुपैति देहे त्वजीर्णे यदि काशिका स्यात् ॥ ४६ ॥
कलौ न विप्रा नच बाहुजाः क्वचिद्व्रजन्ति काशीं न शिवौ हरिम्वृषम् ।
वैश्यादयो ये धनधान्यगेहदेहप्रियाः पापरता न भक्ताः ॥ ४७ ॥
शृण्वन्ति लोकाः परमार्तियुक्ता रहस्यमन्त्रम्परमादरेण ।
कलौ विनष्टव्रतधैर्यवीर्या गच्छन्तु काशीम्परमार्तिनाशिनीम् ॥ ४८ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासम्पुरातनम् । महासेनस्य राज्ञश्च वामदेवस्यचिद्गुरोः ॥
सम्वादः सुमहानासीत्काश्यामेव कलौ युगे ।
आसीच्चन्द्रान्वयो राजा महासेन इति स्मृतः ॥ ५० ॥
काश्यां दुश्चरितः पापः पापिसंसर्गदूषितः । परदारपरद्रव्यपरः परमकोपनः ॥ ५१ ॥
कदाचित्कस्यचित्पुंसो न सन्तुष्टः कुसङ्गतः । कामीकलहकृत्क्रूरः कलहप्रियवल्लभः ॥

यथा परमार्तियुक्ताः पीडिता जनाः कुतश्चिद्भयात्पराभूय स्वशरण्यङ्गच्छन्ति तथेति सम्बन्धः ॥४४॥ मनुष्यदेहेति । अस्मिन्देहे यः स्थितो जीवस्तस्यायन्देहो बाल्यादिषु कदाचिदपि न समुपेक्षणीयोऽस्ति एतादृशो यो जीवेन देहस्योपकारः कृतः स तदा सफलःस्याद्यदि देहस्य काशिकाप्राप्तिः स्यादित्यर्थः । अजीर्णे अनष्टे देहे ॥४६-४७॥ काश्याम्पापकरणे महाननर्थः । धर्माचरणेन महत्फलमित्याद्यर्थकथनेच्छया काशीमाहात्म्यसम्बन्धिनी कथा प्रस्तूयते अत्रैवोदाहरन्तीममिति । चिद्गुरोर्ज्ञानरूपगुरोः ॥ ४९ ॥ सम्वाद इति कलियुगविषये काश्यामेव स्थितयोस्तयोः सम्वाद इत्यन्वयः ॥ ५०—५१—५२ ॥

प्रजादण्डपरस्त्रैणश्चाटुचौरजनप्रियः । अक्षौहिणीपतिः सोऽथ गतो जेतुन्नृपान्तरम् ।।
तेन राज्ञाऽभवद्युद्धञ्जितश्चाऽऽशु सुमेधसा । प्रतिष्ठानपतिः सोऽथ सुमेधाः शिवभक्तियुक्
अविमुक्तप्रियश्चैव ह्यविमुक्तजनप्रियः । सुमेधाः स्वल्पबलवान्महासेनो महाबलः ।।
तथापि ताडितस्तेन धार्मिकेण सुमेधसा । सहसेनः पलाय्याऽपि भयं हृत्स्थं न सञ्जहौ
काश्याम्प्रभीतो दुःखार्त्तो लज्जितः पुनरागतः । वामदेवम्मुनिवरं पप्रच्छ भयकारणम्

महासेन उवाच

वामदेव ! स्थूलबलः कथमल्पैरहञ्जितः । परैश्च स्वबलैः क्षुद्रैः शूरोऽहं सर्वदिग्जयी ।।५८

वामदेव उवाच

महासेन ! महाराज ! कलिदोषोऽयमद्भुतः । येन त्वं कुलवीर्यादिसम्पन्नः पापमीहसे
न च धैर्यं न च कुलं नच धर्मो यशोभगम् । कलिः प्रवर्तयेत्काऽपि विपरीतकरः सदा
प्रविष्टो भारते खण्डे न स्थातव्यन्तदा नृभिः । स्थातव्यमेव चेत्काश्यां यत्नतो धर्मवर्त्तिभिः
अन्यायवर्तिनां काशी कलेरपि सुदुःसहा । त्वं काश्याम्पातकरुचिर्लोकविध्वंसकः शठः
कथन्न ते पराभूतिर्देवब्राह्मणनिन्दक ! । अद्याऽपि त्यज दौरात्म्यं भज सौशील्यमादरात्
जयो यशः सुखन्धर्माज्जायतेऽत्र कलावपि ।। ६४ ।।

महासेन उवाच

कलिप्रवेशः काश्यान्न श्रूयते शाश्वतः सदा । काशीराजस्य च मम कलिदोषात्पराभवः

नृपान्तरं सुमेधसनामानम् ।।५३।। कोऽसौ सुमेधास्तत्राऽह प्रतिष्ठानपतिरिति अविमुक्तप्रियः काश्याः परमभक्तः ।। ५५—५६—५७ –५८ ।। महासेनेति कलिदोषः कलौ यत्त्वया पापमाचरितं काश्यान्तद्दोषेणेत्यर्थः ।।५९।। विपरीतकरो धर्माचरणापेक्षया ।। ६०—६१ ।। ननु काश्यां कलिप्रवेशो नैवाऽस्तीति कथन्तस्य विपरीतकरत्वमितिचेत्पापकर्तुः कलेरप्यधिका विपरीतकर्त्री काश्येवाऽस्तीत्याह । अन्यायवर्तिनामिति ।। ६२—६३—६४ ।। इममेवार्थं स्पष्टीकर्तुम्महासेनः पृच्छति कलिप्रवेश इति ।। ६५—६६ ।।

कथञ्जातः काशिकायां स्थितस्याऽपि विशेषतः ।
यत्र विघ्ना न सन्त्येव तत्र विघ्नाः समागताः ॥ ६६ ॥

वामदेव उवाच

पापात्मन् ! दुःखसमये कलेर्वेशो न विद्यते । कलिग्रस्तमनो ! धृष्ट ! देवब्राह्मणनिन्दक !
कलेः स्वरूपं शृणु मे यथाकालात्मकस्य च । न कलिर्दण्डमादाय हन्ति कञ्चन मानवम्
अधर्मे रमयत्येव मानसं मानुषस्य हि । पश्य काश्यां महाभागाः सत्यधर्मपरायणाः॥
दानैर्व्रतैश्च नियमैः स्वाध्यायैश्चैव संयुताः । तेषाङ्कलिर्नप्रभवेद्विद्यमानोऽपि सर्वतः॥
पापं कृतन्तु प्रभवेत्कलिर्माऽस्तु कदाचन ॥ ७१ ॥
पुण्यं कृतञ्चाक्षयमत्र यद्वत्तथाऽत्र पापन्न विनाशमेति ।
ये शङ्कराज्ञाप्रतिपालकाः सदा न तेषु पापन्न भयम्पराभवः ॥ ७२ ॥
शिवापराधेन कलिःसमः किम्भवत्यवश्यं खलु पापरूपः ।
शिवापराधाद्द्रुहिणादयोऽपि नश्यन्ति तिष्यो ननु भृत्यभृत्यः ॥ ७३ ॥

महासेनवाक्यं श्रुत्वा क्रुद्धो वामदेव उवाच पापात्मन्निति । दुःख समये दुःखं यदा प्राप्तन्तदा हे पापात्मन् ! कलेर्वेशः प्रवेशः काश्यां न विद्यते कथं मम पराजयो जात इति पृच्छसि पापकरणसमये पापं कर्तव्यम्वा न कर्तव्यमिति न पृच्छस्यतो महादुष्टोऽसीति भावः कलिग्रस्तमन इति सम्बोधनम्॥६७॥ कलेः प्रवेशो विद्यते वा न विद्यते तत्र शृण्वित्याह । कलेः स्वरूपमिति ॥६८॥ अधर्म इति कलिस्तु कालरूपो न कञ्चन बाधते किन्तु पापमेव बाधते ततो यत्तु पापन्तदेव कलिस्वरूपं न कलिरन्य-इत्यर्थः ॥ ६९– ७०—७१ –७२ ॥ शिवापराधेनेति यच्चोक्तं "कलिः सर्वत्र कालरूपः सम एव" इति तत्राऽपि किं शिवापराधेन किं समस्तिष्ठति किन्तु विषमः पापरूप एवं तिष्ठति शिवापराधाद्द्रुहिणादयोऽपि नश्यन्ति एतादृशेऽपराधे जाते ननु निश्चयेन शिवस्य यो भृत्यस्तस्याऽपि भृत्यो यः कलिः स कथन्तमपराधं सहेतेतिभावः ॥ ७३ ॥

सर्वप्रकारैर्न हि काशिकायां पापम्प्रयुक्तं (च) सुखाय भूयात् ॥ ७४ ॥
कलिर्भवतु मा वाऽत्र पापं दुःखाय केवलम्। पापाद्भीतः प्रवर्तस्व युद्धायाऽजिमुखे सुखम्

महासेन उवाच

कदाचिद्ब्राह्मणा ब्रूयुः काश्याम्पापं न विद्यते।
उत्पत्तिम्पातकानाञ्च कदाचित्प्रवदन्ति हि ॥ ७६ ॥
अनन्वितम्वदन्त्येतत् बुध्यते न मया स्फुटम् ॥ ७७ ॥
पुनर्गमिष्ये हि सुमेधसं नृपञ्जेतुं द्विजानां वचनैर्न कृत्यम्।
न मे स्वतन्त्रस्य परो गुरुः क्वचिद्राजा गुरुर्भाति यशस्विनाम्परः ॥७८॥

सूत उवाच

स्वयमेव महासेनः पार्श्वस्थानाह सर्वदृक्। धर्मम्प्रकल्पितन्तात ! निरङ्कुशशिरोमणिः
यत्र यत्र भवताम्विचारणा तत्र तत्र परिपृच्छथाऽथ माम्।
यानि यानि वचनान्यहं ब्रुवे तानि तानि निगमेषु दृश्यताम् ॥ ८० ॥
इत्युक्त्वा स महासेनः सेनां कृत्वा विनिर्गतः। सुमेधसम्विजेतुं प्राक् सभृत्यबलवाहनः
अभिमानमहाज्वालादग्धदेहद्रुमोऽधमः। न देवगुरुवाक्यार्थे धृष्टो धैर्यविनाशनः ॥८२
प्रतस्थेऽधार्मिकैर्युक्तो धार्मिकैश्च विगर्हितः।
अथाऽऽश्रुत्य सुमेधाः प्राक्रिपोरुद्योगमायतम् ॥ ८३ ॥
स्वसैन्येन वृतः प्रायान्महासेनवधोद्यतः। ब्राह्मणान्पूज्य विधिवत्काशीनाथं समर्च्य च
क्षेत्ररक्षाकरान्सर्वान्सम्पूज्य श्रद्धयाऽन्वितः।
प्रस्थितः शिवनामाङ्कसन्नाहादिर्भयोज्झितः ॥ ८५ ॥

कदाचिदिति ब्राह्मणा यथासमयस्तथा वदन्ति तेषु विश्वासो न कर्तव्यो यथा स्वमनोरुचिः स्यात्तथा कर्तव्यं राजैव सर्वेषां गुरुरिति श्लोकत्रयार्थः ॥ ७८ ॥ स्वयमेवेति धर्मं स्वेनैव प्रकल्पितमित्यर्थः। यतो निरङ्कुशशिरोमणिर्व्रात्यः ॥ ७९ ॥ निगमेषु दृश्यतामित्यभिमानोक्तिः। तानि मदुक्तानि वचनानि श्रुतिसमानि ज्ञेया-

शिवनामाङ्कितमुखाः सैन्यलोकाः सुमेधसः।
सैन्योपकरणन्तस्य यत्किञ्चित्स महात्मनः ॥ ८६ ॥

शिवनामाङ्कितम्भाति न कलिस्तत्र विद्यते। कलिः प्रतिष्ठानपतिं बहुकालं समीहते॥
प्रवेष्टुन्न समर्थस्तं शिवरूपम्महीसुराः। विभूतिभूषिततनुः शिवसन्नामसम्मुखः ॥८८

शिवाक्षमालितः सौम्यः शिवकीर्तनतत्परः।
न विस्मरति मेधावी शिवं शिववधूस्पराम् ॥ ८९ ॥

आरभ्य बहुलं कालं कलिना धीरभीरुणा। प्रवेष्टुन्तु समारब्धः शिवेन परिरक्षितः॥

शिष्य उवाच

किमर्थे कलिना राजा क्लिश्यते साधुसम्मतः।
किम्वा कलेरपकृतं राज्ञा शिवपरेण तु ॥ ९१ ॥

गुरुरुवाच

कलिना द्वापरेणाऽपि विवादः समजायत। विष्णुप्रजापतिक्षेत्रे द्वापरं कलिरब्रवीत्॥
अहञ्चतुर्युगेष्वत्र समर्थः सर्वकृत्सकृत्। नियन्तुन्न च शक्योऽहमाज्ञापयितुमप्युत॥
मयि जीवति लोकेशे वर्णाश्रमनिबन्धनाः। सेतवो भीतिमागत्य पलायन्ते दिशो दश
मच्छन्दानुगतो लोकः सुखमास्ते विचारकः। निरङ्कुशोऽतिगहनः सर्ववस्तुषु संश्रितः

वर्णाश्रमेषु लोकेषु पुरुषार्थनिरोधकः ॥ ९६ ॥

द्वापर उवाच

अहो वत ! महद्धार्ष्ट्यं तव दुष्टस्य दुर्मते !। न लज्जसे वदन्नित्थं स्वयमेतज्जुगुप्सितम्

नीत्यर्थः ॥ ८०—८१—८२—८३—८४—८५—८६—८७-८८॥ शिवाक्षो रुद्राक्षस्तन्मालायुक्तः शिववधूमन्नपूर्णाम्भुवनेश्वरीम् ॥ ९० ॥ किमर्थमिति राज्ञा कलेः किमपराद्धं यतो राजानं कलिः पीडयितुमुद्युक्त इत्यर्थः ॥ ९१ ॥ अत्राऽर्थे गुरुः। कलिद्वापरयोः कलहरूपं निमित्तमाह कलिनेति ॥ ९२ ॥ अविचारकः कर्तव्याकर्तव्यविचाररहितः सर्ववस्तुषु निषिद्धपदार्थेषु संश्रितः आश्रितः ॥ ९५ ॥

एवं यः कथयेत्पापो वर्णाश्रमरिपुर्ह्यहम् । न शोभते सत्सभासु धिक्कृतः प्राकृतैरपि
अजितेन्द्रियशूरस्त्वमधार्मिकमहाग्रहः । धीरान्धर्मपरान्स्प्रष्टुमपि न त्वं क्षमो ह्यसि॥
प्रतिष्ठानपतीराजा सुमेधाः शङ्करप्रियः । तच्चेत्प्रविश्य त्वद्धर्मे प्रवर्तयसि धार्मिकम्॥
तदा तवोक्तं सत्यं स्यात्सर्वधर्मपराप्रिय ! ॥ १०१ ॥

कलिरुवाच

एष गच्छाम्यहन्तावत्प्रतीक्षस्व क्षणेन तत् । करिष्यामि यथा राज्ञो बुद्धिर्मम परा भवेत्
मयि प्रवृत्ते लोकेशे क्व धर्मः क्व हरिः शिवौ । धर्मादीनां कथा का तु वर्णाश्रमनिबन्धना
अहं स्वतन्त्रः सुखदः पापिनां तु सुखावहः । इत्युक्त्वा द्वापरं सोऽथ प्रतिष्ठानपतिं गतः
छिद्रान्वेषणकृन्नित्यं नानारूपधरः कलिः । न प्राप शिवभक्तस्य धार्मिकस्य निरन्तरम्
छिद्रं कलिर्महासेनमाश्रितोऽपि कदाचन । सम्वत्सरत्रयं साग्रं स्थित्वा राज्ञो गृहे कलिः
जगाम सह राज्ञोऽग्रे वञ्चनाय कृतोद्यमः । नान्तरं समनां लेभे शाङ्करस्य सुमेधसः॥

पुरुषार्थानां यथा निरोधो भवति तथा वर्णाश्रमादीनि दाम्भिकरीत्या कारयामीत्यर्थः । अधार्मिकाणां महाग्रहो भक्षकस्त्वं न तु धार्म्मिकांस्तु स्पर्शं कर्तुमपि तव सामर्थ्यं नाऽस्ति किमर्थम्वल्गनां करोषीत्यर्थः ॥ ६६ ॥ सर्वधर्मपराणामप्रिय ता अप्रिया यस्येति वा ॥ १०१ ॥ मम परेति अत्र ममेत्यव्ययमस्मच्छब्दार्थकं अहन्ताममतेत्यत्र प्रसिद्धं ममपरा मत्परेत्यर्थः ॥ १०२ ॥ महासेनमाश्रितोऽपीति । महासेनो हि सुमेधसो राज्ञः शत्रुस्तदाश्रयणेन तत्साहाय्यसम्पादने तु शीघ्रं छिद्रान्वेषणं सुमेधसो राज्ञो भविष्यतीति प्रथमतो महासेनशरीरे प्रवेशः कृत इत्यर्थः ॥ १०६ ॥ जगामेति इत्थं सम्वत्सरत्रयं महासेनराज्ञो गृहे स्थितोऽपि कलिश्छिद्रं सुमेधसो राज्ञो न प्राप ततः स एव कलिः पुनरावेशेन अग्रे युद्धार्थं यत्काशिराजस्य प्रयाणन्तस्याऽग्रे प्रथमराज्ञः सुमेधसो वञ्चनापकृतोद्यमो जातस्तथापि नान्तरं छिद्रं लेभे न प्रापेत्यर्थः ॥ १०७ ॥

काशीं त्यक्त्वा काशिराजः प्राप्तः शीघ्रं सुमेधसम् ।
ब्रह्मब्राह्मणधर्माणां दोषान्गृह्णन्गुणांस्त्यजन् ॥ ॥ १०८ ॥
युद्धाय सज्जः पापात्मा मया जितमितीरयन् ।
अहं काशीपतीराजा सर्वासुरनमस्कृतः ॥ १०९ ॥
अहं सुमेधसन्तुच्छं जित्वाऽन्यांश्च जये वरान् ।
अभिमानमहादण्डस्तब्धो वाक्शौर्यसंयुतः ॥११०॥
युद्धञ्चकार किञ्चित्स प्रतिष्ठाननृपेण ह ।
ध्रियतान्ध्रियतां राजा प्रतिष्ठानपतिः कृशः ॥१११॥

न पुनर्मां समासाद्य युद्धं कुर्याद्यथा तथा । मम काशीपतेस्त्वग्रे कथं स्थास्यति दुर्मतिः वदन्नित्थं महासेनो महाबलपराक्रमः । तथा सुमेधसा राज्ञा धृतः शिवपराङ्मुखः ॥ पृष्टश्च त्वं महाराजा मया तुच्छेन किञ्जितः । वामदेवेन सम्वादं कृत्वाऽपि त्वं ह्यचेतनः॥ शिवभक्तस्य ते राजन्कथमेवम्पराभवः । पापात्त्रस्तस्य शान्तस्य धार्मिकस्य महात्मनः द्विजदेवपितृप्राज्ञपूजकस्य रणार्थिनः । वामदेवादिकृषिभिर्बोधितस्याऽपि सन्मतेः ॥ प्रजापालनरक्तस्य शूरस्य विजितात्मनः । नहि स तीर्थवासेन सत्सङ्गेन श्रुतेन वा ॥ मतिः कलुषिता नृणाम्भवति ब्रह्मसेविनाम् । नहि पापात्मनां सङ्गो भवेत्पुण्यजुषां क्वचित्

तदनन्तरं काशीराजो युद्धार्थं प्रवृत्त इत्याह काशीं त्यक्त्वा काशिराज इति ॥ १०८ ॥ किं जितः केन कारणेन मया तुच्छेन त्वं जितोऽसीति सुमेधसा राज्ञा महासेनः पृष्ट इत्यर्थः । न जानामि कारणमिति चेन्नैवं वामदेवेन कारणस्योक्तत्वात्कारणे ज्ञातेऽपि तदनुष्ठानाकरणात्त्वञ्जितोऽसीति न त्वत्समोऽचेतनो मूढोऽस्तीत्यर्थः ॥११४॥ ननु कारणं ज्ञात्वा तदनुष्ठानं कृतमस्ति तथाऽप्यहं जितोऽस्मीति-चेच्छिवभक्त्यादिकृतवतस्तव कथमेवम्पराभवःस्यादित्याह शिवभक्तस्येति ॥ ११५-११६-११७ ॥ किञ्च यदि कारणं कृतं स्यात्तर्हि तव मतिः कथङ्कलुषिता स्यात्पापिसङ्गश्च कथं स्यादित्याह मतिरिति । ब्रह्मसेविनाम्मतिः कलुषिता नहि भवति ११८-११९

कथमेवं पराभूतिस्तुच्छा स्वेच्छापरस्य भो ! । तव जाता महाराज ! विचार्य वद तत्त्वतः

गुरुरुवाच

एवमुक्तः काशिराजो धार्मिकेण सुमेधसा ।
लज्जितोऽर्वाक्शिरो जातः किञ्चिन्नोवाच तं नृपम् ॥ १२० ॥

कलिरन्तरमासाद्य नत्वा सुमतिमीश्वरम् । प्रविष्टः काशिराजस्य देहं लज्जापरस्य च

द्वापरन्नोक्तवान्किञ्चित्तेनैव सह जग्मिवान् ।
सुमतिः काशिरान्तम्मोचयित्वा द्विजैर्वृतः ॥ १२२ ॥
उवाच काशीराजन्तं गच्छ काशीं नराधिप ! ।
महासेनः स्वतः पापआविष्टः कलिना पुनः ॥ १२३ ॥

यत्र यत्र महासेनः प्रयाति चिरदुःखितः । तत्र तत्र महातीर्थे काशी सद्भिः प्रवर्ण्यते ॥

एवं तीर्थान्यनेकानि कृत्वा राजा सुदुर्मनाः ।
द्वारकाम्प्राप स कलिस्त्यक्त्वा भीतः पलायितः ॥ १२५ ॥
निष्पापो द्वारकां गत्वा कलिना च विना कृतः ।
संस्मरत्काशिकाम्पुण्यां परमानन्दरूपिणीम् ॥ १२६ ॥
कथं यास्ये पुनः काशीं ब्रह्मादिसुरसेविताम् ।
नय मान्देवदेवेश ! द्वारकानाथ ! केशव ! ॥ १२७ ॥

स्वर्धुनीतीरवसतीं काशीं कामदुघां सताम् । प्रत्यहम्पूजयित्वा तु हरिं देवकीनन्दनम ॥
प्रार्थयामास निरतः काशीम्विरहकातरः । काशीं प्रस्थापय विभो! द्वारकानाथ केशव !
अनादरः काशिकायां सत्सु श्रीगुरुषु प्रभो ! । शिवे शिवकथायाम्वा जातः पापविवर्धनः
अहो ! सुकृतमेवाऽत्र प्रकर्तव्यमहर्निशम् । यद्विनाऽभ्युदयं प्राप्याऽहज्ञातश्चाऽऽत्मघातकः

---

१२० ॥ सुमतिं सुमेधसं राजानं लज्जापरो द्वापरन्नोक्तवानित्युत्तरेणाऽन्वयः ॥
१२१–१२२–१२३ ॥ आविष्टः कलिनेति । अत्र काशीं विहाय अन्यदेशेषु जगामेति शेषः ॥ १२३ ॥ तदेव स्पष्टयति यत्र यत्रेति ॥ १२४—१२५—१२६—१२७—

दास्यं कृत्वाऽप्यहं राजा स्थास्यामि तव सन्निधौ ।
प्रत्यहं याचमानस्तु निःपापः (निष्पापः) पुण्यसंयुतः ।। १३२ ।।
न विस्मरति काशीं स राजा विरहकातरः । प्राप वाराणसीदेशं विह्वलः संस्मरन्शिवौ

शिष्य उवाच

यदा सुमेधसा राजा पराभूतो विनिर्गतः । तदा सुमेधसः कृत्यमुच्यतां साधुसम्मतम्
महात्मनाम्वदान्यानां सत्सङ्गश्रवणैषिणाम् ।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं बहुजन्मार्जितं क्षणात् ।। १३५ ।।
तैरेव साधनैः पापा द्रोहिणः शास्त्रदेवयोः ।
यान्त्यसद्गतिमापन्ना गुरुद्रोहरताः खलाः ।। १३६ ।।

गुरुरुवाच

सुमेधास्तम्पराभूय तस्य पुत्रम्महामतिम् । स्थापयामास तद्राज्ये शिवभक्त्या समन्वितः
उवाच च महात्मानं महात्मा स महामतिम् ।
पाहि लोकान्भज शिवं तिष्ठ काश्यां वृषध्वज ।। १३८ ।।
इत्युत्पादिश्य सुमहान्सुमेधास्तं सुमेधसम् । शिवं शिवां समाराध्य मन्त्रिणश्चोपदिश्य सः
ययौ प्रतिष्ठानपुरं कलिञ्जित्वाऽपि धीरधीः ।। १४० ।।

शिष्य उवाच

उपदेशो मन्त्रिणां कः कृतो राज्ञा सुमेधसा ।
तं श्रोतुमहमिच्छामि विविच्य ब्रूहि सम्मतम् ।। १४१ ।।

गुरुरुवाच

महासेनं जितन्दृष्ट्वा मन्त्रिणस्तु सुमेधसम् ।
ऊचुः कथन्न गृह्येत काशीराज्यं जितन्त्वया ।। १४२ ।।

१२८—१२९—१३० –१३१—१३२—१३३ ।। यदासुमेधसेति । इयमुक्तिः सुमेधसो राज्ञो दुष्टत्वसुष्ठुत्वबोधनार्था ।। १३४—१३५—१३६—१३७—१३८ ।। शिवां श्रीभुवनेश्वरीम् । उपदिश्य वक्ष्यमाणप्रकारेण ।। १३९-१४०—१४१-१४२ ।।

सुमेधा उवाच

तदेव राज्यं मम नैव मन्त्रिणः कुतः पुनः शङ्करगेहमेतत् ।
राजाधिराजः स हि शूलपाणिर्वयन्तदाज्ञापरिपालका ये ॥१४३॥
ब्रह्माण्डकोटिप्रभवोऽपि ये स्युस्ते शङ्कराज्ञां न विचालयन्ति ।
वयम्पुनः के कृतहीनजीवाः श्रीशङ्कराज्ञां प्रविचालयामः ॥१४४॥
न युक्तं स्वाम्यमन्यत्र किम्पुनः काशिमण्डले ।
अत्र स्वामी जगन्नाथो विश्वनाथः सुमुक्तिदः ॥ १४५ ॥
देहस्याऽपि न मे स्वाम्यं किम्पुनर्धनराज्ययोः ॥ १४६ ॥

गुरुरुवाच

इत्युक्त्वा मन्त्रिमुख्येभ्यः सुमेधाः स्वगृहं ययौ ।
महासेनो दिनैः प्राप काशीं दृष्ट्वा विमूर्च्छितः ॥ १४७ ॥
पुनरुत्थाय विलुठन् हा काशी त्राहि मामघम् । तवाऽपराधिनं दुष्टं देवब्राह्मणदूषणम्
गुर्वाज्ञाभङ्गकम्पापं महाविषयलोलुपम् । पुत्राय राज्यम्विनिवेद्य कृत्तिवासेशसन्निधौ
स्थितो वैराग्यबहुलः सिद्धिम्प्राप सुदुर्लभाम् ।
कलिद्वापरयोर्वादः स्पष्टोऽभूत् (द्) व्यवहारतः ॥ १५० ॥
धीरो जितेन्द्रियो यस्तु तं कलिर्न प्रबाधते । अजितेन्द्रियलोकस्य कलिः स्वामी भवेदिह
कलौ विवेकिनः शान्ता विरक्ता धर्मबुद्धयः ।
न सन्ति तस्माद्धि कलिः पुरुषार्थविघातकः ॥ १५२ ॥

तदेवराज्यमिति । तन्मम राज्यं मम नैवाऽस्ति किन्तु विश्वनाथस्यैव किम्पुनर्वक्तव्यं विश्वनाथगृहं काशीम्प्रतीत्यन्वयः ॥ १४३ ॥ प्रभवः उत्पादकः । न विचालयन्ति नोल्लङ्घयन्ति कृतेन पुण्येन हीना जीवाः ॥१४४--१४५--१४६--१४७-१४८--१४९--१५० ॥ एतावत्पर्यन्तज्ञातायाः कथायास्तात्पर्यमाह धीरो जितेन्द्रियो-यस्त्विति ॥ १५१ ॥

अतो जनैर्विरक्तैश्च भवितव्यं कलौ वलात् । यथा मङ्गलमप्येतत्काश्यां शङ्कर तुष्टये ॥

दीपक उवाच

जय देव ! महाज्ञानदायक!श्रुतिविग्रह! । जय मायामहापाशच्छेदक! ध्वान्तनाशन!
स्वामिप्रसादाद्देवेश ! पार्वतीवल्लभः शिवः । दृष्टोजनार्दन श्रीशो ब्रह्माद्यादेवसत्तमाः
अहो भगवता काशी दर्शिता सर्वमुक्तिदा । स्वरूपञ्च महाकाश्याः श्रावितम्पुरुषार्थदम्
कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि जगद्गुरो ! ।
नमामि देवदेवश ! त्वां सर्वज्ञं जगद्धितम् ॥ १५७ ॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा दीपकः सेवां गुरोः कुर्वन्नवस्थितः ।
काश्यां शृण्वन् शुभाः काश्याः कथाः पावनपावनाः ॥१५८॥
इति पृष्टं त्वया यत्तत्कले ! प्रोक्तं तवाऽग्रतः । निर्भयस्त्वम्भुवङ्गच्छ स्वकार्यङ्कुरु सादरम्

सूत उवाच

इति संश्रावितःशिष्यो ब्रह्मणा काशिसत्कथाः । पितामहं नमस्कृत्य भारतम्प्रविवेश ह
स्वस्वरूपं काशिरूपं विष्णुशङ्करयोरपि । धर्माधर्मस्वरूपञ्च ज्ञात्वा ब्रह्ममुखात्कलिः ॥
चचार पृथिवीमेतां द्रुहिणाज्ञाकरः सदा ॥ १६२ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

पुरुषापराधादेवकलिर्दुष्टो भवति तदपराधाभावे तु कलिः साधुरेवेत्याह कलौ विवेकिन इति ॥ १५२–१५३ ॥ दीपक उवाच । जयदेवेति गुरुस्तोत्रम् ॥१५४-१५५–१५६ ॥ नमामीति नमस्कारम्विनाऽन्यः प्रत्युपकारस्तव नास्तीत्यर्थः ॥ १५७ ॥ अत्र सूतर्षिसम्वादान्तर्गतो ब्रह्मकलिसम्वादस्तदन्तर्गतो गुरुशिष्यसम्वादः सचाऽत्र समाप्तस्तस्य समाप्तिमुक्त्वा ब्रह्मकलिसम्वादमुपसंहरति सूत उवाच इत्युक्त्वेतिं १५८—१५९—१६०--१६१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठ-सरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां पञ्चमोऽध्यायः

अथ षष्ठोऽध्यायः

कापिलयोगविषये सूतर्षिसम्वादवर्णनम्

मुनयऊचुः

सूत ! सूत ! महाबुद्धे ! श्रुतन्त्वत्तः सनातनम् । ब्रह्मज्ञानं जीवपाशच्छेदनम्मुक्तिदायकम्

परन्त्वेकन्तु पृच्छामो ब्रूहि तत्त्वं शुभानन ! ।
विना सांख्येन योगेन विनाऽष्टाङ्गैर्महामखैः ॥ २ ॥

विना तपोभिरत्युग्रैर्नानातीर्थपरिभ्रमैः । विना व्रताद्यैः शारीरैर्विना दानैर्विना जपैः

सिद्ध्येन्निर्वाणभोगादिः सिद्धो धर्मो महामते ! ।
येन साधनसारेण तत्पुनर्वक्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

सत्यादिषु युगेष्वेव समो धर्मः सनातनः ।
यः सदा प्राणिमात्राणां सिध्येत्सिद्धिषु यः परः ॥ ५ ॥

एतावत्पर्यन्तं काशीमाहात्म्यमन्यप्रसङ्गेनोक्तम्पुनः कलियुगस्याऽस्य स्वरूपं वर्णयाऽऽदितः 'कलिनाऽधर्ममित्रेण वञ्चिता अपि सज्जनाः' इति वचनेन प्रथमतः कलिस्वरूपवर्णनप्रसङ्गस्योपपादितत्वात्, तच्छ्रुत्वाऽधुना मुख्यत्वेन काशीमाहात्म्यम्प्रष्टुकामा(नो)मुनयः पृच्छन्ति सूतसूतेति। आदरार्थो(र्था)द्विरुक्तिः। "स्वतो मुक्तिदायकम्ब्रह्मज्ञानमेव नान्यत्" इति पुराणान्तरे श्रुतमस्मिन्नपि पुराणे पूर्वमपि तथैवोक्तमित्यर्थः ॥१ तत्र यद्यपि तदुक्तन्तथाप्येकन्तत्र पृच्छामः किमिति। विनासाङ्ख्येनेति ज्ञानम्विनाऽपि मोक्षः केनाऽपि मोक्षः केनाऽपि प्रकारेण यदि भवितुं योग्यः स्यात्तर्हि तम्प्रकारम्वदेत्यर्थः ॥ २—३ ॥ ननु तथा साधनम्पराशक्तिकाशी भजनरूपम्मयोक्तमेव पुनः कथम्पृच्छ्यते इति चेत्तदेव पुनर्विस्तरेण वदेत्याहुः पुनर्वक्तुमिहाऽर्हसीति ॥ ४ ॥ सत्यादियुगोक्तो यो धर्मः समः सर्वः स कलियुगे न प्राणिमात्रसाध्यो यस्तु प्राणिमात्रसाध्यो मोक्षसाधनभूतस्तन्धर्ममित्यन्वयः ॥ ५ ॥

तं धर्मं श्रोतुमिच्छामः कलौ खलु विशेषतः। साक्षात्कारः कृते दुःखम्ब्रह्मणः किम्पुनः कलौ
कलावपि जनाजीर्णं ज्ञानन्तत्फलमेव च। प्राप्नुयुर्मोक्षममलमित्याश्चर्यं वदस्व नः॥७

सूत उवाच

शृण्वन्तु मुनयः सर्वे ब्रह्मज्ञानस्य कारणम्। कपिलेनेरितं सर्वं श्रुतिसारन्नृणामिह॥८
कपिलः श्रीहरेःसाक्षात्स्वरूपज्ञः सनातनः। हरिरेव महासिद्धः सिद्धैः पृष्टः कदाचन॥
त्वया खलु महादेव! महायोगेश्वरेश्वर!। साधनानि बहून्यत्र प्रोक्तानि मनसः शुचौ
असक्तानि सर्वाणि साधनानि कृतानि भो!। तथापि मनसः शुद्धिर्जायते न कदाचन
जीवानाम्मोक्षवार्ताऽपि कथं स्याद्विषयात्मनाम्। अहो पापच्यमानानां नरके गर्भसङ्कटे
यातना विविधाः श्रुत्वा दृष्ट्वा च सभया वयम्। विहाय सर्वमस्माभिर्मनसस्तुकृतश्रमः
तथापि न मनःशुद्धं विषसंस्कारवासितम्। मनः शुद्धिम्विना ज्ञानञ्जायते न कथञ्चन

ज्ञानम्विना न सिद्ध्येत जनः कल्पशतैरपि।
तस्मान्मोक्षकथा दूरे स्थितेति प्रतिभाति नः॥१५॥
एक एव शरण्यस्त्वं शरणागतवत्सल!॥ १६ ॥

श्रीकपिल उवाच

साधु पृष्टम्महासिद्धाः सिद्धिः सत्यं सुदूरतः।
तथापि यत्नो न त्याज्यो नरैर्मोक्षेच्छुभिः सदा॥ १७॥

विषयाकाररूपेयं माया विष्णोः सुदुर्जया। तच्छून्यैर्विषयान्सर्वानीक्षेतेश्वरमाश्रितः

ब्रह्मणः साक्षात्कारः कृते सत्ययुगेऽपि दुःखं दुःसाध्यः किम्पुनः कलौ वक्तव्य-मित्यर्थः॥६॥ जीर्णम्पुरातनं तत्फलम्मोक्षरूपम्फलमित्यन्वयः, जनाः प्राप्नुयुरित्य-न्वयः॥७॥ तत्र भवद्भिर्ज्ञानम्विना मोक्षसाधनम्पृष्टं तत्तु नैव सम्भवति। "ज्ञाना-देवहि कैवल्यम्" इतिश्रुतेः। ततो ज्ञानस्यैवसाधनम्वक्ष्यामीत्याहसूत उवाच शृण्वन्त्विति ८-९—१०—११—१२—१३॥ विषसंस्कारेति विषम्विसदृशो मारकः संसारस्तस्य संस्कारेण वासितं युक्तम्॥ १४—१५—१६॥ साधु पृष्टमिति॥ १७॥ यत्नमेवाह विषयेति विषयानीश्वररूपेणेक्षेतेत्यन्वयः। यद्वा, रागेण विषयान् शीघ्रम्पश्यति तथा

विषयैर्दष्टचित्तानां न मृतिर्न हि जीवनम्। शोकसन्तापजनकानुपेक्षेत शनैः शनैः ॥
सहसा विषयांस्त्यक्षन् याति जीवः सुदैन्यताम् ॥२०॥
कामादयः शतशो यत्र देहे तिष्ठन्ति नित्यम्प्रभवश्चसिद्धाः !।
क्व तत्र वैराग्यविवेकधर्ममोक्षेषु चिन्ता सहजेषु कृत्रिमा ॥२१॥
मोक्षस्य बीजम्परमस्ति चैकं प्रियः परेशो भगवान् कथञ्चित्।
हरिः प्रियःस्याद्यदि वा हरो हि तथा यथा विषया मोक्षरूपाः ॥२२॥
अकृत्रिमा प्रीतिरुदेति सर्वदा कामेषु कामारिमुरारिवर्जिताः।
शास्त्रैर्गुरूपासनतो न लुब्धैस्तदुक्तधर्माचरणैर्नराणाम् ॥ २३ ॥
हरौ हरे वा परमात्मनिर्गुणो(णे) गुरौ रतिः स्याद्धि तदा कदाचित्।
श्रुतेषु शास्त्रेष्वपि नो कदाचिद्विनिश्चिता बुद्धिरधर्मवर्तिनाम् ॥२४॥

नेक्षेत किन्तु शनैः। तथा च रागपूर्वकविषयसेवनाभावे तद्वासनानुदयाद्विषयरूपमायाया जयो भवतीत्यर्थः। विषयसेवनाभावे चित्तम्व्याकुलं स्यादिति चेत्तत्राऽऽह ईश्वरमाश्रित इति प्रणवजपध्यानसमाधिभिरीश्वरस्याऽऽश्रयणेन व्याकुलीभावो न स्यादित्यर्थः। तथा च गीतासु "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतान्तरन्ति ते" इति ॥१८॥ न तृप्तिर्न हि मरणम्भवति नाऽपि सुखेन जीवनम्भवति किन्तु शोकेनैवेत्यर्थः। जनकान्विषयानिति शेषः ॥१९॥ सहसा त्यागे दैन्यं स्यादतः शनैः शनैरित्युक्तमित्याह सहसेति ॥ २० ॥ कामादिसद्भावे किमपि सत्कर्मन भवति ततस्ते त्याज्या इत्याह कामादय इति। प्रभवः समर्थाः पुष्टा इत्यर्थः। सिद्धा इति सम्बोधनम्॥ असहजेषु साधनम्विना अस्वभावभूतेषु वैराग्यादिषु कृत्रिमाऽपि चिन्ता क्व नैवाऽस्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥ मोक्षस्य बीजमिति मोक्षस्य मोक्षसाधनज्ञानस्येत्यर्थः। यथा विषया मोक्षरूपाः सुखरूपाः प्रिया भवन्ति तथा यदि हरो हरिर्वा यदि प्रियः स्यात्तन्मोक्षस्य बीजमित्यर्थः ॥२२ ये तु कामारिः शिवो मुरारिर्विष्णुस्ताभ्यां वर्जितास्तेषामकृत्रिमा प्रीतिः कामेषूदेति न तु हरिहरभक्तानामित्यर्थः। ईश्वरभक्तेरुपायमाह शास्त्रैरिति। विषयेषु न लुब्धैरित्यर्थः। तदुक्ताः शास्त्रगुरूक्ता ये धर्मास्तदाचरणैः। हरौ हरे वेत्युत्तरेणाऽन्वयः ॥२३

कलौ भवेर्धर्मविवर्जिते नृणां कुतः पुनः श्रवणं नास्ति येषाम् ॥२५॥

सिद्धाः! शृणुत भद्रम्वः सारात्सारम्वदाम्यहम्। नारदाय पुरा प्रोक्तं नरनारायणेन हि

न हि तत्पापजीवानां हृदये परितिष्ठति। तस्मान्महत्सु वक्तव्यं गुरुदेवेषु नित्यशः॥

कदाचिन्नारदः प्राप्तो नरनारायणाश्रमम्। नारायणम्महात्मानं पप्रच्छ जगतो हितम्॥

नारद उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणामाशु शुभप्रदम्।
वद किञ्चिद्विचित्रार्थं येन शुद्धिः परा भवेत् ॥२६॥

रागद्वेषैः पीड्यमानाः कामक्रोधैः सुदारुणैः। शोकमोहैः सुदुष्पारैर्लोभासन्तोषविग्रहैः

अहम्ममाभिमानोत्थैर्नानाविषयपन्नगैः। भक्ष्यमाणा महान्तोऽपि दृष्टा विषयलोलुपाः

न शास्त्रं न गुरुर्देवो न सत्सङ्गो न धीरता।
गुणा ये शुद्धवर्णानामपि पण्डितमानिनाम् ॥ ३२ ॥

सर्ववणाश्रमाणां ये धर्मास्तेषां न पालनम्। दृश्यते किञ्चिदपि च जीवानां कथमुद्धृतिः

कालावयवदोषैस्तु ग्रस्यमानाः कथम्प्रजाः। भोगमोक्षादिपात्रं स्युर्विवादबहुलाः सदा

कथयस्व महाविष्णो! गुरो! गुरुतरां कथाम् ॥ ३५ ॥

नारायण उवाच

शृणु नारद! सर्वेषां मोक्षोपायं सुदुर्लभम्।
वक्ष्यामि गोप्यमपि ते त्वम्मे शिष्यो जगद्धितः ॥३६॥

वाराणासीति विख्याता नगरी सुगरीयसी। मया हरेण हरिणा द्रुहिणेनाऽनलेन च

आदित्येन गणेशेन भवान्या मुनिभिः सुरैः। यक्षैः किम्पुरुषैर्नागैर्गन्धर्वैरपि चोरगैः॥

सिद्धचारणगङ्गादितीर्थैर्यज्ञादिभिः सदा।
सदा सेवितेयं सदेशानैः परमानन्दकाङ्क्षिभिः ॥ ३९ ॥

हरौ हरे वेत्यर्धम्पूर्वान्वयि। श्रुतेषु शास्त्रेष्विति वाक्यमुत्तरान्वयि ॥२४-२६॥ सर्वथेश्वरभक्तिरतिदुर्लभा तर्हि जनानां का गतिरितिचेत्तदुपायदर्शनार्थं नारद-नारायणसम्वादम्वक्ष्यामीत्याह सिद्धाइति। गुरुरेवदेवो येषान्तेष्वित्यर्थः ॥२७-२८॥ २९-३०-३१—३२—३३—३४—३५—३६ ॥ शृणु नारदेति ॥ ३७—३९।

मुक्तिदानामपि मुने ! महाप्रीतिकरी मता ।
आनन्दवनमित्येव नामाऽस्याः प्रथितम्प्रियम् ॥४०॥
नारायणावासमिति रुद्रावासमिति स्फुटम् । ब्रह्मावासमिति प्राहुर्ब्रह्मविद्याविशारदाः
शृणु तत्रत्यमाहात्म्यं किञ्चिद्वक्ष्यामि तेऽनघ ! । यत्रस्थितानां जन्तूनां साधनानि पदे पदे
भवन्ति दृढबुद्धीनां निष्पापानां न संशयः ॥४३॥
अहो लोकः शोके पतति हि वृथा साधनशतैः
परिक्रान्तो काशीं परिहरति दैवोपहतधीः ।
विना क्लेशैर्यस्यां विविधवृषसारम्वृषपतिं
लभन्ते यन्नत्याः (नत्वा) पशुपतिशिवं शास्त्रशरणाः ॥ ४४ ॥
काश्यां स्थित्वा प्रातरेवाऽत्र ढुण्ढि माम्मां विश्वेशन्दण्डपाणिं रविम्वा ।
सर्वान्नत्वा काशिसंस्थांस्तु नित्यं ततः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकानि ॥४५॥
काश्यां स्वदारेष्वपि नित्यवृत्तिः काश्यां स्ववित्तेष्वपि सुप्रवृत्तिः ।
काश्यां कुटुम्बेष्वपि यत्स्वबुद्धिर्देहे ह्यहं यस्य न तस्य शुद्धिः ॥ ४६ ॥
भोगेन मोक्षस्य सुखं कदाचिन्मोक्षे न भोगस्तु यतो न नित्यः ।
सुभोगमोक्षप्रदा काशिकेयं न यस्य सौख्याय सुखं न तस्य ॥ ४७ ॥

आनन्ददातृत्वादानन्दरूपत्वाद्वाऽऽनन्दवनन्नारायणवासस्थानत्वान्नारायणावासमिति । एवं रुद्रावासमित्यादीन्यस्याः काश्यां भगवत्या नामानि । इयम्परा शक्तिर्भगवती सर्वदेवैर्मोक्षार्थं सेवितेत्यर्थः ॥४०—४४॥ काशीं स्मृत्वा जनानाक्रोशति अहोलोक इति वृषपतिं धर्मपतिम् ॥ ४५ —४६ ॥ नित्यवृत्तिर्विषयसेवनार्थं नित्यम्वर्त्तनम् । सुप्रवृत्तिः सम्यगभिनिवेशेन व्यवहारकरणम् स्वबुद्धिः स्वकीयत्वबुद्धिः देहेऽहम्बुद्धिरहङ्कारस्तादात्म्यं यस्य तस्य कदापि शुद्धिर्न भवति । तत एतानित्यजेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥ भोगेनेति भोगे क्रियमाणे मोक्षस्य सुखं कदापि न भवति तथा मोक्षे सति भोगो न भवति यतो भोगो न नित्यः यदि नित्यः स्यात्तर्हि मोक्षेऽपि विद्येत न तु तथाऽस्ति विरुद्धत्वात् काश्यान्तूभयमस्तीत्याह सुभोगमोक्षेति । जीवतो

जितेन्द्रियत्वं सुतपो यत्र चोक्तं ऋतौ स्वभार्यागमनम्ब्रह्मचर्यम् ।
यथाकथञ्चिन्मम नामकीर्तनाद्विमुच्यते सर्वदुःखैर्मनुष्यः ॥ ४८ ॥
शिवं शिवां प्रत्यहमर्चयन्नरस्तथा गणेशान्धृतसच्छिवव्रतः ।
वर्तेत यः काशिकायां सदा जनो न तस्य दुखं न च विघ्नपूगः ॥ ४९ ॥
न शक्यते तिष्ययुगे तु कर्तुं तपोव्रतं योगसमाधियज्ञाः ।
तस्मात्काश्यां सम्वसेच्छास्त्रयुक्त्या यथा न कामादिगणः पराभवेत् ॥५०

नारद उवाच

नारायण! गुरो! मह्यं कथयस्व महामुने! । का शास्त्रयुक्तिर्भगवन्यया कामादिसञ्जयः

श्रीनारायण उवाच

शृणु नारद ! वक्ष्यामि शास्त्रयुक्तिं सुदुर्लभाम् । यामाश्रित्य तरेद्दुर्गमेतद्विषयसङ्कटे॥
रोगग्रस्ता निरोगा वै दृश्यन्ते विविधा जनाः। संसाररोगसुग्रस्ताः सदेवासुरमानवाः
न विना काशिकां केचिदरोगाः सम्भवन्त्युत ॥ ५४ ॥
सहस्रकार्याणि विहाय काश्यां काशीगुणान्संस्मृणुयाद्यथावत् ।
क्षेत्रस्वरूपम्प्रतिबुध्यते यैः श्रद्धारतिः पापनिवृत्तिरुद्भवेत् ॥ ५५ ॥
काशीकथासंश्रवणेन सम्यग्मनःशुद्धिर्जायते वै नराणाम् ।
स्थितिप्रकारम्परमम्वेत्ति सम्यक्स्थित्वा यथावत्प्रविमुच्यते भयात् ॥५६
काशीगुणांश्छङ्करो वेत्ति सम्यक् किञ्चित्किञ्चिद्दृषयो ज्ञाननिष्ठाः ।
ततोऽपि किञ्चिद्विबुधादयो ये विदुर्गुणान्स्वल्पतराहि केचित् ॥ ५७ ॥

भोगो मरणानन्तरम्मोक्षो यस्य सौख्यायनेत्यन्वयः ॥४८॥ काश्याम्वर्तनप्रकार-माह जितेन्द्रियत्वमिति ॥ ४९—५० ॥ शास्त्रयुक्त्या वक्ष्यमाणया ॥ ५० ॥ शास्त्रयुक्तिम्पृच्छति नारद उवाच नारायणेति ॥ ५१—५३ ॥ यत्किञ्चिद्रोग-ग्रस्ता औषधादिनाऽपि नीरोगा दृश्यन्ते संसाररोगस्य तु न काशीम्विनौषधमस्तीति-भावः ॥ ५४ ॥ इत आरभ्य शास्त्रयुक्तिमाहाऽध्यायसमाप्तिपर्यन्तं सहस्रकार्याणीति यैः श्रुतैर्गुणैः ॥ ५५ ॥ स्थितिप्रकारम्वासप्रकारम् ॥ ५६ ॥ किञ्चित्किञ्चित्पूर्वा-

तेष्वेव कश्चिद् दृढनिश्चयो भवेद्यः सम्वसेत्सर्वविषम्विहाय।
विषम्प्रपीतं सकृदत्र मारकं गर्भप्रदा विषयाः पापरूपाः ॥ ५९ ॥
ते किम्ममानन्दवने प्रयुक्ताः सुखम्प्रयच्छन्ति सुदुर्भरा यतः।
अतः कामः पापकर्मा वराकः कथं सुखायालमदीर्घसत्त्वः ॥ ६० ॥
क्रोधः पुनः क्रूरकर्मा कदर्य्यः सुखप्रदः कथमात्मन्यहन्ता।
लोभोदैन्यन्नत्यजेत्काऽपि लोके तृष्णा भार्या सङ्गतः साधु निन्द्यः ॥६१
तस्मादेतैर्विघ्नरूपैर्नृशंसैः संसेव्यन्ते काशिसौख्यप्रदानैः।
काश्यां यदानन्दमयं महत्सुखं क्षुद्रं कथं कामयेत्काशिवासी ॥६२॥
गङ्गां विहायाशुचिगर्तपापो धिक्धिक्कृतः साधुजनैर्महात्मा।
भवत्यवश्यं सुकृतैर्विहीनो मृतः स चेत्काशिकायां पिशाचः ॥६३॥
कामादीनां सेवया शास्त्रभङ्गः सच्छास्त्राणां सेवयानन्दसन्धः।
तस्मान्मयोक्तं श्रवणं पुरस्तात्पुरस्कृतं साधयेन्मोक्षमार्गम् ॥ ६४ ॥
ये वसन्ति सततम्ममाऽऽलये शुद्धभावनिरतास्तपोमयाः।
ब्रह्मरूपममलं हि काशिका चाऽशयेत्सुखकरं न चान्यथा ॥ ६५ ॥

पेक्षयान्नूनम् ॥ ५८ ॥ सर्वविषं सर्वेषां मारकम्विषम्विषयरूपं सकृदेव मारकम्विषम्भवति विषयास्तु गर्भदानेन जन्मदानेन पुनः पुनर्मारका इत्यर्थः ॥ ५९—६० ॥ क्रोधाद्यभावो द्वितीया शास्त्रयुक्तिः कथमिति लोभदैन्यादिकं यो न त्यजेदथ च तृष्णारूपभार्यायां यः संगत आसक्त एतादृशो यः साधुर्निन्द्यस्तस्य क्रोधोऽहन्ता च कथं सुखप्रदः सुखाय स्यादित्यन्वयः ॥ ६१ ॥ तस्मादेतैरिति एतैः कामादिभिः विघ्नरूपैर्लोकाः काश्यां सौख्यप्रदानैः फलैः संसेव्यन्ते मोह्यन्त इत्यन्वयः। महत्सुखमिति। अतो हेतोः काश्यां महत्सुखं यत्तद्धित्वेति शेषः क्षुद्रम्विषयसुखम् ॥ ६२ ॥ तत्र दृष्टान्तमाह गङ्गां विहायेति महात्मा यथा तथेति शेषः ॥६३—६४॥ तानशयेदित्यर्थः। अश भोजने इत्यस्यरूपम् ॥ ६५ ॥

कोटिजन्मकृतपुण्यभारभृत् काशिकां समनुविश्य निर्मलः।
जायते विगतभारजीवनः शान्तिमाप्य परशान्तिभाजनम् ॥६६॥

एकेन जन्मना काश्यां निर्वाणं समवाप्यते। अतः परं कः सुगमः उपायः साधनैर्विना

दृष्टा यैर्दूरतः काशी ते पुण्याः पापशत्रवः।
स्पृष्टा यैस्तेऽपि च ततः श्रेष्ठा मोक्षैकभाजनम् ॥ ६८ ॥

एकरात्रं स्थिता ये तु पुण्यसम्भारसन्ततिः। तेषाम्प्रवर्धते नित्यं माससम्वत्सरक्रमैः॥
उत्तरोत्तरमायाति वृद्धिं धर्मैर्यथाकृतैः। मनो यत्र निषिक्तं हि रतिस्तत्र करोति हि ॥७०
मनसाऽऽशु विचार्याशु सारं सारगसम्मतः। महासारतरां काशीं न त्यजेत्सारकामुकः
अतो मनः काशिकायां लग्नम्मोक्षम्प्रदर्शयेत्। अन्यत्र लग्नं सुदृढं दुःखमूलं प्रदर्शयेत्
शास्त्रयुक्तिरियम्प्रोक्ता मुमुक्षूणां सुखप्रदा। न शास्त्रपरदृष्टीनां ज्ञानम्भवति शाश्वतम्
गुरुशास्त्रपरो मार्गः साध्यः साधकपुङ्गवैः। अशास्त्रपरबुद्धीनां नविचारः कथञ्चन

परशान्तिर्मोक्षस्तस्य भाजनं पात्रं या शान्तिस्ताम्प्राप्य जायते इत्यन्वयः॥ ६६——७० ॥ सारगाः सारगामिनस्तत्सम्मत इत्यर्थः ॥ ७१—७२ ॥ एतदपेक्षयाऽन्यो मोक्षसाधकज्ञानसाधकः सुलभ उपायः कोऽस्ति नैवास्तीत्यर्थ इति नारदम्प्रति नारायणोक्तिः शास्त्रयुक्तिमुपसंहरति। शास्त्रयुक्तिरियमिति ॥ ७३ ॥ कथासारांशमाह गुरुशास्त्रेति। अत्र षष्ठाध्याये सूतर्षिसम्वादस्तदन्तर्गतः कपिलसिद्धसम्वादस्तदन्तर्गतो नारायणनारदसम्वादस्तस्मिन्सम्वादे मोक्षस्य मूलं यज्ज्ञानं तस्य साधनानि शमदमादियमनियमाद्यष्टाङ्गयोग सहितेश्वरप्रणिधानान्तानि श्रुतौ विहितानि तानि च सत्ययुगादिष्वपि कैश्चिदेव कर्तुं शक्यन्ते न सर्वैः कृतान्यपि च कस्यचित्सिद्धिम्प्रयच्छन्ति न तु सर्वस्येति ज्ञानस्यात्यन्तन्दौर्लभ्यं प्रसाध्यतान्येवं साधनानि काश्यां यत्किञ्चित्कृतान्यपि शीघ्रमवश्यमेव पराशक्तेः काश्याः प्रभावाद्विश्वनाथोपदेशेन ज्ञानफलं प्रयच्छन्ति ततोऽनायासेन मोक्षो भवति तस्मादवश्यम्पराशक्तिः काशी सदाचारसम्पन्नैराराध्येत्युक्तमिति बोध्यम् ॥ ७४ ॥

इति सम्यक् समाख्यातं मयाऽऽशु शुभदम्मुने ।
अत्र निश्चयवान् भूयान्निश्चयः फलदायकः ॥ ७५ ॥

कपिल उवाच

इति नारायणमुखाच्छ्रुत्वा कमलजोद्भव ।
रणयन्महतीं गायन् जगाम किल काशिकाम् ॥ ७६ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते काशीरहस्ये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुवन्धाभिधायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

काश्यां कृताऽनां पापानांम्मोक्षोपायः

कपिल उवाच

एवं सिद्धाः काशिकायां वसेद्यः सर्वैर्धर्मैः संयुतः सोऽतिबन्धः ।
तस्माद्धर्माः सततं सिद्धभूमौ संसेव्याः स्युः पातकन्नाल्पमत्र ॥ १ ॥
ये ये धर्मा मानवैः सम्प्रयुक्ताः काश्यां ते तान्मोक्षसिद्धिं नयन्ति ।
तस्मात्सिद्धाः साधयेदात्मकार्यं सद्भिः शास्त्रश्रद्धया त्यागयोगैः ॥ २ ॥
काश्यां कृतानां पापानां पुण्यानाञ्च समृद्धयः । भवन्ति सततन्नूनं सु क्षेत्रेषूपबीजवत्

सिद्धा ऊचुः

देवदेवारविन्दाक्ष ! सांख्ययोगप्रवर्तक ! । कथम्मुच्येत मनुजः काश्यामेव कृतैरघैः ॥४
मोक्षमाप्नोति च कथं कथम्वा जीवने सुखम् ।
आनन्दकानने ह्यस्मिन्कथमानन्दभाग्भवेत् ॥ ५ ॥

अथाऽत्र सप्तमाध्याये काशीवासिनाम्प्रायश्चित्तम्वक्तुकामः नारायणनारदसम्वादं समाप्य स्वयमेव कपिल आह ।

कपिल उवाच । एवं सिद्धा इति । पातकमिति न्यूनाधिकधर्मजन्यम् ॥ १ ॥ काश्यां कृतानाम्पुण्यानां यथाऽऽनन्त्यन्तथा पापानामपि भवति तस्मात्काश्याम्पापन्नकर्तव्यमित्याह काश्यां कृतानामिति ॥ ३ ॥ प्रश्नबीजमुपलभ्य सिद्धा ऊचुः देवदेवेति। कृतैरघैरिति सत्कर्मनिरतस्याऽपि पापसम्भवादत एव बृहदारण्यके "द्वया ह वै प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" इति ग्रन्थेनाऽयमेवाऽर्थो दर्शित इति भावः ॥४॥ तथा च कृते पापे तस्याऽऽनन्त्यसम्भवात्कथं मोक्षो भविष्यतीत्याह मोक्षमाप्नोतीति॥५॥

श्रीकपिल उवाच

इदमेव पुरा पृष्टः पार्वत्या भगवान्भवः । पापनाशं धर्मवृद्धिमविलम्बेन मोचनम् ॥६॥

भवान्युवाच

दीनानाथैकशरण ! देवदेव ! दयानिधे ! । पाहि लोकान्भवादस्मात्सूक्तैः पापप्रणाशकैः

आगत्य शीघ्रं ये प्राप्ताः काशीं तीर्णाः क्षणेन ते ।
ये तु स्थित्वा सुकृतिनस्तेऽपि शीघ्रं परङ्गताः ॥ ८ ॥

पापं कृत्वा मृता ये च तेषाम्मुक्तिः कथम्भवेत् । कृपया वद देवेश ! प्रायश्चित्तमशेषतः

श्रीमहादेव उवाच

शृणु पार्वति ! वक्ष्यामि यद्गोप्यम्मम सर्वतः ।
पुण्यवद्भिः पापवद्भिः कर्तव्यं काशिवासिभिः ॥१०॥

न कोऽपि दृष्टो मनुजो विना पापं शरीरभाक् । कुर्वन्नपि महापुण्यं पापं संस्कारतश्चरेत्
देहः स्वकार्यङ्कुरुते इन्द्रियाणि स्वकर्मसु । प्रवर्तन्ते बलादेव मनः केन निवार्यते ॥१२॥

प्रायश्चित्तत्रयं सूक्ष्ममनुभूतं महात्मभिः ।
ब्रह्महत्यादिपापानामन्यपापकृतान्नु किम् ॥ १३ ॥

काश्यामपि वसेज्जन्तुर्यदि पापकृदत्र हि । प्रायश्चित्तत्रयं कृत्वा सद्यो मुच्येत बन्धनात्

देव्युवाच

आश्चर्यमेतद्भगवंस्त्वयानिगदितम्प्रभो ! । वाराणस्यां कृतैः पापैर्मुच्यते यन्नरः सकृत् ।
कृपया तत्त्रयं ब्रूहि कलावपि हि निष्कृतिः । कलौ कलुषचित्तानां क धर्मः क परम्पदम्

अत्रार्थे कपिलो महादेव पार्वतीसम्वादमुत्थापयति कपिल उवाच । इदमेवेति ॥६—७॥ आगत्येति अत्राऽऽगमनाव्यहितोत्तरमेव ये काशीं सच्चिदानन्दरूपिणीं देहं त्यक्त्वा प्राप्तास्ते तु तीर्णा मुक्ता इत्यर्थः । सुकृतिनः पापगन्धरहिताः ॥ ८—११ ॥ मनः केनेति बलात्कारेण देहेन्द्रियनिग्रहे कृतेऽपि मनोनिग्रहो नैव सम्भवति तथा च मानसिकम्पापं सर्वस्यापि भवतीति भावः ॥१२॥ ब्रह्महत्यादि पापं येषान्तेषामित्यर्थः ॥ १३—१६ ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु लोकहिते देवि ! लोकानामुद्धृतिम्पराम् ।
प्रायश्चित्तत्रयम्वच्मि कार्श्येनः सन्दिधिक्षताम् ॥ १७ ॥
वापीकूपतड़ागादिजीर्णोद्धारकृतान्नृणाम् ।
प्रभवेन्न महत्पापं काश्यामपि कृतं हि यत् ॥ १८ ॥

आपोनारा इतिप्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनन्तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः
तेनेश्वरेण हरिणा कृतम्पापप्रणाशनम् । यत्र यत्र जलं काश्यामुद्धरेत्सुकृती नरः ॥२०
तत्र तत्र मुदायुक्ताः पितरः पर्युपासते । काश्यां रुद्रमयाः सर्वे जन्तवः श्रुतिनोदिताः
ते पिबन्ति जलं यत्र तडागादौ तृषार्दिताः । तत्पुण्यं न मया वक्तुं शक्यम्वर्षशतैरपि

आसीद्धर्मपथो नाम वणिक्कश्चित्सुधार्मिकः ।
कुलस्तम्भस्य वायव्ये तेन खातः प्रखानितः ॥ २३ ॥

तत्र गावो मनुष्याश्च पिबन्त्यम्भस्तृषार्दिताः । प्रत्यहं तस्य सुकृतं वर्धते चन्द्रमा यथा
सूक्ष्मधर्मो मनुष्याणां दुर्लभो विषयात्मनाम् । कालेन महता तत्र दुर्भिक्षकरपीडितः॥

दरिद्रतामवापोच्चैर्ब्राह्मर्णकृदभूत्ततः ।
ब्राह्मणो न धृतः क्वाऽपि स्वधनार्थंऋणी वणिक् ॥ २६ ॥

मद्धनं देहि दुष्टेति परिक्षिप्तः पुनः पुनः । ब्राह्मणेन वणिक् धर्मपथो दैन्यमुपागतः ॥

इदानीं न धनङ्किञ्चिदस्ति ब्राह्मणसत्तम ! ॥ २८ ॥

ब्राह्मण उवाच

शतत्रयपरीमाणं निष्कानां हेम देहि तत् ।
नोचेत्तडागो मन्नाम्ना प्रथितिं यात्वतः परम् ॥ २६ ॥

शृणुलोकेति । काशीसम्भवमेनः पापं दग्धुमिच्छताम् ॥ १७ ॥ कृतं जलमितिशेषः ॥ १८—१६ ॥ अतो हेतोर्यत्रयत्रेति ॥ २०—२५ ॥

ब्रह्मर्णेति ब्राह्मणस्य ऋणं गृहीतवानित्यर्थः ॥ २६—२८ ॥ निष्कानामिति

त्वत्कारितो बहुधनैर्गम्भीरो निर्मलोदकः। विमुक्तो भव दत्वाऽऽशु तडागं लोकसन्निधौ

धर्मपथ उवाच

अवश्यम्मोचयतु मामृणाच्छीघ्रम्भवान्प्रभो। ऋणयुक्ताम्रियन्ते चेत्पच्यन्ते नरकार्णवे॥
जनाश्चौरजनस्यापि गृहीत्वा धनमत्र तु। पच्यन्ते नरके घोरे ऋणयुक्ता नराधमाः॥
किम्पुनर्ब्राह्मस्याणुमात्रं हृत्वा मृतो हि यः। ब्राह्मणा यद्वदिष्यन्ति तत्कर्ताऽस्मि न संशयः

स तु वार्धुषिको गत्वा मेलयित्वा द्विजान्बहून्।
आनयामास देवेशि! यत्र धर्मपथो वणिक्॥ ३४॥

द्विजैः पृष्टौ वणिग्विप्रौ कथ्यताह्वानकारणम्। यदर्थम्वयमाहूतास्तच्छ्रुत्वोपदिशामहे॥

धर्मपथ उवाच

नरके परिपच्यन्ते ऋणयुक्ता नराधमाः। अहं ऋणी ब्राह्मणस्य हेमनिष्कशतत्रयम्॥
गृहीतं व्यवहारार्थं दैवान्नष्टं शनैः शनैः। असौ विनिमयेनाऽऽशु सुवर्णस्य तडागजम्

सुकृतं यद्भवत्येव विचार्येदं यथोच्यताम्।
यथाकथञ्चिन्मुक्तः स्यान्तथा शीघ्रम्विधीयताम्॥ ३८॥

"निष्कमस्त्री साष्टहेमशते दीनावकर्षयो" इति मेदिनीकोशस्तथा "वराटकानां दशकद्वयं यत्साकाकिणीताश्च पणश्चतस्रः। ते षोडशद्रम्म इहावगम्यो द्रम्मैस्तथा षोडशभिस्तु निष्कः" इति, तथा च तादृश निष्कस्य यच्छतत्रयं तत्परिमाणं यस्य हेम्न-स्तन्मे त्वया गृहीतन्देहीत्यर्थः॥ २९॥ तव देयं स्वल्पं तडागमौल्यम्बहु तथा च तडागः कथम्मयादेयोऽतः पुण्यमेव देयमितिचेत्कियत्पुण्यन्देयमित्यत्राऽर्थे यद्ब्राह्मणा वदिष्यन्ति तत्करिष्यामीत्याह ब्राह्मणायद्वदिष्यन्तीति॥ ३३॥ वार्धुषिको वृद्ध्या चरति स ब्राह्मणः॥ ३४—३६॥ असौ विनिमयेनेति। असौ ब्राह्मणो यत्परिमितमस्य सुवर्णम्भवति तस्य विनिमयेन यत्पुण्यम्भवति तदस्मात्तडागाद्याचते अतस्तडागजं सुकृतं कतिदिनैः पूर्णम्भवति तदिदम्विचार्योच्यतामित्यर्थः॥ ३७—३८॥

ब्राह्मणा ऊचुः

साधूक्तं धर्मपथ ! ते ऋणभीत्या महामते ! । सुविचारितमस्माभिर्वक्तव्यं सुदृढं खलु॥

अस्मानाहूय यो धृष्टो न श्रोष्यति वचो हितम् ।
शिरस्तस्य विदीर्णं स्यात्पतिष्यति न संशयः ॥ ४० ॥

ब्राह्मण उवाच

ब्राह्मणानाम्वचो ग्राह्यम्मया सर्वात्मना हितम् ।
अत्र प्रमाणम्भगवान्विश्वेशः पार्वतीपतिः ! ॥ ४१ ॥

धर्मपथ उवाच

यद्भूमिदेववर्वक्तव्यं तन्मया ग्राह्यमेव हि । अत्र प्रमाणम्भगवान्विश्वेशः पार्वतीपतिः।

विप्रा ऊचुः

आनयन्तु मनुष्या ये समर्था महतीं शिलाम् ।
इति श्रुत्वा सुवलिभिर्वणिक् धर्मपथः क्षणात् ॥ ४३ ॥
आनयामास विपुलां दृष्ट्वोचुर्ब्राह्मणास्तु तम् ।
निक्षिप्यतान्तडागेऽत्र निमग्नाऽस्तु ऋणावधि ॥ ४४ ॥

यावन्मनुष्यैः पशुभिः पक्षिभिश्चापि तज्जलम् । पीतन्तद्धनपर्याप्तमुन्मज्जतु ततस्त्वियम्

इत्युक्त्वा सा शिला विप्रैः पातिता तज्जले शुभे ।
चक्रुः शिवकथाम्पुण्यां काशिवासिजनैर्वृताः ॥ ४६ ॥
क्षणान्तरे गौस्तृषिता सवत्सा समुपागता ।
तया पीतञ्जलन्तृप्ता साऽभवच्छृणु पार्वति ! ॥ ४७ ॥
सा शिला ऋषिमुख्यानां प्रभावात् जलमध्यतः ।
जलोपर्यभवच्छीघ्रम्पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥ ४८ ॥

साधूक्तमिति ॥ ३९ ॥ ब्राह्मणस्तुभवद्वाक्यं करिष्यामीत्यत्रसपथङ्करोति ब्राह्मणानामिति ॥ ४१ ॥ विपुलां शिलामितिशेषः ॥ ४४ ॥ विपुलाशिला ऋणपरिहारावधि पुरोवर्तिनि जले निमग्नास्तु मनुष्यादिभिर्जले पीते तत्पुण्येन ऋणपरिहारे

यथातुम्बीफलन्तुच्छं गच्छतीतस्ततस्ततः। तथा लघुतरा जाता पश्य धर्मस्य गौरवम्॥

सर्वलोकास्तुतद्दृष्ट्वा शशंसुर्मुनिपुङ्गवान्।

अपूर्वं दर्शितम्पुण्यं मुनिभिः सुमहात्मभिः॥ ५०॥

अहो! न दृष्टमस्माभिः कदाचिन्महदद्भुतम्।

पुण्यं सूक्ष्मं न जानन्ति सर्वलोकाः कथञ्चन॥ ५१॥

महादेव उवाच

काश्यां किञ्चिज्जलं यैस्तु सम्पादितमनामयम्।

न तेषाम्पापलेशोऽपि काश्यामपि कृतैः प्रिये!॥ ५२॥

परन्तु सावधानैर्हि कर्तव्यः सुजलाशयः। अपराधो न भवति महापापकृदत्र यः॥

देव्युवाच

जलाशये कृते देव! कारिते वा महात्मभिः। कोऽपराधो भवेदत्र तन्ममाचक्ष्व शङ्कर!

श्रीमहादेव उवाच

काश्यां तिले तिले लिङ्गं काश्यां तीर्थम्पदे पदे।

खननं काशिभूमेस्तु दुर्घटम्भाति पार्वति॥ ५५॥

जीर्णोद्धारं च ये कुर्युर्निःसन्देहा महाधियः। स्वयं कृतं यद् वाप्यादितदनन्तफलप्रदम्॥

ततोऽप्यधिकधर्मादिजनकं जीर्णमुद्धृतम्। न तत्र लिङ्गपीडा स्यान्न तीर्थखननम्भवेत्

अतो जीर्णोद्धृतिः कार्या निरवद्या महाफला।

जीर्णोद्धारम्प्रकुर्वन्ति तेषाम्विश्वेश्वरः शिवः॥ ५८॥

काश्यां कृतानाम्पापानां मूलोद्धारं करोति हि॥ ५९॥

यो बुद्धिपूर्वम्प्रकरोति पापं न तस्य काश्यां मरणम्प्रसिध्यति।

मृतोऽपि निर्वाणसुखन्न चाऽऽप्नुयाद्यत्तपिशाचत्वमवाप्नुयान्नरः॥६०॥

जाते तत इयं शिलोन्ममज्जत्वित्यर्थः॥ ४५–५८॥ मूलोद्धारं करोतीति समूल पापनाशंकरोतीत्यर्थः ॥ ५९॥ इदं स्वबुद्धिपूर्वकृतपातकानाम्प्रायश्चित्तं ये तु.

देव्युवाच

पिशाचत्वस्य मर्यादां ब्रूहि पापस्य चानघ ! । यातनायाश्च यद्रूपं बुद्धिपूर्वकृतस्य च ॥

श्रीभगवानुवाच

भवानि ! भवभूतानां नृणान्निस्तारकारणम् । पृष्टं पृथक् प्रवक्ष्यामि भीतानामभयप्रदम्

काश्यामागत्य सततं श्रोतव्या काशिसत्कथा ।
न विना श्रवणम्पुण्यं पापम्वा वेत्ति कश्चन ॥ ६३ ॥

विदित्वा यतते भूयो निस्ताराय पराय च । सर्वलोकेषु वेदेषु विचारः श्रवणाद्भवेत् ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु सर्वशास्त्रेषु पार्वति ! ।
काशी ब्रह्मेति विख्यातं तद्ब्रह्म प्राप्यतेऽत्र हि ॥ ६५ ॥
तस्मात्काशीगुणान्सर्वे तत्र तत्र वदन्ति हि ।
श्रुत्वाऽपि पापनिरतास्तान् हन्यात्कालभैरवः ॥ ६६ ॥

सततं निर्दयो भूत्वा यावत्पापं समाप्यते । महापातकसंयुक्ता स्त्रिंशदब्दसहस्रकम् ॥

प्रत्येकम्प्राप्नुवन्त्येव यातनां कालभैरवीम् ॥

क्षुद्राणि पापानि तु सङ्ग्रहेण भवन्त्यवश्यन्तु महान्ति तानि ।
यथा हिरण्यं कशयोपसञ्चितं निष्कादि वृद्धिम्भजते भवानि ! ॥ ६६ ॥

बुद्धिकृतम्पातकं कुर्वन्ति पश्चात्तापञ्च न कुर्वन्ति तेषां नैतत्प्रायश्चित्तं का तर्हि तेषा-ङ्गतिरितिचेत्तत्राऽऽह यो बुद्धिपूर्वमिति तस्य काश्यां मरणन्नैव सम्भवति। ननु बुद्ध्या महापातककर्तारः काश्यां मृता अपि दृश्यन्ते इति चेत्प्राप्नुवन्तु मरणन्तज्जन्यं फलं निर्वाणसुखं नैव भवतीत्याह मृतोऽपीति । तर्हि स क गच्छतीतिचेत्पिशाचत्वं गच्छ-तीत्याह यतः पिशाचत्वमिति ॥ ६०-६६ ॥ प्रत्येकमिति । प्रत्येकपातकस्य त्रिंशदब्द-सहस्रकं यातनेत्यर्थः । शिवरहस्ये सप्तमांशे तु प्रत्येकपातकस्य द्वात्रिंशत्कल्पपर्यन्तं यातनोक्ता ॥ ६८॥ क्षुद्राणीति । इयं च या त्रिंशदब्दसहस्रकं यातनां सा क्षुद्रपात-कानां भवतीति । ननु लघुगुरुपातकानां कथं यातनासाम्यमितिचेतत्राऽऽह यथा

सर्वो हि लोकः कुरुते प्रवृत्तिम्प्रवृत्तिभाजाङ्खलु पातकं स्यात् ।
अतः कियज्जीवितमाकलय्य निवृत्तिरङ्गीक्रियते मुमुक्षुभिः ॥ ७० ॥
वाक्पातकम्मानसिकन्तथैव प्रवृत्तिमार्गे निरतस्य वश्यम् (?) ।
भवत्यसौ यद्यपि सावधानस्तथापि संस्कारवशादुपैति ॥ ७१ ॥
अतः प्रवृत्तिम्परिहाय सेव्या वाराणसी साधुजनैः सुखार्थिभिः ।
नो चेद्यथेष्टाचरणेन यत्फलं तद्भोगकाले प्रकटीभविष्यति ॥ ७२ ॥
लौकिक्यो यातनाः कश्चित्सोढुं शक्या न पार्वति ! ।
किम्पुनः कालराजेन कृतास्तीव्राः सुदुःसहाः ॥ ७३ ॥

नित्यं कृतानां क्षुद्राणां पापानान्नित्यकर्मणा ।
नाशः सम्पाद्यते सद्भिर्गङ्गास्नानादिना नृभिः ॥ ७४ ॥

त्रिंशद्वर्षसहस्राणि त्रिंशद्वर्षशतानि च । पच्यते दुःखसंघोघैः कालराजेन सादरम् ॥

अतः श्रुत्वा तडागादि जीर्णोद्धारम्प्रकल्पयेत् ।
क्षेत्रे कृतानाम्पापानां प्रायश्चित्तम्मतम्मम ॥ ७६ ॥

असावधाना हि जना दुरात्मनः कुर्वन्ति पापानि किमत्रचित्रम् ।
पठन्ति जानन्ति वदन्ति नित्यशः सुपण्डितास्तेपि विषाग्निमध्यगाः ॥७७
भवन्ति दुःखान्यनुभूय पश्चात्तापेन पापेन च दह्यमानाः ।
पुनः पुनर्विषयासक्तचित्ताः शास्त्रं गुरुन्देवमथो न काशीम् ॥ ७८ ॥

हिरण्यमिति कशयापाषाणेनोपसङ्चितं परीक्षितं यद्धिरण्यं तत्परीक्षानुसारेण यथा द्रव्यवृद्धिं लभते तथा मन्दतीव्रतीव्रतरयातनानामपि भेदोऽनुमातव्यो लघु गुरुपातकानुरोधेनेत्यर्थः ॥ ६९ ॥ कुरुते प्रवृत्तिमिति "नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" इति गीतान्यायात् ॥ ७० ॥ वश्यमवश्यमित्यर्थः ॥ ७१—७३ ॥ गङ्गास्नानादिना नाशो नित्यं कृतानां क्षुद्राणामबुद्धिपूर्वकाणामित्यर्थः । बुद्धिपूर्वकाणान्तु प्रायश्चित्तादिना नाश इतिभावः ॥७४॥ प्रायश्चित्ताकरणे आह त्रिंशद्वर्षेति ॥ ७५—७६ ॥ विषसदृशं दुःसहं यत्पापं स एवाग्निस्तन्मध्यगास्तत्कर्तारो भवन्ती-

आश्रित्य भूयो विषयेष्वेव बुद्धिं कुर्वन्ति सत्यान्न तु काशिकायाम् ॥७९॥
व्यवहारोऽपि तैस्त्यक्तः प्रसिद्धः सर्वजन्तुषु। मृत्तिकापरिवर्तेन हिरण्यम्प्राप्यते न हि

अहो! काश्याः कौतुकन्तु पश्य पार्वति! सर्वदा।
गृहीत्वा नारकन्देहं प्रददात्यमृतम्वपुः ॥ ८१ ॥
श्रुत्वाऽध्यायमिमम्पुण्यं न दुःखैरभिभूयते।
सुखवासश्च भवति काश्यां सर्वजनप्रियः ॥ ८२ ॥

इति श्री ब्रह्मवैवर्त्ते काशीरहस्ये सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

त्युत्तरेणाऽन्वयः ॥ ७७—७९ ॥ अतएव तैः सह साधुभिर्व्यवहारोऽपि त्यक्त इत्यन्वयः मृत्तिकायाः परिवर्तेनेतस्ततः करणेन हिरण्यं न प्राप्यते तथा व्यवहारेण न मोक्षः सिद्धो भवतीत्यर्थः ॥ ८० ॥ काशीं स्तौति अहो काश्या इति नारकन्देहं गृह्णाति अथामृतन्देहम्ब्रह्मरूपन्ददातीत्यहो काश्याः पराशक्तेः कौतुकमिति भावः ॥ ८१—८२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

काश्यां धर्मविरहितस्य प्रायश्चित्तवर्णनम्

श्रीदेव्युवाच

देव ! देव ! महादेव ! भक्तानामभयप्रद ! ।
काशीवासः सुगहनः पापिनां धनलोभिनाम् ॥ १ ॥
विषयासक्तमनसां न सुखाय कदाचन। सुखाय सर्वलोकानां प्रवृत्तिः प्रथिता खलु ॥२
विषयैः परिपुष्टानां जीवानां नान्यथा भवेत् । प्रायश्चित्तान्तरन्देव वदस्व यदि मन्यसे

अथ प्रायश्चित्तत्रयमध्ये एकं प्रायश्चित्तं श्रुत्वा द्वितीयम्प्रायश्चित्तं श्रोतुम्पृच्छति श्रीदेव्युवाच देवदेवेति ॥ १ ॥ न सुखायेति अन्ते यातनासम्भवात् सुखाय सांसारिकसुखाय ॥ २ ॥ तथा चाऽवश्यं संसारे वर्त्तमानानां सदाचारिणामपि पातकमपरिहार्यमेवेति द्वितीयम्प्रायश्चित्तं द्रव्याभावेऽपि कर्त्तुं योग्यम्वदेत्याह प्रायश्चित्तान्तरमिति । अत्र प्रायश्चित्तविषये किञ्चिदुच्यते इह स्मृत्याद्यविहितास्तदनिषिद्धाश्चधर्माः केचिद्विधीयन्ते निषिध्यन्ते च यथा विश्वेश्वरपूजनादयो गङ्गाया मस्नात्वा भोजनादयश्च, केचित्तु स्मृतितः साधारण्येन विहिता निषिद्धाश्च पुनरपि काश्याम्विधीयन्ते निषिध्यन्ते च यथा सत्यवचनादयो द्वेषादयश्च तत्राऽद्यातिक्रमे विशेषविहितमेवान्तर्गृ ह्यात्रादि प्रायश्चित्तं कामाकामसकृदसकृच्छक्त्यशक्यादितारतम्येन वा विहितमविहितं(?) यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं भवेदित्यादिस्मृत्युक्तरीत्या एक द्विगुणादि ज्ञेयम् उत्तरेषान्तु यदि तीर्थमात्रातिक्रमस्तदा विधिनिषेधयोः पुनः श्रवणबलाद्देशविशेषेण प्रत्यवायाधिक्यावगतेरेनसि गुरुणि गुरूणि

प्रायश्चित्तविहीनस्य यातना जायते ध्रुवम्।
बिभेमि दीनान् मनुजान् दृष्ट्वा शास्त्रपराङ्मुखान् ॥४॥
तानप्युद्धर देवेश ! शठान् स्वेच्छापरिग्रहान् ॥ ५ ॥

श्रीमहादेव उवाच

साधु पृष्टन्त्वया देवि ! क्षेत्रपापकृतान्नृणाम्।
निस्तारः स्याद्यथा मंक्षु प्रायश्चित्तेन येन हि ॥ ६ ॥

लघुनि लघूनीति गौतमवचनात्प्रायश्चित्तगौरवेण भाव्यम् तच्चैवं यदि तीर्थमात्रं तद्विशेषम्वा प्रकृत्य किञ्चिद्विशेषतो विहितम्प्रायश्चित्तं तदा तच्च स्मार्त्तञ्चेति समुच्चयः तत्रापि स्मार्त्तमादौ पश्चाद्विशेषविहितमागन्तूनामन्ते निवेश इति न्यायात्। यत्र तु विशेषतो न श्रुतं तत्र स्मार्त्तमेव तीर्थतारतम्येन सपादं सार्द्धं द्विगुणम्वेत्यादि योज्यम्। काश्यान्तु पुनर्विधिनिषेधश्रवणात्तीर्थान्तरतोऽपि पातकगौरवावगमात्ततोऽपि प्रायश्चित्तगौरवम्। तच्चेत्थं कामाकामादिभेदेन स्मार्तम्विशेषश्रुतं चान्तर्गृहयात्रादिपूर्ववत्क्रमेण द्वयमप्येकद्विगुणादिसमुच्चितं कार्यमिति। यत्तु मण्डपाख्याने सकृत्पञ्चक्रोशयात्रामात्रेणानेकमहापातकनाशप्रतिपादनन्तदर्थवादमात्रमित्यङ्गीकार्यम्; असङ्कल्पितया यात्रया असिसङ्गमादेव कृतया परिपूर्णतारहितयाऽल्प पापनाशस्याऽप्यसंभवात् गुरुतरदुरितनाशेऽपि वैशेषिकस्यैव शक्त्यतिशयः कल्प्यतां शब्दप्रमाणकत्वान्नाऽस्ति शब्दस्यातिभार इति न्यायादिति चेत्सत्यं कल्पत एव। अतएव तीर्थनिषेधात्काशीनिषेधाच्च या दुरिते गुरुता सा वैशेषिकेणैव नश्यति न तु तत्राऽपरम्प्रायश्चित्तम्भूयः प्रत्यवायानिवृत्तेः सर्वत्राभ्युपगमात्। सुरापाने तदाघ्रातादिवत्किन्तु स्मार्तनिषेधकृतगौरवनिवर्तको न वैशेषिकस्यातिशयः; भूयोऽल्पभावस्य विपरीतत्वात् यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनादिति न्यायात् उक्तबाधकाच्चेत्यलम् तत्सिद्धं स्मृतिनिषिद्धस्य काश्यां पुनर्निषेधे तदनुष्ठाने स्मार्तवैशेषिकयोः प्रायश्चित्तयोः समुच्चय इति ॥३—५ श्रीमहादेव उवाच साधुपृष्टमिति।६

प्रायश्चित विहीनानां यातना बहुदुःखदा । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रायश्चित्तं समाचरेत्
जैगीषव्यो मुनिश्रेष्ठस्तपस्वी मत्परायणः । तेन पृष्टोऽहमागत्य शिष्यार्थन्तद्दयालुना

स्तुत्वा मां वैदिकैः सूक्तैः स्मार्तैः पौराणिकैः शुभैः ।
प्रसन्नम्मास्मुनिर्ज्ञात्वा वचनञ्चेदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

किञ्चिद्विज्ञप्तुकामोऽहं देव ! देव ! दयानिधे ! । आज्ञया प्रवदाम्यज्ञः सर्वज्ञस्य तवाग्रतः

मया चोक्तो वदस्वेति त्वम्मे भक्तः प्रियश्शुचिः ।
अदेयन्तव नाऽस्त्यद्य निर्वाणाद्यपि याच्यताम् ॥ ११ ॥

यस्तु मां सर्वभावेन भजते कोऽपि मानवः । न तस्याऽदेयमस्तीह त्रैलोक्ये सचराचरे

जैगीषव्य उवाच

अयम्ममदुराचारः शिष्यः पापरतः सदा । काश्यां वसन्नपिमदात्कृत्या कृत्यन्न वेत्ति तु
शिक्षितो बहुधाऽस्माभिर्बहुधा ताडितोऽपि हि । परदारपरद्रव्यरतः परधनापहृत् ॥
पिशुनः पापनिरतो वेश्यागृहनिवासकृत् । पितृमातृगुरुद्रोही विप्रमित्रध्रुगेव च ॥१५॥

किम्बहूक्तेन देवेश ! पापनिर्वचनम्मया ।
न शक्यते ह्यस्य कर्त्तुं यद् ब्राह्मणो ह्यसौ ॥ १६ ॥
मया निष्काशितः पापः आश्रमात्स्वात्ततोगतः ।
किञ्चित्किञ्चिच्चेष्टितं हि ज्ञात्वा श्रुत्वाऽपि शिक्षितः ॥ १७ ॥
न करोति यदा किञ्चिच्छिक्षितो निन्दितस्स्वयम् ।
तदा वाग्व्यवहारोऽपि त्यक्तः सर्वात्मना मया ॥ १८॥

बहुदुःखदेति । अनेन बहुपदेन बुद्धिपूर्वककृतपातकानाम्प्रायश्चित्तकरणेऽपि स्वल्पयातना भवत्येवेत्युक्तम् ॥ ७—८ ॥ आज्ञयेति आज्ञाचेत्प्रवदामीत्यर्थः ॥१०—११ ॥ यद्यस्मादसौ ब्राह्मणस्तस्मादस्य पापम्वक्तुं लज्जा जायत इत्यर्थः ॥ १६-१७ ॥ सर्वात्मनामयेति । वाग्व्यवहारत्यागेऽपि तस्य त्यागो न कृत एतादृशो दयावान् गुरुरपेक्षित इति बोधितम् ॥ १८ ॥

मत्सन्निधौ विनयवान्स्वेच्छाचारो बहिः सदा ।
इति पौरमुखाच्छ्रुत्वा चेष्टितन्तस्य दुर्मतेः ॥ १९ ॥
मत्सन्निधानाद् गच्छ त्वं नोचेच्छप्स्यामि दुष्कृत ! ।
बहुधा सर्वलोकेभ्यः श्रुतो (तं) दुर्विनयन्तव ॥ २० ॥
त्यक्तो मया यथेच्छन्त्वं गच्छ वा तिष्ठ वाऽधुना ।
इत्युक्तः स मया शिष्यो लज्जितः पापकृत्तमः ॥ २१ ॥
गन्तुम्मतिं स्वीकृतवान् विहायाऽन्यत्र काशिकाम् ॥ २२ ॥
काशीम्परित्यज्य गतोऽतिदूरं विन्ध्याद्रिकूटं समवाप्य जापम् ।
तपश्चचाराऽऽशु विशुद्धिकारणं वर्षत्रयं पूर्णफलादिभुक्परम् ॥ २३ ॥
ततः प्रयातोऽति विरक्तयोगी गोदावरीम्भीमरथीन्ततोऽपि ।
तत्रापि तप्त्वा सुचिरन्धृतव्रतो न शर्म लेभे सुकृतैकसाध्यम् ॥ २४ ॥
ततः श्रीशैलमासाद्य द्रष्टुं स्वामिनमव्ययम् ।
स्थितमग्रे विभुं स्कन्दं न ददर्श तवाऽऽत्मजम् ॥ २५ ॥
तत्रैव वसतिश्चक्रे तपः शुद्धिञ्चकार सः । काश्यां कृतानाम्पापानां शुद्धये धर्मवृद्धये
एवम्बहुतिथे काले ह्यगस्त्यः कुम्भसम्भवः । काशीविरहदुःखेन विह्वलः समुपागतः ॥
हा ! काशि ! काशि हा ! काशि काशिके काशिकेति च ।
बहुधा व्याकुलो भूत्वा पठन्स्कन्दमुपागतः ॥ २८ ॥
वारम्वारं श्रवणतः काशिनामामृतस्य हि ।
तेन दृष्टः काशिवासी ह्यगस्त्यः स्कन्द एव च ॥ २९ ॥

जापं गायत्र्यादिजापं समवाप्य कृत्वा तपश्चचारेत्यन्वयः ॥ २२ ॥ तथा वर्षत्रयतपसा तस्य किञ्चिच्छुद्धिर्जायतेत्याह अति विरक्तयोगीति ॥ २४ ॥ स्वामिनन्द्रष्टुङ्गत इति शेषः न ददर्श पातकीनां स्कन्ददर्शनयोग्यताभावादितिभावः २५—२६ ॥ काशीनामश्रवणमहिम्ना पश्चात्स्कन्दन्ददर्शेत्याह स्कन्द एव चेति ॥ २९ ॥

नानातपोभिरत्युग्रैर्न मया स्कन्द ईक्षितः ।
काशीनामानलेनाऽऽशु दग्धपापो हि दृष्टवान् ॥ ३० ॥

इतिमामुक्तवान् पूर्वम्पुनः पृष्टो मया त्वयम् । पुनरूचे तपः शुद्धं सम्वादं काशिसम्मतम्

अगस्त्यमागतं ज्ञात्वा स्कन्दः प्रीतमनाभवत् ।
आगच्छाऽऽगच्छ शीघ्रम्मां परिष्वज महामुने ! ॥ ३२ ॥
काशिकाविरहात् त्वन्तु जातो व्याकुलमानसः ।
ज्ञानिनामपि धीराणां योगिनां सुतपस्विनाम् ॥ ३३ ॥
काशीविरहजन्दुःखं बाधते विदुषां सदा ।
जडानां देहगेहादिप्रीतियुक्तमनोधियाम् ॥ ३४ ॥
अन्यप्रदेशवत्काशी भाति नित्यन्दुरात्मनाम् ॥
त्वं काशीवासतत्वज्ञः शङ्करार्चनतत्त्ववित् ॥ ३५ ॥
देवैः स्वकार्यनिरतैः कर्मरूपैर्विवासितः ।
काशीम्पश्यति यः कश्चित्काश्यां वसति यश्च हि ॥ ३६ ॥
काशीं स्मरति यः कश्चित्स पूज्यो मम सर्वदा ।
इत्युक्त्वा पूजितस्तेन स्वामिना मुनिसत्तमः ॥ ३७ ॥
दत्त्वाऽऽचमनपानादि सर्वम्पप्रच्छ कुम्भजम् ॥ ॥३८ ॥

स्कन्द उवाच

वदस्वाऽगस्त्य ! शुद्धात्मन्कंकामङ्करवाम ते । न चास्मद्दर्शनम्प्राप्य शोचितुं त्वमिहार्हसि

अगस्त्य उवाच

जय देव ! महादेवतनयानन्ददायक ! । वाराणसीं प्रापयस्व यदि तुष्टोऽसि षण्मुख !

इति मामुक्तवानिति महादेवम्प्रतिजैगीषव्योक्तिरिति तस्य वाक्यं श्रुत्वा स्कन्दागस्त्ययोः सम्वादः काशीविषयकः कथञ्जात इति मया शिष्यः पृष्ट इत्यर्थः । तदनन्तरं स तयोः सम्वादमुक्तवानित्याह

स्कन्द उवाच

त्वं प्राप्स्यसि महाबुद्धे ! विघ्नान्ते काशिकां शुभाम् ।
तवाऽपि कर्मगहनं काशीं त्यक्त्वाऽत्र तिष्ठसि ॥ ४१ ॥
न ज्ञायते सूक्ष्मतरं हि किञ्चित्कर्माऽस्ति लोकस्य सुदुर्विभाव्यम् ।
योगादियज्ञादितपोभिरुग्रैर्युक्तस्य ते सम्प्रति नास्ति काशी ॥ ४२ ॥
न ज्ञायते कस्य किमस्तिपुण्यं स्वल्पोऽपि काश्यां तनुभृत्सदाऽऽस्ते ।
देवादयोऽपि प्रभवन्ति नैव स्थातुं क्षणं काशिकायां क्व गर्वः ॥ ४३ ॥
विश्वेश ! विश्वेश ! शरण्य शम्भो ! नान्या गतिस्त्वत्पदाब्जम्विहाय ।
अनेकतापार्दितमानसानामस्माकमाकाङ्क्षितदानदक्ष ! ॥ ४४ ॥
त्वया कृतेयं जनतापशान्तये प्रपामृतम्पाययितुं जनानाम् ।
न जातिशीलं सुकृतन्नचाऽपि पृष्ट्वाऽमृतं यच्छसि शङ्कर ! श्रुतौ ॥ ४५ ॥
पुराणशास्त्रश्रुतिधर्मशास्त्रविद्भिर्नृभिर्गदितं दीनसाध्यम् ।
आशामात्रं साधनन्नः कृपालो ! नो वा धर्मः सांख्ययुक्तन्तपो वा ॥४६॥
दीनानहङ्कारविकारहीनान् प्रपाति काशी पतिरादरात्मा ॥ ४७ ॥
दीनानाथैकशरणं क्षेत्रं क्षेत्रज्ञसंयुतम् । प्राप्यते निरहङ्कारैराशाशतविवर्जितैः ॥४८॥

पुनरूचे इति ॥ ३१—४२ ॥ स्वल्पोऽपि नीचोऽपीत्यर्थः क्व गर्वोऽत्र गर्वः कर्तुन्न शक्यत इत्यर्थः ॥ ४३—४४ ॥ त्वया कृतेयमिति । जनस्य तापशान्तये जनानाममृतम्पाययितुं चेयं काशी प्रपेव प्रपा त्वया कृता तत्र यथा प्रपास्वामी जातिशीलं सुकृतञ्च नाऽपि पृष्ट्वा यस्मै कस्मैचिज्जलं यच्छति तथा हे शङ्कर! त्वमपि काशीप्रपास्वामी जनं जात्यादिकं न पृष्ट्वा श्रुतौ कर्णे अमृतन्तारकरूपं यच्छसीति का तव दयालुता वर्णनीयेतिभावः ॥ ४५ ॥ पुराणेति । गदितं साधनन्दीनसाध्यम्भवतीति यत्तदाशामात्रं हे कृपालो ! शम्भो ! नो वा धर्मः साङ्ख्यं युक्तन्तपो वा केनाऽपि प्रकारेण भवितुमर्हतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥ इत्थं त्रिभिः श्लोकै स्कन्दः

अगस्त्य उवाच

प्रमादाद्यदि सूक्ष्मम्वा स्थूलम्वा पातकन्नृभिः ।
कृतं काश्यां तारकारे ! कथं तस्याऽऽशु निष्कृतिः ॥ ४९ ॥

स्कन्द उवाच

अविमुक्ते कृतानान्तु पापानां कुम्भसम्भव ! ।
न दृष्टा न श्रुता वाऽपि मया शिवमुखादपि ॥ ५० ॥
निष्कृतिः स्थूलसूक्ष्माणां शिवो वेत्ति न चाऽपरः ॥ ५१ ॥

जैगीषव्य उवाच

इति श्रुत्वा स्कन्दमुखाज्जातत्रासस्त्वयम्पुनः ।
सहसा मामथाऽऽगम्य प्रार्थयामास शङ्कर ! ॥ ५२ ॥
मयाऽपि न श्रुता दृष्टा क्षेत्रपापकृतान्नृणाम् । निष्कृतिः शर्व ! सर्वेश ! ब्रूहि चेदस्ति शङ्कर !

महादेव उवाच

जैगि(गी)षव्यमुने ! त्वम्मे भक्तः परमतापसः । श्रुतिस्मृतिपुराणज्ञः काशीतत्वविदाम्वर
तवाग्रे कथयिष्यामि काशीमाहात्म्यमुत्तमम् ।
प्रायश्चित्तं न कर्माऽस्ति किञ्चित्पापकृतान्नृणाम् ॥ ५५ ॥
अस्ति चैकं सुगोप्यं हि तवाऽग्रे कथयामि तत् ।
प्रायश्चित्तन्न कर्माऽस्ति मुने ! ज्ञानम्विना क्वचित् ॥५६॥

शिवम्मनसास्तुत्वा ऽगस्त्यम्प्रत्युवाच दीनानहङ्कारेति । प्रपाति रक्षति ॥ ४७—४८ ॥ अगस्त्य उवाच प्रमदादिति । काश्या बुद्धिकृतपातकस्यप्रायश्चित्तेन न नाश इति प्रमादादित्यनेन बोधितम् ॥ ४९ ॥ स्कन्द उवाच अविमुक्ते इति ॥ ५०—५१ ॥ जैगीषव्य उवाच इति श्रुत्वेति अयम्मम शिष्यः ॥ ५२—५३ ॥ श्रीमहादेव उवाच जैगीषव्येति ॥ ५४ ॥ प्रायश्चित्तं न कर्माऽस्तीति । पापकृतन्निरन्तरम्पापकर्तॄणां पश्चात्तापरहितानां पुरुषाणां प्रायश्चित्तं कर्म व्यापाररूपं धर्मशास्त्रोक्तं किञ्चिद- पिऽनास्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥ यद्यपि नैवाऽस्ति तथाप्येकमस्तीत्याह अस्ति चैकमिति

ज्ञानन्तुदुर्ल्लभन्नृणां विषयासक्तचेतसाम् ।
तत्(ज) ज्ञानं काशिकायान्तु साक्षाद्भवति देहिनाम् ।। ५७ ।।
देहाभिमानिनां सौख्यमृषीणामपि दुर्ल्लभम् ।
अत्रानन्दवने ज्ञानमाच्छादयति दुर्मतिः ।। ५८ ।।
स्वल्पेनाच्छाद्यते ज्ञानमङ्गुल्या सूर्य्यवत्खलु ।
तस्मात्वमिवयो धीरः स भवेत् ज्ञानभाजनम् ।। ५६ ।।
न जितेन्द्रियता लोके न वैराग्यम्वृषोऽपि न । विविक्तसेवा सत्सङ्गश्रवणाद्यपि दुर्लभम
अन्यान्यपि मुमुक्षूणां साधनानि महान्त्यपि ।
भवन्ति विधिदृष्टेन न चान्यत्राहृतात्मनाम् ।। ६१ ।।

प्रायश्चित्तस्वरूपकथनार्थं प्रथममुपोद्घातमाह-प्रायश्चित्तं न कर्मास्तीति । "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" इति वचनात् ज्ञानम्विना प्रायश्चितन्नैवास्ति तच्च ज्ञानम्विषयिणां दुर्लभमेवतत्(द्) दुर्लभमपि ज्ञानं काश्याम्भवतीत्यहो काश्या महिमेतिभावः ।। ५६ – ५७ ।। ज्ञानदौर्लभ्यमुपपादयति देहाभिमानिनामिति। देहाभिमानिनाम्विषयसौख्यमेव मुख्यम्भवति ततस्तदाशयाद्दुर्मतिः ऋषीणामपि दुर्लभं ज्ञानमाच्छादयति। ननु व्यापकस्य ब्रह्मणो ज्ञानस्याच्छादनन्न सम्भवतीति चेत्सूर्य्यस्य विस्तीर्णमण्डलस्यापि स्वल्पयाङ्गुल्या व्यवधानेन यथाच्छादनं तथा व्यापकब्रह्मणोऽपि मध्ये स्वल्पेनाज्ञानव्यवधानेनाच्छादनसम्भवात् तदाच्छादने च ज्ञानस्याच्छादनज्ञातमेवेति ज्ञानन्दुर्लभमेवेतिभावः ।। ५८ ।। तर्हि कस्यापि ज्ञानं न जायते किमित्यत आह तस्मादिति ।। ५६ ।। लोके तु साधनाभावात् ज्ञानन्दुर्लभमेवेत्युपपादयति । न जितेन्द्रियतेति । वृषो धर्मः विविक्तसेवा एकान्तवासः ।।६०।।

अन्यान्यपि ईदृशानि ज्ञानसाधनानि विधिदृष्टेन शास्त्रप्रोक्तेन कर्मणैव भवन्ति । अन्यत्र संसारे आहृतात्मनां न च नैव भवन्ति ततो ज्ञानन्दुर्लभमेवेतिभावः ।। ६१ ।।

भवन्ति काश्यां सफलानि तानि मोक्षावसानानि सुसाधनानि ।
सदा सदानन्दमये ममालये मया सहायेन सुसाधितानि ॥ ६२ ॥
काश्यां स्थितानां जन्तूनामविचारितकर्मणाम् ।
न सुखं न परा शान्तिस्तस्मात्काश्यां विचारकृत् ॥ ६३ ॥
सुखमाप्नोति परमं परां शान्तिम्प्रपश्यति ।
प्रायश्चित्तविहीनानां न शान्तिः कुत्रचिद्भवेत् ॥ ६४ ॥
किम्पुनः काशिकामध्ये पापं कृत्वा सुखं लभेत् ।
ब्रह्महत्यादिपापानां प्रायश्चित्तं हि काशिका ॥ ६५ ॥
काशिकायां कृते पापे प्रायश्चित्तं न जायते ।
प्रायश्चित्तविहीनानां यातनाऽस्ति सदा नृणाम् ॥ ६६ ॥

ज्ञानस्वरूपा काशीयं पञ्चक्रोशपरीमिता । तस्याः प्रदक्षिणं कृत्वा नरः पापैः प्रमुच्यते

एतादृशानि साधनानि दुर्लभानि तत्फलं ज्ञानञ्च काश्यां सुलभमस्तीत्याह-भवन्तीति ॥ ६२ ॥ विचारकृत्सुखमाप्नोतीत्यन्वयः ॥ ६३ ॥ कुत्रचिदित्यन्यत्र देशे ॥ ६४ ॥ अन्यत्र कृतब्रह्महत्यादिपातकानां काशी प्रायश्चित्तम्भवति तस्यां कृतस्य पापस्य प्रायश्चित्तन्नैवास्ति तदभावे च यातना अवश्यम्भाविन्य इत्याह ब्रह्महत्यादीति ॥ ६५—६६ ॥ इत्थमुपोद्घातं कृत्वा यत्प्रतिज्ञातं प्रायचित्त-कथनन्तत्कथयति ज्ञानस्वरूपा काशीति । "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" इति श्रुतिप्रतिपादितं यन्मायाशवलं ज्ञानरूपम्ब्रह्म तद्रूपा काशीत्यर्थः । तदुक्तं सनत्कुमारसंहितायां "ज्योतिर्लिङ्गं त्वमेवार्ये ! लिङ्गीचाहम्महेश्वरः ! तदेतदविमुक्ताख्यं ज्योतिरालोक्यता-प्रिये" इति । काशीखण्डे "परब्रह्मपदाम्नातं निष्प्रपञ्चन्निरात्मकन्तदेतत् क्षेत्रमापूर्य-स्थितं सर्वगमप्यहो । शम्भोः शक्तिरियं काशी काचित्सर्वैकगोचरा" इति । अन्यत्राऽपि 'शिवशक्त्यात्मकं लिङ्गं श्रुतिभिः परिपठ्यते' इति । नन्वस्य शिवशक्त्यात्मकत्वे 'पञ्च क्रोशा प्रमाणन्तु क्षेत्रन्दत्तम्मया तव' इति ब्रह्मपुराणे रुद्रम्प्रति ब्रह्मोक्तिर्न सङ्गच्छते इति

चेन्न क्षेत्रस्य त्रिविधरूपत्वाद्रुद्रस्य च मूर्तित्रयान्तर्गतस्य ब्रह्मललाटादुत्पन्नस्य महादेवांशस्य सत्त्वात्तद्विरोधाभावात्। तथाहि काशीक्षेत्रस्य पराशक्तिपर शिवात्मकम्ब्रह्मरूपमनाद्यनन्तम्प्रथमं रूपम् द्वितीयन्तु देवैः प्रार्थितेन विष्णुना प्रार्थितो महादेवो मोक्षदत्वतेजोमयत्वशक्तिद्वययुक्तो ज्योतिर्लिङ्गरूपेण प्रादुरभूदिति यद् द्वितीयाध्याये उक्तन्तदेव रूपं पश्चाद्ब्रह्मणा सृष्टिसमये ग्रामरूपेणोत्पादितन्तत्तृतीयकम्, तत्र ब्रह्मणो यदा पञ्चवक्त्रत्वाभिमानोजातस्तदभिमानशातनार्थं महादेवांशः कश्चिद्ब्रह्मललाटादुत्पन्नो येन स्वकरनखेन पञ्चमशिरो ब्रह्मणश्छिन्नं स ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मकमूर्तित्रयान्तर्गतो रुद्रस्तमोगुणाभिमानी तस्मै वासार्थं स्वनिर्मितं यन्नगरम्पञ्चक्रोशात्मकं तृतीयं स्वरूपन्तद्ब्रह्मणा दत्तं तदेव च वासुदेवसुदर्शनाग्निना दग्धम्। यत्तु क्षेत्रस्य रूपद्वयमवशिष्टम्, तत्तु परशिवपराशक्त्यात्मकमव्याहतमेव रुद्रापेक्षया तुरीयः परशिवोऽस्तीति तु 'मूर्तित्रयात्परः शम्भुस्तुरीयः परिकीर्तितः" इत्यादि वचनैः सूतसंहितादिपुराणेषु स्पष्टम् श्वेताश्वतरादिश्रुतिषु च। तथा च रुद्राय दत्तेऽपि क्षेत्रे क्षेत्रस्य शिवशक्त्यात्मकत्वे न कोऽपि विरोध इति। यत्तु ब्रह्मवैवर्त्ते कामकलावचसा "अहो महालिङ्गमयं जनार्दनम्" इत्यनेन विष्णुरूपत्वे प्रतिपादितं तत्तूत्पत्तिशिष्टवाक्ये पूर्वं शिवशक्त्यात्मकत्वप्रतिपादनेन तद्विरोधेन पुराणान्तरविरोधेन चोत्पन्नशिष्टवाक्यस्य विष्णुरूपत्वप्रतिपादितस्य दुर्बलत्वेन च शिवविष्णोरभेदाभिप्रायेण यथा कथञ्चिन्नेयमिति पञ्चक्रोशपरीमितेति। मध्यमेश्वरमारभ्यासमन्तात्पञ्चक्रोश परिछिन्नेत्यर्थः तदर्थे क्षेत्रप्रमाणम्व्याख्यास्यामः पाद्मे पातालखण्डे "मध्यमेश्वरमारभ्य यावद्देहलिविनायकम्। सूत्रं संस्थाप्य तद्दिक्षु भ्रामयेन्मण्डलाकृति ॥ तत्र या जायते रेखा तन्मध्ये क्षेत्रमुत्तमम्। काशीति यद्विदुर्वेदास्तत्र मुक्तिः प्रतिष्ठिता॥ काश्यन्तः परमं क्षेत्रम्विशेषफलसाधनम्। वाराणसीति विख्यातं तन्मानन्निगदामिवः॥ दक्षिणोत्तरयोर्नद्यौ वरणाऽसिश्च पूर्वतः। जाह्नवी पश्चिमे वाऽपि पाशपाणिर्गणेश्वरः॥ तस्या अन्तर्गतन्दिव्यम्विशेषफलसाधनम्। अविमुक्तमितिख्यातं तन्मानञ्च ब्रवीमि वः विश्वेश्वराच्चतुर्दिक्षु धनुः शतयुगोन्मितम्। अविमुक्ताभिधं क्षेत्रम्मुक्तिस्तत्र न संशयः॥

मम ब्रह्ममयं लिङ्गम्मापातालात्समुत्थितम्। शिवलोकोपरिगतमत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
आजन्मसञ्चितैः पापैर्मुच्यते तत्प्रदक्षिणात्। क्षेत्रे कृतानाम्पापानाम्प्रायश्चित्तं न चेतरत्

प्रदक्षिणद्वयङ्कृत्वा दशजन्मकृतादघात्।
मुक्तो भवति पापात्मा सद्यो मोक्षमवाप्नुयात्॥ ७०॥
शुभकृद्यदि कुर्याद्विमोहात्पापन्न तस्य तत्।
क्षेत्रम्प्रदक्षिणं कृत्वा भवेत्पापीह विज्वरः॥ ७१॥

गोकर्णेशः पश्चिमे पूर्वतश्च गङ्गामध्य उत्तरे भारभूतः। ब्रह्मेशानो दक्षिणे सम्प्रतिष्ठ स्तत्र प्रोक्तम्भवनम्विश्वभर्तुः" इति। विश्वभर्तुर्भवनमन्तर्गृहं तथा च व्यापकं पञ्चक्रोशात्मकं काशी क्षेत्रं तदन्तर्गतं वाराणसीक्षेत्रं तदन्तर्गतमविमुक्तं तदन्तर्गतमन्तर्गृहमिति चतुर्विधं क्षेत्रं सिद्धम्। तथा ब्रह्मपुराणे रुद्रम्प्रति ब्रह्मा क्षेत्रमाह 'पञ्चक्रोशप्रमाणन्तु क्षेत्रन्दत्तम्मया तव। क्षेत्रमध्ये यदा गङ्गा गमिष्यति सरित्पतिम्' इति। यत्तु ब्रह्मवैवर्ते कामकलावचः 'आनाहतो योजनपञ्चकात्मकं विस्तारि गव्यूतियुगञ्च सार्धम्' इति। तत्र योजनं क्रोशस्तेन समन्ततः पञ्चक्रोशतैवेति न विरोधः सार्धं क्रोशयुगम्मध्येश्वरस्योभयतः पार्श्वद्वयम्मिलित्वा पञ्चक्रोशता विस्तारतोऽपि सिद्धा। अत्र विस्तरस्तु काशीसेतौ द्रष्टव्यः। वस्तुतस्तु वर्तुलाकारं क्षेत्रन्त्रेतायुगे एव तस्मिन्पक्षे इदं क्षेत्रपरिमाणं पद्मपुराणोक्तं समञ्जसम्; कलियुगे तु शङ्खाकारमेव तदुक्तं स्कान्दे नागरखण्डे 'कृते त्रिशूलवज्ज्ञेयं त्रेतायाञ्चक्रवत्तथा। द्वापरे तु रथाकारं शङ्खाकारं कलौयुगे' इति। शङ्खाकारपक्षे परिमाणन्तु अन्यत्रोक्तम्। 'मुखं शङ्खस्य गङ्गायां पृष्ठन्देहलीसन्निधौ वामपार्श्वस्थितन्तोयं रामाख्यम्वरुणाभिधम्, इति। अतएव वृषभध्वजस्य व्यासेश्वरस्य च क्षेत्राद्बहिर्भावः काशीखण्डोक्तः सङ्गच्छते; अन्यथा वर्तुलक्षेत्रस्य पूर्वोक्तपरिमाणे स्वीकृते वृषभध्वजव्यासेश्वरयोः क्षेत्रान्तःपातित्वसम्भवेन बहिर्भावकथनमसङ्गतं स्यात्तस्मात्कलियुगे शङ्खाकारमेव क्षेत्रं सम्प्रति प्रदक्षिणायां यथा वर्तते तथैव तन्न्यूनमधिकम्वेति बोध्यम्॥ ६७॥ दशाङ्गुलमिति अनन्ताङ्गुलमित्यर्थः। ब्रह्मणोऽनन्तत्वात्

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा पापञ्जन्मशतार्जितम् ।
विलयं याति चैवाऽत्र न कार्या वै विचारणा ॥ ७२ ॥
यावज्जीवम्वसेत्काश्यां प्रत्यब्दं सुप्रदक्षिणम् ।
जीवन्मुक्तास्तु ते ज्ञेया निष्पापाः काशिवासिनः ॥ ७३ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये प्रायश्चित्तविनिर्णये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

स्पष्टमन्यत् ॥ ६८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

मण्डपस्य ऋषिपुत्रस्याख्यानकम्

महादेव उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासम्पुरातनम् । ऋषिः कुष्माण्डतनयो मण्डपः सङ्गदोषतः
बालएव मम क्षेत्रे पापश्चरति वेदवित् । पित्रा निवारितो मात्रा भ्रात्रा श्रोत्रियवंशजः
असत्सङ्गं त्यजति नो विषयासक्तमानसः । परदारपरद्रोहपरद्रव्यरतः सदा ॥३॥
परापवादकुशलो वेदवादविवर्जितः । यथा यथा वयस्तस्य वृद्धिम्प्राप सुदुर्मतेः ॥४॥
तथा तथा पापरतः सत्सङ्गविमुखः सदा । मित्रैर्द्वित्रैर्नरपतेः सम्भृतो राजवेश्मनि ॥

प्रविष्टो धनमादाय चौर्येण स विनिर्गतः ।
वेश्यागृहे तन्निक्षिप्य तया सह दिवानिशम् ॥ ६ ॥

अथात्र नवमेऽध्याये मण्डपाख्यानम्प्रस्तूयते । तस्याऽयमाशयः मद्यपो वेश्यारतः सुवर्णस्तेयी दुष्टसङ्गीत्यादि पापरतोऽपि मण्डपः सकृदज्ञानात्प्रसङ्गतोऽविधिनापि यात्राङ्कृत्वा पापेभ्यो मुक्तोऽभूत्किम्पुनर्विधिनाज्ञानतः आवृत्या यथाकालं कुर्वन्नितर इति । महादेव उवाच अत्रैवेति । ऋषिरिति सङ्गदोषात्पूर्वं ऋषिरेवस्थितः पश्चात्सङ्गदोषेण (?) ऋषित्वमगमदितिभावः। मण्डपः 'आमलक्यां स्त्रियां मण्डाऽप्य स्त्रियां सारपिच्छयोः' इति । मेदिनी कोशान्मण्डो वेदशास्त्रसारस्तम्पिबति हृदये स्थापयतीत्यर्थम्मनसिनिधाय पित्रा मण्डप इति नाम स्थापितमित्यर्थः। अतएव ऋषिर्वेदविदितिविशेषणं सङ्गच्छते एतादृशस्यापि सङ्गदोषेण दुर्दशा जाता ततः सङ्गस्त्याज्य इत्यवान्तरतात्पर्यम् ॥ १—६ ॥

रमते मण्डपो विप्रः पितृविप्रत्वनाशकः। कदाचिद्रममाणोऽसौ तृषार्त्तः समपद्यत ॥७
मञ्चाधस्तात्ताम्रपात्रं गृहीत्वा पीतवान् सुराम्। जलबुद्ध्या पातकं तज्जातं तद्विचारतः
किमेतद्धि मया पीतमिति वेश्यां स पृष्टवान्। तमाह सा मयानीतं सुरापात्रं सुसौख्यकृत्

त्वदर्थे सम्भृतम्मध्वा पुनः पिब सकृत् सकृत्।
इति वेश्यावचः श्रुत्वा धिक् धिक् पापम्महत् कृतं ॥१०॥
वेश्यासङ्गेन मदिरा पीता ब्राह्मणसूनुना।
मण्डपस्य ततो मित्रद्वयमासीत् सुदुःखितम् ॥ ११ ॥

वेश्यामुखात्सुरापानं तस्य श्रुत्वा जगर्हतुः। आदौ विप्रस्ततोऽस्माकं सङ्गी वेश्यारतस्ततः
मधुपानं ततो जातं ततस्त्वं किं करिष्यसि। आच्छादयामः पापन्ते सुवर्णन्देहि नो बहु
तथेत्युक्त्वा पुनर्वेश्यागारङ्गत्वा प्रविश्य सः। सुवर्णं याचयामास ताडयामास तञ्च सा

वेश्योवाच

वराक मम लीलायाः स्वादञ्ज्ञात्वाऽपि मूर्खवत्।
सुवर्णं याचसे किं त्वं लक्षमात्रं कियन्मम ॥ १५ ॥

चुम्बने चुम्बने लक्षं वरेभ्यः प्राप्तमद्य मे। त्वम्मयोपेक्षितो दीनो दत्त्वा प्रार्थयसे धनम्

कामशास्त्रं त्वया मूढ ! पठितन्न कदाचन।
रतिलीलान्न जानासि मम कन्दर्प्पमोहिनीम् ॥ १७॥

पितृविप्रत्वनाशक इति। यद्ययम्ब्राह्मणपुत्रः स्यात्ततो नैवङ्कुर्यात्करोति तु तस्मान्नायम्ब्राह्मणपुत्र इति लोकसम्वादात् पुत्रसंसर्गदोषाच्चपितुर्विप्रत्वनाशकत्वम् ॥ ७ ॥ महत्कृतमिति अत्रमयेतिशेषः ॥ १० ॥ मण्डपस्येति। तस्य मण्डपस्य वेश्यामुखात्सुरापानं श्रुत्वा यन्मित्रद्वयमासीनौ मित्रभूतौ पुरुषौ सुदुःखितम्मण्डपङ्जगर्हतुर्निन्दाञ्चक्रतुरित्यर्थः ॥ ११ ॥ निन्दामाह आदौ विप्र इति ॥ १२ ॥ किं करिष्यसि एतदपेक्षयाऽधिकं किं कर्तव्यमस्तीत्यर्थः। सुवर्णं राजगृहादानीतम् ॥१३॥ वेश्योवाच वराकेति। त्वया स्थापितन्धनं लक्षमात्रङ्कियत् मम लीलास्वादमौल्यं स्या-

गच्छ गच्छ सुखेनाऽऽशु यावद्दास्यो न सन्ति मे ।
ताडयिष्यन्ति सर्वास्त्वां निर्लज्जम्ब्राह्मणाधमम् ॥ १८ ॥
वेश्यागृहात्ततस्तूर्णं क्षुधितोऽतिपिपासितः । पितुःसकाशमगमन्मातुश्च प्रियकाम्यया
ततस्तौ दारकौ प्राप्तौ मित्रत्वे परिकल्पितौ ।
वदन्तौ देहि कनकमस्मदंशन्त्वमाशु तत् ॥ २० ॥
राज्ञोगृहाद्यदानीतं स्तेयेनाऽस्माभिरुत्तमम् । इति श्रुत्वा पिता तस्य महादुःखसमन्वितः
उवाच दारकौ भीतः कौ युवां केन कर्मणा । कौ भवन्तौ कथं सङ्गः कृतोऽनेन दुरात्मना
तद्धिरण्यं च कुत्राऽऽस्ते यदर्थं वाम्व्यवस्थितौ ॥ २३ ॥

दारकावूचतुः

अहङ्कुविन्दस्त्वत्पुत्रो मण्डपो नापितस्त्वयम् । मैत्री त्रयाणां सम्भूता दैवाद्दोषत्रयात्मिका
विभज्य भागाः सर्वैं र्हिं ग्राह्या इत्यवधिः कृतः । अनेन वेश्याभवने निक्षिप्तं सर्वमेव हि
सा न प्रयच्छति मुने ! वेश्या वादविवादिनी । अतःपरं राजगृहे गम्यते वक्तुमेव हि
देहि दापय चाऽस्माकं धनं शीघ्रं सुदुःखदम् ।
नोचेत्तवाऽऽत्मजः साधो ! शूलप्रोतो भविष्यति ॥ २७ ॥
रक्ष पुत्रन्तथाऽस्मांश्च स्वात्मानमपि चाऽनघ ! ॥ २८ ॥

कुष्माण्ड उवाच

आगच्छत मया सार्द्धं राजराजस्य सन्निधौ ।
पुत्रन्नीत्वा गमिष्यामि शास्त्यर्थन्धर्मतो यथा ॥ २९ ॥
राजभिः कृतदण्डास्तु शुद्ध्यन्ति मलिनो नराः ।
अनिर्वेशकृतः पापा गच्छन्ति नरकम्मृताः ॥ ३० ॥

तावूचतुः

पुत्रं समर्पय मुने ! किमर्थन्त्वङ्गमिष्यसि । राज्ञो गृहे विवादार्थे न गन्तव्यं कदाचन ॥

दित्यर्थः ॥ १५ ॥ केनकर्मणा युक्ताविति शेषः कौ भवन्तौ कस्मिन्देशे स्थितौ ॥ २२ ॥ कुविन्द इति 'तन्तुवायः कुविन्दः स्यात्' इतिकोशः । नापितः प्रसिद्धः । दोषत्रयात्मिका त्रिदोषसमवायवत् ॥ २४ ॥ शूलप्रोत इति राजगृहे कृतापराधत्वात् ॥ २७ ॥ त्वया सहेति । हे पुत्रेतः परन्त्वया सह मम सम्बन्धो न नास्तीति पुत्रम्प्रत्युक्त्वा दारकौ

कुष्माण्ड उवाच

त्वया सह न सम्वन्ध इत्युक्त्वा नीयतां सुतः ।
नोचेदहङ्गमिष्यामि राजवेश्म सुनिश्चितम् ॥ ३२ ॥

तावूचतुः

त्वया सह न सम्बन्धो देहि मित्रद्रुहं शठम् । अस्माभिरेवकर्तव्यं तिष्ठतिष्ठेति लज्जितः

कुष्माण्ड उवाच

पुत्र गच्छ ! द्विजश्रेष्ठ निन्द्यं कृत्यं कृतन्त्वया । प्रायश्चित्तं विधायाशु राज्ञा दत्तं न चाऽन्यथा
आगन्तव्यं त्वया वत्स ! याहि नो चेद्यथासुखम् ।
तावन्नाहन्तव पिता न सुतस्त्वं ममाद्य(घ)वान् ॥ ३५ ॥

श्रीमहादेव उवाच

जैगि(गी)षव्य मुनिश्रेष्ठ तेन विप्रेण मण्डपः । समर्पितस्तयोःपुत्रः स्नेहमुत्सृज्य दूरतः ॥
धार्मिकाणान्धनैः पुत्रैः कलत्रैः किम्प्रयोजनम् ।
धर्मसङ्ग्रहशीलाश्च यतस्ते काशिसंश्रयाः ॥ ३७ ॥
पुत्रो भ्राता पिता वाऽपि यः काश्याम्पापमाचरेत् ।
त्याज्य एव स पापात्मा भवेत्संसर्गजम्भयम् ॥ ३८ ॥
तौ तं नीत्वा दूरदेशं ताडयामासतुर्भृशम् ।
स ताड्यमानो मूर्च्छान्ताम्प्राप मृत्युसमाम्मुने ॥ ३६ ॥
मृतोऽयमितिचोत्सृज्य ययतुस्तौ विषण्णवत् । पश्चात्तापेन सन्तप्तावसिसङ्गमसन्निधौ
त्यक्त्वा विप्रसुतम्भीतौ गतौ सिद्धेश्वरालयम् ।
तत्रोषित्वा तु तौ रात्रिं दुःखितौ क्षुधितौ भृशम् ॥ ४१ ॥

प्रत्याह नीयतां सुतइति ॥ ३२ ॥ त्वया यत्कर्तव्यं तदस्माभिः क्रियते त्वन्तु तिष्ठतिष्ठेतिताभ्यामुक्तोऽतिलज्जितः कुष्माण्डउवाचेत्यन्वयः ॥३३॥ द्विजश्रेष्ठैर्निन्द्यं-कृत्यमित्यन्वयः ॥ ३४ ॥ मण्डपो मण्डपोऽभवदिति नाम्ना यो मण्डपः स्थितः

पश्चात्तापपरौ तौ तु पुनरन्वेषितुं गतौ। मृतो वा जीवति तु वा ज्ञात्वा देशन्त्यजामहे
यावद्विचारणपरावागतावसिसङ्गमे। तावत्ततो द्विजसुतो गतमूर्च्छः प्रतस्थिवान्॥
पञ्चक्रोशात्मकस्यैव शिवलिङ्गस्य तद्दिने। प्रदक्षिणम्प्रकुर्वन्ति शिवमाहात्म्यवेदिनः॥

क्षेत्रप्रदक्षिणाङ्कर्तुं सङ्गेन चलितः स च।
तस्मिन् दिने कर्दमेशसन्निधौ यात्रिणः स्थिताः॥ ४५॥
सोऽपि तत्र स्थितो विप्रो मण्डपो मण्डपोऽभवत्।
रात्रौ जागरणं तेन कृतन्नित्यं शिवाग्रतः॥ ४६॥
सर्वैः प्रोत्साहितः साधु साधु साध्विति साध्विति।
अयम्परमशैवस्य कुष्माण्डस्य तु मण्डपः॥ ४७॥

पुत्रः शिवव्रतधरः साधु नृत्यति गायति। न तस्य चेष्टितङ्कोऽपि तन्मध्ये वेत्ति तत्त्वतः
अतएवाऽऽदृतः सद्भिर्भक्तिन्दृष्ट्वा बहिर्गताम्। सोऽपिचारुर्विचित्राङ्गः सर्वेषां सुमनोहरः
बभूव सद्भक्तिपरः सत्सङ्गेन द्विजोत्तमः। विचार्य मनसि ह्येवं शिवभक्त्या सताम्प्रियः

जातोऽस्मि दुष्टोऽपि सदा पञ्चपातकसंयुतः।
साधुवादः सतां ह्येषो भवति प्रत्यहम्मम॥ ५१॥

स एवाऽर्थतोऽपि मण्डपोऽभवत् परन्तपो नाम यथार्थनामेतिवत् मण्डपशब्दार्थस्तु सारग्राहक इति पूर्वमुक्तम् तथा च सदाचारपरः पश्चात्तापेनाऽभवदितितात्पर्यम् केचित्तु ओदनरसस्य मण्डस्य केनचिद्दत्तस्य पानकर्ताऽभवदिति वदन्ति। यद्वा, मण्डपश्छायाकरोऽभवदित्यर्थः। सन्तोषकारी लोकानामभवदिति तात्पर्यम्। यद्वा, मण्डयति भूषयति जगदिति व्युत्पत्त्या भ्रान्ति ज्ञानम्मण्डमिति प्राभाकरास्तस्य मण्डस्य पाताऽभवदित्यर्थः भ्रान्तिज्ञानरहितोऽभवदित्यर्थः तस्य सदाचारमुपपादयति रात्राविति॥ ४६॥ न तस्य चेष्टितमिति एतादृशम्पञ्चमहापातककर्तृचेष्टितन्तत्त्वतः कोऽपि न वेत्ति किन्तु सामान्यतो दुष्टोऽयमित्येव लोको जानाति स च लोकापवाद एव कुतो न स्यादिति सतामभिप्रायः॥ ४८॥ दुष्टसङ्गजम्फलमुपपाद्य सत्सङ्गजमेतादृशम्फलम्भवतीति सत्सङ्गः कर्तव्यइत्यभिप्रायेणाऽऽह सत्सङ्गेनेति॥ ५०॥

धनधान्यादिलब्धिश्च भोजनाच्छादनानि च ।
अनायासेन लभ्यन्ते ऋजुमार्गेण नित्यदा ॥ ५२ ॥
शिव(वे)म्भक्तिः सतान्तुष्टिर्देहपुष्टिर्निराकुला। येन मार्गेण भवति स मार्गः सर्वसम्मतः
एवम्विचारयन् सोऽथ चण्डिकाम्प्राप मण्डपः ।
तत्र पूजा भीमचण्ड्याः कृत्वा काशिनिवासिभिः ॥ ५४ ॥
ब्राह्मणैर्भोजितः सम्यगादृत्य शिवभक्तितः। उपविष्टस्ततो रात्रौ देव्याः पुरत आदृतः॥
क्षेत्रमाहात्म्यकथनं श्रवणञ्चक्रुरुत्सुकाः । ततो विष्णुजना शैवाः कीर्तनञ्चक्रुरादृताः
तन्मध्ये मण्डपः शौण्डो नृत्यज्ञानञ्चकार ह । साधुवादेनमहताम्पुनस्तैः साधु सत्कृतः
तस्याऽपि च मनो ब्रह्मन् शिवे हि निममज्जत। अथ तृतीये दिवसे मार्गे एव स मण्डपः
नृत्यन् गच्छति गायन् हि स्वयमेव शिवः शिवम् ।
पदे पदे दक्षिणतः क्षेत्रस्य मम स द्विजः ॥ ५६ ॥
ब्रह्महत्यादिपापानां प्रायश्चित्तं भवेद्यथा । महादेव ! महादेव ! वासुदेव! शिवेति च
स्मरन्नृत्यत्यभीक्ष्णंसः सर्वपापबहिष्कृतः। तृतीये दिवसे गत्वा तन्देहलीविनायकम्
पूजयामास सोऽव्यग्रः काशीभक्तिविवृद्धये। मण्डपो लौल्यरहितः शिवनामपरायणः
बलाद्दत्तमपि त्यक्त्वा हरिकीर्तनतत्परः ।
नाश्नाति न पिबत्यम्भो न कस्याऽपि वशे स्थितः ॥६३॥
निर्द्वन्द्वः समदृक् शान्तो बभूव गतसाध्वसः। ब्राह्मणेन मया स्तैन्यं सुवर्णस्य कृतं रहः
वञ्चितश्च पिता मान्यो माता साध्वी च वञ्चिता ।
पापेनोपार्जितम्वित्तं वेश्यावेश्मनि तिष्ठति ॥ ६५ ॥
मनसा विप्रहननं गमनम्मातुरेव च । सम्पन्नञ्च सुरापानं साक्षाद्वेश्यागृहेन किम् ॥

विचारमेवाह शिवभक्त्येत्यादिना सर्वसम्मत इत्यन्तम् ॥५२–५६ ॥
शौण्डो मुख्यः ॥ ५७ ॥ निममज्जत आर्षः प्रयोगः निमग्नमित्यर्थः ॥ ५८–६३ ॥
मातापित्रोर्वचनेनाऽपमानेजाते तयोर्हननञ्जातप्रायमेवेत्यभिप्रायेणाऽऽह मनसा विप्रहन न मिति गमनं मातुरेवचेत्यत्र हननम्मातुरेव चेत्येव तथाऽनुतापैः

आहारो मैथुनन्निद्रा मिथ्यावादादयोऽपिवा। जाता मम वराकस्य कथम्पापपरिक्षयः
अनुतापैः सुसन्तप्तो मण्डपो मण्डवर्जितः। क्षेत्रप्रदक्षिणङ्कुर्वन्निष्पापः समपद्यत ॥६८
क्वचिद्रुदति संस्मृत्य संस्मृत्य स्वाघसञ्चयम्। क्वचिद्धसति क्षेत्रस्य प्रदक्षिणकृदित्यहम्॥

काशी काशीति काशीति शिवशङ्कर ! केशव।
पाहि माम्पतितन्दीनं गुरुदेवापराधिनम्॥ ७०॥

रामेश्वरे समागम्य स्नात्वा सन्तर्प्य देवताः। रामेश्वरं समभ्यर्च्य सोमनाथन्तथाऽर्च्य च

रामं राजीवपत्राक्षं सीतालक्ष्मणसंयुतम्।
न भुङ्क्ते न पिवत्यम्भो नृत्यगीतादितत्परः॥ ७२॥

प्रार्थ्यमानोऽपि गृह्णाति न किञ्चिदपिखेदकृत्। ततः प्रचलिताः सर्वे यात्रिणः शिवतत्पराः

मण्डपोऽपि स्मरन्काशीं शिवम्विष्णुम्प्रतस्थिवान्।
वृषध्वजं समासाद्य स्नात्वा वै कापिले जले॥ ७४॥
देवंसम्पूज्य विधिवत् स्थित्वा तत्र च पूर्ववत्।
ततः प्रभाते वरणासङ्गमे स्नानमाप्य च॥ ७५॥
गताः सर्वे विश्वनाथम्प्र(न्द्र)ष्टुं श्रीपार्वतीपतिम्।
तत्र स्थित्वा महापूजां कृत्वा सर्वे महाजनाः॥ ७६॥

अन्नाऽदिवासो दानानिददुः शङ्करतुष्टये। मण्डपोऽपि तथा कृत्वा मोक्षमण्डपमध्यतः
साष्टाङ्गम्प्रणतः प्राह सत्सदोमध्यगोऽघकृत्। मया पापानिसर्वाणि सुमहान्तिबहून्यपि

पश्चात्तापैः सुसंतप्तोति दुःखितोदुःखवेगेन विवेकज्ञानवर्जितोजातो विक्षिप्तजात इत्यर्थः एतादृशो महान् पश्चत्तापोजात इति भावः मण्डवर्जित इति मण्डशब्दो हि सारवाचीति पूर्वमुक्तं स च सारो विवेकज्ञानरूप एव ओदन सारमण्ड भक्षण-रहिते वा मण्डो भ्रान्तिज्ञानम् इति। प्रभाकरस्तद्वर्जित इति वा मण्डो भूषणन्तद्वर्जितो देहाभिमानवर्जित इति वा॥ ६८॥ विक्षेपमुपपादयति क्वचिद्रुदतीति अहमेता-दृशो महापापी क्षेत्रस्य प्रदक्षिणां करोमि किमेतदिति हसतीत्यर्थः। संयुतम् समर्चेत्यन्वयः॥ ७०—७१॥

कृतानि तत्र वदत निष्कृतिम्ममसत्तमाः। यथाऽहम्पापनिर्मुक्तो भवामि तु तदुच्यताम्

सदस्या ऊचुः

त्वन्निष्पापोऽसि भक्तोऽसि शिवयोः केशवस्य च।
पञ्चक्रोशात्मकं लिङ्गं सत्सङ्गाद्दक्षिणीकृतम् ॥ ८० ॥
मैत्रीवाणिज्यमूल्याद्यैः किम्पुनः श्रवणादिभिः।
येनकेनाऽपि सुमह त(?)स्य पापं न विद्यते ॥ ८१ ॥

मण्डपोवाच

पित्रा निष्काशितः सोऽहं कथं यास्यामि तद्गृहे।
प्रतीतिकारणं किञ्चिदस्ति चेद्गमनं गृहे ॥ ८२ ॥

प्रेषयन्तु तदा सभ्याः शास्त्रप्रत्ययसंयुताः। गर्हयन्तो गृहस्था नो नोचेत्किङ्गमनेन मे

सदस्या ऊचुः

आकारयस्व पितरमस्मद्वचनगौरवात्। प्रतीतिन्दर्शयामोऽद्य दण्डनाथस्य सन्निधौ॥

श्रीमहादेव उवाच

मण्डपोऽथ गृहद्वारं गत्वा शिवशिवेति च। महादेवमहादेवेत्युक्त्वा तूष्णीं व्यवस्थितः

कुष्माण्डः प्राह दयिताङ्को ऽतिथिर्द्वारि वर्तते।
पश्य पश्याऽऽशु सुभगे शिववाक् शङ्करप्रियः ॥ ८६ ॥
सा भर्तुर्वचनाद् गत्वा दृष्ट्वा मण्डपमात्मजम्।
उवाच वचनम्भीता भर्तुः पुत्रार्थमातुरा ॥ ८७ ॥

शिवयोः शिवशक्त्योः ॥ ८० ॥ मैत्रीवाणिज्यमूल्याद्यैरपिनिमित्तैः कृता प्रदक्षिणा निष्पापङ्करोति किम्पुनः श्रवणादिभिः सदाचारैः कृतेत्यर्थ येनकेनापि प्रकारेण यः प्रदक्षिणां करोति तस्य पापम् न विद्यते इत्यर्थः ॥ ८१ ॥ प्रतीतीति किञ्चित्प्रतीति कारणन्निष्पापत्वस्यास्तिचेन्ममगृहे गमनम् भविष्यति नान्यथेत्यर्थः ॥ ८२ ॥ प्रेषत्विति यदि भवन्तो मांगृहम्प्रेषयन्ति तदा यथा गृहस्था नो गर्हयन्तो भवन्ति गर्हान्नकरिष्यन्ति तथा शास्त्रप्रत्ययं दर्शयित्वा प्रेषयन्तु नोचेद्गमनेन किम्फलमित्यर्थः ॥ ८३ ॥ भर्तुः सकाशाद्भीता ॥ ८७ ॥

अकृत्वैव च निर्वेशं कथमागमनम्वद ॥ ८८ ॥

मण्डप उवाच

आहूयन्ति सदस्यास्त्वां पितरं च ममानघम्। निर्वेशवार्ताम्बहुलां त एव ब्रूयुरग्रतः ॥

जननीमण्डपस्याऽथ गत्वा कूष्माण्डमब्रवीत्। पुत्रस्तेकृतनिर्वेशः शिवस्मरणतत्परः ॥

द्वारि तिष्ठति स (सोऽ?)द्वेषो नाऽतिथिः कश्चनेतरः।
कृतनिर्वेशमनघं श्रुत्वा पुत्रं तु स द्विजः ॥ ६१ ॥

उत्थायाऽऽगत्य सहसा ददर्श शिवरूपिणम्। रुद्राक्षमालिनं शान्तम्विभूतिकृतभूषणम्

उवाच किं समायातः शीघ्रं धर्मेण यो महान्। नहि स्वल्पेन धर्मेण प्रायश्चित्तं महद्भवेत्

मण्डपउवाच

मया बहूनि पापानि कृतानि विविधानि च।
न ज्ञायन्ते त्वया पित्रा किमन्यैर्दूरसंस्थितैः ॥ ६४ ॥

बलात्त्वामाहूयन्त्येव सदस्याः शुद्धिदर्शिनः। यद्रोचते कुरु तथा त्वम्मत्स्नेहेन मा व्रज

इति श्रुत्वा मण्डपस्य वचः पत्न्या समन्वितः।
मुक्तिम्मण्डपिकाम्पश्यत्सदस्यैः संस्थितां शुभाम् ॥ ६६ ॥

तैराहूतो द्विजवरैर्धर्माधर्मविचारकैः। उपवेश्य (विश्य) तमूचुस्ते पुत्रस्ते शुद्धिमाप्तवान्

कूष्माण्डउवाच

प्रायश्चित्तेन केनाऽसौ शुद्धिम्प्राप्तो ममाऽऽत्मजः। प्रतीतिर्ममका वा स्यादनेन सह भुज्यते

सदस्याऊचुः

मुक्तिमण्डपिकायास्तु स्वामी विष्णुर्नचाऽपरः। सचेद्वदति वेदात्मा तदाशङ्का न चोत्तरम्

तत्पापदाभानुमुख्या वदिष्यन्ति च सत्तमाः। तदा मन्यस्व सुप्रीतः शास्त्रदेवप्रसादतः

निर्वेशम्प्रायश्चित्तम् ॥ ८८ ॥ किं समायात इति। धर्म्मेण यो महान् भवति तद्वत्सन् शीघ्रम्प्रायश्चित्तमकृत्वा किं किमर्थं समायातस्त्वमित्यर्थः। धर्मः कृत इति चेत्तत्राऽऽह न हीति ॥६३॥ मत्स्नेहेन मा व्रजेत्युक्त्या तस्य वैराग्यम्बोधितम् ॥६४-६५॥ यदि प्रतीतिः स्यात्तर्ह्यनेन सह मया भुज्यते नान्यथेत्यर्थः ॥ ६६—६८ ॥

इत्युक्त्वा तं सदस्यास्ते तुष्टुवुर्विष्णुमव्ययम् । रविं ढुण्ढि दण्डपाणिं भैरवञ्चैव पञ्चमम्
पञ्चाऽपि तत्र सुप्रीता मुक्तिमण्डपमध्यतः । प्रादुर्भूता महात्मानो लोकप्रत्ययकारकाः

विष्णुरुवाच

अयं शुद्धो दुराचारो मण्डपः साधुसङ्गमः । क्षेत्रप्रदक्षिणं कृत्वा कीर्तयित्वा जगद्गुरुम्
माहात्म्यश्रवणज्ञातं क्षेत्रस्याऽशुभनाशनम् ।
तस्माद्गच्छत्वयं स्वीयं गृहम्पित्रा समन्वितः ॥ १०४ ॥

ढुण्ढिरुवाच

काशीति नामजपतां शिवनामतुल्यं विघ्नादिपापनिचयो विलयम्प्रयाति ॥ १०५ ॥
किन्तत्कथाश्रवणकीर्तनवासदानैः सम्यक् प्रदक्षिणवतामशुभस्यनाशः ॥ १०६ ॥

दण्डपाणिरुवाच

काश्याम्पापं ये प्रकुर्वन्ति पापास्तेषां दुःखञ्जायते निश्चयेन
शम्भोर्लिङ्गं सच्चिदानन्दरूपं पञ्चक्रोशं तत्परिक्रम्य शुद्धाः ॥ १०७ ॥

कालभैरवउवाच

कार्यम्ममैतत्खलु पापिनां सदा करोमि दण्डम्बहुधाऽवश्यमेव
प्रदक्षिणीकृत्य समागतस्त्वयं काशीम्विशुद्धो न विचार्यमस्ति तत् ॥१०८॥
शृण्वन्तु सर्वे वक्ष्यामि काशीमाहात्म्यमद्भुतम् ।
न चाऽत्र विस्मयः कार्यःकाशीम्प्रति कदाचन ॥ १०९ ॥
आसीत्त्रेतायुगे विप्रः शाण्डिल्यः समदर्शनः । ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो विनष्टाशेषसंशयः
तस्याभवद्विशालाक्षी नाम्ना चैवाऽतिसुन्दरी ।
पित्रा दत्ता सुमन्त्रेण विधिना वह्निसन्निधौ ॥ १११ ॥

जगद्गुरुम्महादेवम् ॥ ९९—१०४ ॥ शिवनामतुल्यं यथास्यात्तथा ॥१०५॥
दुःखंयातनारूपन्निश्चयेन यद्यपि तथापीतिशेषः ॥ १०७—१०८ ॥

अवन्तीवासिने(नी?) सा हि पितृगृहे स्थिताऽभवत् ।
सम्प्राप्ता यौवनं काले नायातस्तत्पतिः पुनः ।। ११२ ।।

पुंश्चलीसंगदोषेण जाता सा स्वैरिणी परा। काश्याञ्चकार वहुधा पापन्तारुण्यमाश्रिता
रात्रिन्दिनन्तथा सर्वे युवानः सुवशीकृताः। निर्धनाश्चकृताः सर्वे रूपसौभाग्यसम्पदा
देशान्तरगताश्चान्ये तद्गुणाकृष्टचेतनाः। एवं सा पापनिरता चक्रे पापमहर्निशम् ।।

मार्गशीर्षे कदाप्यासीद्धात्रा (?) काश्या द्विजोत्तमाः।
पञ्चक्रोशाश्रितापुण्या दुरितार्णवतारिणी ।। ११६ ।।
यात्रिणो वीक्ष्य सा हृष्टा हरिष्यामि धनम्बहु ।
नृत्यस्व्याजेन गानेन सर्वेषां काशिवासिनाम् ।। ११७ ।।
इति निश्चित्य सा पापा गता तैः काशिवासिभिः ।
दुर्गाकुण्डे स्थिताः सर्वे यात्रिणस्तद्दिने गताः ।। ११८ ।।

साऽपि तत्र विशालाक्षी चक्रे वासंशुभोदया। रात्रौ जागरणं चक्रे धनलोभेन नर्त्तनम्
ननर्त सा विशेषेण जगौ साऽतिमनोहरम्। कृता विमनसः सर्वे तया गानाच्च नर्तनात्
सम्प्राप्तञ्च धनंभूरि तया यात्रार्थिनान्नृणाम्। एवं द्वितीये दिवसे कर्दमेश्वरसन्निधौ।।
तृतीये देहलीशे च चक्रे सा वरवर्णिनी। रामेश्वरे चतुर्थे तु स्नात्वा सा वरुणाजले।।

शुश्राव सा वाच्यमानम्पुराणन्देवसन्निधौ ।
काशीमाहात्म्यसंयुक्तं शृण्वतां सर्वयात्रिणाम् ।। १२३ ।।
काशीकृतानाम्पापानां यातनाम्भैरवीम्पराम् ।
शृण्वन्त्या भाग्ययोगेन पश्चात्तापो महान्भूत् ।। १२४ ।।

गर्हयामास चाऽऽत्मानं मूर्च्छिता पतिता भुवि। कष्टा धैर्यं समालम्ब्य तीव्रवैराग्यमागता

अत्रार्थे भैरव इतिहासमाह शृण्वन्त्विवति ।। १०६—११३ ।। देशान्तरगताश्च सद्गुणाकृष्टचेतना जाता मोहिता अभवन् केवलगुणश्रवणमात्रेणेतिभावः ।। ११५—१२३ ।। वैराग्यं च समागतमिति। पश्चात्तापोऽपिजातइत्यर्थः। तथा च

ददौ तद्वसु विप्रेभ्यः सर्वाण्याभरणानि च । पुनर्नैवं करिष्यामीत्येवं सञ्जातनिश्चया॥
पप्रच्छ विनयोपेता ब्राह्मणान् सा महायशाः ॥ १२७ ॥

विशालाक्ष्युवाच

ब्रूत विप्राः ! सुमन्दाया निष्कृतिर्यदि विद्यते ।
मादृश्याः पापशीलायाः कृपया दीनवत्सलाः ! ॥ १२८ ॥

विप्राऊचुः

धन्याऽसि त्वम्विशालाक्षि ! पापेभ्यो नाऽस्ति ते भयम् ।
कृता प्रदक्षिणा काश्या वैराग्यञ्च समागतम् ॥ १२९ ॥
दत्तन्त्वया धनं सर्वं निवृत्ता पापधीस्तथा । कृतार्थाऽसि महाभागे! कुरु क्षेत्रप्रदक्षिणाम्
अस्माभिरेव सहिता ततः शुद्धिमवाप्स्यसि । पुनः पापपरा माभूरित्यूचुस्ते तपोधनाः
साऽपि श्रुत्वा वचस्तेषां भक्त्या नत्वा ततो द्विजान् ।
चक्रे रात्रौ प्रणयिनी विष्णोर्नर्तनमद्भुतम् ॥ १३२ ॥
पञ्चमे दिवसे सर्वे यात्रिणो वृषभध्वजे । स्थिता साऽपि महाभागा निवृत्ता सर्वपापतः
ततः प्राप्ताः क्षणेनैव वरणासङ्गमङ्गनाः । तत्र स्नात्वा विधानेन नत्वा केशवमादरात्॥
मुक्तिमण्डपिकाम्प्राप्ताः साऽपि तैः सममेव हि ।
तत्र पूजां सुमहतीं कृत्वा विश्वेश्वरस्य सा ॥ १३५ ॥
श्रुत्वा यथाविधानेन आजगाम निजालयम् ।
आदृता सा जनैः सर्वैः पित्रा साऽपि महात्मना ॥ १३६ ॥
तथाऽयमपि भो विप्राः ! विशुद्धो मण्डपो द्विजः ।
इति श्रुत्वा वचस्तस्य भैरवस्य महात्मनः ॥ १३७ ॥

पश्चात्तापपूर्वकप्रायश्चित्तकरणे बुद्धिपूर्वकपातकानामपि नाशो भवतीति कथातात्पर्यं मण्डपाख्यानस्याप्येवमेव यत्र तु पश्चात्तापो नास्ति तत्र बुद्धिपूर्वकपातकानां न प्रायश्चित्तेन नाशः किन्तु यातनाभिरेव नाश इति तत्त्वम् ॥ १२९–१३२ ॥

सर्वेविगतसन्देहा बभूवुर्ये सभासदः ॥ १३८ ॥

रविरुवाच

सत्सङ्गतः क्षेत्रप्रदक्षिणं कृतं काशीकथाश्र(ा?)वणकीर्तनादि यत् ।

शुभप्रदम्पापहरं सुवासदं कृतञ्च शुद्धो मण्डपः सत्यमेव ॥१३९॥

श्रीमहादेव उवाच

सभासदैर्देववरैरुक्तौ कुष्माण्डमण्डपौ । प्रदक्षिणीकृत्य तु तान् नमस्कृत्य पुनः पुनः॥

निष्पापौ हर्षसम्पन्नौ ययतुस्तौ स्वमालयम् ।

प्रदक्षिणाफलं ब्रह्मन् ! पञ्चक्रोशात्मकस्य च ॥ १४१ ॥

लिङ्गस्य दक्षिणा कार्या त्वया शिष्येण चाघहृत् ।

इति श्रुत्वा प्रसन्नात्मा जैगीषव्यो महामुनिः ॥ १४२ ॥

देवम्प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्य पुनः पुनः । जगाम पञ्चक्रोशस्य यात्रार्थं शिष्यसंयुतः ॥

पञ्चभिर्दिवसैः कृत्वा यात्रामत्राऽऽगतो मुनिः ।

उपदिष्टो विधिः सम्यक् यात्रायाः पापनाशनः ॥ १४४ ॥

महापुण्यकृद्देवाऽपि निर्विघ्नम्फलदायकः । मुनिरागत्य विश्वेशं भवान्या सहितन्तदा

पूजयामास विधिवदुपचारैः सुविस्तरैः ।

शिष्यो गुरुप्रसादेन निष्पापो (:?) पुण्यवान्सुधीः ॥ ४६ ॥

जातः स्कन्दप्रसादेन श्रुत्वा माहात्म्यमुत्तमम् ॥ १४७ ॥

श्रीमहादेवउवाच

एतत्तेऽभिहितन्देवि ! काश्यां यत्पातकं कृतम् । तस्य प्रणाशनं शुद्धं प्रायश्चित्तं सुदुर्लभम्

श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् । नरः शुचिमवाप्नोति काशीवासञ्च गर्भहम्

इति श्री ब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये पञ्चक्रोशयात्रामाहात्म्यवर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

प्रदक्षिणाफलमिति ईदृशमस्तीतिशेषः ॥ १४१—१४२ ॥ उपदिष्टः शास्त्रेण यो विधिः स कृत इतिशेषः ॥ १४४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां

नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

पञ्चक्रोशीमुद्दिश्य श्रीदेवीप्रश्नम्प्रति शिवोत्तरवर्णनम्

श्रीदेव्युवाच

देव ! देव ! महादेव ! वेदविद्याविशारद ! । यथा प्रदक्षिणा कार्या मनुजैर्विधिपूर्वकम्
स्थानम्वासस्य वद नो भक्ष्यं चाऽभक्ष्यमेव च ।
पूजां सीम्निस्थितानाञ्च देवानां दानमेव च ॥ २ ॥
यथा सम्पूर्णतामेति यात्राक्षेत्रस्य सत्तम ! ॥ ३ ॥

शिवउवाच

शृणु देवि ! महाभागे ! सवलोकोपकारकम् । तद्ब्रवीमि महेशानि ! यथावद्विधिपूर्वकम्
पञ्चक्रोशस्य यात्राया विधिः सम्यगुदीर्यते ।
श्रुत्वा मनुष्यो येनाऽऽशु निष्पापः पुण्यवान् भवेत् ॥ ५ ॥
आश्विनादिषु मासेषु त्रिषु पार्वति ! सर्वदा ।
प्रदक्षिणा प्रकर्तव्या क्षेत्रस्याऽपापकाङ्क्षिभिः ॥ ६ ॥
माघादिचतुरो मासाः प्रोक्ता यात्राविधौ नृणाम् ।
पूर्वस्मिन्दिवसे ढुण्ढिम्पूजयित्वा हविष्यभुक् ॥ ७ ॥
प्रातरुत्तरवाहिन्यां स्नात्वा विश्वेशमर्चयेत् । पुनर्यात्रार्थमपि च शिवयोः पूजनम्भवेत्

विश्वेशमिति । इदं नित्यपूजनमुक्तम् । विश्वेशमित्युपलक्षणं तत्तन्नित्यपूज्यानां देवानामपि । पुनरिति । इदं यात्राङ्गम्पूजनन्तथा च नित्यपूज्यानाम्वक्ष्यमाणानान्देवानां प्रथमपूजनङ्कृत्वा द्वितीयं यात्राङ्गं पूजनं कर्तव्यमित्यर्थः । शिवयोरन्नपूर्णाविश्वनाथयोः अत्र वासिष्ठलैङ्गोक्तः पञ्चक्रोशीयात्राविधौ यो विशेषः सोऽपि

मुक्तिमण्डपिकायाञ्च सम्विश्य वरवर्णिनि!। प्रतिज्ञाम्महतीं कृत्वा पूजनन्तत्र तत्र ह ॥
काश्याम्प्रजातवाक्कायमनोजनितमुक्तये। ज्ञाताज्ञातविमुक्त्यर्थम्पातकेभ्यो हिताय च
पञ्चक्रोशात्मकं लिङ्गं ज्योतीरूपं सनातनम्।
भवानीशङ्कराभ्याञ्च लक्ष्मीश्रीशविराजितम् ॥ ११ ॥
ढुण्ढिराजादिगणपैः षट्पञ्चाशद्भिरावृम्। द्वादशादित्यसहितं नृसिंहैः केशवैर्युतम् ॥
रामकृष्णत्रययुतङ्कूर्ममत्स्यादिभिस्तथा। अवतारैरनेकैश्च युतम्विष्णोः शिवस्य च ॥
गौर्यादिशक्तिभिर्युक्तं क्षेत्रङ्कुर्याम्प्रदक्षिणम्।
बद्धाञ्जलिः प्रार्थयित्वा महादेवम्महेश्वरीम् ॥ १४ ॥
पञ्चक्रोशस्य यात्राम्वै करिष्ये विधिपूर्वकम्। प्रीत्यर्थन्तव देवेश! सर्वाघौघप्रशान्तये
इति सङ्कल्प्य मौनेन प्रणिपत्य पुनः पुनः। ढुण्ढिराज! गणेशान! महाविघ्नौघनाशन!
पञ्चक्रोशस्य यात्रार्थन्देह्याज्ञाङ्कृपया विभो!।
विश्वेशन्त्रिःपरिक्रम्य दण्डवत्प्रणिपत्य च ॥ १७ ॥
मोदम्प्रमोदंसुमुखन्दुर्मुखङ्गणनायकम्। प्रणम्य पूजयित्वाऽऽदौ दण्डपाणिन्ततोऽर्चयेत्

किञ्चिदुच्यते। विश्वेश्वरनिकटे मनोन्मनीशक्तेः पूजनं कार्यमन्नपूर्णापीठे भुवनेश्वर्याश्च पूजनं कार्यमन्नपूर्णाया कैलासादागमनात्पूर्वं तस्मिन्पीठे भुवनेश्वर्याः स्थितत्वात् तदुक्तन्देवीपुराणे 'अन्नपूर्णामहापीठे संस्थिता भुवनेश्वरी' इति। तत्र प्रार्थनामन्त्रः "मनोन्मनि महामाये! सर्वशक्तिस्वरूपिणि!। अनुज्ञान्देहि यात्रार्थन्त्वत्प्रसादात्करोम्यहम् ॥ भुवनेशि! महाविद्ये अन्नपूर्णे महेश्वरि!। अनुज्ञान्देहि यात्रार्थन्त्वत्प्रसादात्करोम्यहम्" इति। मायाबीजेन शक्तित्रयस्य पूजनम्। अत्र सुवासिन्यै वायन दानमप्युक्तम् ॥८॥ प्रतिज्ञामिति। काश्याम्प्रजातवाक्कायेत्यादि वक्ष्यमाणरीत्या सङ्कल्पं कृत्वा कर्तव्यप्रदक्षिणायान्तस्मिंस्तस्मिन्स्थाने तत्तद्देवानां पूजनङ्कार्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥ लिङ्गमिति शिवशक्त्यात्मकमित्यर्थः ॥ ११ ॥ विश्वेश्वरस्य पुरतः कालराजमित्यन्वयः ॥ १२—२० ॥

कालराजञ्च पुरतो विश्वेशस्यजगद्गुरोः। पूजयित्वा ततो गच्छेन्मणिकर्णीम्विधानतः
तत्र स्नात्वा महादेवम्मणिकर्णीशमर्चयेत्। विनायकं सिद्धिदञ्च पुनरागत्य पूजयेत्
मणिकर्णीतटच्छन्नं गङ्गाकेशवमप्युत। ललिताञ्च ततः पूज्य जरासन्धेश्वरम्विभुम्॥
सोमनाथं ततः पूज्य दालभेश्वरमेव च। शूलटङ्केश्वरन्देवं (मा) आदिवाराहमेव च
दशाश्वमेधकं लिङ्गं वन्दन्तत्रैव पूजयेत्। सर्वेश्वरञ्च केदारन्ततो हनुमदीश्वरम्॥२३
सङ्गमेशन्ततः पूज्य लोलार्कम्पूजयेत्ततः। अर्कसंज्ञङ्गणाध्यक्षमसेस्तीरम्पुनर्व्रजेत्॥२४
क्षेत्रम्प्रदक्षिणीकुर्वंस्तिलमात्रन्न सन्त्यजेत्। दुर्गाकुण्डे ततः स्नात्वा यजेद्दुर्गविनायकम्
दुर्गां सम्पूज्य विधिवद्वसेत्तत्र सुखाप्तये। ब्राह्मणान्भोजयेत्तत्र मधुपायसलड्डुकैः॥
रात्रौ जागरणन्तत्र पुराणश्रवणादिभिः। कुर्याच्च कीर्तनम्भक्त्या परोपकरणानि च
जय दुर्गे महादेवि! जय काशिनिवासिनि!। क्षेत्रविघ्नहरे! देवि! पुनर्दर्शनमस्तु ते
इति दुर्गाम्प्रार्थयित्वा विष्वक्सेनेश्वरन्ततः। पूजयित्वा कर्दमेशम्पञ्चव्रीहितिलैर्नमेत्
आदौ कर्दमतीर्थे तु स्नानङ्कूपावलोकनम्।
सोमनाथम्विरूपाक्षं नीलकण्ठन्ततोऽर्चयेत्॥ ३०॥

गङ्गाकेशवमिति। अत्र काशीमूर्तेः पूजनङ्कार्यम्वक्ष्यमाणश्यामाषोडश-वार्षिकीति श्लोकोक्तप्रकारेण ध्यात्वा ह्रीं काशिकायै नम इति मन्त्रेण पूजयेत् 'तत्र काशीम्प्रपूज्याऽथ ललिताम्पूजयेच्छिवाम्' इत्युक्तेः॥ २१॥ अर्कसंज्ञमिति। एतस्य स्थानमुक्तं काशीखण्डे "काश्यां गङ्गासिसम्भेदे नामतोऽर्कविनायकः" इति अयञ्च क्षेत्रस्याऽग्निकोणस्थः ॥ २४—२५॥ दुर्गां सम्पूज्येति नवार्णमन्त्रेण जयन्ती मङ्गलेति मन्त्रेण वा। अत्र रेणुकापूजनमप्युक्तम् "रेणुकां रामजननीम्मातापुरनिवा-सिनीम्पूजयेत्" इत्युक्तेः। अत्रैव वन्दीदेव्याः पूजनं नवकोटिशक्तिपूजनञ्चोक्तम्॥ २६—२८॥ इति दुर्गामिति विष्वक्सेनेश्वरम्प्रार्थयित्वा ततः कर्दमेशम्पञ्चव्रीहि पञ्चव्रीहितिलैः पूजयित्वा नमेदित्यन्वयः। पञ्चव्रीहितिलैरित्यपपाठः। यवव्रीहितिलै-रित्येव पाठ इति काशीविवेके। यद्वा, पञ्चव्रीहि पदेन पञ्चधान्यानि ग्राह्याणि तानि च यवव्रीहिगोधूममुद्गमाषात्मकानि देवीपुराणोक्तानि। कर्दमेशपूजायाः

तत्रवासम्विधायाऽग्नौ किञ्चिद्धोमं द्विजार्चनम् ।
श्राद्धादिकर्मकार्याणि कृत्वा मुच्येदृणत्रयात् ॥ ३१ ॥

कर्द्मेश ! महादेव ! काशिवासिजनप्रिय ! । त्वत्पूजनान्महादेव ! पुनर्दर्शनमस्तु ते ॥

प्रातः स्नात्वा कर्दमेशम्पूजयित्वा च स(द्)द्विजान् ।
नागनाथञ्च चामुण्डाम्मोक्षेशङ्करुणेश्वरम् ॥ ३३ ॥

वीरभद्रन्ततो दुर्गां विकटाख्याम्प्रपूजयेत् । उन्मत्तभैरवन्नीलं कालकूटन्ततोऽर्चयेत्
दुर्गाञ्च विमलान्नत्वा महादेवन्ततो व्रजेत् । नन्दिकेशम्भृङ्गिरिटिं तत्रैव च गणप्रियम्
विरूपाक्षञ्च यज्ञेशम्विमलेश्वरमेव च । मोक्षदं ज्ञानदञ्चैवामृतेशन्तत्र पूजयेत् ॥३६

गन्धर्वसागरन्तीर्त्वा भीमचण्डीन्ततो व्रजेत् ।
तत्र स्नात्वा भीमचण्डीम्पयसा स्नापयेत्सुधीः ॥ ३७ ॥

पूर्वाह्णिकर्त्तव्यं तत्राऽऽह आदाविति कूपावलोकनं कृत्वा नीलकण्ठान्तन्देवता नत्वा ततः कर्दमेश्वरम्पूजयेदित्यन्वयः ॥ ३० ॥ कर्दमेशम्पूजयित्वेति । पाठक्रमादर्थक्रमो वलवानितिन्यायेन कर्दमेशम्पूजयित्वा कर्दमेश महादेवेति मन्त्रम्पठेत् स(द्)द्विजान् साधु द्विजान् चामुण्डामिति । 'चण्डमुण्डकरेदेवि सर्वाशापरिपूरके । नमः क्षेत्रस्थितायै ते यात्रासाङ्गत्वहेतवे' इति मन्त्रः ॥ ३३ ॥ विकटाख्यामिति । "द्विलक्षशक्तिसहिते! विकटे! योगिनीयुते ! । नमस्तेपादयोर्मातः क्षमस्वपरमेश्वरि ! ।" इति मन्त्रः । एतस्याऽग्रे असिताङ्गभैरवम्पूजयेत् । 'अं असिताङ्गभैरवाय नमः' इति मन्त्रः ॥ ३४—३६ ॥ भीमचण्डीमिति । "भीमचण्डि ! महादेवि! सर्वराक्षसभक्षिणि! । मुनित्राणकरेदेवि ! नमस्तेऽस्तु पुनः पुनः" ॥ इति मन्त्रः । अनेन मन्त्रलिङ्गेन 'भीमादेवीति विख्यातन्तन्मे नाम भविष्यति' इति वचनोक्ता देवीप्रोक्ता भवति । इयञ्च कोटिशक्तिसहिताध्येया 'कोटिशक्तिसमन्विता' इत्युक्तेः। यद्यपीयं हिमालयस्था तथाऽपि तत आगत्यांशेनाऽत्रस्थितेति बोध्यम् । चारुमुखादग्रे चन्द्रमुखगणमपि चकारात् पूजयेत् । अयञ्च वासिष्ठलैङ्गोक्तः कैश्चिदुक्तो विशेषस्तस्य वासिष्ठलैङ्गे दर्शनाभावा-

पञ्चोपचारैः सम्पूज्य ब्राह्मणान्परितोषयेत् । तत्र वासम्प्रयत्नेन कुर्याच्चण्डविनायकम्
रविरक्ताक्षगन्धर्वन्नरकार्णवतारकम् । शिवं सम्पूज्य यत्नेन रात्रौ पूर्ववदाचरेत् ॥३९

प्रातरुत्थाय सुस्नातः प्रार्थयेद्भीमचण्डिकाम् ।
भीमचण्डि ! प्रचण्डानि मम विघ्नानि नाशय ॥ ४० ॥

नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि पुनर्दर्शनमस्तु ते । ततो गच्छेदेकपादं गणङ्गत्वा सतण्डुलान् ॥

तिलांश्च विकिरेत्तत्र धनधान्यादिसम्पदे ।
ततो गच्छेन्महाभीमं भैरवम्भैरवीं शुभाम् ॥ ४२ ॥

भूतनाथञ्च सोमेशं पूजयेत्सिन्धुरोधसि । कालनाथङ्कपर्दीशम् कामेशञ्च गणेश्वरम् ॥
वीरभद्रञ्चारुमुखं गणनाथञ्च पूजयेत् । ततो गच्छेद्देहलीशम्विघ्नपूगनिवारणम् ॥
मोदकैः पृथुकैर्लाजैस्सक्तुभिश्चेक्षुपर्वभिः । पूजयेच्छ्रद्धयादेवन्तन्देहलीविनायकम् ॥
तत्पार्श्वे षोडशपुनर्विघ्ननाथान् समर्चयेत् । उद्दण्डगणपम्पूज्य उत्कलेश्वरमेव च ॥
रुद्राण्यास्तु तपोभूमिं दृष्ट्वा रामेश्वरम्व्रजेत् । वरणायान्ततः स्नात्वा तर्पणादि विधाय च
रामेश्वरं श्वेततिलैर्बिल्वपत्रादिभिर्यजेत् । सोमनाथञ्च तत्रैव पूजयेदिन्द्रदिग्गतम् ॥

न्निर्मूल इति बोध्यम् । इदं सर्वम्वक्ष्यमाणपञ्चक्रोशप्रदक्षिणापद्धतौ स्पष्टम्भविष्यति । रुद्राण्यास्तु तपोभूमिमिति । कस्मिंश्चित्समये देवी वनविहारार्थन्नानागणैः परिवृत्ता निर्जगाम सा तस्मिन्देशे आगत्यैकान्तन्दृष्ट्वा स्वानन्दरसेन समाधिनिष्ठा बभूव तच्छ्रुत्वा विश्वनाथो विष्णुब्रह्मादिदेवसहितस्तत्राऽऽगत्य देवीं समाधितो व्युत्थायाऽन्तर्गृहन्नेतुमियेष ततो देवी स्वांशेन तत्र स्थित्वा सर्वांश्च देवानंशेन वासयामास वरञ्च ददौ "अत्र ये पूजयिष्यन्ति सर्वदेवैर्युतान्तु माम् । तेषान्ददामि निर्विघ्नम्पुरुषार्थचतुष्टयम् । पुरश्चरणकृन्मर्त्यो जपेदत्र तु सिद्धये । यज्ञा नानाविधाश्चाऽत्र कर्तव्याः सात्विकक्षितौ । यद्यदत्र सुकर्म स्यात्तदनन्तगुणम्भवेत् । मत्प्रसादान्महादेव प्रतिज्ञैषा मया कृता । तपोवने तु ये भक्तास्ते मत्पुत्रा न संशयः ॥ इत्युक्त्वा भुवनेशानी पाशाङ्कुशवराभयैः । अलङ्कृतचतुर्बाहुर्जगाम शिवमन्दिरम्"

भरतेशं लक्ष्मणेशं शत्रुघ्नेश्वरमेव च। द्यावा भूमीश्वरं तत्र पूजयेन्नहुषेश्वरम् ॥४९॥

तत्र वासम्प्रकल्प्याऽथ पूर्ववज्जागरादिकम्।

कृत्वा स्नात्वाऽपि रामेशम्प्रार्थयेत्काशिवासदम् ॥ ५० ॥

श्रीरामेश्वर ! रामेण पूजितस्त्वं सनातन!। आज्ञान्देहि महादेव! पुनर्दर्शनमस्तु ते ॥

लिङ्गानि सुवहून्यादौ वरणा पारगान्यथ। पूजयित्वा ततो गच्छेद्देवसङ्घनिषेवितम्

देवसङ्घेश्वरे किञ्चिद्दत्त्वा स्थित्वा ततो व्रजेत्।

पाशपाणिं गणेशञ्च क्षेत्रमध्ये व्यवस्थितम् ॥ ५३ ॥

पूजयित्वा वहिश्चैव पृथ्वीश्वरमथो यजेत्। एकोऽश्वमेधः पृथुना कृतः क्षेत्राद्वहिः पुरा

स्वर्गभूमिस्तु सा ज्ञेया मोक्षभूमिस्तु मध्यतः।

काश्याश्चतुर्दिशं देवि ! योजनं स्वर्गभूमिका ॥ ५५ ॥

मृतास्तत्र तु गच्छन्ति स्वर्गं सुकृतिनाम्पदम्।

ततः सुपूयं हि सरः स्पृष्ट्वा गच्छेच्छनैः शनैः ॥ ५६ ॥

महत्क्षेत्रङ्कापिलन्तु यत्र श्रीवृषभध्वजः। तत्र स्नात्वा विधानेन तर्प्पयित्वा पितॄनथ ॥

श्राद्धम्विधाय सुश्रद्धः पूजयेद् वृषभध्वजम्। निवसेत्तन्तु दिवसं श्रवणादि प्रकल्पयेत्

वृषभध्वज ! देवेश ! पितॄणाम्मुक्तिदायक !। आज्ञान्देहि महादेव ! पुनर्दर्शनमस्तु ते

इति ॥ ४७ -४८ ॥ वहिश्चैव पृथ्वीश्वरमिति। पाशपाणिदर्शनार्थम्वरणामुल्लङ्घ्यागमनञ्ज्ञातन्तस्य दर्शनङ्कृत्वा पुनर्बहिर्वरणामुत्तीर्य पृथ्वीश्वरङ्गच्छेदित्यर्थः। कोऽसौ पृथ्वीश्वरस्तत्राऽऽह एकोऽश्वमेध इति। येन पृथुनाऽऽश्वमेधः क्षेत्राद्वहिः कृतस्तेन पृथुना स्थापितः पृथ्वीश्वर इत्यर्थः ॥ ५४ ॥ प्रसङ्गादाह स्वर्गभूमिस्त्विति। एतेन पृथ्वीश्वरः क्षेत्राद्वहिरस्तीत्युक्तिः परास्ता ॥ ५५–५६ ॥ श्राद्धम्विधाय सश्रद्ध-इति सनत्कुमारसंहितायां देवीम्प्रति शिववाक्यं "गयायान्न्यासितः पादस्त्वयैव पितृमुक्तये। सन्निधिः क्रियतेऽत्रापि यथोक्तं कृपया त्वया। मत्पादस्पर्शनादेव तत्र यान्ति पराङ्गतिम्। दक्षिणाध्वानमाश्रित्य येप्यघोरौरवाश्रयाः निपातितेऽत्रवै पिण्डे यैः

प्रदक्षिणीकृत्य ततो गच्छेज्ज्वालानृसिंहकम्। एवम्प्रदक्षिणीकृत्य सरः कापिलमुत्तमम्

वरणाञ्च ततस्तीर्त्वा स्नात्वा वै सङ्गमे शुभे ।
आदिकेशवमभ्यर्च्य सङ्गमेश्वरमेव च ॥ ६१ ॥
विनायकञ्चखर्वसञ्ज्ञम्पूजयित्वा ततो व्रजेत् ।
क्रोडीकृत्ययवान्शु(च्छु?)द्धान्विकिरन्विष्णुमुच्चरन् ॥६२॥

प्रह्लादेश्वरमभ्यर्च्य त्रिलोचनमतः परम् । विन्दुमाधवमभ्यर्च्य ह्रदे पञ्चनदे शुभे ॥
गभस्तीशं मङ्गलाञ्च गौरीं दृष्ट्वा ततो व्रजेत्। वशिष्ठवामदेवौ च पर्वतेश्वरमेव च

महेश्वरं समभ्यर्च्य ततः सिद्धि विनायकम् ।
सप्तावरणगान्दिव्यान्पूजयेत् गणनायकान् ॥ ६५ ॥

मणिकर्ण्यान्ततः स्नात्वा गच्छेद्विश्वेश्वरं यती । नमस्कृत्य महेशानम्प्रविशेद्देवसन्निधौ

पञ्चोपचारैः सम्पूज्य स्तुत्वा नत्वा पुनः पुनः ।
मुक्तिमण्डपमागत्य कृतार्थस्तत्र सम्विशेत् ॥ ६७ ॥

कैर्वापि प्रकारणात् । अनुजानासि वै देवि तेषाञ्च परमां गतिम्" । लैङ्गे "नरके स्थिता ये केचित्पितरः प्रपितामहाः । पितृलोकन्तु गच्छन्ति तस्मिन्श्रा(ञ्छ्रा?)द्धे कृते तु वै। गयातोऽष्टगुणम्प्रोक्तम्पुराणार्थविशारदैः" । महाभारतेऽपि "ततो वाराणसीङ्गत्वा देवमर्च्य वृषध्वजम् । कपिलाह्रद उपस्पृश्य राजसूयफलंलभेत्" इति ॥५९॥ एवं कापिलं सरः प्रदक्षिणीकृत्य ततो ज्वालानृसिंहम्प्रदक्षिणीकृत्य गच्छेदित्यन्वयः । पाठक्रमादर्थक्रमो बलवानितिन्यायात् ॥ ६०—६३ ॥ गौरीमिति अस्या ध्यानमन्यत्रोक्तम् "गुञ्जाकान्तिसमानकान्तिमरुणक्षौमाम्बरालेपनाम् । पाशाभीतिवराङ्कुशान् करतलैराबिभ्रतीं सुस्मिताम् ॥ नानारत्नकिरीटकुण्डलरणन्मञ्जीरहारावलिग्रैवेयाङ्गदकङ्कणैर्विलसिताङ्गौरीम्भजे मङ्गलाम्" इति ॥ त्रिनेत्रत्वं चन्द्रशेखरत्वन्त्वस्त्येव सर्वदेवेषु 'मायाबीजेन सम्पूज्या गौरी श्री सर्वमङ्गला' इति । तथा चेदं स्थानम्भुवनेश्वरीदेवतायाः सिद्धमिति बोध्यम् ॥ ६४ ॥ सप्तावरणगानिति । अस्मिन्समये सर्वगणेशानाम्पूजाया असम्भवात्पूजापदन्नामस्मरणपरमेव तेषां गणेशानां नामानि

विष्णुञ्च दण्डपाणिं च ढुण्ढिम्भैरवमेव च। आदित्यम्पञ्चगणपान्पूजयेत्पुनरेव च
प्रदक्षिणीकृतान्देवान्स्मरेत्तत्र क्रमात्सुधीः।
जय विश्वेश! विश्वात्मन्काशीनाथ! जगद्गुरो!॥ ६६॥
त्वत्प्रसादान्महादेव! कृता क्षेत्रप्रदक्षिणा। अनेकजन्मपापानि कृतानि मम शङ्कर!॥
तानि पञ्चक्रोशात्मलिङ्गस्याऽस्यप्रदक्षिणात्।
त्वद्भक्तिकाशिवासाभ्यां रहितः पापकर्मणा॥ ७१॥
सत्सङ्गश्रवणाद्यैश्च कालो गच्छतु नः सदा।
हर! शंभो महादेव! सर्वज्ञ! सुखदायक!॥ ७२॥
प्रायश्चित्तं सुनिर्वृत्तं पापानान्त्वत्प्रसादतः। पुनः पापमतिर्मास्तु धर्मबुद्धिः सदाऽस्तु मे
इति जप्त्वा यथा शक्त्या दत्त्वा दानं द्विजन्मनाम्।
वद्ध्वा करयुगम्मन्त्री मन्त्रमेतदुदीरयेत्॥ ७४॥
पञ्चक्रोशस्य यात्रेयं यथा शक्त्या मया कृता।
नूनं सम्पूर्णतां यातु त्वत्प्रसादादुमापते!॥ ७५॥
इति प्रार्थ्य महादेवं गच्छेद्गेहं स्वकं स्वकम्।
न्यूनातिरिक्तदोषाणाम्परिहाराय दक्षिणाम्॥ ७६॥
सङ्कल्प्य गत्वा च गृहं ब्राह्मणान्भोजयेत्ततः। तत आगत्य च गृहं कुटुम्बैः सह भोजनम

तु(त्व)अग्रे पञ्चक्रोशीप्रदक्षिणापद्धतौ वक्ष्यामः॥ ६५॥ आदित्यम्पञ्चगणपानिति ते च गणपाः काशीखण्डे मोदप्रमोदसुमुखदुर्मुखगणनाथाः प्रसिद्धाः॥ ६८॥ प्रदक्षिणीकृतान्देवानिति। ते च देवाः अनुपदोक्ता एव ग्राह्याः॥ ६६—७६॥ दिनचतुष्टयमिति लिङ्गपुराणे तु पाशपाणौ चतुर्थदिवसे वास उक्तो न तु वृषभध्वज इति विशेषः। शिवरहस्ये तु "दिनाष्टकेन कर्तव्यं पञ्चक्रोशप्रदक्षिणम्" इत्युक्तम् तदा दुर्गाकुण्डे कर्दमेश्वरे भीमचण्ड्यां देहलीशे रामेश्वरे पाशपाणिविनायके वृषध्वजे गृहे इत्यष्टौ वासस्थानानि यद्यपि पुराणपर्यालोचनया सामान्यतो ब्रह्महत्यादिपापक्षयार्थत्वं पञ्चक्रोशयात्रायाः प्रतीयते तथाऽपि प्रतियोजनं प्राजापत्य-

कृतात्मानन्ततो ध्यायेत् कृतकृत्यो भवेत्ततः। एक रात्रन्तु मध्ये यः प्रवसेच्छुचिमानसः
वरणायास्तटे रम्ये स याति परमाङ्गतिम्। द्विरात्रमध्येवसतिं यः कुर्याद्धर्मतत्परः॥
प्रथमं चण्डिकाक्षेत्रे द्वितीयम्वरणातटे। दिवसन्तु वसेद्धीमांस्ततो विश्वेश्वरम्व्रजेत्

यस्तुत्रिरात्रमुषितो मध्ये भवति पार्वति !।
दुर्गालये भीमचण्ड्यां रामेशे वासमृच्छति ॥ ८१ ॥

वसतिं यस्तु कुरुते मध्ये दिनचतुष्टयम्। प्रथमास्वसतिङ्कुर्यात्कर्दमेश्वरंसन्निधौ ॥८२॥

द्वितीयाम्भीमचण्ड्यान्तु रामेशे तु तृतीयकाम्।
चतुर्थीङ्कापिले तीर्थे वसती(ति)म्परिकल्पयेत् ॥ ८३ ॥

राजवृद्धकुमाराणां यथेष्टम्वासइष्यते। यथाकथञ्चिद्देवेशि पञ्चक्रोशप्रदक्षिणाम्॥
कुर्यादेव न मासादि चिन्तयेद्धर्मकोविदः। स एव शुभदःकालो यस्मिञ्छ्रद्धोदयो भवेत्
श्रद्धा हि दुर्लभा लोके कलौ खलु विशेषतः। श्रद्धैव तीर्थन्देवश्च श्रद्धा स्वर्गापवर्गकौ॥
श्रद्धया यत्कृतंसर्वमनन्तफलदम्भवेत्। सत्ये श्रद्धा गुणवती नासत्ये सा फलप्रदा॥८७

काश्यां तिष्ठति यो नित्यं स्नाति भागीरथीजले।
कुर्यात्साम्वत्सरीं यात्रां पञ्चक्रोशस्यसुन्दरि ! ॥ ८८ ॥
स ब्रह्मभूतो निवसेन्ममाऽनुग्रहतः सुखी ॥ ८९ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये पञ्चक्रोशयात्रावर्णने दशमोऽध्यायः ॥१०

कल्मष (ल्पन?) पापञ्च प्राजापत्यप्रत्याम्नायतामेव कल्पयन्ति शिष्टाः। एवमन्तर्गृह-यात्रायां योजनन्यूनत्वेऽपि वहुतरदेवदर्शनाधिक्यादेव प्राजापत्यप्रत्याम्नायतामिति ॥ ८३ ॥ सत्ये श्रद्धेति। सत्यपालने कृते सति श्रद्धा गुणवती तदभावे न गुणवती ततः सत्यपालनं कर्तव्यमित्यर्थः "अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकम्विशिष्यते।" इतिस्मृतेः कपटे सत्याभावस्य विद्यमानत्वाच्छ्रद्धाऽपि कपटयुक्तैवेति न सा फल-प्रदेतिभावः ॥ ८७ ॥

अत्र च क्षेत्रप्रदक्षिणायां दुर्गाकुण्डे पाशपाणिविनायके च वास उक्तः। तत्र वासेऽपि मलमूत्रविसर्जनं गण्डूषादिकन्निष्ठीवनादिकमुच्छिष्टत्यागादिकञ्च क्षेत्रस्य वहिरेव कार्यं न देवता शरीरात्मके क्षेत्रे; तदुक्तं देवीपुराणे "प्रदक्षिणा यदा कार्या क्षेत्रमध्ये तदा नरः। गण्डूषञ्च तथोच्छिष्टम्विसर्गो मलमूत्रयोः। निष्ठीवनं नैव कुर्याद्देवतायास्तनौ मुने! ।" इति। शिवरहस्ये; "शृणु वक्ष्ये विधिं सम्यक् पञ्चक्रोशप्रदक्षिणे। यत्प्रदक्षिणमात्रेण नश्यत्यघकुलङ्क्षणात्॥ उपवासः प्रयत्नेन कार्यो मुण्डनपूर्वकम्। पञ्चगव्यन्ततो ग्राह्यं स्नात्वा ज्ञानेशसन्निधौ॥ ततोऽन्तर्गृहयात्रापि कर्त्तव्या विधिपूर्वकम्। प्रातरुत्तरवाहिन्यां स्नात्वा विश्वेशमर्चयेत्॥ मुक्तिमण्डपमासाद्य ततः सङ्कल्पमाचरेत्" ॥ इति। पञ्चक्रोशयात्राङ्कृत्वाब्राह्मणभोजनङ्कार्यन्तदुक्तं नन्दिपुलस्त्येन नारदम्प्रति "पुरीम्प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्मणान्भोजयन्ति ये। तत् कृतार्थं न सन्देह एतत्सत्यम्मयोदितम्" इति। देवीपुराणे "यात्राङ्कृत्वा विधानेन ब्राह्मणान्भोजयेत्ततः॥ प्रियेतां शङ्करौ देवी काशिका च पराम्बिका। सुवासिनीः कुमारीश्च परहंसांस्तथैव च। दीनान्धकृपणांश्चैव यथाशक्त्यातु भोजयेत्" इति ॥ अस्याम्प्रदक्षिणायां मार्गेण क्षेत्रान्तर्गतदुर्गापाशपाणिविनायकादीनाम्पूजनार्थं गन्तव्यं तेनैव मार्गेण पुनस्तस्मिन्नेव स्थल आगत्य प्रदक्षिणा कार्या। तदुक्तं देवीपुराणे "येन मार्गेण गन्तव्यन्तं मार्गं न परित्यजेत्" इति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां

दशमोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथैकादशोऽध्यायः

पञ्चक्रोशीयात्रानियमवर्णनम्

देव्युवाच

क्षेत्रप्रदक्षिणे देव! नियमाःके भवन्ति तान्।
वदस्व तारिताशेष विश्वनाथ! कृपालय! ॥ १ ॥

महादेव उवाच

प्रतिग्रहं परान्नञ्च परदाराभिभाषणम्। परस्वग्रहणं स्नेहादसद्वार्ताञ्च वर्जयेत् ॥२॥
असताम्पापिनां सङ्गं न कुर्यात्प्रहितो नरः। असत्समागमात्सर्वं निष्फलञ्जायते नृणाम्
मम द्रोहपरैस्साकं न व्रजेद्विष्णुनिन्दकैः। परापवादन्नो कुर्यात्परद्रोहम्विवर्जयेत् ॥४॥
गुरुनिन्दां शास्त्रनिन्दां शिवधर्ममहात्मनाम्।
तीर्थलिङ्गतपोनिन्दां न कुर्यात्तु प्रदक्षिणे ॥ ५ ॥
अन्यदा तु कृतम्पापं नश्येत् क्षेत्रे प्रदक्षिणात्। क्षेत्रे प्रदक्षिणामध्ये कृतं केन प्रणाश्यते
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्चैवाऽन्त्यजातिभिः।
काङ्क्षिभिः परमन्तत्त्वं कर्त्तव्या क्षेत्रदक्षिणा ॥ ७ ॥
किञ्चिद्दानान्प्रत्यहं ब्राह्मणेभ्यो देयं दीनानाथम्पङ्ग्वन्धकेषु।
भूमौ शय्यातैलमांसादिदुष्टं सर्वम्वर्ज्यं क्षेत्रयात्रादिनेषु ॥ ८ ॥

अथैकादशोऽध्याये यात्रा नियमा उच्यन्ते। देव्युवाच क्षेत्रप्रदक्षिणे देवेति ॥१॥ स्नेहादिति देहलीदीपकन्यायेन पूर्वापरयोरन्वेति ॥ २ ॥ ममद्रोहपरैरिति। ननु शिवद्रोहिणो यात्रान्नैव कुर्वन्तीति निषेधो व्यर्थ इति चेन्न व्यवहारार्थन्तैरपि यात्राकरणसम्भवात् ॥ ४ ॥ शिवधर्मे महात्मानस्तदाचरणवन्त इत्यर्थः ॥ ५ ॥ सर्वप्रायश्चित्तपरमावधिरियम्पञ्चक्रोशीप्रदक्षिणा तस्याम्पापे कृते प्रायश्चित्तं किं भवेदित्यभिप्रायेणाऽऽह अन्यदा त्विति। प्रदक्षिणाधिकारिण आह ब्राह्मणैरिति ॥७

माषान्नञ्च मसूरांश्च चणकान्कोद्रवांस्तथा। ताम्बूलम्मैथुनञ्चैव भोगानन्यांश्च वर्जयेत्
स्नानद्वयम्प्रकुर्वीत नित्यश्राद्धञ्च सुन्दरि !।
यदत्र किञ्चित्क्रियते कोटिकोटिगुणम्भवेत् ॥ १० ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथ मस्करी। क्षेत्रे वसन्बहिर्वाऽपि कुर्यादेव प्रदक्षिणाम्
ब्रह्महत्यादिपापानां प्रायश्चित्तन्नचाऽपरम्।
बहिष्कृतानाम्पापानां मध्ये वाऽपि सुरेश्वरि !
प्रायश्चित्तान्तरम्पुंसो न दृष्टं न मया श्रुतम्।
सन्ति देवाश्च बहवः स्वर्गभूमौ बहिः सदा ॥ १३ ॥
मदाज्ञान्न लभन्त्येव वासार्थं दैन्यमागताः। बहिःस्थिताः प्रकुर्वन्ति दक्षिणं क्षेत्रलब्धये
ममानुग्रहकामैश्च पञ्चक्रोशात्मकम्प्रिये !। लिङ्गम्प्रदक्षिणीकृत्य द्रष्टव्योऽहं कृपानिधिः
यस्मिन्क्षेत्रे महादेवि ! पुण्यम्पुण्यतरन्तु वा। अनन्तकोटिगुणितं भवेत्सर्वं न संशयः
अन्तर्गेहे कृतम्पापं केवलं यातनागृहम्। अन्यक्षेत्रे कृतम्पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति॥१७
पुण्यक्षेत्रे कृतम्पापं वाराणस्यां विनश्यति। वाराणस्यां कृतम्पापमन्तर्गेहे विनश्यति
अन्तर्गेहे कृतम्पापं वज्रलेपो भविष्यति। वज्रलेपच्छिदे ह्येतत्पञ्चकोशप्रदक्षिणम् ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुर्यात्क्षेत्रप्रदक्षिणाम्। वाराणसीन्तु सम्प्राप्य प्रमादाद्यो बहिर्गतः
दैवात्स पुनरागत्य दक्षिणेन प्रशुध्यति। अविमुक्तं महाक्षेत्रं सर्वदा जननी यथा॥२१
पुत्रस्य जननी लोके सर्वदा हितकारिणी। हितकृत्सर्वजन्तूनां काशीहाऽमुत्र सिद्धिदा

मध्ये क्षेत्रमध्येऽपि कृतानाम्पापानामित्यर्थः ॥१२॥ स्वर्गभूमाविति। "काश्याश्चतुर्दिशं देवि ! योजनं स्वर्गभूमिका। मृतास्तत्र हि गच्छन्ति स्वर्गंसुकृतिनाम्पदम्" इति वचनोक्ता स्वर्गभूमिका ॥ १३—१६ ॥ अथ क्षेत्रसंन्यासकृताम्प्रदक्षिणाप्रकारं श्रोतुम्पृच्छति देव्युवाच भगवन्निति। कृतार्च्यानामिति। कृता स्थापिता अर्च्या लिङ्गादिप्रतिमा यैस्ते एतादृशा ये नियमेन स्वस्थापितमूर्तेः पूजा नियमवन्तस्तेषान्तथा क्षेत्रसंन्यासिनामपि एतस्मात्क्षेत्राद्बहिर्न गन्तव्यमिति सङ्कल्पङ्कृत्वा ये ऽवस्थितास्तेषामपीप्यर्थः। क्षेत्राद्बहिः प्रदक्षिणायां कृतायां तत आगत्य प्रत्यहं स्वस्थापितलिङ्गस्य

श्रीदेव्युवाच

भगवन्सर्वभूतेषु कृपापूरितविग्रह ! । कृताच्र्यानाम्वद विभो ! क्षेत्रंसन्यासिनामपि ॥
प्रदक्षिणक्रमं क्षेत्राद्बहिर्वा मध्यतोऽपिवा । नियमस्य न भङ्गः स्याद्यथा पापञ्च नश्यति

देहिनाम्पापसम्बन्धः सर्वदा जायते क्रमात् ।
तत्काशिवासिनां नश्येत् क्षेत्रसंन्यासिनान्तथा ॥ २५ ॥
पञ्चक्रोशस्य यात्रायां शक्तिर्येषां न विद्यते ।
तेषाम्पापं कथं नश्येत् क्षेत्रपापकृतां सताम् ॥ २६ ॥

श्रीभगवानुवाच

सम्यक् पृष्टन्त्वया देवि ! महाहङ्कारनाशनम् ।
प्रायश्चित्तं न्यासिनां हि क्षेत्राघौघविनाशनम् ॥ २७ ॥
विधिस्तु पूर्वमेवोक्तो नियमादियुतस्तव । प्रदक्षिणक्रमस्तेषामवधारय सुव्रते ! ॥२८॥

पूजासम्भवाभावे नियतपूजानियमस्य क्षेत्राद्बहिर्न गन्तव्यमिति नियमस्य च भङ्गः स्यादेव स यथा न स्यात्तथा वदेत्यन्वयः । क्षेत्रसंन्यासविधिश्च पूर्वमुक्तो न विस्मर्तव्यः ॥ २३—२५ ॥ किञ्च पञ्चक्रोशयात्राकर्तुमशक्तानाञ्च पापं यथा नश्येत्तमपिप्रकारम्वदेत्याह पञ्चक्रोशस्य यात्रायामिति ॥ २६ ॥ तथा चाऽधिकारित्रयं सम्पन्नन्तदुद्देशेन श्री भगवानुवाच सम्यक् पृष्टमिति ॥ २७॥ विश्वेशम्विश्वया सहेति। अस्याम्प्रदक्षिणायां पञ्चक्रोशप्रदक्षिणायाञ्च ज्योतिर्लिङ्गस्य ध्यानं वासिष्ठलैङ्गोक्तमुच्यते "ज्योतिर्लिङ्गम्विभाव्यादावापातालात्समुत्थितम्। तन्मध्ये भावयेद्देवं पञ्चवक्त्रञ्चतुर्भुजम् ॥ षोडशाब्दम्वराभीतिपरशून्मृगमेव च। दधानञ्चन्द्रशिरसं त्रिनेत्रङ्कृत्तिवाससम् ॥ नानाकल्पसमायुक्तं तस्याङ्के भुवनेश्वरीम् ॥ भास्वज्जपाप्रसूनाभाङ्कुमारीं नवयौवनाम् । पाशाङ्कुशवराभीतिधारिणीञ्चन्द्रशेखराम् ॥ सर्वशृङ्गारवेषाढ्यां ध्यायेदेवम्पराम्बिकाम्। लिङ्गस्यपार्श्वयोर्ध्येयौ ब्रह्मविष्णुसुरोत्तमौ ॥ कुर्वाणौ तौ स्तुतिशम्भोः करसम्पुटशालिनौ। लिङ्गस्योर्ध्वं हंसरूपं

स्नात्वा देवं समभ्यर्च्य विश्वेशम्विश्वया सह ।
मोदादिपञ्चकण्ढुण्ढिं दण्डपाणिञ्च भैरवम् ॥ २६ ॥

पूर्ववत्तीरगान्पूज्य दुर्गां सम्पूज्य यत्नतः । वहिरावरणन्त्यक्त्वा गणेशानान्तु सप्तकम्
मध्ये प्रदक्षिणङ्कुर्यादसिवरणयोः कृती । सम्मुखीभूय विधिवत्पूजयेच्चाऽग्रतःस्थितान्
देवा देव्यश्च फलदाः क्षेत्रपालाः प्रयत्नतः । एकरात्रं द्विरात्रम्वा वसेन्मध्ये त्रिरात्रकम्
यत्र श्रद्धा सुमहती वसेत्तत्र न संशयः । प्रत्यहं दण्डपाणेस्तु पूजा कार्या प्रयत्नतः ॥
दण्डपाणेः पूजनेन सिद्धा भवति नान्यथा। दण्डपाणे ! यक्षपते ! क्षेत्रसंन्यासिवल्लभ !

पञ्चक्रोशस्य यात्रेयं सिद्धा मे त्वत्प्रसादतः ।
आगत्य विश्वनाथस्य पूजा कार्या च पूर्ववत् ॥ ३५ ॥

देव्युवाच

प्रत्यहं दण्डपाणेस्तु पूजा प्रोक्ता विशेषतः । किमेतद्वद देवेश ! यात्रामुद्दिश्य शङ्कर !॥

ध्यायेद्ब्रह्माणमव्ययम् । लिङ्गाधस्तात्क्रोडरूपं ध्यायेद्विष्णुं सनातनम्" इति ॥ २६॥ सप्तकमिति । सप्तावरणविनायकेषु बहिरावरणे विद्यमानं सिद्धिविनायकन्दक्षिणतः प्रदक्षिणायाङ्कृत्वाऽर्कविनायकादिखर्वविनायकान्तान् सप्तविनायकान्वामतस्त्यजे- दित्यर्थः । तान्विहाय प्रदक्षिणा कार्येतिभावः ॥ ३० ॥ असीवरणयोः कृतीति । तथा च मया पूर्वं य उक्तश्चतुर्विधक्षेत्रभेदस्तन्मध्ये वाराणसीक्षेत्रस्य पूर्वं दशमा- ध्यायोक्ता पञ्चक्रोशप्रदक्षिणा दर्शिताऽनन्तरमेकादशाध्यायेऽस्मिन्नुक्ता तु नगर- प्रदक्षिणेति विचारमन्ते वक्ष्यामः । सम्मुखीभूयेति क्षेत्रमध्ये प्रदक्षिणायां सीमान्त- स्थिताः कपर्दीश्वरादिकपिलेश्वरान्ता देवाः प्रदक्षिणकर्तुर्वामतः पतन्ति तेषां सम्मुखो मध्ये भूत्वा स्वाग्रतस्थितांस्तान्देवान्पूजयेदित्यर्थः ॥ ३२ ॥ पञ्चक्रोशस्येति । यद्यपीयं नगरप्रदक्षिणा तथापि पञ्चक्रोशीबुध्या कृतत्वात्पञ्चक्रोशस्येत्युक्तम् ॥३३—३५॥ नगरप्रदक्षिणाकर्तॄणां दण्डपाणिदर्शनमावश्यकमुक्तं तत्र निमित्तम्पृच्छति देव्युवाच प्रत्यहमिति ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच

काशीम्प्राप्य बहिर्नैव गच्छेत्सर्वात्मना क्वचित् ।
मन्मुखात्सम्यगाश्रुत्य क्षेत्रसन्न्यासकृत्तमः ॥ ३७ ॥

दण्डपाणिः समभवत्तदारभ्य वरानने ! । कालान्तरे तदा देवि ! ऋषिभिर्नारदादिभिः
पृष्टोऽहं क्षेत्रजनितपापनाशनमद्भुतम् । तदा सुदुर्लभन्देवि ! प्रायश्चित्तम्मया महत् ॥
उपदिष्टम्महल्लिङ्गं प्रदक्षिणमशेषतः । तच्छ्रुत्वा पृष्टवान् दण्डपाणिः क्षेत्रपरायणः
तदा मयोपदिष्टोऽसौ महापाशुपतः कृती । क्षेत्रयात्रा द्वितीया मे मयोक्ता दण्डपाणये
ततो दण्डपतेः पूजा कर्तव्या पूर्त्तिकारिणी । पञ्चक्रोशात्मकस्यैव लिङ्गस्य परमात्मनः
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा जीवन्मुक्तो भवेन्नरः ॥

देव्युवाच

ज्ञात्वाऽपि श्रद्धया देव ! न कुर्वन्ति प्रदक्षिणम् ॥ ४३ ॥
तत्केन हेतुना मर्त्या उपेक्षन्ते महाफलम् ॥

श्रीभगवानुवाच

श्रद्धापुण्यवतां देवि ! न पाण्डित्यादिभिस्सदा ॥ ४४ ॥
तस्माद्धर्मे प्रयततां सिध्येत्सर्वन्न चाऽन्यतः ॥ ४५ ॥

श्रीभगवानुवाच तदारभ्येति । मन्मुखनिःसृतवाक्यश्रवणोत्तरकालमारभ्येत्यर्थः । तथा चैतस्या यात्रायाः प्रवर्तकः स एवाचार्य इति । तत्प्रसादादेव साफल्यं यात्राया भवेदिति । तत्पूजनम्प्रत्यहमावश्यकमुक्तमितिभावः । कस्मिन् समये त्वयोक्तं तत्राऽऽह कालान्तरे तदा देवीति । यस्मिन्कस्मिंश्चित्कालान्तर इत्यर्थः ॥ ३७-३९॥ द्वितीयेति । एका पञ्चक्रोशयात्रा द्वितीया वाराणसीक्षेत्रयात्रा ॥ ४१ ॥ महाप्रदक्षिणाया आवृत्तिफलमाह पञ्चक्रोशेति । एवपदस्य जीवन्मुक्तस्येत्यत्राऽन्वयः ॥ ४२ ॥ देव्युवाचेति प्रश्नार्थः स्पष्टः ॥४३॥ श्रीभगवानुवाच श्रद्धेति। श्रद्धा दौर्लभ्यादेवाधर्मिणो धर्मं न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

यत्र यत्र परिरज्यते जनस्तत्र तत्र सुखमेधते पुनः ।
साधनानि विदधाति तत्परो येन तत्फलमवाप्नुयान्नरः ॥४६॥
लौकिके परमवैदिकेऽथ वा पामरः परमतत्त्ववित्तथा ।
मोदकः परममोदको यथा दीयते कपटभार्यया यथा ॥४७॥
मोहितो नहि विचारयत्ययं जीवनम्मरणमप्यहोऽवशी ।
एकमेकं कालकूटमिन्द्रियन्नाशकृत्पुनः ॥ ४८ ॥
तदेवशोधितं यद्वद्विषमप्यमृतम्भवेत् ॥ ४६ ॥
जगत्तृणीकृत्य स कालमृत्युं स्वात्मानमायोज्य शिवेन योगैः ।
अविघ्नमेवं समलम्विसृज्य शरीरसंज्ञम्मलखण्डभाण्डम् ॥ ५० ॥
मुक्तो भवेदेष नचाऽन्यथैव मर्त्यः प्रसादादपि ते विरक्तः ।
कः कर्तुमेवम्प्रभवत्यविघ्नं कलौ मनुष्यो वहुदोषयुक्तः ॥ ५१ ॥

जनाचरणं दृष्ट्वा चतुर्भिः श्लोकैराक्रोशति भगवान् यत्रयत्रेति । एवं रीत्या-व्यर्थमायुः क्षपणङ्कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ४६ ॥ लौकिक इति । यथा कपटरहितया प्रियया भार्यया दत्तो मोदकः पक्वान्नविशेषः परप्रमोदकः परमतोषकारी भोक्तुः स्वामिनो भवति तथाऽयम्पामरः परोक्षपरमतत्त्वविदपि लौकिके परमवैदिकेऽथ वा स्वचाटुवा-क्यैर्जनान्वञ्चयितुम्प्रवृत्तस्तेषां मोदको हर्षकारको भवति लोका अपि एतादृशधूर्त्त-वाक्येष्वेव विश्वासङ्कृत्वाऽधोगच्छन्तीतिभावः । परन्तु मोहितः सन्स्वस्य जीवन-म्मरणम्वा न विचारयत्यहो आश्चर्यम्! ॥४७॥ तर्हि किङ्कर्तव्यमितिचेत्तत्राऽऽह एकमेक मिति ॥ ४८ ॥ यथा विषं शोधितं शास्त्रमार्गेणामृतम्भवेत्तथेन्द्रियाण्यपीत्यर्थः ॥४०॥ एवमिन्द्रियशोधनङ्कृत्वा किंकर्तव्यन्तत्राऽऽह जगत्तृणीति । कालमृत्युसहितं जगत्तृणी-कृत्य मिथ्यात्वनिश्चयेन तुच्छीकृत्य तत्रैषणां त्यक्त्वा स्वात्मानं स्वजीवं योगैर्योगसा-धनैः शिवेन परमात्मना संयोज्य तदैक्यं सम्पाद्य पश्चाद्वृत्तावुत्थितायामपि शरीर-संज्ञम्विसृज्य तादात्म्यन्त्यक्त्वा एष पुरुषो मुक्तो भवेन्नचान्यथा नान्यप्रकारेण तथा-

तथापि मुक्तो भविता यदि त्वां भजत्यभीक्ष्णं सकलैश्च भावैः ।
पूर्वोदितो दुर्मतिदर्शकोऽयं विमोहनार्थैरखिलैश्च शास्त्रैः ॥ ५२ ॥
वीभत्सिते दुर्विषहे कदाचिद्यो वाऽनुरागो भविता नरस्य ।
स चेद्भविष्यत्परमात्मनीशे को नाममुक्तो न भवेद्भवाब्धेः ॥ ५३ ॥
अविमुक्तम्ममक्षेत्रमविमुक्तं सदा शिवम् । अविमुक्तजनं शान्तं सेवन्ते ये धृतव्रताः

चेदङ्कर्तव्यमितिभावः ॥ ५० ॥ नन्विदं कर्तव्यमतिदुर्लभं दुःसाध्यञ्च महतामपीति तदन्योऽपि प्रकारः सुलभो मोक्षदायकोऽस्ति चेद्वदेतिचेद्द्वितीयोऽपिप्रकारोऽस्तीत्याह मर्त्यः प्रसादादपि ते विरक्त इति । हे भगवति ! सकलैः साधनैर्विहीनोऽपि यदि केवलं त्वत्प्रसादं साधयति तर्हि तस्मात्प्रसादादेव विरक्तो भवतीत्यर्थः । देवीप्रसादादेव ब्रह्मत्वलाभश्च तलवकारोपनिषद्याम्नायते "स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ब्रह्मेति होवाच" इति । तथा शुकम्प्रति देवीवाक्यं सौरपुराणे "मत्प्रसादादेवविज्ञानं ततो मुक्तिर्नसंशयः" इति । सूतसंहितायामपि "पार्वती परमा विद्या ब्रह्मविद्याप्रदायिनी । विशेषेणैव जन्तूनां नाऽत्र सन्देहकारणम्" ॥ इति । तथा देवीभागवते "यद्भक्तिलेशलेशांशलेशलेशलवांशकम् । लब्ध्वा मुक्तो भवेज्जन्तुस्तां न सेवेत को जनः" ॥ इति । इतरसाधनानां दुःसाध्यत्वेन कृतैरपि सिद्धेरदृश्यत्वेन च सर्वसाधनापेक्षया त्वच्चरणारविन्दार्चनं सर्वभावैर्यदि करोति बहुजन्मार्जितपुण्यगौरवात्तदा सकलदोषयुक्तोऽपि निर्विघ्नम्मुक्तो भवतीत्याह कः कर्तुमेवमिति । एवं श्रुत्युक्तसाधनप्रकारं कर्तुं कः प्रभवति समर्थो भवति न कोऽपीत्यर्थः ॥ ५१-५२ ॥ तथापि साधनरहितोऽपि तथा च देवीभागवते मार्कण्डेयपुराणे च 'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणाम्भवति मुक्तये' इति । पूर्वोदित इति । विमोहनार्थैरखिलैश्चशास्त्रैर्लोकानान्दुर्मतिदर्शको यो वीभत्सितेदुर्विषहे कदाचिद्भविता जायमानः पूर्वोक्तोऽनुपदोक्तोऽनुरागः सचेत्परमात्मनि भविष्यद्भविष्यति तदा भवाब्धेः को न मुक्तो भवेदपि तु सर्व एवेत्यर्थः ॥५३॥ अस्तु सा कथाऽविमुक्ताश्रितानां सर्वमेव सुलभन्तव

विमुक्ताः परमानन्दे पदे स्थितिमुपागताः। अनेकजन्मसुमहत्साधनैर्ज्ञानमुत्तमम् ॥
प्राप्नुवन्ति तदैकेन जन्मना साधुवासिनः। अष्टाङ्गादिभिरन्यैश्च तपोमोक्षादिभिः सदा
साधितैः पाक्षिकीसिद्धिरविमुक्ते निरर्गला।
अविमुक्तात्परो योगो ज्ञानन्दानं जपस्तपः ॥ ५७ ॥
क्षेत्रन्यासं दृढङ्कृत्वा वसेद्धर्मपरः सदा। क्षेत्रन्यासपराणान्त्वमहमप्यनुकामजैः ॥५८
भोगैः सहायतां यातौ दिशावः परमाङ्गतिम्। यथा पतिव्रता भार्या भर्तारमनुगच्छति
तथा साहसमालम्ब्य काशीमनुगतो भवेत्। गुरुद्रोहरतो यस्तु विप्रद्रोहपरस्तथा ॥६०
न तस्य काशी सिध्येत बहुभिः साधनैर्यतः।
क्षेत्रसन्न्यासिनामेवं क्रमः प्रोक्तो मयानघे ! ॥ ६१ ॥
प्रदक्षिणाया माहात्म्यं महापापहरं शुभम् ॥ ६२ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये क्षेत्रसंन्यासिनाम्प्रदक्षिणामाहात्म्यवर्णनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

मम च प्रसादादस्तीत्याह अविमुक्तमिति ॥५४॥ जपस्तपो नास्तीत्यर्थः ॥५७॥ त्वमिति देवीम्प्रति शिवोक्तिः अनुकामजैः कामोत्तरज्ञायमानैर्भोगैरित्युत्तरेणाऽन्वयः क्षेत्र सन्न्यासिनाम्भोगम्मोक्षञ्च ददाव इतिभावः ॥ ५८ ॥ साहसमप्यालम्ब्येत्यर्थः। बहुभिः साधनैर्युतोऽपि यो गुरुद्रोहरतस्तस्येत्यन्वयः ॥ ६१—६२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अत्र टीकाकृतोक्तो विशेषः :—

इयं दशमाध्याये या पञ्चक्रोशप्रदक्षिणोक्ता सा किं काशीक्षेत्रस्योत वाराणसी क्षेत्रस्य ? तत्र नाद्यः, काशीक्षेत्रस्याऽऽनाहतो विस्तारतश्च दशक्रोशमितत्वात् तथा हि मध्यमेश्वरमारभ्य देहलीविनायकपर्यन्तं सूत्रभ्रमणेन मध्यमेश्वरस्य पूर्वतः पञ्चक्रोशास्तथा पश्चिमतः पञ्चक्रोशास्तथा दक्षिणोत्तरयोः पञ्चक्रोशा मिलित्वा दशक्रोशताविस्तारत आनाहतश्च सिद्धा। तत्र क्षेत्रमध्ये यदा गङ्गेतिवचनाद्गङ्गायाः क्षेत्रमध्यस्थत्वं प्रतिपादितं 'श्रीगङ्गां वामतः कृत्वा प्रदक्षिण समाचरेत्' इति। वचनात्प्रदक्षिणाया अर्द्धक्षेत्रविषयत्वं सिद्धम्। नच क्षेत्रस्य दशक्रोशमितत्वे वृषभध्वजस्याऽपि तदन्तर्गतत्वसम्भवाद्वृषभध्वजस्य सीमा "वहिर्गतमपिज्ञेयन्तीर्थमिदं शुभम्" इति। काशीखण्डवचनेन बहिर्भावः कथमुक्त इति चेन्न, तत्र सीमाबहिर्गतत्वन्न काशीसीमाबहिर्गतत्वम्विवक्षितम्, किन्तु वाराणसीसीमाबहिर्गतत्वम्विवक्षितं वाराणसी क्षेत्रस्य च वृषभध्वजपर्यन्तमभावस्याऽनेनैव वचनेन बोधनात्। अतएव 'मध्ये वाराणसी श्रेष्ठं मम सान्निध्यतोऽमरैः" इत्युत्तरार्धेन स्वसान्निध्येनैव तस्य श्रेष्ठत्वमुक्तम् तथाच अर्द्धक्षेत्रस्य सा प्रदक्षिणा सिद्धा न सर्वस्य काशीक्षेत्रस्येति। न द्वितीयः, वाराणसीक्षेत्रप्रदक्षिणाया द्वितीयायाः क्षेत्रसंन्यासिविषयत्वेन पृथग्वक्ष्यमाणत्वादिति। अत्रोच्यते पञ्चक्रोशयात्रा वाराणसीक्षेत्रस्यैव न काशीक्षेत्रस्य। ननु तथात्वे पञ्चक्रोशप्रदक्षिणा काशीप्रदक्षिणशब्देन कथं पुराणेषु व्यवह्रियत इति चेन्न ग्रामैकदेशे ग्रामशब्दप्रयोगवत्काश्यर्द्धदेशेऽपि काशीपदप्रयोगोपपत्तेः॥ वाराणसीक्षेत्रस्य चाऽसिवरणानद्यावारभ्य पाशपाणिविनायक पर्यन्तत्वस्य पाद्मोक्तपूर्ववचने कथनात्; कर्दमेश्वरादीनां सीमान्तत्वोक्तिरपि अन्तशब्दस्य समीपदेशवाचितया युक्तैव। यातु द्वितीया क्षेत्रसंन्यासिविषया प्रदक्षिणा सा तु नगरप्रदक्षिणाशब्दवाच्या न तु सा वाराणसीक्षेत्रस्य। ननु तथात्वे कल्पतरौ काशीरहस्ये आग्नेये क्षेत्रसंन्यासविधौ "क्षेत्रम्प्रदक्षिणङ्कुर्यादक्षिणे चोत्तरे तथा। पञ्चरात्रेण वै कुर्यात्सर्वपापनिवृत्तये॥ केदारम्प्रथमं स्थानं भीमचण्डी द्वितीयकम्। तृतीयम्वरणाचैव चतुर्थम्वृषभध्वजः"॥ श्रीविन्दुमाधवंम्विंद्यात्पञ्चमं स्थानमुत्तमम्" इति वचनेन क्षेत्र

संन्यासिनाम्वाराणसीप्रदक्षिणवासस्थानकता कथमुक्तेति चेन्न तत्र क्षेत्रसंन्यास शब्देन विध्युक्तसंन्यासातिरिक्तकाशीवासनिश्चयरूपक्षेत्रसंन्यासस्य विवक्षितत्वात् अतएवान्तिमाध्याये काश्यां यैर्लिङ्गं स्थापयित्वा तत्पूजानियमः कृतस्तेषां तथा क्षेत्राद्बहिर्निर्गन्तव्यमिति सङ्कल्पः कृतस्तेषां क्षेत्रसंन्यासिनाञ्च तथा राजवृद्धकुमाराणां चाशक्तानाम्पूर्वोक्तप्रदक्षिणाकर्तुमशक्तानां किं प्रायश्चित्तमिति देव्या प्रश्ने कृते तदर्थमियं द्वितीया प्रदक्षिणोक्ता। तस्यामपि प्रदक्षिणायां भौमचण्ड्यादिस्थले वासे सति तत आगत्य प्रत्यहं स्वस्थापितलिङ्गानां पूजनम्प्रत्यहं दंडपाणेश्च पूजनङ्कृत्वा पुनस्तत्रगन्तुमशक्यत्वेन द्वितीयप्रदक्षिणाकथनमसङ्गतमेव स्यात्। किञ्च "वहिरावरणं त्यक्त्वा गणेशानान्तु सप्तकम्" इति द्वितीयप्रदक्षिणायामुक्तेन वचनेन प्रथमावरणगतानां गणेशानां त्यागस्यैव कथनात् कुत एव भीमचण्ड्यादिस्थले वासप्राप्तिः स्यात्तथा च द्वितीयप्रदक्षिणाकर्तृभिर्यथा प्रत्यहं स्वस्थापितलिङ्गस्य पूजनन्दण्डपाणिदर्शनञ्च स्यात्तथा वासः कर्त्तव्यो यथेष्टम्। अतएव "राजवृद्धकुमाराणां यथेष्टम्वासइष्यते" इति वचनं सङ्गच्छते। तस्या एव प्रदक्षिणाया नगरप्रदक्षिणेति प्रसिद्धिः परन्तु सा बहिरावरणगतार्कविनायकदुर्गविनायकपाशपाणिविनायकखर्वविनायकान्वामतः कृत्वा कुर्यादिति सिद्धम्। इदञ्च वर्तुलक्षेत्रपक्षे पाद्मवचनप्रोक्तक्षेत्रव्यवस्थयोक्तम; कलियुगे तु शंखाकारमेव क्षेत्रं सम्प्रतिप्रदक्षिणायां यथा वर्तते तथैव तस्मिन्पक्षे प्रथमा प्रदक्षिणा काशीक्षेत्रस्यैव द्वितीया तु नगरप्रदक्षिणेति बोध्यम्। इति श्रीकाशीरहस्यव्याख्याने सेतुबन्धाभिधे एकादशोऽध्याये विशेषोक्तिः॥ ११॥

अथ पञ्चक्रोशयात्राक्रमः। यात्रापूर्वदिवसे प्रातरुत्तरवाहिन्यां स्नात्वा नित्ययात्राङ्कृत्वा मुक्तिमण्डपे उपविश्य प्राणानायम्य देशकालादि सङ्कीर्त्य काशीवाराणस्यविमुक्तान्तर्गृहाख्यचतुर्विधक्षेत्रकृतसमस्तपापक्षयार्थं श्वः करिष्यमाण पञ्चक्रोशयात्रान्तर्भूतं ढुण्ढिराजपूजनं अन्तर्गृहयात्रावपनं पञ्चगव्यप्राशनञ्च करिष्ये इति सङ्कल्पङ्कुर्यात्। तदनन्तरं ढुण्ढिराजं पञ्चोपचारैः सम्पूज्याऽन्तर्गृहयात्रावपनञ्च कृत्वा ज्ञानवाप्यां स्नायात्। तदनन्तरं तत्रैव पञ्चगव्यप्राशनं

कुर्यात्। तस्मिन्दिने शक्तश्चेत् उपवासङ्कुर्यात् असक्तश्चेत् हविष्याशनङ्कुर्यात् इति पूर्वदिनकृत्यम्। यात्रादिवसे प्रातररुत्तवाहिन्यां स्नात्वा नित्ययात्राञ्च कृत्वा यात्रार्थम्पुनर्भवानीशङ्करौ सम्पूज्य मुक्तिमण्डपमागत्य तत्रोपविश्य महतीम्प्रतिज्ञाङ्कुर्यात् विष्णुर्विष्णुरिति एवं गुणविशेषणविशिष्टायामित्यन्तमुक्त्वा अमुक शर्मणो मम काशीवाराणस्यविमुक्तान्तर्गृ हाख्यचतुर्विधक्षेत्रकृतज्ञानाज्ञानकामाकामसकृदसकृत्कायिकवाचिकमानसिकसांसर्गिकस्पृष्टास्पृष्टभुक्ताभुक्तपीतापीत सकलोपपातकलघुपातकसङ्कलीकरणमलिनीकरणापात्रीकरणजातिभ्रंशकरप्रकीर्णकपातकानाम्मध्ये सम्भावितानां निरासार्थं पञ्चक्रोशयात्रासहङ्करिष्ये इति सङ्कल्पङ्कृत्वा (?) प्रतिज्ञाङ्कुर्यात् साचेत्थं "काश्याम्प्रजातवाक्कायमनोजनितमुक्तये। ज्ञाताज्ञातविमुक्त्यर्थम्पातकेभ्यो हिताय च॥ पञ्चक्रोशात्मकं लिङ्गं ज्योतिरूपं सनातनम्। भवानीशङ्कराभ्याञ्च लक्ष्मीश्रीशविराजितम्। ढुण्ढिराजादि गणपैः षट्पञ्चाशद्भिरावृतम्। द्वादशादित्यसहितं नृसिंहैः केशवैर्युतम्॥ कृष्णरामत्रययुतं कूर्ममत्स्यादिभिस्तथा। अवतारैरनेकैश्च युतम्विष्णोः शिवस्य च॥ गौर्यादिशक्तिभिर्जुष्टं एवं कुर्याम्प्रदक्षिणम्। बद्धाञ्जलिः प्रार्थयीत महादेवम्महेश्वरीम्॥ पञ्चक्रोशस्य यात्राम्वै करिष्ये विधिपूर्वकम्। प्रीत्यर्थन्तव देवेश! सर्वाघौघप्रशान्तये॥ इति सङ्कल्प्य मौनेन विश्वेशञ्च पुनः पुनः।" प्रणिपत्य ढुण्ढिराजम्प्रार्थयेत् तत्र मन्त्रः। "ढुण्ढिराज! गणेशान महाविघ्नौघनाशन। पञ्चक्रोस्य यात्रार्थं देह्याज्ञाङ्कृपया विभो!"॥ तदनन्तरं देवम्प्रार्थयेत् तत्र मन्त्रः। "करिष्ये विश्वनाथाऽहं पञ्चक्रोशप्रदक्षिणम्। आज्ञान्देहि महादेव! सर्वपापापनुत्तये"॥ तदनन्तरं स्वकृतानपराधांस्मरेत्। तेचोक्ताः शिवरहस्ये "निष्ठीवनङ्कृतं काश्यां दत्तौ च चरणौ मया। लिङ्गेष्वेव सदा शम्भो! तत्पापं शान्तिमेष्यतु॥ काश्याञ्जलचराः केचित्पादघातेन संहताः। शिवरूपा महादेव तत्पापं शान्तिमेष्यतु॥ काश्यां स्थलचराः कीटाः पादघातेन संहताः। करेण निहताः केचित् तत्पापं शान्तिमेष्यतु॥ काश्यामन्नार्थिनामन्नं शक्तेनापि मया शिवः। न दत्तं लोभमासाद्य तत्पापं शान्तिमे-

ष्यतु ।। स्वशक्तेन विभो ! सम्यगन्तर्गृहप्रदक्षिणम् । मया न कृतमीशान ! तत्पापं शान्तिमेष्यतु ।। कदाचिदनृता वाणी निःसृतामन्मुखाच्छिव ! । सर्वपुण्यहरा शम्भो ! तत्पापं शान्तिमेष्यतु ।। कदाचिदुदकम्पीतमकृत्वा भस्मधारणम् । प्रमादेन महादेव तत्पापं शान्तिमेष्यतु ।। ज्ञानवाप्या जलेरम्ये भ्रमेणैव कदाचन । स्नानं न कृतमीशान तत्पापं शान्तिमेष्यतु ।। कदाचिन्न कृतं शम्भो ! दण्डपाण्यर्चनम्मया । नार्चितो ढुण्ढिराजोऽपि तत्पापं शान्तिमेष्यतु ।। वीरेश्वरोभ्रमेणैव कदाचिन्नाऽर्चितो मया । सर्वार्थदः कृपासिन्धो ! तत्पापं शान्तिमेष्यतु ।। श्रीमान्पशुपतीशोऽपि पशुपाश-विमोचकः । कदाचिन्नाऽर्चितः शम्भो ! तत्पापं शान्तिमेष्यतु ।। श्रीकालभैरवःशास्ता भ्रमेणैव कदाचन । नाराधितो महादेव ! तत्पापं शान्तिमेष्यतु ।। प्रचण्डविघ्न संहर्ता वक्रतुण्डेश्वरो मया । कदाचिन्नाऽर्चितः शम्भो ! तत्पापं० । शिवगङ्गाजले स्नानं कदाचिन्न कृतम्मया । आलस्येन विरूपाक्षः तत्पापं० । ओंकाराख्यं महालिङ्गं भ्रान्त्तेनैव कदाचन । मया नाभ्यर्चितं शम्भो तत्पापं० ।। केदारेश्वरमासाद्य तं नाराध्यैव संस्थितम् । मया कदाचिद्विश्वेश तत्पापं० । एवमपराधान्स्मृत्वा ज्ञानवाप्यां स्नायात् विश्वेश्वरं सम्पूज्य वीरेश्वरपशुपतीश्वरकालभैरव वक्रतुण्ड० ओंकार केदारेश्वरान् सम्पूज्य पुनर्विश्वेश्वरमागत्य भक्तिपुरस्सरं सम्पूजयेत् । तत्र ध्यानम् यथा "ज्योतिर्लिङ्गम्विभाव्याऽऽदावापातालात्समुत्थितम् । तन्मध्ये भावयेद्देवं पञ्च-वक्त्रं चतुर्भजम् ।। षोडशाब्दम्वराभीतिपरशून्मृगमेव च । दधानं चन्द्रशिरसं त्रिनेत्रं कृत्तिवाससम् ।। नानाकल्पसमायुक्तं तस्याङ्के भुवनेश्वरीम् । भास्वज्जपाप्रसूनाभां कुमारीं नवयौवनाम् ।। पाशाङ्कुशवराभीतिधारिणीं चन्द्रशेखराम् । सर्वशृङ्गार-वेषाढ्यां ध्यायेद्देवम्पराम्बिकाम् ।। लिङ्गस्य पार्श्वयोर्ध्येयौ ब्रह्मविष्णुसुरोत्तमौ । कुर्वाणौ तौ स्तुतिं शम्भोः करसम्पुटशालिनौ ।। लिङ्गस्योर्ध्वं हंसरूपं ध्यायेद्ब्रह्माण-मव्ययम् । लिङ्गाधस्तात्क्रोडरूपं ध्यायेद्विष्णुं सनातनम्" इति । "विष्णुश्च दण्डपाणिं च ढुण्ढिम्भैरवमेव च । आदित्यगणपांश्चैव पूजयेत्पुनरेव च ।।" त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य दण्डवत्प्रणिपत्य मोदम्प्रमोदं सुमुखन्दुर्मुखं गणनायकम्प्रणम्य पूज-

यित्वा दण्डपाणिम्पूजयेत् तदनन्तरं विश्वेश्वरपुरतः कालराजं सम्पूज्य मौनेनैव मणिकर्णिङ्गच्छेत् तत्र विधिना स्नात्वा मणिकर्णीश्वरम्पूजयेत्। ततः पुनरागत्य सिद्धिविनायकम्पूजयेत् ततो मणिकर्णितटे गङ्गाकेशवललिताञ्च पूज्य जरासन्धेश्वरम्पूजयेत् ततः सोमनाथम्पूज्य तत्रैव दाल्भेश्वरम्पूजयेत्। ततः शूलटङ्केश्वरम्पूज्य वराहं सम्पूजयेत् ततो दशाश्वमेधेश्वरं सम्पूज्य वन्दीं तत्रैव पूजयेत् ततः सर्वेश्वरं केदारेश्वरं केदारेश्वरे स्नानमुक्तमग्निपुराणे। हनुमदीश्वरं सङ्गमेशञ्च सम्पूज्य लोलार्कम्पूजयेत् तत्रैवार्कविनायकं सम्पूज्य असीतीरम्पुनर्व्रजेत् असिसङ्गमे स्नानम्वचनाभावात् कृताकृतम् ततः क्षेत्रम्प्रदक्षिणीकृत्य दुर्गाङ्गच्छेत् तत्र स्नात्वा आदौ दुर्गविनायकं सम्पूज्य दुर्गाम्पूजयेत् तत्रैव वसेत् तत्रवासे नियमउक्तो नान्दे पुलस्त्येन नारदम्प्रति 'सीमाविनायकेभ्यश्च बहिः काश्याः प्रमाणतः। तावत् क्षेत्रम्विजानीयाद्यावद्धनुः शतत्रयम्। क्षेत्रादन्तर्वसेन्नित्यम्बहिःक्षेत्रम्प्रदक्षिणम्' इति सीमाविनायकस्थानानि च काशीखण्डे स्पष्टानि। श्राद्धङ्कृत्वा मधुपायसलड्डुकैः ब्राह्मणान्भोजयेत्। रात्रौ पुराणश्रवणादिभिर्जागरणङ्कुर्यात् ततः प्रातस्तत्रैव स्नात्वा दुर्गाम्पूज्य प्रार्थयेत् "जयदुर्गे! महादेवि! जय काशिनिवासिनि। क्षेत्रविघ्नहरे देवि! पुनर्दर्शनमस्तु ते" इति॥ दुर्गां सम्प्रार्थ्य विष्वक्सेनेश्वरङ्गच्छेत् तं पूजयित्वा कर्दमेश्वरङ्गच्छेत् तत्र कर्दमतीर्थे स्नात्वा कूपावलोकनञ्च कृत्वा पञ्चव्रीहिभिस्तिलैः कर्दमेश्वरम्पूजयेत् तत्रैव सोमनाथविरूपाक्षन्नीलकण्ठञ्च सम्पूज्य श्राद्धादि पूर्ववत् कृत्वा वह्नौ किञ्चिद्धोमम्विधाय ब्राह्मणान् भोजयेत् तत्र वासङ्कुर्यात् पुराणश्रवणादिना रात्रौ जागरणङ्कृत्वा प्रभाते प्रातःस्नानादि कृत्वा कर्दमेश्वरं सम्पूज्य प्रार्थयेत् तत्र मन्त्रः "कर्दमेश! महादेव! काशिवासिजनप्रिय!। त्वत्पूजनान्महादेव! पुनर्दर्शनमस्तु ते"॥ ततो नागनाथं सम्पूज्य चामुण्डाम्पूजयेत्। ततो मोक्षेशङ्करुणेशञ्च सम्पूज्य वीरभद्रम्पूजयेत् विकटां दुर्गां सम्पूज्य उन्मत्तभैरवम्पूजयेत् ततो नीलङ्कालकूटञ्च सम्पूज्य विमलां दुर्गाम्पूजयेत् ततो महादेवं सम्पूज्य नन्दिकेशम्भृङ्गिरिटिं तत्रैव गणप्रियम्विरूपाक्षं यक्षेशं विमलेशं मोक्षदं ज्ञानदं अमृतेशञ्च तत्रैव पूजयेत्

ततो गन्धर्वसागरन्तीर्त्वा भीमचण्डीङ्गच्छेत् गन्धर्वसागरे स्नात्वा तर्पणादि विधाय भीमचण्डीम्पयसा स्नापयित्वा पञ्चोपचारैः सम्पूजयेत् तत्र श्राद्धम्विधाय ब्राह्मणान्भोजयेत्। यद्यपि पञ्चक्रोशयात्रायां ब्रह्मवैवर्त्ते कर्दमेश्वर वृषभध्वजस्थले एव श्राद्धमुक्तं "तथापि दिनाष्टकेन विधिवत्पञ्चक्रोशप्रदक्षिणम्। कर्त्तव्यमतियत्नेन स्वाद्वन्नैरपि शोभनैः। मध्ये सर्वेषु तीर्थेषु स्नात्वा सम्यग्यथाविधि। "श्राद्धं कार्यं प्रयत्नेन स्वाद्वन्नैरतिशोभनै" इति शिवरहस्यवचनेन सर्वतीर्थेषु श्राद्धङ्कर्त्तव्यमित्येव नियमः। तत्रैव रविरक्ताक्षगन्धर्वन्नरकार्णवतारकं शिवञ्चण्डविनायकञ्च सम्पूज्य रात्रौ जागरणङ्कुर्यात् प्रभाते प्रातःस्नानम्विधाय भीमचण्डीं सम्पूज्य प्रार्थयेत्। तत्र मन्त्रः। "भीमचण्डि प्रचण्डानि मम विघ्नानि नाशय। नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि पुनर्दर्शनमस्तु ते॥" एवं भीमचण्डीं संप्रार्थ्य तत एकपादङ्गणपतिङ्गच्छेत् तं नत्वा पूजयित्वा तिलतन्दुलान् तत्र विकिरेत्। ततो महाभीमम्भैरवम्भैरवीञ्च पूजयेत्। ततः सिन्धुरोधसि भूतनाथं सोमेशम्पूज्य कालनाथं कपर्दीशं कामेशं गणेश्वरं वीरभद्रं चारुमुखं गणनाथं पूजयेत् ततो देहलीशं सम्पूज्य मोदकैः पृथुकैर्लाजैः सक्तुभिश्चेक्षुपर्वभिः नैवेद्यङ्कृत्वा तत्पार्श्वे षोडश विघ्नान्पूजयेत्। तत उद्दण्डगणपं उत्कलेश्वरं सम्पूज्य रुद्राण्यास्तपोभूमिं दृष्ट्वा रामेश्वरम्व्रजेत्। तत्र वरणायां स्नात्वा तर्पणादि विधाय श्वेततिलैर्बिल्वपत्रादिभिः रामेश्वरं सम्पूज्य पूर्वदिग्भागे सोमनाथं भरतेशं लक्ष्मणेशं शत्रुघ्नेशं द्यावाभूमीश्वरं नहुषेश्वरञ्च तत्रैव पूजयेत् ततस्तत्र वासम्विधाय श्राद्धभोजनादिकङ्कृत्वा पुराणश्रवणादिना रात्रौ रामेश्वरपुरतो जागरणङ्कुर्यात्। प्रभाते प्रातःस्नानादि कृत्वा रामेश्वरं सम्पूज्य प्रार्थयेत्। तत्र मन्त्रः "श्रीरामेश्वर! रामेण पूजितस्त्वं सनातन!। आज्ञान्देहि महादेव! पुनर्दर्शनमस्तुते"॥ ततो वरणान्तीर्त्वा वरणापरपारगानि बहूनि लिङ्गानि सम्पूज्य देवं सङ्गमेश्वरङ्गच्छेत् तं सम्पूज्य तत्र किञ्चिद्दत्वा स्थित्वा व्रजेत्। ततो वरणान्तीर्त्वा क्षेत्रमध्ये व्यवस्थितं पाशपाणिं गणपतिं सम्पूज्य तत्र वसेत् तदुक्तं सेतुलैङ्गे 'ततो गच्छेद्गणपतिं पाशपाणिम्महेश्वरि! सम्पूज्य लड्डुकैस्तत्र वासं तत्र प्रकल्पयेत्। प्रातःस्नात्वा विधानेन प्रार्थयेद्गणनायकम्'। तत्र मन्त्रः "पाशपाणे! गणा-

ध्यक्ष ! सततं लड्डुकप्रिय ! । आज्ञान्देहि गणश्रेष्ठ ! पुनर्दर्शनमस्तु ते" ।। तदा वृषभध्वजे वासो नास्ति आधुनिकैः पञ्चपाण्डवाख्यग्रामे वासः क्रियते। तत्रेदम्मूलं पुनर्वरणामुत्तीर्य पृथ्वीश्वरम्व्रजेत् तं पूजयित्वा यूपसरः स्पृष्ट्वा शनैः शनैर्महाक्षेत्रङ्कापिलङ्गच्छेत् तत्र विधानेन स्नात्वा पितॄन् सन्तर्प्य वृषभध्वजम्पूजयेत् तत्र वासम्विधाय रात्रौ जागरणं पुराणश्रवणादीनां कुर्यात् प्रातःस्नानादि विधाय वृषभध्वजं सम्पूज्य प्रार्थयेत्। तत्र मन्त्रः "वृषभध्वज ! देवेश ! पितॄणाम्मुक्तिदायक ! । आज्ञान्देहि महादेव ! पुनर्दर्शनमस्तु ते" ।। एवं सम्प्रार्थ्य सरः प्रदक्षिणीकृत्य ज्वालानृसिंहम्पूजयेत् ततो वरणान्तीर्त्वा सङ्गमे स्नात्वा तत्रैवाऽऽदिकेशवसङ्गमेश्वरं खर्वविनायकं सम्पूज्य ततो व्रजेत् यवान् क्रोडीकृत्य विष्णुमुच्चरन् प्रह्लादेश्वरङ्गच्छेत् । तं सम्पूज्य त्रिलोचनम्पूजयेत् । ततो बिन्दुमाधवङ्गच्छेत् । तत्राऽऽचारात् स्नात्वा तं सम्पूज्य गभस्तीशं मङ्गलागौरीञ्च दृष्ट्वा वसिष्ठवामदेवौ पर्वतेश्वरम्महेश्वरं सम्पूज्य सिद्धिविनायकम्पूजयेत् । तत्रैव स्थित्वा सप्तावरणगान् गणपान् षट्पञ्चाशत्स्मरेत् तदुक्तमग्निपुराणे 'ततो गत्वा पुनर्धीमान् भक्त्या सिद्धिविनायकम्। स्मृत्वा गणपतींस्तत्र सप्तावरणसंस्थितान्' इति । यत्तु ब्रह्मवैवर्ते 'सप्तावरणगान् दिव्यान्पूजयेद्गणनायकान्' इति। तत्तु पूजायाः कर्तुमशक्तत्वात् । पूजापदं स्मरणपदमेव व्याख्येयम्। ते चोक्ताः काशीखण्डे "सिद्धिविनायकाय नमः अर्कविनायकाय नमः दुर्गविनायकाय नमः भीमचण्डी वि० देहली वि० उद्दण्ड वि० पाशपाणि वि० खर्व वि० प्रथमावरणम् एते गणेशाः प्रथमावरणस्थायाः काश्याः पूर्वाद्यष्ट दिक्षु काशीखण्डे उक्ताः लम्बोदरविनायकाय नमः कूटदन्त वि० नीलकण्ठवि० कुष्माण्ड वि० मुण्ड वि० विकट वि० राजपुत्रवि० प्रणव वि० द्वितीयावरणम् । वक्रतुण्ड वि० एकदन्त वि० त्रिमुख वि० पञ्चास्य वि० हेरम्ब वि० विघ्नराज वि० वरद वि० मोदक वि० तृतीयावरणम्। अभयदविनायकाय-नमः सिंहतुण्ड वि० कूणिताक्ष वि० क्षिप्रप्रसाद वि० चिन्तामणि वि० दन्तहस्त वि० पिचिण्डिल वि० उद्दण्डमुण्ड वि० चतुर्थावरणम् । स्थूलदन्त वि० कलिप्रिय वि० चतुर्दन्त वि० द्वितुण्ड वि० ज्येष्ठ वि० गज वि० काल वि० नागेश विनायकाय नमः

पञ्चमावरणम्। मणिकर्णीवि० आशावि० सृष्टिवि० यक्षवि० गजकर्णवि० चित्रघण्ट-वि० स्थूलजङ्घवि० मङ्गल वि० षष्ठावरणम्। मोदवि० प्रमोदवि० सुमुख० दुर्मुख० गणनाथवि० ज्ञानवि० द्वारवि० अविमुक्तवि० सप्तमावरणम्। मणिकर्ण्यां स्नात्वा मौनेन विश्वेशम्व्रजेत् महेशानं नमस्कृत्य देवसन्निधौ उपविशेत् पञ्चोपचारैः देवं सम्पूज्य स्तुत्वा पुनः पुनर्नत्वा मुक्तिमण्डपमागत्य तत्र कृतार्थः सन् सन्निशेत्। तत्र विष्णुं दण्डपाणिं ढुण्ढिम्भैरवं आदित्यं सम्पूज्य पुनर्मोदम्प्रमोदं सुमुखं दुर्मुखं गणनाथञ्च सम्पूज्य प्रदक्षिणीकृतान् देवान् क्रमात्स्मरेत्। तन्स्मृत्वा विश्वेशम्प्रार्थ-येत्। तत्र श्लोकाः "जय विश्वेशविश्वात्मन्काशीनाथ जगद्गुरो!। त्वत्प्रसादा-न्मया देव! कृता क्षेत्रप्रदक्षिणा॥ अनेकजन्मपापानि कृतानि मम शङ्कर!। गतानि पञ्चक्रोशात्मलिङ्गस्याऽस्य प्रक्षिणात्॥ त्वद्भक्त्या काशिवासेन रहितः पापकर्मणा॥ सत्सङ्गश्रवणाद्यैश्च कालो गच्छतु नः सदा। हरशम्भो! महादेव! सर्वज्ञ सुखदायक! प्रायश्चित्तं सुनिर्वृत्तं पापानां त्वत्प्रसादतः। पुनः पापमतिर्मास्तु धर्मबुद्धिः सदाऽस्तुमे इति जप्त्वा यथाशक्त्या दत्त्वा दानं द्विजन्मनाम्। बद्ध्वा करयुगम्मन्त्री मन्त्रमेतदु-दीरयेत्॥ पञ्चक्रोशस्य यात्रेयं यथावद्या मया कृता। न्यूनं सम्पूर्णतां यातु त्वत्प्रसा-दादुमापते!"॥ इति प्रार्थ्य महादेवं न्यूनातिरिक्तदोषपरिहाराय दक्षिणां सङ्कल्प्य गृहमागत्य ब्राह्मणान् सम्भोज्य ततः कुटुम्बैः सह भोजनङ्कुर्यात् इति पञ्चक्रोश-यात्राक्रमः। इयं पञ्चक्रोशप्रदक्षिणाऽऽवश्यकी। तदुक्तं सनत्कुमारसंहितायां शिववाक्यं "दक्षिणेचोत्तरेच्चैव ह्ययने सर्वदा मया। क्रियते क्षेत्रदाक्षिण्यम्भैरवस्य भयादपि॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुर्यात्क्षेत्रप्रदक्षिणम्" इति॥

इति पञ्चक्रोशयात्राक्रमः समाप्तः॥



अथ द्वादशोऽध्यायः

अशक्तानांकृते स्वल्पायाससाध्यप्रायश्चित्तवर्णनम्

देव्युवाच

देव ! देव ! महादेव ! सन्देहो नाशितस्त्वया ।
किञ्चित्प्रष्टव्यमस्तीह प्रायश्चित्तविनिर्णये ॥ १ ॥
पङ्गवः शक्तिरहिता रोगग्रस्ता धनैर्युताः ।
काश्याम्पापकृतः पश्चात् प्रायश्चित्ताद्यभीप्सवः ॥ २ ॥
कथन्तेषामथो शुद्धिर्धनिनां काशिवासिनाम् ।
सुकुमारशरीराणां राज्ञां स्त्रीसमवायिनाम् ॥ ३ ॥
वद तेषां यथा शुद्धिं यातनाविनिकृन्तनीम् ॥ ४ ॥

महादेवउवाच

श्रुणु देवि ! रहस्यम्मे धर्मः सूक्ष्मो भवेत्सदा ।
न जानन्ति स्थूलधियो विषयाशक्तमानसाः ॥ ५ ॥
स्वल्पद्रव्येण च महान्महताऽप्यणुमात्रकः । देशङ्कालं तथा पात्रं वित्तं श्रद्धादिकम्महत्

प्रायश्चित्तद्वयश्रवणानन्तरं तृतीयम्प्रायश्चित्तं श्रोतुम्पृच्छति देव्युवाच देवेति । क प्रष्टव्यमस्तीत्यत्राह प्रायश्चित्तेति । तृतीयम्प्रायश्चित्तमित्यर्थः ॥ १ ॥ ये प्रायश्चित्तस्याऽभीप्सवो धनिनो राजकुमारादयः सुकुमाराः प्रदक्षिणाद्वयमपिकर्तुमशक्तास्तेषां धनिनामित्यर्थः । स्त्रीसमवायिनां स्वस्य प्रदक्षिणाकरणसामर्थ्येऽपि स्त्रियोऽसामर्थ्येन तया सह कर्त्तुमशक्तानामित्यथः ॥ ३ ॥ वक्ष्यमाणप्रायश्चित्ते लघुत्वाच्छ्रद्धाभावो माभूदित्यर्थमाह सूक्ष्म इति ॥ ५ ॥ महता द्रव्येण चाऽणुमात्रः सूक्ष्मोभवतीत्यर्थः

करोति सुविचार्याऽऽशु येन काशी प्रसीदति ।
मम क्षेत्रे तु धनिनः पापिष्ठाः शुद्धिकाङ्क्षिणः ॥ ७ ॥
देवालयस्तैः कर्त्तव्यो महापातकनाशनः । महापुण्यप्रदश्चैव महासुखकरस्तथा ॥८॥
यत्र तिष्ठति निर्विघ्नं शिवलिङ्गम्वरानने ! । तत्र देवालयः कार्यः पूजा भवति यत्र च ॥
शिवलिङ्गस्थापकानां शिवप्रासादकारिणाम् ।
यान्ति नाशम्विना क्लेशैः पातकानि महान्त्यपि ॥ १० ॥
शिवलिङ्गप्रतिष्ठां यः कुर्यात्पापशतान्वितः ।
पातकानि विनश्यन्ति तस्य मोक्षोऽप्यदूरतः ॥ ११ ॥
काश्याङ्कृतानां पापानामेकम्पापप्रमोचनम् ।
विष्णुमूर्त्तिप्रतिष्ठा च कार्या मोक्षप्रदायिनी ॥ १२ ॥
ब्राह्मणश्च तथा स्थाप्यो गृहोपस्करदानतः । कुटुम्बी विष्णुभक्तश्चाऽप्यग्निसेवापरायणः
कलौ देवालयस्याऽपि रक्षा देवि ! सुदुर्लभा ।
लिङ्गरक्षा तथा शम्भोर्नित्यपूजाऽपि नो भवेत् ॥ १४ ॥

देव्युवाच

क्षेत्रपापकृताम्पापं नश्यत्येव न संशयः । अन्यत्राऽपि कृतम्पापं नश्यत्येव न संशयः ॥
अन्यान्यपि च पापानि नश्यन्ति नहि संशयः ।
प्रासादकरणाल्लिङ्गस्थापनात्पूजनात्प्रभोः ॥ १६ ॥

कथं स्वल्पद्रव्येण महान् धर्मो भवतीत्यत्राऽऽह देशमिति । देशं काश्यादिदेशं कालं संक्रान्त्यादि पात्रं श्रोत्रियत्वसीदत्कुटुम्बत्वसहितं ब्राह्मणरूपं वित्तं स्वधर्माचरणेन लब्धं श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिरादिनाप्यदाम्भिकत्वादयो धर्माः ॥६॥ इदं सर्वं सुविचार्य यदि धर्मङ्करोति येन काशी भगवती प्रसीदति स धर्मो महानित्यर्थः । एतद्विपरीतो महताऽपि द्रव्येण कृतोऽणुरेवेत्यर्थादेव बोध्यम् तृतीयप्रायश्चित्तेऽधिकारिणआह मम-क्षेत्रइति ॥ ७ ॥ शिवालयस्थानमाह यत्रेति ॥ ९ ॥ विष्णुभक्तश्च चकाराच्छिवभक्तः शिवालयस्थापनापेक्षया ब्राह्मणाय गृहदानमेव वरमित्याह कलाविति । नो भवेत्ततो

पापनाशः कियानर्थो निर्वाणमपि जायते। परं सविघ्नता तत्र त्वयोक्ता विघ्ननाशन!॥
ततोऽपि किञ्चित्सुमहदस्ति चेद्वद शङ्कर ! ॥ १८ ॥

महादेवउवाच

शृणु देवि ! रहस्यम्मे कृपणेषु न तद्वदेत्। अश्रद्धे दूषितमतौ पापाभीरौ न नास्तिके॥
श्रद्धालवे वदान्याय पापत्रस्ताय साधवे। ब्रूयाद्रहस्यम्परमं यथा धर्मः सुसिध्यति॥
वाराणस्याङ्गृहं कृत्वा ब्राह्मणाय प्रयच्छति। सिद्धाय वेदविदुषे शिवविष्णुप्रियाय च
विवेकिने महाविद्यायुक्ताय प्रियवादिने। दातव्यमेव सुगृहं कारयित्वा विशेषतः॥
काश्याङ्कृतानाम्पापानां कायवाङ्मनसांखलु।
नाशः परोऽयं सन्दिष्टः शुभकृद्यदि लभ्यते ॥ २३ ॥
गृहदानाद्भवेन्मुक्तो वंशवृद्धिस्तथाऽक्षया। अर्थकामादिकं सर्वमाप्नोति गृहदानतः॥
व्ययीकृत्वा धनङ्किचिदत्र कृत्वा भुवं शुभाम्। गृहमुत्थाप्य यो दद्यात्स याति परमम्पदम्
माम्विना कः प्रयच्छेत काश्याम्भूमिं द्विजाय हि।
तस्मान्मदंशः स प्रोक्तो गृहदाता न संशयः ॥ २६ ॥
उपपातकलक्षाणि महापापशतानि च। विलयं यान्ति सर्वाणि क्षेत्रमध्यकृतान्यपि॥
दानन्तस्मादिदं श्रुत्वा मनसि ह्यवधार्य च।
द्विजायाऽऽर्त्ताय सन्दद्याद्विक्रीयाऽऽत्मानमप्यहो ॥ २८ ॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि कथाम्परमदुर्लभाम्। त्रिलोचनसमीपे तु क्षत्रियः सूर्यवंशजः॥
महातेजेतिविख्यातो व्यापारनिरतः सदा। हिरण्यम्बहुलन्तस्य जातङ्कार्पण्यनीरधेः

ब्राह्मणः स्थाप्य इत्यन्वयः ॥१४॥ सविघ्नता लिङ्गभङ्गलिङ्गपूजाभावप्रासादभङ्गरूपा विघ्नाः ॥ १५—२१ ॥ महाविद्यायुक्ताय कालीतारेत्यादिदशमहाविद्योपासकायेत्यर्थः ॥ २२ ॥ शुभकृत् सदाचारी ब्राह्मणो यदि लभ्यते तदेत्यर्थः। यद्वा, स नाशः शुभकृत् कल्याणकृत् यदि लभ्यते इत्यनेन तस्याऽतिदौर्लभ्ये सूचितम् ॥ २३ ॥ क्रयविक्रयेति। क्रयविक्रयाभ्यामयं यथा यथाऽधिकं द्रव्यमलभत्तदैतस्य कार्पण्यम्वृद्धिमा-

क्रयविक्रयदोषेण कार्पण्यम्वृद्धिमाययौ । यथाकथञ्चिद्दम्भेन पापेन धनतत्परः ॥३१॥
तस्य भार्या मृता दैवाद्गृहदासीरतोऽभवत् ।
स्वाधीनं साधनङ्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ॥ ३२ ॥
कुटुम्बेन परित्यक्तस्तथा सद्भिरपि प्रभुः । वणिग्वृत्त्युपजीवी स साध्वसाधुविगर्हितः
अन्यान्यपि च पापानि मध्ये मध्ये करोति च ।
एकदा वल्लभा तस्य दासी धर्मकथापरा ॥ ३४ ॥
जाता धर्मव्यसनिनी पुत्रादिपरिवर्जिता । पतिम्विज्ञापयामास पुत्रार्थं यत्नवान्भव ॥
न शृणोति स पापात्मा धनव्ययभियाऽसकृत् ।
प्रार्थितोऽपि तथा दास्या सुधर्मयुतया तया ॥ ३६ ॥
एकदा मानिनी भूत्वा सुप्ता दुःखितमानसा । किमनेन वराकेण सदा धनरतेन च ॥
विश्वेशवासभूमौ हि सदा धनमनास्त्वयम् । न पुत्रो नच कन्याऽस्य पौत्रा दौहित्रकादयः
कथम्भवन्ति वितता वंशवल्ल्यः फलान्विताः ।
एवं विचारयेद्यावत्सा दासी धर्मतत्परा ॥ ३६ ॥
कथं धर्मपरोऽयं स्यात्तावल्लोका विचुक्रुशुः । अहो कदर्यः पापात्मा गच्छत्ययममर्षितः ॥
इति लोकमुखाच्छ्रुत्वा सुप्ता सा तु ततः शुचा ।
श्रुत्वा श्रुत्वा ब्राह्मणेभ्यो ज्ञातन्धर्मस्य कारणम् ॥ ४१ ॥
दानमेव परं श्रेयः काश्यान्तत्तु विशेषतः ।
इति भूमौ पतित्वा सा चिन्तयन्ती सुदुःखिता ॥ ४२ ॥
आगतो धनदृक्स्वामी दृष्ट्वा गेहममार्जितम् ।
अलिप्तमग्निना शून्यं व्यवहारसुवर्जितम् ॥ ४३ ॥

ययौ द्रव्यस्वभाव एवाऽयम् । अनन्तरं दम्भेन पापेनाऽपि धनतत्परो धनार्जको भवेत् ॥३१॥ सा दासी सत्यपि धनं स्वाधीनङ्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति नत्वयमित्यर्थः ॥३२॥ यत्नवानीश्वरानुष्ठानवानित्यर्थः ॥ ३५ ॥ एवमिति । इति यावच्चिन्ताङ्करोति तावल्लोका मार्गे गतमागतन्तम्पतिं दृष्ट्वा विचुक्रुशुर्निन्दाङ्कृतवन्तः ॥ ३६—३७ ॥

व्यग्रोऽवदत्कथं सुप्ता न भोक्तव्यम्मयाऽधुना ।
त्वयाऽपि सुखदायिन्या भुज्यते सुप्यते सुखम् ॥ ४४ ॥

दास्युवाच

गृहकार्यङ्कारयतु नहि शक्ता रुजार्दिता ।
न भोक्तव्यम्मया किञ्चित् भोजने धनसङ्क्षयः ॥ ४५ ॥

महातेजाउवाच

भुज्यते प्रत्यहङ्किन्न कथमद्य धनक्षयः । भविष्यति वरारोहे ! धनक्षयकथां शृणु ॥४६

घृतं न भुज्यतेऽस्माभिर्न मिष्टान्नं न शर्करा ।
न पायसं न तैलादि पक्वं नश्यति किं धनम् ॥ ४७ ॥
इति श्रुत्वा वचस्तस्य दुःखिता घूर्णताङ्गता ।
उत्थाय चाऽऽह धिग्धिक् त्वां पापं सद्भिर्विगर्हितम् ॥४८॥

विषम्पीत्वा जलेवाऽपि त्यक्ष्ये जीवितमात्मनः। असत्सङ्गसमुद्भूतं कथम्पापमहन्तरे

अहन्दासी यथा वेश्या बहुभिः किं न मर्दिता ।
ज्ञात्वा माङ्गच्छसे पाप ! कथन्त्वत्तोऽधमः परः ॥ ५० ॥

त्वं क्षत्रियः कुलीनश्च मत्सङ्गात्सद्भिगर्हितः । अतः परमहम्पाप ! त्वत्सङ्गान्नरके पतेः ॥
न स्वधर्मेषु निरतो न दानव्रततत्परः । क्षत्रियाणाम्पश्य गृहे ब्राह्मणा भुञ्जतेऽनिशम् ॥
न ते पुत्रा न ते पौत्रा दौहित्रा भ्रातरोऽथवा। धनङ्कस्योपकाराय सञ्चितं धर्मवर्जितम्

महातेजाउवाच

त्वन्नजानासि धनजं सुखं सौभाग्यगर्विता। मूषका अपि सञ्चित्वा भुञ्जते सुखमुत्तमम्
धनव्ययकरा ये तु शत्रवस्ते मता मम । कैश्चित्सङ्गं न कुर्याद्धि तैर्जनैर्व्ययतत्परैः ॥५५॥

मयाधुनेति । मयाऽधुना न भोक्तव्यमिति । मनसि किन्तवाऽस्तीत्यर्थः। त्वयाऽपि सुखदायिन्या न भुज्यते किमित्यर्थः । यतः सुखं सुप्यते ॥ ४४ ॥ भोजने धनसङ्क्षय इति तु कृपणम्प्रति मर्मघातकम्वचनम् ॥ ४५—५५ ॥

धनव्ययकृतो मूर्खाः सीदन्ति धनशापतः ।
अतो मया त्वं भार्यात्वे रक्षिता न कुलाङ्गना ॥ ५६ ॥
तस्याःपुत्रादयो द्रव्यं व्ययं नेष्यन्ति मामकम् ।
त्वं दासी मम वित्तस्य रक्षणं स्याद्यथा कुरु ॥ ५७ ॥
त्वत्प्रसादान्न बहुशः कुटुम्बम्परिपृच्छति । न पुत्रा व्ययकर्तारो न भार्या धननाशिनी
निस्तीर्णोऽस्मि त्वया भद्रे धनरक्षाऽपि जायते । अतः परन्त्वमुत्तिष्ठ माषान्नम्परिभज्य च
देहि मुष्टिद्वयन्तावद्यावदन्नं शनैर्भवेत् । इति श्रुत्वा तु सा दासी धर्मश्रवणतत्परा ॥६०
तूष्णीमास सुदुःखार्ता न च किञ्चिदुवाच ह ॥ ६१ ॥

महातेजाउवाच

प्रिये! कथम्मानवती जाताऽसि प्रियवादिनी । कथयिष्यसि यद्यत्त्वं तत्तत्कुर्यां न संशयः

दास्युवाच

मया चेत्तव कृत्यं स्यान्मदुक्तङ्कुरु नायक ! । यत्र धर्मकथा विष्णोः शिवस्य च परा भवेत्
तत्र तत्र त्वया भद्रा श्रोतव्या प्रत्यहं सदा । तदा त्वदुक्तं न मया लङ्घनीयङ्कदाचन ॥
श्रुत्वा कथां यतस्वाऽऽशु स्वव्यापारार्थमादरात् ॥ ६५ ॥

महातेजाउवाच

अवश्यमेव श्रोतव्या कथा धर्ममयी मया । विरुद्धमेकमेवाऽस्ति दातव्यं किञ्चिदेव हि
तव भ्रान्तिः कुतो जाता श्रवणे धनहानिदे । गम्यते न मया क्वाऽपि धनव्ययभिया प्रिये
तव स्नेहाद्गमिष्यामि सहसा सुखदायिनि ! ।
इति श्रुत्वा तया प्रोक्तो गच्छ धर्मकथां शृणु ॥ ६८ ॥

अतो मयेति । अतो धनव्ययभयादेव त्वं दास्यपि भार्यात्वे स्थापिता कुलाङ्गना भार्यात्वे न स्थापिता ॥ ५७ ॥ तत्र निमित्तमाह तस्या इति । त्वत्प्रसादात्तव मम गृहे स्थितिवशाल्लोकस्त्वं कुटुम्बम्विवाहङ्कुरु इति न मां पृच्छतीति महान् लाभ इति भावः ॥ ५८ ॥ माषान्नेति । कदन्नयाचनेनाऽतिकृपणत्वम्बोधितम् ॥ ५९—६५ ॥

तावद्भोजनसामग्रीं करोमि मधुरान्तव । इत्यादिष्टस्तया दास्या गतः श्रोतुं कथां हरेः
त्रिलोचनसमीपे तु यत्र सन्मडली शुभा । तत्र गत्वा महातेजा ह्यु पविष्टः सुदूरतः ॥७०
अद्य किं देवयात्रार्थं श्रवणार्थं समागतः । महातेजा महातेजा महातेजाः समागतः॥

इत्युच्चैर्व्याहृतं लोकैः सोपहासं महात्मभिः ।
ततो धर्मकथा स्पष्टा पुण्यदा पापनाशिनी ॥ ७२ ॥

प्रवृत्ता सर्वलोकानामानन्दरसगर्भिणी । काश्याम्वसेद्धर्मपरो महात्मा न वित्त
कामादिपरः कदाचित् । वित्तं पुरा दैवकृतन्तु यावत्तावद्भवत्येव न चाऽत्र वादः ॥७३

धर्मोहिमूलम्भवति प्रसिद्धं पुरातनोऽन्यो विभवो विनश्वरः ।
ये धर्मकामास्त इमे सौख्यपूर्णा ये चार्थकामास्त इमे दुःखपूर्णाः ॥ ७४ ॥
अर्थार्थिनः कामसुखेऽपि निःस्पृहाः कुतः पुनर्द्धर्मसुखम्परञ्च ।
धनव्ययाद्बिभ्यति पापसञ्चका धनव्ययो धनिनाम्मृत्युहेतुः ॥ ७५ ॥
अहर्निशं धनतृष्णा विहाय योगक्षेमो यावता कल्पयेत ।
ततोऽधिकम्पापसमूहवृद्धये भवत्यजस्रं धनिनां तद्धनं हि ॥ ७६ ॥
अहर्निशं धर्मपरो लभेत सुखं स्वर्गमपवर्गम्विरागम् ।
स्तुतो महद्भिः कुरुते धर्मपुञ्जं मत्वा पुरः स्वात्महितं सदैवतम् ॥ ७७ ॥

इति श्रुत्वा वचस्तेषाम्महताम्भावितात्मनां ।
कथान्ते स महातेजा गतः शून्यं निजालयम् ॥ ७८ ॥

तस्मिन्दिने तया दास्या न कृता पक्तिरन्नजा । तस्य सत्त्वपरीक्षार्थं श्रुता धर्मकथा न वा

दातव्यमिति । तस्मै पुराणवक्त्रे किञ्चिद्दातव्यमिदमेव विरुद्धं कठिनमस्तीत्यर्थः ॥६९-७०॥ धर्मो हि मूलमिति । पुरातनो धर्मो जगतो मूलमित्यर्थः । "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नन्ततः प्रजाः" इतिस्मृतेः। विभवऐश्वर्यम् ॥ ७४ ॥ अर्थार्थिनस्ते कामसुखे विषयसुखेऽपि धनव्ययभिया निस्पृहास्तदभाववन्तस्तेषां धर्मसुखं धर्मजन्यं सुखम्परं मोक्षरूपं सुखञ्च कुतः

तावत्स आगतो गेहं स्नानार्थं पृष्टवाञ्जलम्। उष्णोदकेन स स्वामी स्नापितः स तया पुनः

भुङ्क्ष्वेति प्रार्थितः सिद्धमन्नं सम्पादितम्मया ।
स तूष्णीमास सङ्कोचान्न तां किमपि चोक्तवान् ॥ ८१ ॥

सिद्धमन्नं कथन्स्वामिन्भुज्यते न त्वयाऽधुना । ततो धनादिचर्चा ते कर्तव्या वर्तते बहु

महातेजाउवाच

अपराधम्मम नचेद् गृह्णासि स्वामिवल्लभे ! ।
स्वहस्तेन मया कार्या पक्तिः शुद्धा वदाऽऽशु तत् ॥ ८३ ॥

दास्युवाच

किमानेयं मया स्वामिन्पाकार्थे वद तत्तथा। माषचूर्णादि यत्किञ्चिदुच्यतां शीघ्रमस्ति मे

स्वाम्युवाच

हविष्यं स्वादु यत्किञ्चिद्भवेद्वेश्मनिहृत्प्रियम् ।
तदानय महाभागे येन तृप्यन्ति सुद्विजाः ॥ ८५ ॥
तया हृदि विचार्यैव न चोक्तं किमपि प्रियम् ।
आनीय कारिता पक्तिस्तया धर्मदृशा यथा ॥ ८६ ॥
भुङ्क्ष्वेति स तयोक्तस्ताम्प्राह स्वामी सुदासिकाम् ॥ ८७॥
कथम्विनाऽतिथिम्भुक्षे तस्मादानय कञ्चन ।
सा गता तु बहिर्द्वारम्पश्यन्ती भिक्षुकान्बहून् ॥ ८८ ॥
आहूयमाना नाऽऽयान्ति भिक्षुकाः पात्रपाणयः ।
वदन्ति महतामन्नं त्यक्त्वा दासीपतेः कथम् ॥ ८९ ॥
भुज्यते चाऽन्नमस्माभिः काश्यास्वार्धुषिकस्य च ।
कृपणान्नं तु यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते तस्य किल्बिषम् ॥ ९० ॥

कस्मान्नैवाऽस्तीत्यर्थः ॥ ७५ ॥ पुरः प्रथमतः सदैव स्वात्महितं धर्मपुञ्जम्मत्वा तं कुरुते इत्यन्वयः ॥ ७७ ॥शून्यं धर्मेण ॥७८—८०॥ अपराधमिति । न चेद्गृह्णासि तदा वदामीतिशेषः । किम्वक्ष्यसि चेत्तदाह स्वहस्तेनेति ॥८१—८३॥ तयाहृदीति। एवं विचार्य तदुक्तमङ्गीकृत्य किमपि तया नोक्तम्। अथ च तस्य प्रियं हविष्यान्नमानीय

इति श्रुत्वा भिक्षुमुखात्तया सर्वं निवेदितम् ।
स्वामिने स्वाम्यपि तदा लज्जितो दुःखितो ह्यभूत् ॥ ६१ ॥
भोक्तुम्प्रवृत्तः स तदा मार्जारानाह्वयत्यहो ! ।
तेऽपि नाऽऽयान्त्यनभ्यासात्ताडयिष्यति नः पुनः ॥ ६२ ॥
मार्जाराणां शुनाम्वृत्तिर्जायते न कदाचन । काकादयश्छलेनाऽत्र ताडिता बहुधा तदा
भुक्तं सदन्नं स्वयमेव तेन दास्यै च दत्तम्परिशेषितं यत् ।
व्यापारचर्चा च ततः स कृत्वा चिन्तापरोऽभून्निशि धर्महीनः ॥ ६४ ॥

दास्युवाच

कथमानन्दहीनस्त्वं स्वामिन्वद महामते ! । धनेन धनिनान्दुःखं निवर्तेत नचाऽन्यथा

सूतउवाच

तस्यास्तु वचनं श्रुत्वा महातेजा महामतिः ।
न किञ्चनोवाच तदा दासीं धर्मपरायणाम् ॥ ६६ ॥
प्रातरुत्थाय गङ्गायां स स्नातुमादृतः सुधीः । पुनर्धर्मकथां श्रोतुं गतो देवालयम्महत्॥
महद्भिरादृतः सोऽपि शृण्विन्त्युक्तः कथाः शुभाः ।
चकार श्रवणम्विष्णुकथानामादृतोऽधिकम् ॥ ६८ ॥
तत्र कश्चिद्द्विजः सान्तः शिवविष्णुपरायणः ।
कथाः सुविविधाश्चक्रे नाम्ना शान्तव्रतो मतः ॥ ६६ ॥

शान्तव्रतउवाच

जन्मान्तरसहस्रेषु यत्पुण्यं समुपार्जितम् । तेन पुण्यकदम्बेन दर्शनं याति काशिका॥
काशीदर्शनमात्रेण निष्पापो जायते जनः ।
पुण्यभारम्पापनाशं कृत्वा विशति काशिकाम् ॥ १०१ ॥

पक्तिः पचनङ्कारितेत्यन्वयः ॥ ८६ ॥ भिक्षुकाः संन्यासिनः ॥ ८७—६२ ॥ वृत्तिर्भक्षणङ्कर्तव्यमिति वृत्तिः । तथा काकादीनामपि वृत्तिर्न जायते इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह

तेन पुण्यचयेनाऽत्र जायते शुद्धमानसः। मनःशुद्ध्या मुक्त एव भवत्येव न संशयः ॥

अत्राऽपिचेत्पापसमूहवारो भवत्यजस्रं हि धनान्धबुद्धिम्।
त्रिलोचनस्तस्य भवत्यवश्यं शास्ता यदाऽत्रैव मृतो भवेत्सः ॥ १०३ ॥
मात्रा पित्रा वाऽपि देवैर्मुनीशैः कर्तुं शक्यं काशिका यत्करोति।
नो शक्यन्तन्मेऽत्र तीर्थादिभिर्वा ह्यन्यैर्भूपैः किम्वराकैश्च लोकैः ॥ १०४ ॥
प्रवेशमात्रेण नरः कृतार्थः स्थित्वा पुनः पापरतो यदा स्यात्।
तदा न तस्याऽस्ति शरीरमात्रे मृते विमुक्तिर्ननु यातनान्ते ॥ १०५ ॥
अहर्निशम्वित्तचिन्तातुराणां कलत्रपुत्राप्तगृहादिभाजाम्।
विजृम्भते नो परमं काशिसौख्यं यदर्थमास्ते सहरिर्गिरीशः ॥ १०६ ॥
श्रुता स्मृता गदिता बन्धमोक्षं करोति यत्काशिका काशरूपा।
न काशिका शङ्करचिन्तकानां भवन्ति पापानि मुनीश्वराणाम् ॥ १०७ ॥
प्रवृत्तिभाजाङ्खलु पापराशिः सन्धीयते किं खलु चित्रमत्र।
यतोऽनृतन्द्वेषहिंसादिसर्वं भवत्यवश्यम्प्रकृतिर्यथा सा ॥ १०८ ॥
द्वेषो मानस्तथा दम्भो रागो लोभः सदारुणः।
प्रवृत्तिभाजां सततं भवन्त्येते न संशयः ॥ १०९ ॥
क्व काशिकायां सुखदा प्रवृत्तिः क्व पापराशौ विषये प्रवृत्तिः।
क्व विश्वनाथानुगतिः परप्रदा क्व दीनमर्त्योपसृतिः सुदुःसहा ॥ ११० ॥

काकादय इति ॥ ९३—९७ ॥ अत्रापीति। अत्र मृतश्चेत्त्रिलोचनः कालभैरवः शास्ता भवेत्पापिनामपि सद्गतिरत्रैवाऽन्यत्र मृतश्चेद्यमः शास्ताऽस्त्येवेतिभावः ॥१०३ मात्रेति। तन्मुनीन्द्रैः किं कर्तुं शक्यमित्यर्थः ॥ १०४ ॥ प्रवेशेति। तस्य पापरतस्य शरीरमात्रेमृते न मुक्तिः किन्तु तस्याऽन्ते यातना ननु निश्चयेन। यद्वा, यातनान्ते विमुक्तिरित्यर्थः ॥ १०५ ॥ यदर्थः-यत्काशीसौख्यार्थः ॥१०६॥ सन्धीयते सम्बध्यते तत्र हेतुर्यतः प्रकृतिः स्वभावो यथा तथा भवतीत्यर्थः ॥ १०७—१०८ ॥ क्व अतिदूर-

इति द्वितीयेऽह्नि कथां सबाहुजः श्रुत्वा श्रुतिज्ञानरहस्यनिष्ठाम् ।
गत्वा गृहं स पितुर्देवशालां प्रविश्य चोत्पाप सुदेववृन्दम् ॥ १११ ॥
निक्षिप्तमासीत्स्वयमेव यत्र नीत्वा तु गङ्गां विममर्द सम्यक् ।
स्नात्वा पुनर्देवगणान्गृहीत्वा चागत्य गेहम्विनिधाय सम्यक् ॥ ११२ ॥
दासीं समाभाष्य जगाम देवं श्रीविश्वनाथं जगतामधीशम् ।
विधाय पूजाम्पुनरागतो गृहं चाऽऽलोकयामास जनं सुभिक्षुकम् ॥११३॥
नाऽऽयाति कश्चित्पतितोऽयमित्यतो धनार्थजीवो न वृषार्थजीवनः ॥११४॥
तस्य दत्तं न गृह्णाति काश्याङ्कश्चिद्यथाऽन्त्यजः ।
किम्पुनर्ब्राह्मणादिर्हि धर्मरक्षाकरः शुचिः ॥ ११५ ॥
अथ देवान् क्षालयित्वा चन्दनादि निवेद्य च ।
दास्या सम्भृतसम्भारः पक्तुं समुपचक्रमे ॥ ११६ ॥
पक्त्वा द्वितीयेऽप्यहनि भुक्तवानन्नमुत्तमम् । शिष्टन्दास्यै निवेद्याऽथ दासीमाह सबाहुजः
दासिके ! त्वत्प्रसादेन प्राप्ता काचिच्छुभा मतिः ।
त्वत्समो न हितः कश्चित्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ ११८ ॥
आगच्छ भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वं ददस्व परिधत्स्व च ॥ ११९ ॥

दास्युवाच

हितम्मया कृतं किन्ते सन्तो हि हितकारकाः ।
सतां सङ्गाद्धर्मकथा भवन्ति हितकारकाः ॥ १२० ॥
सत्सङ्गमासाद्य तु काः कथाःकर्णपथङ्गताः । तव स्वामिन् ! कथय मे ममाऽपि सुखदोभव

महातेजाउवाच

अद्य तिष्ठ न प्रष्टव्यं त्वया किञ्चिच्छुभानने ! । श्वः सर्वङ्कथयिष्यामि यद्वृत्तं हृदये मम

मित्यर्थः ॥ १०९—११० ॥ बाहुजः क्षत्रियः ॥ १११—११२ ॥ धनार्थे जीवन-

इति श्रुत्वा तु सा तूष्णीमास सेवापरायणा।
अहर्निशम्महातेजाः कथार्थम्प्रविचारयन्॥ १२३॥
पश्चात्तापपरश्चासीज्जीविते मरणे तथा। जय शङ्कर! विश्वेश! जय दीनपरायण!॥
मामुद्धर जगन्नाथ! पतितं धनलोलुपम्। प्रतिक्षणं शिवशिवशिवेति प्रवदत्यसौ॥
रात्रौ निद्रा विशति तं न कथञ्चिदपि क्षणम्।
प्रातरुत्थाय स पुनः स्नात्वा विश्वेशमर्च्य च॥ १२६॥
सत्सभाम्प्राप्य स धनी बाहुजः परया मुदा।
सद्भिरप्यादृतः सोऽथ कथां शंसद्भिरुत्तमैः॥ १२७॥
अहो महत्त्वं हि सतां कथया श्रवणेन च। महातेजा महापापो जातः श्रवणतत्परः॥
बभूव शङ्करपरो विष्णुकाशीमहत्परः। उपविष्टः कथां श्रोतुमेकाग्रः स विगर्हितः॥१२९
ततः प्रवृत्ता महती कथा मलविनाशिनी। महापुण्यप्रदा तत्र भोगमोक्षैकशेवधिः॥
शान्तव्रतस्ततः शम्भुं नमस्कृत्य पुनः पुनः।
कथयामास सुकथां काशिवासिजनप्रियाम्॥ १३१॥

शान्तव्रतउवाच

देवाश्च ऋषयः काश्यां राजानश्चक्रवर्तिनः। यात्राऽऽगत्य जितप्राणा भवन्ति न बहिर्मुखाः
शृण्वन्तु लोका मधुरम्मदुक्तं जगद्धितम्पथ्यमपारसौख्यदम्।
विश्वेशपुर्याम्वसतिन्तु लब्ध्वा यथास्थितिर्धर्मपराऽत्र कार्या॥ १३३॥
काशीमहोत्सवमवाप्य महाजनोऽयं सम्प्रार्थयत्यखिलसाधनसिद्धरूपम्।
विश्वेश्वरं सकललोकगुरुं सदाप्तं द्रष्टुं शुभाशुभविनाशमुमासहायम्॥१३४॥
काश्यां येषां नाम गृह्णन्ति लोका बीजन्तेषां जायते मोक्षमार्गे।
काशीं ये वै संस्मरन्त्यन्यदेशे तानप्यात्मा शङ्करस्तारयेच्च॥ १३५॥

मस्याऽस्ति न वृषार्थं न धर्मार्थं जीवनमस्याऽस्तीति हेतोः॥ ११३—१२५॥ महत्परः साधुपरः॥ १२९—१३३॥ काशीमहोत्सवमिति। द्रष्टुम्प्रार्थयतीत्यन्वयः॥१३४॥

काश्यां ये वै शीघ्रमायुर्व्ययेन सिद्धिम्प्राप्तास्ते तु तीर्णा भवाब्धेः।
देशः कालो लोकयोनिस्तथाऽत्र पक्षे पक्षे क्षीयते सङ्गदोषात् ॥ १३६ ॥

कलौ पूर्वावस्था न भवति परा भारत ! नृणाम्।
यथा सत्ये सम्यक् प्रतिदिनमपारः शुभचयः ॥ १३७ ॥

अतः काश्यां शुद्धैर्जितविविधलौल्यैर्गुरुरतैः। प्रवस्तव्यं नित्यं हरिहरकथास्वादनपरैः॥

यत्र यत्र निवसन्ति साधवो माधवैकशरणाः शिवाज्ञया।
मानयन्ति सुकृतं न पातकम्पातकाद्भयमुमापतेर्भवेत् ॥१३९॥
शरीरसंस्कारकृतो महाजना बहिस्तथाऽन्तः शिवदर्शनार्थम्।
असंस्कृतम्पश्यति नो हरः स्वयं ह्यसंस्कृता नो भगवन्तमीश्वरम् ॥ १४० ॥
पश्यन्त्युमावल्लभमादिपूरुषं पतिव्रतावन्नियतैकमानसाः।
स किम्महात्मा व्यभिचारिणां नृणां सुदर्शनम्पाति रतिप्रियः सदा ॥१४१
काशीस्थलोको न यमाद्बिभेति न दुःखसङ्गान्न च गर्भवासात्।
बिभेति चैवम्महतो भयात्परं यन्मानुषत्वं शिवविष्णुहीनम् ॥ १४२ ॥
गङ्गास्नानम्विश्वनाथानुवृत्तिस्तत्तत्तीर्थस्नानदेवार्चनञ्च।
दानं शक्त्या सत्कथासत्प्रसङ्गः पापात्त्रासः कीर्तनं शम्भुनाम्नाम् ॥१४३
कुर्यादेवं क्षेत्रमध्ये स्थितो वा नोचेत्तीव्रा यातना भैरवी स्यात्।
एतच्छ्रुत्वा क्षत्रियो व्याकुलोऽभूत्पापैस्त्रस्तः शीघ्रमागत्य सत्सु ॥१४४॥
नत्वाऽष्टाङ्गं हा ! हतोऽस्मीति सोच्चैर्व्याक्रुश्यासीद्दुर्मना दीनदीनः।
सद्भिश्चोक्तः किञ्चिदप्याशु तत्त्वं ब्रूहि ब्रूहि ब्रूहि कुर्मो वयन्तत् ॥ १४५ ॥

काश्यां ये वै इति। देशः काल इत्यत्र लक्षणया देशकालविश्वासो गृह्यते तथा च काश्यां सङ्गदोषात्पापिसङ्गदोषात्काशीविश्वासस्तथा पुण्यकालविश्वासः क्षीयते ततोऽत्र शीघ्रम्मरणमेव वरमितिभावः ॥१३६॥ यद्वा, काश्यामागत्य ये शीघ्रम्मृतास्तैस्तु जितं ये त्वत्राऽऽगत्य स्थितास्तेषां सङ्गदोषाद्दुःसङ्गदोषात्पक्षे पक्षे प्रतिदिनमपि

का ते पीडाकिन्तवप्राथ्र्यमस्ति काशीनाथः सर्वमेवाऽत्र कुर्यात् ॥ १४६ ॥
न धनं न सुता दारा न देहो गेहमेव तत् । कदाचिदुपकुर्वन्ति वराकाः क्षणभङ्गुराः
यथोपकारी सततं विश्वेशो विश्वया सह । तमेव भजतांनृणामुपकारा भवन्ति हि ॥

महातेजाउवाच

अहं सुतेजसः पुत्रो महातेजाः प्रकीर्त्तितः । क्षत्रियः कुलशीलादियुक्तः सूर्यान्वयोद्भवः
पिता मम स्वधर्माभ्यूयो वदान्यः सज्जनाग्रणीः । तस्य गेहे महापापः समुद्भूतोऽहमन्त्यजः
धनलोभेन पापानि कृतानि सुमहान्त्यपि । दासीपतिरहन्त्वद्य परिणीता मृता वधूः ॥
निन्दितैर्बहुभिर्मार्गैर्द्धनं सञ्चितवानहम् । संख्यातस्य धनस्याऽऽशु मयाऽपि नाऽवगम्यते
काश्यामेव मया सर्वं सञ्चितम्पापमार्गतः । रक्षका अपि नो सन्ति पुत्राद्या मम वस्तुतः
मम गेहे वृता दासी सदा श्रवणतत्परा । तयाऽहम्प्रेषितःसत्सु कथाश्रवणहेतवे ॥१५४
श्रुता दिनत्रयं धर्मकथा पापप्रणाशिनी । विवेकदायिनी काश्यां विश्वेशस्य महात्मनः
अथ लज्जा सुमहती जाता मम महाधियः । प्रायश्चित्तं वदन्त्वद्य येन शुध्येन्नरः सदा

एकमेव महद्भूतं प्रायश्चित्तं दृढन्द्विजाः ! ।
सर्वपापानि नश्यन्ति काश्यामपि कृतानि हि ॥ १५७ ॥
काश्यां कृतानाम्पापानां प्रायश्चित्तं न विद्यते ।
श्रूयते महताम्वक्त्राद्बिभेमि हि ततो ध्रुवम् ॥ १५८ ॥
अवश्यं निष्कृतिर्वाच्या कृपया तारकैर्द्विजैः ॥ १५९ ॥
धनेन देहेन यथा मम स्याच्छुद्धिस्तथाऽन्विष्य वदन्तु शीघ्रम् ।
नो चेत्पतिष्यत्यवशो हि देहो मनुष्यरूपो न तु मानवार्थः ॥१६०

बहिर्गन्तुमिच्छा जायते चेत्काशीदेशस्तद्दृष्ट्या क्षीयत एव तथा लोकयोनिर्लोको-त्पादकः कालोऽपि आयुष्यरूपोऽपि क्षीयते नश्यति वृथाऽऽयुःक्षपणम्भवत्येवेत्यर्थः ।१३६। कलौ पूर्वावस्थेति पञ्चश्लोकी पूर्वं तृतीयाध्याये व्याख्याता ।१३७-१४४। किञ्चि-दपि आशु शीघ्रन्तत्त्वं स्वाभिप्रायम्ब्रूहि आदरार्था वीप्सा ।।१४५-१५६।। महद्भूत-

सदस्याऊचुः

काश्याङ्कृतानाम्पापानां निष्कृतिर्नरदुर्ल्लभा ।
वदन्ति हि पुराणानि वेदाः स्मृतिगणाअपि ॥ १६१ ॥
तथापि शङ्करेणोक्तमस्ति किञ्चित्य (प्र ?) चक्ष्महे ।
श्रद्धया क्रियते यर्हि तदा वासफलं लभेत् ॥ १६२ ॥
यातनासु पतित्वा किं मोक्षः साध्यः सुमानवैः ।
यद्यस्ति सञ्चयो राजन् ! कुरु धर्मसनामयम् ॥ १६३ ॥
न हि धर्मसमो बन्धुः सोऽपि तञ्चाऽनुगच्छति ।
पृष्टो विश्वेश्वरो देवो ऋृषिभिः पापभीरुभिः ॥ १६४ ॥
काश्यां स्थितैर्महापुण्यैर्जैगीषव्यादिभिर्भयात् ॥ १६५ ॥

ऋृषयऊचुः

देव ! देव ! महादेव ! काशिवासिजनप्रिय ! ।
काश्याङ्कृतानाम्पापानां प्रायश्चित्तम्वदाऽऽशु नः ॥ १६६ ॥

श्रीभगवानुवाच

धनेषु विद्यमानेषु गृहमुत्थापयेत्सुधीः । सर्वलक्षणसम्पन्नं दैन्यकाकार्पण्यवर्जितम् ॥
वित्तानुमानेन महत्काशिवासिसुखप्रदम् । आर्ताय द्विजवर्याय साधवे तंनिवेदयेत् ॥
अन्नवस्त्रादिसंयुक्तं कुप्यभाण्डादिसम्भृतम् ।
शय्यापीठादिसंयुक्तं गृहम्पात्रे निवेदयेत् ॥ १६९ ॥
यत्र विष्णुकथाः सत्या मम धर्मकथाः शुभाः । भवन्त्यविरतन्तत्र पात्रवर्ये निवेदयेत्
देवकार्यं पितृकार्यं सताम्विश्राममेव तत् । तद्वत्तमुद्धरेत्पूर्वान् दात्रा सह ममाऽऽज्ञया
या गतिर्गृहदातुःस्यात् पितॄणामपि सा गतिः ।
तस्मात्काश्याङ्गृहसमं दानं नास्ति महद् द्विजाः ! ॥ १७२ ॥

म्महत्प्रायश्चित्तमेकमेव वदन्त्वित्यन्वयः। यतः सर्वपापानित्यन्वयः ॥ १५७—१५९ ॥ न तु मानवार्थः पुरुषार्थः कृतः स्यादितिशेषः ॥१६०-१६३॥ सोऽपि स एव धर्मस्तमनु-

ब्राह्मणो यत्र वसति दिनमात्रमपि स्वतः। तत्सात्कृते किम्पुनः स्याद्वर्णनीयं फलप्रदम्

काश्याङ्कृतानाम्पापानां शुष्कार्द्राणान्धिया पुनः।
प्रायश्चित्तम्मुख्यमेतत्काशीवासफलप्रदम् ॥ १७४ ॥
दत्त्वा गृहम्पापभीरुः प्रवृत्तिम्परितस्त्यजेत्।
प्रवृत्त्या पुनरायान्ति संस्कारात्पातकान्युत ॥ १७५ ॥
अतत्त्वज्ञमविश्रान्तमलब्ध्वाऽऽत्मानमस्थिरम्।
निगिरन्तीन्द्रियाण्याशु प्रवृत्त्याऽपि हि धार्मिकम् ॥ १७६ ॥

एतादृशमपीत्थम्वै धर्मैर्युक्तम्महामतिम्। काशिका मोचयत्येव प्रायश्चित्तपरन्नरम् ॥

काश्यां तिष्ठामिं सगणः सावधानः सदा द्विजाः ॥
अत्राऽनन्दवने यस्तु शिवालयकरो भवेत् ॥ १७८ ॥

पातालमर्त्त्यलोकेषु कृतदेवालयः स च। इष्टकापुञ्जकृद्यस्तु कौतुकेन नरः सकृत् ॥१७९

काश्यां जलाशयं किञ्चित् गर्त्तमात्रम्मुनीश्वराः!।
करोति विवशोऽप्यत्र कृतैः पापैः प्रमुच्यते ॥ १८० ॥
न तयोः साम्यमायाति सर्वदृक् सर्वतीर्थकृत्।
शिवलिङ्गस्य पूजा चेत्प्रत्यहं जायते सकृत् ॥ १८१ ॥

गच्छति ॥ १६४—१७० ॥ दात्रा सह गृहसमर्पकेण सह पूर्वान् पूर्वजान् ॥ १७१ ॥ दिनमात्रमेकदिनं वसति चेत्पुण्यम्वक्तुं न शक्यते किम्पुनस्तत्सात्कृते तदधीने गृहे-कृते सतीत्यर्थः ॥ १७३ ॥ शुष्काणाम्पुरातनानामार्द्राणां सद्यः कृतानाम् ॥ १७४ ॥ धार्मिकमपीत्यर्थः ॥ १७५—१७६ ॥ तन्मोचनार्थञ्चाऽहमपि काश्यां तिष्ठामीत्याह काश्यामिति ॥ १७७—१७८ ॥ इष्टकापुञ्जङ्कृत्वापि यः शिवालयं दर्शयति सोऽपि पूर्ववदेवेत्यर्थः ॥ १७९ ॥ इत्थं गृहदानरूपप्रायश्चित्तप्रसङ्गेन शिवालय-करणरूपमपि प्रायश्चित्तमुपपाद्य पूर्वोक्तं जलाशयकरणरूपमपि प्रायश्चित्तं सङ्गृह्णाति काश्यामिति ॥ १८० ॥ सर्वदृगपि सर्वज्ञोऽपि तयोः शिंवालयजलाशय-

तदा लिङ्गप्रतिष्ठायाः फलमाप्नोति सन्ततम् ।
जलाशयस्य खनने लिङ्गोत्खातो भवत्यपि ॥ १८२ ॥
यतः सर्वा लिङ्गमयी काशी काशितसत्पदा ।
शिवं शिवालयङ्काश्यां कृतभङ्गं निरीक्ष्य च ॥ १८३ ॥

अनुतापो भवति चेत्कर्त्तुः प्रियकरः सदा । जीर्णोद्धारम्प्रकुर्वन्ति जलाशयशिवालयौ
शिवायतनलक्षाणि विष्णोरायतनानि च । कृतानि तेन विप्रेन्द्राः ! प्रीयेऽहं सचराचरः
शिवालयशतङ्कृत्वा यत्फलम्प्राप्यते नृभिः । द्विजालयेन चैकेन तत्फलन्त्वक्षयम्भवेत्

तस्मात्किञ्चिद्यथाशक्त्या कुर्याद्विप्रो यथा वसेत् ।
क्षेत्रे कृतानाम्पापानां प्रायश्चित्तमिदं श्रुतम् ॥ १८७ ॥

पुत्रपौत्रादियुक्ताय काशीवासाभिलाषिणे । शिवभक्तिपरायाऽपि विष्णुव्रतपराय च॥
महापातकसङ्घस्तु गृहदत्ते क्षयम्व्रजेत् । अन्तर्गृहे गृहं यस्तु कृत्वा विप्राय चाऽऽर्पयेत्

मद्गेहं निर्मितं तेन मह्यं दत्तं न संशयः ॥ १९० ॥

सदस्याऊचुः

एवं भगवता प्रोक्तं प्रायश्चित्तं तृतीयकम् । श्रुत्वा महर्षयो हर्षं लेभिरे काशिवासिनः

महातेजाउवाच

विधिम्वदत दानस्य मम सर्वाघनुत्तये । यथा दद्याद्गृहं यस्मै द्विजाय धनसंयुतम्॥

कर्त्रोः साम्यं नायातीत्यर्थः । जलाशयशिवालयकरणापेक्षयाऽपि तयोर्जीर्णोद्धारो विशिष्ट इति वक्तुं जलाशयशिवालयकरणे दोषमुद्भावयति शिवलिङ्गस्येति ॥१८१॥ लिङ्गोत्खातो लिङ्गखननम् ॥१८२॥ अनुतापोऽपि हा कष्टं ! शिवलिङ्गं भग्नं शिवालयोऽयं भग्न इति । पश्चात्तापोऽपि प्रियकरः सुखकरः किम्पुनर्जीर्णोद्धार इत्यर्थः। अतस्तयोर्जीर्णोद्धारः कर्त्तव्य इत्याह जीर्णोद्धारमिति । जलाशयशिवालयौ जलाशयशिवालययोरित्यर्थः । विभक्तिव्यत्यय आर्षः ॥ १८४ ॥ तेन जीर्णोद्धारकृता पुरुषेण ॥१८५॥ सर्वापेक्षयाऽपि गृहदानमधिकमित्याह शिवालयशतमिति ॥१८६॥

सदस्याऊचुः

यथाकथञ्चिद्विप्रो वै वसेद्गेहे सुखी सुधीः । स एव मुख्यो हि विधिर्यत्र धर्मः प्रवर्त्तते
कश्चिद्विश्रमते यत्र धर्मशालेति सा स्मृता । तयाऽप्यनन्तम्भवति पुण्यम्पापञ्च नश्यति

श्रीमहादेवउवाच

विधिं श्रुत्वा महातेजा गृहदानस्य पापनुत् । पाषाणपक्वेष्टकाभिः कारयामास सद्गृहम्
वहुभिर्दिवसैः सिद्धं वहुचित्रविचित्रितम् । तुलसीकाननयुतं कूपसोपानसंयुतम् ॥
वसिष्ठगोत्रः सुतपाः सदाचारः कुटुम्बवान् । तृणपर्णादिरचिते गेहे तिष्ठति सर्वदा ॥
सदाभिक्षितभुक् शान्तः शिवभक्तिरतः सदा । पञ्चमुद्रे महापीठे वीरेश्वरसमीपतः
वसतिस्तस्य जीर्णस्य क्षुधया जीर्णताङ्गतः । दृष्ट्वा तन्तु महातेजा ब्राह्मणम्प्राह दीनवत्

महातेजाउवाच

किञ्चिद्विज्ञप्तुकामोऽहं शृणु विप्रेन्द्र ! मद्वचः ।
शिवार्थङ्केनचिद्गेहमुत्थापितमतिस्फुटम् ॥ २०० ॥
तदङ्गीक्रियतामद्य तन्निस्तारार्थमाशु भोः ! ॥ २०१ ॥

सुतपाउवाच

यायावरोऽहं धर्मिष्ठो नाधिकम्प्रार्थये क्वचित् ।
अग्निनिर्वाहमात्रात्तु स्वातिथेः पूजनात्परम् ॥ २०२ ॥
गृहे न मम किङ्कार्यं धनदुर्ध्या वा महामते ! । धनदोषम्विजानामि यदाहृत्य पतेदधः

महादेवउवाच

आनीयसर्वान्विप्रान्सः प्रार्थयामास तं द्विजम् ।
तन्मुखात्सुमहातेजाः प्रायश्चित्तार्थमात्मनः ॥ २०४ ॥
तैः प्रार्थितस्तु सुतपा उवाच ब्राह्मणान्प्रति ।
अङ्गीकृत्य ब्राह्मणेभ्यो दास्यामि न वसामि तत् ॥ २०५ ॥

सदस्याऊचुः

त्वमुद्धरैनम्विप्रर्षे ! क्षत्रियं धनिनं नतम् । अन्तर्यामिप्रयुक्तस्तु यत्करिष्यसि तत्कुरु ॥

इति श्रुत्वा वचस्तेषामङ्गीकृत्य गृहम्महत्। महद्धनञ्च विप्रेभ्यो ददौ स सुतपाः पुनः॥

प्रतिग्रहस्य यो दोषस्तस्य नाशाय निर्ममः।
भिक्षितम्भोजयामास ब्राह्मणान्पूर्वसञ्चितम् ॥ २०८ ॥

एवं महापापधनोऽपि बाहुजो दत्त्वा गृहम्विप्रवराय पातकैः।
मुक्तः सतां सम्मतिमाप सम्मतेश्चचार धर्मे नहि पापमाप ॥
शृणोति यः पापविनाशिनीङ्कथां पापानि नश्यन्ति हि तस्य शीघ्रम्।
यः श्रावयेत्सोऽपि न पापभाग्भवेत्प्राप्नोति धर्मम्परमार्थहेतुम् ॥ २१० ॥

श्रीकपिलउवाच

एवं सिद्धा! भवद्भिर्यत्पृष्टं तत्सर्वमादितः।
शिवयोर्मुखतः प्रोक्तं किम्पुनःश्रोतु मिच्छथ ॥ २११ ॥

सूतउवाच

इत्येवं कपिलः सिद्धानाभाष्य परया मुदा।
सम्वादं शिवयोः प्रौढं विरराम महामुनिः ॥ २१२ ॥

भवन्तोऽपि महाप्राज्ञाः काशीमाहात्म्यवेदिनः। श्रयन्तु काशीन्नियतं सर्वपापापनुत्तये
नानेन सदृशम्मुक्त्यै साधनम्विद्यते भुवि। तस्मात्काश्येव संसेव्या विश्वेशनगरी शुभा

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्यव्याख्याने प्रायश्चित्तविधिर्नाम
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इत्थं षष्ठाध्यायमारभ्य द्वादशाध्यायपर्यन्तञ्जातं कपिलसिद्धसम्वादं समापयति श्रीकपिलउवाचेति। स्पष्टार्थमन्यत्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण
नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

काशीस्थितानाम्प्रमुखतीर्थानाम्वर्णनम

ऋषयऊचुः

काश्यां लिङ्गान्यनन्तानि काश्यान्तीर्थानि सर्वशः।
अकृत्वा दर्शनं स्नानं प्रत्यवायी नरो भवेत्॥ १॥
तानि तीर्थानि लिङ्गानि वदस्व भुवि वत्सल!।
ज्ञातेषु तेषु यात्रा स्यान्नाऽन्यथा तीर्थवत्सल!॥ २॥

सूतउवाच

आवश्यकानि तीर्थानि शृण्वन्तु द्विजसत्तमाः!।
अस्नानात्प्रत्यवायी स्यादविमुक्ते स्थितो नरः॥ ३॥
गङ्गास्नानं नित्यमेव प्रशस्तं गङ्गास्नायी सर्वतीर्थेषु सस्नौ।
गङ्गास्नानापेक्षयाऽन्यस्य यात्रा नो कर्तव्या धर्मदृग्भिर्नृभिर्हि॥
मध्याह्ने मणिकर्णिकामनुसरेत्सर्वाघहन्त्रीम्पुन-
र्मोक्षार्थादिसमस्तसिद्धिदजलां विष्णोस्तपःसज्जलाम्।

अथाऽस्याङ्काश्यामनन्तानि लिङ्गानि तीर्थानि च सन्ति तेषु कानिचित्सेवनेऽभ्युदयकारीणि कानिचिदसेवने प्रत्यवायजनकानि तत्र यान्येव प्रत्यवायजनकानि तान्येवाऽऽवश्यकानि तानि पृच्छन्ति ऋषयऊचुः काश्यामिति। सर्वतः सन्ति तेष्विति शेषः॥ १॥ गङ्गास्नानमित्यनेनैकं सर्वकालसाधारणन्तीर्थमुक्त्वा द्वितीयं तीर्थम्मध्याह्ने आवश्यकमाह मध्याह्ने इति। विष्णोस्तपसा सज्जलश्चक्रपुष्करिणीरूपं यस्यां या मणिकर्णिकाम्प्रार्थयन्ते इत्यर्थः। 'कर्णललाटात्कनलङ्कारे' इति सूत्रात्कर्णिका

देवादेवमुनीश्वराश्च ऋषयो नागाः सरा मानवाः
कृत्वा धर्मशतम्महेशशरणा याम्प्रार्थयन्तेऽनिशम् ॥ ५ ॥
प्रातः पुनः पञ्चनदे रमापतेर्निवासभूते सकलार्थसिद्धिदे
स्नायान्नरः पापविनाशपूर्वं मोक्षान्तसिद्धिप्रद आदरेण ॥ ६ ॥
आदिकेशवपदम्परम्पदं सङ्गतम्वरणया च गङ्गया ।
स्नाति यः सुकृतपूरपूरितो यत्र विष्णुपदभाक् प्रजापतेः ॥ ७ ॥
शूलटङ्कपुरतः प्रजापतेस्तीर्थमुत्तममितिप्रयागजम् ।
गङ्गया यमुनया च सङ्गतन्तत्र मज्जनकृतां न मज्जनम् ॥ ८ ॥
गङ्गासिसम्भेदवरे निमज्य नरो निमज्जेन्न भवाब्धितोये ।
सुतीर्थकामस्य सुकामपूर्तिर्भवेदवश्यङ्खलु याऽत्र सिद्धा ॥ ९ ॥
गङ्गातीरे यानि तीर्थानि सन्ति तेषु स्नानं गङ्गया सिध्यतीह ।
लिङ्गन्तीर्थं तिष्यकाले समेन सूत्रेण स्याज्ज्ञातमत्रत्यलोकैः ॥ १० ॥
नित्यानि तीर्थानि भवन्ति चैतान्यन्यानि यात्रादिवसे कृतानि ।
तत्तद्दिने कार्यशतम्विहाय स्नानार्थमेव प्रयतोऽभिगच्छेत् ॥ ११ ॥

कर्णालङ्कारः कुण्डलमणियुक्ता कर्णिका मणिकर्णिका मणिकर्णिकाऽस्ति यस्यामित्यर्शआद्यजन्ताट्टाप् काशीखण्डे मणिकर्णिकायां शिवस्य कर्णकुण्डलस्य पतनोक्तेः मणियुक्तशिवकर्णकुण्डलवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ तथैव प्रातःकाले आवश्यकं पञ्चनदतीर्थमाह प्रातरिति । पुनः शब्दः पादपूरणार्थः ॥ ६ ॥ वरुणासङ्गमतीर्थमाह आदिकेशवेति ॥ ७ ॥ दशाश्वमेधिकन्तीर्थमाह शूलटङ्केति । न मज्जनं संसारे इतिशेषः ॥ ८ ॥ असिसङ्गमतीर्थमाह गङ्गासीति गङ्गास्योः सम्भेदः सङ्गमः ॥९॥ अथ गङ्गास्नानेनैव तदन्तर्गततीर्थस्नानोपसंहारमाह गङ्गातीरे इति । यतः कारणादत्रत्यलोकैर्लिङ्गं तीर्थञ्च गङ्गायास्तत्प्रवाहस्य यत्समं सूत्रन्तेन सह ज्ञातं स्याद्यतस्तदन्तर्गतं ज्ञातमस्त्विति तत इत्यर्थः ।१०। एतानि तीर्थानि नित्यानि अन्यानि

पदे पदे तीर्थशतं गङ्गातीरे महर्षयः ! । सन्ति तेषाम्परिच्छेदः केन कर्तुं प्रशक्यते ॥
तीर्थार्थी न बहिर्गच्छेन्न देवार्थी कदाचन । सर्वतीर्थानि देवाश्च वसन्त्यत्राऽविमुक्तके

काश्यां नवौख(ष)राः सप्त पुर्य्यः सन्ति समागताः ।
रेणुका सूकरः काशी काञ्ची कालीवटेश्वरौ ॥ १४ ॥

कालञ्जरमहाकालौ उषरा नव कीर्तिताः । नवारण्यानि च तथा नागाश्च सुकृतप्रदाः

ऋषयऊचुः

सप्तपुर्य्यः काशिकायां कुत्र कुत्र व्यवस्थिताः ।
ज्ञातव्यास्ताः कथं सूत ! यात्रार्थिभिरितस्ततः ॥ १६ ॥

सूतउवाच

इदमेव पुरा पृष्टः पार्वत्या जगदीश्वरः । कथयामि यथा व्यासमुखाच्छ्रुत्वाऽवधारितम्

देव्युवाच

सप्तपुर्यः काशिकायां सन्ति शङ्करशङ्कराः ।
श्रुतन्त्वत्तो महादेव ! तासां स्थानानि मे वद ॥ १८ ॥
यात्रादिनानि मे ब्रूहि फलं तासाम्विमुक्तिदम् ।
यत्र त्वम्भगवाञ्छम्भुर्यत्र देवो जनार्दनः ॥ १६ ॥

तु नैमित्तिकानीत्याह नित्यानीति । ता नवौषराः वक्ष्यमाणास्तानेवाऽऽह रेणुकेति । सह्याद्रौ । रेणुकापुरम्मातृपुरनाम्ना यत्प्रसिद्धमस्ति स्थानं स उषर इत्यर्थ । सूकरो वराह स्थानं काञ्ची प्रसिद्धा, काली कामरूप पीठं वटशब्देन वटेश्वरस्थानं ईश्वरशब्देन भुवनेश्वरस्थानमिति शूलपाणिः ॥ १४ ॥ नवारण्यानि वाराहे "दण्डकं सैन्धवारण्यं जम्बू मार्गे(तु) पुष्करम् । उत्कलावर्तकञ्चैव नैमिषं कुरुजाङ्गलम् । अर्बुदं हिमवांश्चैव नवारण्याः प्रकीर्तिताः" ॥ नवनागाः अन्यत्र प्रसिद्धाः ॥ १५ ॥ सप्तपुर्यः काशिकायामिति । ननु काश्या आधारत्वं सप्तपुर्यन्तर्गतकाश्या आधेयत्वमित्येकस्याऽऽधाराधेयभावोऽनुपपन्न इति चेन्न काशीशब्दस्य देशपरत्वेन सामान्यविशेषरूपेणै-

यत्र ब्रह्मादयो देवास्तत्र तीर्थे वराणि च। भवन्त्येव किमाश्चर्यं ज्ञानं सर्वस्य दुर्लभम्

श्रीभगवानुवाच

शृणु देवि ! महाभागे ! रहस्यङ्काशिवासिनाम्।
ये तीर्थसर्वसौभाग्यं पुण्यम्पापप्रणाशनम्॥ २१॥

भुञ्जते क्षेत्रमध्यस्था अनायासेन पार्वति !। तेषां न क्षेत्रयात्रादावन्यत्र रतियुङ्मनः

देवदेवैस्त्रयत्रिंशत्कोटिभिर्मुक्तिदा नृणाम्।
ताभिर्वयं सुपूर्णाभिः सुपूर्णा विष्णुशासनात्॥ २३॥
स्थिता ह्यानन्दसदने निरानन्दान्विमोचितुम्।
व्यापिका काशिका त्वन्या व्याप्याः षण्मुक्तिदाः पुरः॥ २४॥
काशस्वरूपा काशीयं काश्यन्त्वन्यज्जगत्त्रयम्।
हिरण्यगर्भशक्राद्या ब्रह्मांशा जीवराशयः॥ २५॥

ब्रह्माश्रिताः प्रवर्तन्ते ब्रह्म नान्याश्रितम्विभु। तथा सर्वाणि तीर्थानि सप्तपुर्य्यश्च मानदे!

कस्याऽप्याधाराधेयभावस्य अत्र जले गङ्गादितीर्थानि सन्ति गङ्गाजले तथा प्रयोगस्यैव व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्॥ १८॥ यज्ज्ञानन्दुर्लभं तदपि भवत्येव तदाऽन्यस्य का कथेतिभावः। अथवा तेषां तीर्थानां क्व कुत्राऽस्तीति ज्ञानन्दुर्लभमिति॥१९-२०॥ रतियुङ्मन इति। ये भुञ्जते तेषां काशीतोऽन्यत्र तीर्थक्षेत्रादौ रतियुङ्मनो नास्तीत्यन्वयः॥ २२॥ सप्तपुर्यः कथमत्र स्थिता इत्याश्चर्यं न कर्तव्यं यतो वयं सर्वेश्वराः सन्तोऽप्यत्र स्थिता इत्याह देवा इति। ताभिः पूर्णाभिः कोटिभिर्वयम्पूर्णा युक्ताः॥२३ तत्र काशीपुरी व्यापका तदन्तर्गतास्तु षट्पुरः(र्यः?) सन्तीत्यर्थः। अन्या षट्पुरीभ्यः व्यापिका काशीपुरी एका तस्यामन्याः षट्पुर्यः सर्वा मिलित्वा सप्तपुर्य तत्र यः काशीपुर्यावासः सर्वैः क्रियते स एव नत्वन्यः। अधुना लोके सप्तमीम्पुरीं कुत्रचित्कल्पयित्वा तत्र वासङ्कुर्वन्ति तत्र मूलम्मृग्यम्॥ २४॥ काशीस्वरूपमाह काशस्वरूपेति। काशो ब्रह्मेति वचनाद्ब्रह्मरूपा काशी भवति इयं जगत्त्रयं काश्याम्प्रकाश-

वसन्ति काशीमाश्रित्य स्वसामर्थ्यविवृद्धये ।
कः काशिकां न सेवेत ब्रह्मविष्णिवन्द्रशङ्कराः ॥ २७॥
सुखदाः परमं सौख्यं प्रापुर्यत्र सदा स्थिताः ।
शृणु पार्वति ! वक्ष्यामि यद्गोप्यं मम सर्वदा ॥ २८ ॥

यत्र या पूः समुद्दिष्टा काश्यान्तत्र वदामि ते । शङ्खोद्धारप्रदेशे तु द्वारका परिकीर्त्तिता
विन्दुमाधवपार्श्वस्था विष्णुकाञ्चीति विश्रुता । उत्तरार्कादुत्तरतो मथुरावरणावधि
अयोध्या वायुकोणे तु सोमेश्वरसमीपतः । यत्र रामेश्वरं लिङ्गं वसेत्सीतापतिःस्वयम्
विभीषणादिभिर्यत्र राक्षसैर्वानरैरपि । स्थापितान्ययुतं सार्धं लिङ्गानि परितः पृथक्
असि सम्भेदकोणे तु गङ्गाद्वारम्प्रकीर्त्तितम् । वृद्धकालात्पुरोभागे कृत्तिवासेश्वरावधि

कालकालपुरी ज्ञेया ह्यवन्ती ह्यघतो जगत् ।
एताः काश्याम्पुरः पूर्वं देवैर्ब्रह्मादिभिः शिवे ! ॥ ३४ ॥
स्तुत्वा प्रकाशिताः काशी जनित्री भोगमोक्षयोः ।
यथा देवेषु विश्वेशो यथा देवीषु पार्वती ॥ ३५ ॥
यथा धर्मेषु विष्णवाख्यस्तथा तीर्थेषु काशिका ।
प्रावृड्ऋतौ द्वारवतीयात्रा मोक्षकरी शुभा ॥ ३६ ॥

यति "तमेवभान्तमनुभाति सर्वन्तस्य भासा सर्वमिदम्विभाति" इति श्रुतेः, तत्र यथा ब्रह्माधिष्ठानाश्रिता हिरण्यगर्भाद्यास्तथा काशीमाश्रित्य षट्पुर्यः सन्तीत्याह हिरण्य-गर्भेति ॥ २५ ॥ स्वसामर्थ्येति । यथा गङ्गा सम्बन्धाद्रथ्याजलस्य पावनत्वं तथा काशीसम्बन्धादस्माकं पावनत्वम्भविष्यति तदर्थमित्यर्थः ॥ २६—२९ ॥ वरणा-वधि वरणानदीपर्यन्तम् ॥ ३०—३१ ॥ असिसम्भेदोऽसिसङ्गमः गङ्गाद्वारम्माया-पुरी ॥ ३२ – ३३ ॥ अघतः पापतो जगदवन्ती रक्षति ततोऽवन्तीति नाम तस्या इत्यर्थः ॥३४—३५॥ काश्यां इति काश्या ब्रह्मरूपत्वात् षटपुरीणां सृष्टिस्थितिसंहृति-कर्तृत्वं सम्भवत्येवेति । अत्र षट्पुरीणामेव वासस्थानानि षट् षडेव च काला उक्ताः

शरत्काले विष्णुकाञ्ची गन्तव्या प्रत्यहं बुधैः ।
मथुरा वसन्तसमये गन्तव्या भक्तिवर्धिनी ॥ ३७ ॥
अयोध्या ग्रीष्मकाले तु तापत्रयनिवारिणी ।
अवन्तिका हिमर्तौ तु महाजाड्यविनाशिनी ॥ ३८ ॥
मायापुरी तु शिशिरे रजोगुणविनाशिनी ।
काश्याः सर्वा निःसृताः सृष्टिकाले काश्यामन्तः स्थितिकाले वसन्ति
काश्या लीनाः सर्वसंहारकाले ज्ञातव्यास्ता मुक्तिपुर्य्यो भवानि ! ॥ ३९ ॥

पार्वत्युवाच

विभागोऽयम्महादेव ! कदारभ्य प्रवर्त्तते ।
पृथक् स्थिताः कथम्पुर्य्यः कथमेकत्र संस्थिताः ॥ ४० ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु देवि ! रहस्यम्मे यन्नाख्यातन्तु कस्यचित् ।
काश्यास्तु महिमा कश्चित् विचित्रश्चित्तशान्तिकृत् ॥ ४१ ॥
पुरा कृतयुगे देवि! देवानां सुमहानभूत् ।
सम्वादो मुक्तिमुद्दिश्य ऋषीणाम्भावितात्मनाम् ॥ ४२ ॥
कथञ्जीवाः प्रमुच्यन्ते कथम्पापक्षयो भवेत् । कथं दुःखनिवृत्तिर्हि कथं सुखमवाप्यते
एवम्प्रवदतान्तेषां निःश्रेयससुखार्थिनाम् ।
सर्ववेदार्थतत्त्वज्ञो भगवान् विष्णुरब्रवीत् ॥ ४४ ॥
अयोध्या मथुरा काशी माया काञ्ची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारवती ज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायकाः ॥ ४५ ॥

ब्रह्मोवाच

द्वारकायाम्मृता ये च वसन्ति च महाधियः । तेषाम्मोक्षो भवत्येव महापापप्रणाशनः

ननु सप्तम्याः कालः स्थानञ्चोक्तमतोऽपि हेतोः काश्या यो निरन्तरम्वासः क्रियते तदेव स्थानं स एव कालः काशिपुर्या नत्वन्य इति बोध्यम् ॥ ३६ – ३९ ॥ कदारभ्येति सप्तपुरीणाम्मोक्षदातृत्वेन विभागः कदारभ्य जातः केन वा कृतः किञ्च ता अन्या

महापातकयुक्ता ये महादानरताश्च ये। तेषां समागतिः प्रोक्ता मथुरायाम्वपुर्व्ययात्

या गतिर्योगयुक्तानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
सा गतिर्विष्णुकाञ्च्यां हि कान्तिमत्याम्परार्थिनाम्॥ ४८॥
शृण्वन्तु देवा ! मुनयो ! मम वाचम्महाफलाम्।
अयोध्यायाम्मृता जीवा भवन्ति हरिरूपिणः॥ ४९॥
गङ्गाद्वारे मृतानान्तु निर्वाणं निर्विकल्पकम्।
भवत्येव न सन्देहो ह्यनन्तस्य प्रसादतः॥ ५०॥
अवन्तिका पुरी शुद्धा महाकालस्य शाश्वती।
यस्याम्विपन्ना विश्वात्मन्विलीयन्ते महाजनाः॥ ५१॥
एता षट्सिद्धिदा नृणां देहत्यागकृतां सताम्।
सर्वाः सुकृतसम्भारसम्भृताः पुण्यकर्मणाम्॥ ५२॥
पापानां दर्शनस्पर्शश्रवणादिषु दुर्लभाः॥ ५३॥

तीर्थानि सर्वाणि पुरीश्चसर्वास्तथा शिवस्याऽऽयतनानि षष्टिः।
नद्यो नदाः सरसः सागराश्च देवाः समेता मुनयश्च सर्वे॥ ५४॥
वसन्ति काश्यां स्वविमुक्तिकामाः कामारिसम्प्राप्तमहत्प्रभावाः।
दृष्ट्वा हि काशीं रमते मनो न तीर्थेषु चान्येषु सदैव तेषाम्॥ ५५॥

न पृथक् स्थिताः काश्याङ्कथमेकत्र स्थिता इत्यर्थः॥ ४०॥ प्रथमप्रश्नोत्तरमादावाह शृणु देवीति। पापानां पापवतां नराणाम्॥५३॥ पुरीश्च सर्वा इति। स्थूलरूपेण पृथक् स्थिताअपि सूक्ष्मरूपेण काश्यामपि स्थिता इति। द्वितीयप्रश्नोत्तरम्पूरीः पुर्य- इत्यर्थः। 'महाकालस्त्र्यम्बकश्च वैद्यनाथोऽमरेश्वरः' इत्यादि शिवपुराणे प्रसिद्धानि षष्टि- स्थानानि एते सर्वे देवाः सर्वतीर्थानि च स्वस्य मुक्तिकामाः काश्याम्वसन्तीत्यन्वयः ॥५४॥ एते सर्वे देवाः स्वस्य मुक्तिकामाः काश्याम्वसन्ति काशीम्भगवतीम्पराशक्ति श्रयन्ते तां भगवतीं दृष्ट्वाऽन्यतीर्थेषु मनो न गच्छति एतादृशीयं सर्वोत्कृष्टा काशीत्याह

शिवउवाच

इति ब्रह्महरिभ्यान्तु प्रोक्ता देवाः सवासवाः ।
काशीम्मनसि सन्धाय गताः सन्देहवर्जिताः ॥ ५६ ॥

शौनकउवाच

सूताऽस्माभिः श्रुताः पुण्याः कथाः काश्याः सुदुर्लभाः ।
पुरीणां सङ्गमो यत्र तत्र मोक्षो न संशयः ॥ ५७ ॥
यस्याः प्रसादादन्यास्तु पुर्यो मोक्षम्वितन्वते ।
तांकाशीं को न सेवेत मोक्षार्थी सर्वदा शुभाम् ॥ ५८ ॥
अन्यान्यपि च तीर्थानि मुक्तिदानि पदे पदे ।
सन्ति निर्मलसन्तानकराणि फलवन्ति च ॥ ५६ ॥
तानि लिङ्गानि तीर्थानि वद सूत ! महामते ! ॥ ६० ॥

सूतउवाच

अथ लिङ्गानि वक्ष्यामि महामहिमवन्ति च ।
यद्दर्शनान्नृणाम्पापक्षयः पुण्यचयो भवेत् ॥ ६१ ॥
अविमुक्तेश्वरं लिङ्गमविमुक्तफलप्रदम् । यस्य दर्शनमात्रेण कृतार्थो मोक्षमाप्नुयात् ॥
लिङ्गं महानन्दकरं विश्वेशाख्यं सनातनम् । नमस्कृत्य विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः
मणिकर्णीश्वरं लिङ्गं मोक्षद्वारमपावृतम् । यस्य दर्शनतः सम्यक् मणिकर्णी समाप्यते
वीरेश्वराभिधं लिङ्गं चतुर्वर्गफलप्रदम् । सर्वसिद्धिप्रदन्नृणामशुभध्वान्तनाशनम् ॥६५
केदारेशं महालिङ्गं देहकेदारनाशनम् । केदारपुत्र वित्ताद्या भवन्तिध्वान्तभूमयः ॥

वसन्तीति ॥ ५५—५६ ॥ समाप्यते मणिकर्णिकामर्यादा तावत्पर्यन्तम्वर्तत इत्यर्थः । यद्वा, मणिं चिन्मणिं कर्णयति आच्छादयति सा महामाया मणिकर्णी सा समाप्यते नश्यतीत्यर्थः । देहकेदारो देहक्षेत्रं यस्य दर्शनेन केदारपुत्राद्याः क्षेत्रपुत्रवित्ताद्या ध्वान्तभूमयो ज्ञानभूमयो भवन्ति ॥ ५७—६२ ॥ काश्याम्पश्यन्तीति । एतादृश्यां

कृत्तिवासं महालिङ्गं वाससौख्यकरम्परम् ।
यस्य दर्शनमात्रेण न मोक्षादिसुदुर्लभम् ॥ ६७ ॥
वृद्धकालेश्वरं लिङ्गं महाकालनिवारणम् ।
कलिकालमहाज्वालाजालं जीवनजीवनम् ॥ ६८ ॥
चन्द्रेश्वरश्चन्द्रकान्तमणिप्रभमनामयम् ।
अज्ञानध्वान्तशमनं दृष्टङ्काश्यां चिदात्मकम् ॥ ६९ ॥
ब्रह्मेश्वरम्ब्रह्मसारप्रदमाद्यैरुपासितम् । दृष्टम्महाघौघहरं महामाणिक्यसन्निभम् ॥७०
त्रिलोचनेश्वरं लिङ्गं नागयज्ञोपवीतिनम् ।
दृष्ट्वा त्रैलोक्यविभवस्तृणीभवति नान्यथा ॥ ७१ ॥
ओंङ्कारेश्वरमभ्यर्च्य योगसाङ्ख्यादिसिद्धिभाक् ।
नरो भवति चैतन्यपूर्णः पूर्णमनोरथः ॥ ७२ ॥
कपर्दीश्वरमभ्यर्च्य काश्यां शिवतनुर्भवेत् ।
कपर्दमात्रमपि नो सङ्गृह्णीयाद्विरक्तिभाक् ॥ ७३ ॥
धर्मेश्वरस्य ये भक्ता धर्मपूर्णा भवन्ति हि ।
काश्याम्पापमतिस्तान्न बाधते धर्मवत्सलान् ॥ ७४ ॥
अग्नीश्वरम्महालिङ्गं महापातकनाशनम् ।
दृष्ट्वा काश्याम्महायज्ञफलमाप्नोति मानवः ॥ ७५ ॥
समस्तदेवशरणं सर्वतीर्थाश्रयं शुभम् । अविमुक्तम्महाक्षेत्रं सेव्यन्धीरैर्जितेन्द्रियैः ॥
काश्याम्पश्यन्ति सततं शङ्करं धर्मवत्सलम् ॥ ७७ ॥
वसन्ति पापा नहि काशिकायां वसन्ति चेदत्र मृतिर्न जायते ।
मृतिर्भवेच्चेन्नहि यातनाक्षयः क्षये भवेन्मोक्षसुखन्तु धिक्कृतम ॥७८॥

काश्यां पापाचरणं न कर्त्तव्यं किन्तु स्वधर्माचरणमेव कृत्वा स्थातव्यमिति भावः ॥ ६३—७७ ॥ ननु पापाचरणे किम्भवति तत्राऽऽह वसन्तीति । पापिनामत्र वासो

एवं महासङ्कटमाप्य मुक्तिः शुभाऽथवा धर्मपरैरवाप्यते ।
विचार्य्यमेतद्यदि शङ्कराज्ञया पापं न कुर्यात्किमपीह धीरः ॥ ७६ ॥
न लोलुपाः कामपराःक्रुधान्विता हिंसाक्षमादानपराः सदाशिवम् ।
पश्यन्तिलोकाः परवादकारिणः पैशून्यपाखण्डविवादवादिनः ॥८०
पश्यन्ति ये शान्तसमानवृत्तयः सदा सदाचाररता द्विजाः प्रियाः ।
परोपकारादिषु चाऽप्रमत्ताः प्रमत्तसंसर्गविवर्जिताश्च ॥ ८१ ॥
शिवामृतं ये श्रुतिभिः पिबन्ति गङ्गाजलं ये मुखतः पिबन्ति ।
पिबन्ति ये काश्यमृतस्पुनः पुनर्न जातु मातुस्तनपा भवन्ति ॥ ८२ ॥

क्षेत्रं यत्र न तत्र तीर्थनिचयस्तीर्थानि यत्राऽपि चे-
त्तीर्थक्षेत्रसमागमेऽपि न शिवः सर्वस्य धाताऽच्युतः ।
देवा यत्र मिलन्ति तत्र गमनं लोकस्य नो भाव्यते
सर्वं ह्येतदबाधितं सुखकरं लोकस्य काश्यां ध्रुवम् ॥ ८३ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये काशीविश्वेश्वरमाहात्म्यवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

न भवतीति दोषः। ननु पापिनोऽप्यत्र बहवो वसन्ति तत्राऽऽह मृतिर्नजायते वासेऽप्यत्र मरणं न स्यादित्यर्थः। ननु पापिनाम्मरणमपि दृश्यत एवेति चेत्तत्राऽऽह नहि यातनाक्षयः मरणेऽपि यातनाक्षयो नैव स्यादित्यर्थः। ननु यातनोत्तरम्मोक्षस्तु भवत्येव नियमेनेति पापकरणे किम्भयमिति चेत्तत्राऽऽह क्षये भवेदिति। यातनाक्षये जाते मोक्षसुखं यद्भविष्यति तद्धि कृतमेव उपानत्प्रहारं सोढव्यम्भोजनङ्कर्त्तव्यम् तदपेक्षया मानेन भोजनम्वरमितिभावः। तदुक्तं द्वादशाध्याये 'यातनासु पतित्वा किम्मोक्षः साध्यः सुमानवैः' इति ॥७८॥ क्षेत्रं यत्रेति। यत्र क्षेत्रं केवलं तत्र तीर्थं नास्ति. यत्र तीर्थमस्ति तत्र क्षेत्रं नास्ति यत्रोभयमस्ति तत्र शिवो नास्ति शिवस्तु कैलासेऽस्ति ततस्तत्र लोकगमनाभावः। तदेतत्सर्वं काश्यां सुलभमस्तीत्यहो धन्यतमा काशीतिभावः ॥ ७६ – ८३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

काशीप्रशस्तिप्रसङ्गे ब्रह्ममन्वोः सम्वादवर्णनम्

ऋषयऊचुः

काशीमाहात्म्यमनघ ! कथयस्व पुनः शुभम् । श्रवणेनैव सुभगे प्रीतिर्जाताऽविमुक्तके

सूतउवाच

श्रृण्वन्तु ऋषयः सर्वे विचित्राङ्काशिसत्कथाम् ।
श्रुताम्व्यासमुखात्सर्वैर्वैशम्पायनपूर्वकैः ॥ २ ॥

ऋषिभिस्तु कुरुक्षेत्रवासिभिः पुण्यराशिभिः । पुरा सत्ययुगे विप्रा यद्वृत्तन्तद्वदामि वः
स्वायम्भुवो महातेजा मनुः शासितविग्रहः । स एकदा विषण्णात्मा ब्रह्माणं समपद्यत
पप्रच्छ सत्यकामस्तं किमागमनकारणम् ? ॥ ५ ॥

मनुरुवाच

आज्ञापय गुरो ! मान्त्वं वनङ्गन्तुं जगद्गुरो ! ।
कृतकृत्योऽस्मि भगवन् ! कार्यम्मम न विद्यते ॥ ६ ॥

ब्रह्मोवाच

वक्ता त्वमसि धर्मस्य कर्त्ता तदनुमोदितः । कथं निर्वेदमायातो भवान् वेदप्रवर्तकः ॥

काशीमाहात्म्यश्रवणेनाऽधिकभक्त्युदयात्पुनर्मुनयः पृच्छन्ति ऋषयऊचुः काशीमाहात्म्यमिति ॥ १ ॥ कथामुत्थापयति पुरेति । शासितः शिक्षितस्तपसा विग्रहो देहो येन सः ॥४॥ सत्यकामो ब्रह्मा ॥५॥ गुरो ! हे पितः ! ॥६॥ निर्वेदम्वैराग्यम् ॥७॥

मनुरुवाच

ब्रह्मन्काशीङ्काशिताशेषसत्त्वां ये ये लोकाः सस्मरुयत्र कुत्र ।
ते ते मुक्ताः किम्पुनर्दर्शनात्स्युर्दृष्ट्वा ये वै काशिकां सङ्गताश्च ॥ ८ ॥
अहमपि गमनेच्छुर्यत्र देवः स्वतन्त्रः शुभमशुभजनं यस्तारयेत्काशिवासी ।
श्रुतिशतकृतकार्या यत्र लोका वसन्ति ह्यहमपिकृतकार्यस्तत्र वत्स्ये कृतार्थः ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणैश्च धर्मः साध्यः सताम्मतः । तत्फलं दर्शनादेव किं धर्मैः संश्रितैः पुनः

सूतउवाच

एवं ब्रह्मा मनोः श्रुत्वा वाक्यं यावद्विचारयेत् ।
तावद्यमः पापिनां हि शास्ता ब्रह्माणमन्वगात् ॥ ११ ॥
नमस्कृत्य महातेजाः काशीङ्काशीश्वरं स्मरन् । उपविष्टो मेरुपृष्ठे कृतार्थो ब्रह्मसन्निधौ

ब्रह्मोवाच

कथमागमनन्तेऽद्य त्वनाहूतस्य शंस मे । पापिनो हननन्ते वा ह्यस्माकम्वद रक्षक ! ॥

यमउवाच

देव ! देव ! नमस्तेऽस्तु कृतार्थोऽस्मि जगत्पते ! ।
श्रृणु यत्कौतुकम्वृत्तं संयमिन्याम्ममाग्रतः ॥ १४ ॥
दूता मया पापिविलोकनाय सृष्टाः प्रभो ! भारतमेव खण्डम् ।
सत्येन पापम्प्रचुरञ्जनेषु यत्राऽस्ति ते काशिदृशा विमुक्ताः ॥ १५ ॥

संस्मरुर्यत्र स्मृतवन्त इत्यर्थः । सङ्गतास्तत्र गताः तेऽपि मुक्ताः ॥ ८ ॥ अतोऽहमपीत्याह काशिवासी शिवः ॥ ६ ॥ तत्फलं धर्मफलम्मोक्षो दर्शनादेवेत्यर्थः ॥ १० ॥ पापिन इति । पापिनो यद्धननं तत्कार्यमस्माकमस्ति उत ते तव यदि तेऽस्ति तर्हि तद्धित्वा किमित्यागतोऽसीत्यर्थः ॥ ११-१३ ॥ कृतार्थोऽस्मि कार्याभावादित्यर्थः ॥१४ प्रथमतः सत्ये सत्ययुगेऽस्मिन् पापं नैवाऽस्ति यत्राऽप्यस्ति ते पुरुषा इत्यर्थः ॥ १५ ॥

अहं तत्र महापापकारिणो निरयङ्गतान् ।
शास्मि क्रोधवशात्तेषाम्पातकैः सम्प्रणोदितः ॥ १६ ॥
तावद्दूताः कर्मभूमे रिक्ता दृष्टा मया गताः ।
पृष्टाश्चैते मयेत्यूचुः काश्या सर्वे विमोचिताः ॥ १७ ॥
केचिन्नाम्ना केऽपि सन्दर्शनेन केचिद्गत्वा स्नानमात्रेण केचित् ।
केचिद्देवं दक्षिणीकृत्य केचित् पूजाङ्कृत्वा केऽपि मुक्ता वभूवुः ॥ १८ ॥
पापिनोऽपि विविधैर्विचारणैः सम्विचार्य हि गणैः परस्परम् ।
यातनार्थधृतजीवपञ्जरैः काशिकाशिवचनैर्विमोचिताः ॥ १६ ॥

ब्रह्मोवाच

स्वायम्भुवमनो ! शान्त ! धर्मराज ! महामते ! ।
गच्छामः शङ्करं शान्तं पृच्छामस्तस्य चेष्टितम् ॥ २० ॥

सूतउवाच

एवमुक्तौ मनुयमौ ब्रह्मणा सह सुव्रतौ । यातौ कैलाशशिखरं यत्र देव उमापतिः ॥२१
तत्र दृष्ट्वा महादेवं प्रणिपत्य पुनः पुनः । स्तोत्रैर्बहुविधैः शम्भुं जय काशीश ! शङ्कर !
उमेश ! देवदेवश ! शरण्य ! शशिशेखर ! । इतिनामभिरन्यैश्च तुष्टुवुर्जगताम्पतिम् ॥
ब्रह्मण्येनाऽऽदृतास्ते तु सुखमूषुस्त्रयोऽपि ते । ब्रह्मन्कथय भद्रन्ते किमागमनकारणम् ?
एतावपि किमिच्छन्तौ धर्मराजमनू वद । किमर्थकामाः सम्प्राप्ताः सर्वम्वदत सुव्रताः

अहन्त्विति । अहन्तु तत्र संयमिन्यां पापिनां पातकैः सम्प्रणोदितः प्रेरितः शास्मीत्येव मम कार्यं तत्कार्यं यावत्कर्त्तुं प्रवृत्तस्तावदित्युत्तरेणाऽन्वयः ॥ १६—१७ ॥ किञ्चिदप्यधिकमाश्चर्यं जातमस्तीत्याह पापिनोऽपीति । ममगणैः स्वहस्ते यातनार्थं धृतजीवशरीरैः कर्तृभिः परस्परम्विविधैर्विचारणैस्त्वया यमम्प्रति न वक्तव्यमिति विचार्य दयया काशिकेति वचनैर्विमोचिताः पापिनस्ततो मया किंकर्तव्यमित्यर्थः ॥ १८—१६ ॥ब्रह्मण्येन ब्रह्मणो हितकारिणा शिवेन ॥ २० ॥ आदिसर्गेति । त्वं

ब्रह्मोवाच

आदिसर्गे महादेव ! देवैः पृष्टोऽसि शङ्कर ! ।
विष्णुमुख्यैः सदाभक्तैः कथन्तुष्यसि शाश्वत ! ॥ २६ ॥

त्वयोक्तं ऋषयो देवाः शृणुध्वम्ब्रह्मवादिनः । यथा मे वेदमार्गेण गच्छतः पुरुषस्य हि
सन्तोषो जायते देवा न तथाऽन्यैर्धनादिभिः ।
वेदो नारायणः साक्षाद् वेदाभ्यासी सदा ह्यहम् ॥ २८ ॥

वेदमार्गरता ये च ते मद्भक्ता न चाऽपरे । इदानीमन्यथेच्छा वा प्रवृत्ता तद्वद प्रभो !
वदन्ति काशीम्प्रणमन्ति काशीं गच्छन्ति काशीं तव राजधानीम् ।
पूजाजपस्नानपरिक्रमस्तुतिक्रमैर्नरा यान्ति परं सदाशिवम् ॥ ३० ॥
वेदागमाचारपरा नरा ये स्वधर्मनिष्ठाः परमार्थयुक्ताः ।
वेदद्रुहः पापपरापराधसहस्रयुक्ता अपि ते विमुक्ताः ॥ ३१ ॥
भवन्ति काशीस्तवनादिभिर्नरा नारायणा वा भगवन्न विद्महे ॥ ३२ ॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन् ! वदामि ते तत्त्वमविमुक्तस्य दुर्लभम् ।
यच्छ्रुत्वाऽपि विमुच्यन्ते नराः पातकिनोऽपि हि ॥ ३३ ॥

शृणु सृष्टिक्रमम्विद्वन् ! येन तत्त्वं प्रकाश्यते । एकमेवाऽद्वितीयन्तद् ब्रह्म सत्यं सनातनम्

कथन्तुष्यसीति । पृष्टोऽसि तत्र त्वदुक्तरीत्या वेदमार्गरता वेदाभ्यासिनो मुक्ता अपेक्षिता इदानीं तु काशीनाम्ना मुक्ता भवन्ति ततः किम्पूर्वेच्छापेक्षयाऽन्यथा तवेच्छाऽधुना जातेत्यर्थः श्लोकचतुष्टयस्य ॥ २६ ॥ तदेवाह वदन्तीति ॥ ३० ॥ वेदागमेति। वैदिकानाम्पापानाञ्च समाना गतिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ नारायणा वा शिवा वा भवन्ति इति न विद्महे ॥ ३२ ॥ श्रीभगवानुवाच । अयमभिप्रायः सत्यम्मयोक्तं वेदमार्गरता ये ते मद्भक्तास्तएव मुक्ता इति । परन्तु मद्दत्तमोक्षे एवायं नियमो न काशीविषये काशी तु भगवती पराशक्तिर्यम्पापिनम्वा पुण्यवन्तम्वा मोचयितुमिच्छति तम्मोचयत्येव तत्र नाऽस्मदादीनां कश्चिदुपायोऽस्ति श्रीपराशक्तीच्छायाः

ततः पुरुषमायाद्याः पृथिव्यन्ताश्चकाशिरे ।
मायाकार्यस्थिता ये तु त्वदाद्याः स्थावरान्तिका ॥ ३५ ॥
मायामया भवन्त्येव चित्तविक्षेपसंयुताः । महत्तत्त्वमये पात्रे ब्रह्मशुद्धं सनातनम् ॥
मायाप्रवेशरहितमविमुक्तन्तदुच्यते । अविमुक्तस्वरूपं यन्महत्तत्त्वे व्यवस्थितम् ॥३७
तन्मया स्वीकृतं शुद्धं स्ववासाय महामते ! । विष्णुना च विशुद्धेन विश्रामार्थं सदाऽनघ !
मम लिङ्गानि सर्वाणि ह्यङ्कुराणीव सर्वतः । आनन्दादुदितानीति ह्यानन्दवनमुच्यते
काश्यां यत्पतितम्वस्तु तद्वस्त्वेव भवेद्यथा । सुराप्रवाहो गङ्गायां पतितस्तन्मयो भवेत्

स्वतन्त्रत्वात् इति । तर्हि तस्याः किन्तत्त्वमस्तीतिवक्तव्यमितिचेच्छृण्वित्याह वदामि ते तत्त्वमिति ॥ ३३ ॥ सृष्टिक्रमज्ञानम्विना काशितत्त्वं न प्रथमतो बुध्यारूढम्भवेदतः सृष्टिक्रमं शृण्वित्याह शृणु सृष्टीति । एकमेवेति । सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यम्ब्रह्मैव सृष्टेः पूर्वमासीत् ॥ ३४ ॥ ततस्तस्मात्तत्त्वादविभागापन्ना या माया सृष्टेः पूर्वमासीदन्तर्मुखा सा प्रथमम्बहिर्मुखवृत्तिरूपेणोत्पन्नाऽभवत्, यदधिकृत्योच्यते "नाऽसदासीत्तम आसीत्"इति तस्याम्मायायां यद्ब्रह्मणः प्रतिबिम्बम्पतति स पुरुष उच्यते तादृशबिम्बप्रतिबिम्बमायासमुदायात्मकब्रह्मणः सकाशाद् आत्मन आकाशः सम्भूतः इत्यादि क्रमेण पृथिव्यान्ताः पदार्थाश्चकाशिरे उत्पन्ना इत्यर्थः । पुरुषमायाद्या अत्र अर्थक्रमानुरोधेन मायापुरुषाद्या इति योजनीयम्परन्त्वेतावान्विशेषः; वक्ष्यमाणरीत्या काशीतत्त्वं यूयश्च मायाशबलब्रह्मात्मका एव सन्ति तथाऽपि मायाधीनब्रह्मस्वरूपा यूयं काशी तु मायाऽनधीनब्रह्मस्वरूपेति तदेव वक्तुमाह मायाकार्ये इति । मायामया मायाधीनाः यतश्चित्तविक्षेपसंयुता काशी भगवती तु भवद्रूपेभ्यो विलक्षणाऽस्तीत्याह महत्तत्त्वमये इति ॥ ३६ ॥ महत्तत्त्वं महामाया तन्मये पात्रे यदभिव्यक्तञ्चैतन्यं ब्रह्ममायाप्रवेशरहितं मायानधीनस्वरूपं तदविमुक्तमित्यर्थः । अतएव शिवशक्त्यात्मकत्वं पूर्वमुक्तमिति बोध्यं न विमुक्तं स्वस्मिन्महत्तत्त्वे स्थितम्ब्रह्मरूपं येन तदविमुक्तमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ एतादृशं क्षेत्रमहिमानम्मयेक्षित्वा वयम्वासार्थमागता इत्याह तन्मयेति ॥ ३८ ॥ परिच्छेदयुतमिति ।

यथा लोहं स्पर्शमणौ पतितं कनकम्भवेत् । तथा काश्यास्त्रह्मरूपं प्राप्नुयाच्छिवरूपताम्

ब्रह्मोवाच

एकं निरङ्कुशञ्ज्योतिस्तमसः परमुत्तमम् । कथम्परिच्छेदयुतं जातङ्काश्यात्मकं शिवम्

श्रीभगवानुवाच

यथा तेजो महाभूतरूपम्ब्रह्मन् ! प्रकाशकम् । उपाधिरूपमासाद्य सूर्यदीपकयोरपि ॥
अधिष्ठानानुसारेण प्रकाशङ्कुरुते पुनः । हिरण्यगर्भजीवानां यथा भेदः पृथक् पृथक्
एवम्महन्मयम्पात्रमविमुक्तं सनातनम् । तत्र ब्रह्मप्रकाशो हि न सन्देहास्पदो भवेत्

कथं न तस्य स्मरणाच्छ्रवाज्जपात्तत्पूजनात्तद्गमनात्तथा लयात् ।
लीना भवेयुः परमात्मजीवा यत्कारणं कार्यमपीह तद्धि ॥ ४६ ॥
पृथ्वी पृथ्व्यामग्निरग्नौ यथा हि वायुर्वाते तोयतत्त्वं जलेषु ।
एवं शुद्धे कारणे काशिरूपे जीवोपाधिन्दग्धजीवोऽविमुच्येत् ॥ ४७ ॥

अथ ब्रह्मन् ! श्रृणुष्व(त्वं?) वचो विगतकल्मषम् । वेदरक्षाकरं शश्वल्लोकरक्षाकरम्महत्

श्रृण्वन्तु ऋषयः सर्वे व्यवस्था क्रियतेऽधुना ।
अद्यारभ्य महाभागा ये स्मरिष्यन्ति काशिकाम् ॥ ४९ ॥
तेषाम्पापक्षयो भूयान मोक्षवीजं भवत्वनु ।
तीर्थयात्रार्थिनो ये हि काश्यामागत्य धार्मिकाः ॥ ५० ॥

व्यापकस्य परिच्छेदासम्भवादित्यर्थः ॥ ३९—४२ ॥ यथा तेज इति । यथा चन्द्रसूर्ययोस्तेजः सर्वत्र प्रसरदपि न भासते घटादिस्वरूपसम्बन्धे तु अधिष्ठानानुसारेण तत्रैव भासते तथैव पूर्वोक्तमोक्षप्रदत्त्वतेजोमयत्त्वपरिछिन्न शक्तिद्वयरूपसम्बन्धाधिष्ठानानुसारेण तत्रैव ब्रह्मतेजो भासत इति न काऽप्यनुपपत्तिः स्पष्टीकृतञ्चैतद्द्वितीयाध्याये। अतएवैकस्याऽपि तत्त्वस्य हिरण्यगर्भादिभेदेन भेदः सम्भवतीत्याह हिरण्यगर्भेति तत्रब्रह्मप्रकाशो हि तत्रैवेत्यर्थः ।।४५।। यत एवं काशी स्वरूपं तत आह कथं नेति। लयात्तस्य समाधेः कार्यं हि यतः कारणादन्यन्न भवति ततः परमात्मनीत्यर्थः । लीना

अकृत्वा पापनिचयं पुनर्यान्ति वहिर्नराः ।
ते पुनः काशिकाम्प्राप्य जितेन्द्रियमनोगुणाः ॥ ५१ ॥
भवन्ति शुद्धाः शुद्धात्मन् ! शुद्धब्रह्मस्वरूपिणः ।
स्मरणं कोर्तनं काश्यां दर्शनम्मोक्षवीजकृत् ॥ ५२ ॥

काश्याम्मृतानां हि शिवङ्गतानां मुक्ता न वेति प्रविचारिणो ये ।
ते गृध्रकाकाजगराद्ध्युलूका महामलादाः प्रभवन्ति पापाः ॥ ५३ ॥
काशीम्प्राप्य ह्यन्तकाले स्मरन्ति सर्वे जीवाः शाश्वतम्विष्णुरूपम् ।
विस्मृत्याऽऽद्यं स्थूलसूक्ष्मादि देहं गेहं चात्मा प्राप्यते तैः सुशुद्धैः ॥ ५४ ॥
मीमांसते(न्ते?) ये मम वासभूमिं तेषाम्विचारो हृदयान्न याति ।
सन्देहभाजः खलु दुःखभाजः सन्देहिनां नाम कुतः सुखं स्यात् ॥ ५५ ॥

ब्रह्माग्निरूपा काशीयं दहेत्पापानि सर्वशः ।
दृष्टा स्पृष्टा स्मृता वाऽपि किम्पुनर्धर्मवासिनाम् ॥ ५६ ॥

अहोरात्रं स्मृत्वा भवति सुकृती पापरहित-
स्त्रिरात्रं यस्तिष्ठेत्स खलु सुखमोक्षैकनिलयः ।
निवासं ये कुर्युर्विततमधिकारानुगणितं न ते धर्मात्मानः पुनरपि भवभ्रान्तिषु युजः ॥

सूतउवाच

इत्युक्त्वा देवदेवेशो ब्रह्माणं सयमम्मनुम् । काशीं सम्प्रेषयामास सन्देहस्याऽपनुत्तये

ते तु त्यक्तुं न शक्तास्तां लिङ्गं संस्थाप्य शाम्भवम् ।
पुनर्नेच्छन्ति गमनमाज्ञयाऽपि शिवस्य च ॥ ५८ ॥

भवेयुर्यतः कारणं कार्यमपि तदेव ब्रह्म भवति ॥ ४६ ॥ तत्र दृष्टान्तमाह पृथ्वी पृथिव्यामिति । परिच्छिन्नघटादिपृथ्वी व्यापकपृथिव्यामित्यर्थः ॥ ४७—५२ ॥ मलादाः विष्ठाशिनः ॥ ५२—५४ ॥ मीमांसन्ते मोक्षो वर्तते नवेति विचारयन्ति तस्मात्काशीविषये सन्देहो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ५५ ॥ भ्रान्तिषु युजइति । इत्थम्प्रभावा यतः काशी परा शक्तिस्ततस्तस्या अग्रे मम न किञ्चिचलति मदुक्तो

प्रसङ्गतो ये गमनम्प्रकुर्युर्व्यापारतः प्रेषणतोऽपि केचित्
बध्वाऽपि ये काशिकां सम्प्रणीतास्ते ते कृतार्थाः श्रुतिवाद एषः ॥
ये प्रयच्छन्ति मनुजा जीवादप्यधिकं धनम् ।
जीवकोशः श्लथस्तेषाम्पुण्यराशिः पदे पदे ॥ ६१ ॥
स्नानेन दानेन परिक्रमेण शिवार्चनेनाऽपि सतोऽर्चनेन ।
दिने दिने सा सुकृतेऽस्य बुद्धिर्यया जनः कृतकृत्यः सदा भवेत् ॥
मनागपि विचारेण मनसो निग्रहो यदि । अविमुक्ते भवेद्येषां ते मुक्ता भवबन्धनात्
हरिक्षेत्रमिदम्विद्धि हरक्षेत्रम्विचित्रकृत् । भेददृष्ट्याऽपि सततं सेवितञ्चैक्यकृद्भवेत् ॥
वस्तुस्वभावान्नहि तत्र भेदः कृतोऽपि सिध्येदिति निश्चयोऽयम् ।
भेदाद्वृषद्रोह उतात्मवैरं दुःखन्त्वहङ्कारपरम्परा स्यात् ॥ ६५ ॥
न क्रोधो नच मात्सर्यं न लोभः काशिवासिनानम् ।
परम्पदम्प्रयातानां नाऽवरे रमते मतिः ॥ ६६ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये काश्यां भेददर्शननिन्दावर्णनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

नियमस्तु काश्यतिरिक्तस्थले एवेति शिवाभिप्रायः ॥ ५७—६२ ॥ हरिक्षेत्रं हरिणा शिवं सम्प्रार्थ्याङ्कृतत्वात् । इदं द्वितीयाध्याये स्पष्टं हरेर्निवासाद्वा हरिक्षेत्रं हरिहरयोरभेदाद्वा हरक्षेत्रमेव हरिक्षेत्रम् ॥ ६३—६४ ॥ वस्तुस्वभावादिति । हरिहरयोरैक्यस्वभावादित्यर्थः । वृषद्रोहो धर्मद्रोहः आत्मवैरं शैववैष्णवयोः परस्परवैरम् ॥६५॥ अवरे भेददर्शने अनया च कथया काशीसेवकातिरिक्तास्तवदण्डविषया इति यमम्प्रति ब्रह्मणा बोधितमितिबोध्यम् ॥ ६६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

काशीविश्वनाथसन्निधौ हरिहरात्मकेऽभेददर्शने सदृष्टान्तप्रस्तावकथनम्

ऋषयऊचुः

पुनर्विनोदिनीम्वाणीं वद सूत ! महामते ! । त्वं देवदेव ! भगवत्स्वरूपम्वर्णयस्व नः ॥

ब्रह्मक्षेत्रस्य सुमहन्माहात्म्यं मानवर्जितम् ।
अनायासेन निष्पापास्तरन्ति हि यदाश्रयाः ॥ २ ॥
तस्य क्षेत्रस्य माहात्म्यं श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ३ ॥

सूतउवाच

साधु द्विजा महाभागा ! जानन्ति जननिष्कृतिम् ।
अस्माद् दुःखदसंसारात्तन्निस्तारं कथञ्चन ॥ ४ ॥
विना काशीम्प्रपश्यामि बाधितार्थनिषेविणाम् ।
शृण्वन्त्वाश्चर्यकरीङ्काश्याः कथाङ्कथयतो मम ॥ ५ ॥

मागधेषु द्विजः कश्चिद् बहुवादनतत्परः । जेता द्विजानां सर्वेषां द्विजजेतेतिविश्रुतः ॥

पूर्वाध्याये भेददर्शननिन्दां सूत्रयित्वाऽस्मिन्नध्याये भेददर्शनस्वीकारे दुर्गतिमुपपांद्याऽभेददर्शनावलम्बेनैव काश्यां स्थेयमिति वक्तुं प्रश्नमुत्थापयति ऋषयऊचुः पुनरिति । देवदेवो भगवान् परमात्मा शिवस्तस्य स्वरूपं तद्वर्णय तन्महिमानं वर्णयेत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्प्रसङ्गेन ब्रह्मक्षेत्रस्य काश्याश्च महिमानम्वर्णयेत्यर्थ ॥ २—३ ॥ साधु द्विजा इति । अस्माद्दुःखदसंसारात्काशीम्विना जननिष्कृतिं ये जानन्ति तत्र वदामि बाधितार्थनिषेविणां मिथ्यासंसारनिषेविणां तेषां कथञ्चन कथम्मपि काशीम्विना तन्निस्तारं नैव पश्यामीति ॥४—५॥ जानातीति । यत्कृतङ्कृत्यं

विद्यावतो गुरूञ्जित्वा ब्राह्मणानवमन्य च ।
जानाति स्वम्पुनः कृत्यं कृतकृत्यमचेतनः ॥ ७ ॥

कुतर्कैश्छलशब्दैश्च वेदसिद्धान्तनिन्दकः । स्वयुक्तया नयति स्मार्तं स्मृतिकर्म पृथङ्मतिः

सकदाचिद्द्विजवरं जित्वा वादैः पदाऽहनत् ।
निर्विकारो महात्मा च स्वसिद्धान्तपरः सुखी ॥ ६ ॥

हतो दैवेन किम्वाऽस्य शुद्ध्येऽहं द्वैततत्परैः । भयन्द्वितीयाद्भवति तदस्य समुपस्थितम्

गते तस्मिन्महाभागे द्विजजेता जितम्मया । जितम्मेने तदारभ्य ह्य द्विजन्ति द्विजातयः

कस्मिंश्चित्समये विद्वान् साधितार्थः क्षुधार्दितः ।
बुभुजेऽन्नम्बहु तदा विजितेन्द्रियमानसः ॥ १२ ॥

ज्वरार्त्तो व्याकुलतनुः स्मरन्वेदान् ममार च ।
ब्रह्मराक्षसताम्प्राप्तो ब्रह्माभिभवदोषतः ॥ १३ ॥

विभीतवृक्षोपरिसंस्थितिं सदा चकार विप्रध्रुगितिप्रसिद्धः ।
आहूय विप्रान् मधुरैर्वचोभिः प्रभक्षयत्येव दयावियुक्तः ॥१४॥

बहुकालपर्यन्तं तदेव पुनः कृत्यं कर्त्तव्यत्त्वेन जानाति न परलोकोपकारीतिभावः यतोऽचेतनो मूढः ॥ ७ ॥ वेदसिद्धान्तो ह्यद्वैतं तस्य निन्दकः स्मार्तं शिष्टाचारं स्मृतिकर्म च स्वयुक्तया तर्केणाऽन्यथा परलोकार्थमेवैतन्नतु मोक्षार्थमितिप्रकारेण नयति स्थापयति पृथङ्मतिर्भेदबुद्धिर्द्वैताभिमानीत्यर्थः ॥ ८ ॥ पदाचरणेनाऽहनत्ताडितवान् स्वसिद्धान्तो द्वैतन्तत्परः ॥६॥ लोकान् वदति हत इति । योऽयम्मया ताडितोऽद्वैतवादी प्रारब्धकर्मस्वीकारवांस्तस्याऽस्य दैवेन प्रारब्धेन किम्वा कल्याणञ्जातमधुना यदि तन्मतं सत्यं तदा तेन मतेन किमित्ययं रक्षितो न जात इत्यर्थः । अतो द्वैततत्परैः द्वैतेन तत्परैर्वाक्यैश्चाऽयमहं शुद्ध्ये नान्यथेतिभावः पुनरद्वैतवादिनमुपहसति भयं द्वितीयादिति । "द्वितीयाद्वै भयम्भवति" इति श्रुतिं शिष्यान् प्रत्युपदिशत्ययन्तदेवाऽस्य फलं समुपस्थितमिति ॥ १०—१२ ॥ वेदान्

ततो द्विजः कश्चिदुपागतोऽचिरात्तेनैव मार्गेण स तन्ददर्श ह।

त्वं कुत्र गन्ताऽसि कुतः समागतो विद्याऽस्ति काचित्तव वादशक्तिः॥

श्रुत्वेति तस्य तद्वाक्यं पथिकः सन्ददर्श ह।

राक्षसं शास्त्रसम्पन्नं किमेतदिति चिन्तयन्॥ १६॥

अहम्भो! भूत! तीर्थार्थी कृत्वा तीर्थान्यनेकशः।

पुरुषोत्तममासाद्य गन्तुं काशीं तदाज्ञया॥ १७॥

प्रवृत्तोऽहङ्कृतार्थःसन् कृतार्थै रेव लभ्यते। काशीकाशीश्वरौ देवौ द्रष्टव्यौ पार्वतीशिवौ

वस्तव्यश्च सुखन्तत्र कृतकृत्येन सर्वदा।

तीर्थाऽनिकृत्त्वा काश्यान्तु वसेन्निर्व्याकुलः सदा॥ १९॥

न तु काश्याः प्रगन्तव्यं तीर्थान्यत्र वसन्ति यत्।

इति श्रुत्वा वचस्तस्य तमुवाच स राक्षसः॥ २०॥

महापराधिनम्पापं ब्रह्मद्रुहमसन्ततम्। वञ्चकञ्चात्मपरयोर्मामुद्धर गुरुद्रुहम्॥२१॥

नय माङ्काशिकाङ्कान्तां यन्नाम्नाऽर्धम्विमोचितः॥ २२॥

पथिकउवाच

राक्षसन्त्वाङ्कथङ्घोरं नेष्यामि भगवद्गृहम्।

बिभेमि दृष्ट्वा दूरात्त्वां कथमैक्यं त्वया सह॥ २३॥

राक्षसउवाच

त्वया यदुक्तं वचनन्तेन मन्मानसं सकृत्।

पश्चात्तापपरम्ब्रह्मन्! काशीकाशीश्वराविति॥ २४॥

पथिकउवाच

यो हि देवः सकृन्नाम्ना त्वामुद्धरति शङ्करः।

स न रक्षति मान्त्वत्तो राक्षसाद्घोरदर्शनात्॥ २५॥

द्वेषेण स्मरन्नित्यर्थः। वेदान्ता मया अद्याऽपि न नाशिता इत्यभिप्रायवानित्यर्थः॥१३-१६॥ नाऽहं विद्वान् किन्तु तीर्थार्थीत्याह अहम्भो इति। भूतेति सम्बोधनम्॥१७

आगच्छ यावः काशीम्भोः समानफलदायिनीम् ।
इति प्रचलितौ तौ तु ब्राह्मणब्रह्मराक्षसौ ॥ २६ ॥
गच्छन्मार्गे राक्षसन्तं पप्रच्छ पथिको द्विजः । कस्त्वम्पूर्वं राक्षसेन्द्र ! कथमेवं त्वदुद्भवः
नृणां सप्तपदी मैत्री कथयाऽऽशु ततो मम ॥ २८ ॥

राक्षसउवाच

मगधेषु द्विजोऽहम्वै द्विजजेतेति विश्रुतः । तत्र द्विजानहम्प्राप्ताञ्जित्वा गुरुमताडयम् ॥
कुतर्कैः कृत्रिमैर्विप्र ! स्वयमुत्प्रेक्षितैरहम् । साभिमानः सुदुष्टात्मा धनभोगपरायणः ॥
बहुभोजनकृन्नित्यं कस्मिंश्चिद्दिवसे ज्वरः । प्रविष्टस्तु वराकम्मां मरणान्तः सुदारुणः ॥
प्रत्युत्थितेऽपि मरणे द्विजभङ्गमचिन्तयम् ।
मृत्वा राक्षसताम्प्राप्तो विभीतकवनाश्रयः ॥ ३२ ॥
केनाऽपि सुकृतेन त्वां दृष्टवानस्मि सुव्रत ! ।
त्वन्मुखाच्छाम्भवं नाम नाम काश्या अपि श्रुतम् ॥ ३३ ॥
काशीविश्वेशनामभ्यां सत्सङ्गेन च तारितः ।
कथन्तत्क्षेत्रमध्ये मां नेताऽसि द्विज ! पापिनम् ॥ ३४ ॥

पथिकउवाच

एकेन रेणुना काश्याः शुध्यन्ति मलिनो जनाः ।
बहुभीरेणुभिः स्नानं कारितव्योऽसि मेऽनघ ! ॥ ३५ ॥
शोणं समुत्तीर्य गतावुभौ तौ ददर्शतुः पाशुपतान्कुतश्चित् ।
तैः साकमासाद्य दिवो नदीन्तौ ददर्शतुः शङ्कर राजकेतनम् ॥३६

अर्धम्विमोचितः अन्तकरणस्य धर्मे प्रवृत्त्युदयानुभवात् ॥ २२ ॥ ऐक्यम्मैत्री ॥२३॥ काशीश्वराविति यदुक्तम्वचनमित्यन्वयः ॥ २४ ॥ न रक्षति किमितिशेषः ॥२५॥ समानफलदायिनीम्पुण्यवताम्पापिनाञ्च ॥ २६—२८ ॥ गुरुं श्रेष्ठं ब्राह्मणमताडयम् ताडितवान् ॥ २९—३१ ॥ द्विजभङ्गमिति । वादे द्विजस्यभङ्गोऽपमानो मया

पथिकस्तम्बहिः स्थाप्य विवेशाऽऽनन्दकाननम् ।
तत्र स्नात्वा शिवं दृष्ट्वा यथाशक्ति प्रपूज्य च ॥ ३७ ॥
पांशुप्रसृतिमादाय पुनस्तत्सन्निधिङ्गतः ।
स तं दृष्ट्वा जहर्षाऽऽशु तारितोऽस्मि त्वयाऽवदत् ॥ ३८ ॥
यथा त्वच्चरणोपान्ते तारितोऽस्मि पुनः पुनः ।
अथ तं राक्षसम्विप्रः स्नापयामास रेणुभिः ॥ ३९ ॥
शुद्धम्प्रवेशयामास वाराणस्यां स तापसः ।
तौ स्नात्वा मणिकर्ण्यान्तु दृष्ट्वा देवमुमापतिम् ॥ ४० ॥

कृतार्थौ वसतुस्तत्र काशीशिवपरायणौ । राक्षसेन शरीरेण दिव्यन्देहमवाप्नवान् ॥

काश्यां स्थित्वा पापभीरुर्यतात्मा मिथ्यावादं लोकवादं नकार्षि(र्षी?)त् ।
पापाद्भीतः पुण्यवृत्तेन तेन कर्मावद्यं काशिका नो सहेत ॥ ४२ ॥

देवब्राह्मणपूजकः प्रतिदिनं सच्छास्त्रसच्चिन्तको
दैन्याहारविवर्जकः प्रतिदिनं धन्यो धनास्पृहकः ।
वार्तां नैव करोति शम्भुरहितामेकान्तशीलः सदा
तीर्थान्यायतनानि काशिगहने यात्रादिने गच्छति ॥४३॥

अद्वैतपरमानन्दे क्षेत्रे वैश्वेश्वरे परे । वसन्नद्वैतबुद्धिः स जातोऽभेदमयो द्विजः ॥४४

सच्छास्त्रं सज्जनासङ्गः सद्बुद्धिः सद्वचोऽसकृत् ।
सदाचारः पञ्च युञ्जन् पञ्चत्वेनाऽवसीदति ॥ ४५ ॥
इति निश्चित्याऽविमुक्ते शुद्धोऽशुद्धिविवर्जितः ।
अवाप काशीं कालेन निर्वाणजननीं द्विजः ॥ ४६ ॥

कर्त्तव्य इति मनसि स्थापितवानित्यर्थः ॥ ३२—४० ॥ नो सहेताऽवद्यं निन्द्यकर्मेतिहेतोः ॥ ४२ ॥ सच्छास्त्रे वेदान्तम् ॥ ४३ ॥ पञ्चत्वे मरणे ॥ ४४-४५ ॥

विद्या विद्योदयान्ता हि न विद्या वादकारिणी ।
जेतुम्परम्पदम्विद्या न विवादाय केवलम् ॥ ४७ ॥
आत्मारामैरपि सदा कृतार्थैः शान्तविग्रहैः ।
सेव्यते काशिका देवैः सर्वावद्यविघातिनी ॥ ४८ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये काशीविश्वनाथमहिमवर्णनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

विद्या विद्योदयान्ता ब्रह्मविद्योदयान्ता तस्मात्काश्यामद्वैतनिष्ठो वसेदिति सर्वाध्यायतात्पर्यः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः

काश्यां नित्ययात्राविधानवर्णनम्

ऋषयऊचुः

नित्ययात्राविधानञ्च वक्तुमर्हसि सत्तम! । यथा क्षेत्रकृतम्पापं नित्यमेव प्रणश्यति॥

अतुला पुण्यवृद्धिश्च जायते येन सुव्रत! । तथा वद वदान्येश! धर्मशास्त्रविशारद!॥

सूतउवाच

इदमेव पुरा पृष्टः पार्वत्या परमेश्वरः। यदुवाच महादेवः श्रूयतान्तद्वदामि वः ॥३॥

देव्युवाच

भगवन्! श्रोतुमिच्छामि जनानां काशिकास्थितिम्।
यथा निर्विघ्नतां यान्ति दिवसाः साधुसत्कृताः॥ ४॥
दुर्ल्लभा मनुजा लोके धर्ममार्गरता नराः।
ततोऽपि दुर्लभा लोके काश्यां ये धर्मतः स्थिताः॥ ५॥

अथ नित्ययात्राविधिश्रवणार्थं मुनयः पृच्छन्ति ऋषयऊचुः नित्ययात्रेति ॥ १—४ ॥ तत्र सर्वदेवेषु प्रथमतो भवानीपूजा कर्त्तव्या तस्याः सकल जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणत्त्वेन सर्वजननीत्वान्न मातुः परदैवतमित्यादि वचनैः प्रथमपूज्यत्वादिति मनसि निधायाऽह आदौ देवमण्डपमिति। देव्या अन्नपूर्णाया भुवनेश्वर्याः साङ्गोपाङ्गां सावरणां आगमोक्तैः शारदातिलकादिषु स्पष्टैः। इयमन्नपूर्णाभुवनेश्वर्येव सर्वतन्त्रेषु भुवनेश्वरीभेदमध्ये अन्नपूर्णायाः परिगणनात् अतएव "काश्यान्तु भुवनेश्वरी" इति देवीपुराणवचनं पूजानन्तरमष्टौ प्रदक्षिणाः कार्याः तदुक्तं "श्रीमद्भवानीसदनं समाप्य प्रदक्षिणीकृत्य तथाऽष्टवारम्" इति तथाप्रदक्षिणी-

श्रीभगवानुवाच

प्रातः प्रातः समुत्थाय ढुण्ढिराजं नमेत्पुनः। भवानीं शङ्करम्पश्चात्कालभैरवमेव च

दण्डपाणिं गणेशांश्च केशवादित्यचण्डिकाः।

ततः शौचादिकङ्कृत्वा दन्तधावनपूर्वकम् ॥ ७ ॥

स्नानमुत्तरवाहिन्यां श्रुत्यादिषु यथोदितम्।

ततः सन्ध्यातर्पणादि विधाय स्वाधिकारतः ॥ ८ ॥

विश्वेश्वरं स्मरन्गच्छेत् पूजासाधनसंयुतः ॥ ६ ॥

आदौ देव्या मण्डपं सम्प्रविश्य तत्र स्थित्वा पूजयेच्छ्रीभवानीम्।

साङ्गोपाङ्गामागमोक्तैर्विधानैः स्मृत्वा नत्वा प्रार्थयेदन्नदात्रीम् ॥ १० ॥

ततो ढुण्ढिङ्गत्वा मधुरतरनैवेद्यविभवैरुपास्य स्मृत्वातम्विविधभयविघ्नाधिशमनम्।

अथन्नित्यः प्रोक्तो विधिरतुलसौख्यैकसुखद-

श्चतुर्थ्यां नो यस्य प्रभवति स किं सौख्यनिलयः ॥ ११ ॥

गच्छेत्ततो विश्वपतिम्महामतिः प्रदक्षिणीकृत्य सुतारतीर्थम्।

स्नात्वा ततो दण्डपतिम्प्रणम्य सम्पूज्य निर्वाणगतञ्च पञ्चकम् ॥१२॥

ततो विश्वेश्वरं नत्वा स्नापयेत्पञ्चकैः शुभैः। स्नापयेच्च ततो गाङ्गैस्तोयै रुद्रपुरस्कृतैः

कृता यैस्तु महापातकनाशिनी। अष्टवारं सुकृतिभिर्न तेषां भ्रमणम्भवेत्" इति। काशीखण्डेऽपि ""अष्टौ प्रदक्षिणा देयाः प्रत्यहन्तुष्टितत्परैः" इति भवानीस्तोत्रन्तु विंशेऽध्याये स्पष्टम्। प्रार्थनामन्त्रस्तु 'मातर्भवानि तव पादरजो भवानि' इति काशीखण्डोक्तः प्रसिद्धः ॥ ५-१० ॥ सौख्यनिलय इति। विविधविघ्ननिवारकस्य नित्यस्याऽपि गणेशपूजनस्य चतुर्थ्यामनुष्ठानात्सुखादिकमपि फलम्भवति संयोगपृथक्त्वादितिन्यायादितिभावः ॥ ११ ॥ सुतारतीर्थमिति। सुतारतीर्थं ज्ञानवापी तस्यां स्नात्वा ताञ्च प्रदक्षिणीकृत्य ततो दण्डपाणिम्प्रणम्य निर्वाणमण्डपगतञ्च पञ्चकं "आदित्यं द्रौपदीं विष्णुं दण्डपाणिं महेश्वरम्" इति। काशीखण्डोक्तप्रकारेण नाममन्त्रैः सम्पूज्य ततो विश्वे-

गन्धपुष्पप्रधूपैश्च दीपैर्नैवेद्यकैरपि । नानाविधैश्चोपचारैर्यथाविभवसत्कृतैः ॥ १४ ॥
पूजयित्वा महादेवं काशीनाथं जगद्गुरुम् । प्रदक्षिणत्रयङ्कृत्वा प्रणमेद्दशपञ्चधा ॥१५

जय विश्वेश्वर ! विश्वाधार ! विश्वरूप विष्णुप्रिय वामदेव !
महादेव ! देवाधिदेव ! दिव्यरूप ! दीनानाथैकशरणद
शरणागत वज्रपञ्जर साधिताखिलकार्य ! कार्यातीत!
कारणकारण ! कामादितृणदहन ! दानवान्तकरदारिताऽखिल-
दारिद्र्य ! जितेन्द्रियैकगम्य ! काशीस्थावरजङ्गम-
निर्वाणदायक! त्रिदशानां नायक! काशिकाप्रिय! नमस्ते नमस्ते नमस्ते ।
इत्यादिनामबहुलैः स्तोत्रैः स्तुत्वा पुनर्नमेत् ॥ १६ ॥

श्वरं नत्वेत्यन्वयः ॥ १२ ॥ अदीक्षितश्चेद्वैदिकपौराणिकमन्त्रैर्दीक्षितश्चेदागममन्त्रैः पूजयेत् । अत्राऽऽवाहने विकल्पः उपचारान्तर्गतत्वाद्देवस्य सन्निहितत्वेप्याऽवाहनं केचिदिच्छन्ति । "उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुत्सवार्चने" इति निषेधान्नास्तीति केचित् । विसर्जनन्तूपचारानन्तर्गतत्वान्नानुष्ठेयम् । पञ्चकैरिति । पञ्चामृतैराप्याय-स्वेत्यादि मन्त्रैः स्नापयेत् । ध्यानन्तु ध्यायेन्नित्यम्महेशमिति अत्र विश्वेश्वरलिङ्गस्य म्लेच्छादिभिरुच्छेदेऽपि तस्मिंस्थाने यल्लिङ्गं स्थापितम्भवेत्तस्यैव पूजा कार्या पूजा-दीनां स्थानधर्मत्वात् ॥ १३—१४ ॥ प्रदक्षिणत्रयमिति । अत्र केचित्सोमसूत्री-म्प्रदक्षिणामाहुस्तदसत् 'सर्वदिक्षु महाभाग! विभोः कुर्यात्प्रदक्षिणाम् । सोमसूत्रादि-नियमो नास्ति विश्वेश्वरालये" इत्यादित्यपुराणवचनात् "ज्योतिर्लिङ्गे रत्नलिङ्गे स्वयम्भुवि तथैवच । वृषचण्डादिनियमः सुरेश्वरि ! न विद्यते" इति सूतसंहितावाक्याच्च । प्रणमेदिति नमस्कारश्च मुक्तिमण्डपे कार्यः "इत्यादिनामबहुलैः स्तोत्रैः स्तुत्वा पुनर्नमेत् देवस्य दक्षिणे भागे स्थित्वा निर्वाणमण्डपे" इति विशेषवचनात् । केचित्तु "पशोः पशुपतेरग्रे दण्डवत्प्रपतेद्भुवि । पतन्ति पातकाः सर्वे नोत्तिष्ठन्ति तदा सदा" इति विशेषवचनम्पठन्ति तन्मतेऽग्रे नमस्कारो दशपञ्चसंख्याकः कार्यः निर्वाण-

निर्वाणमण्डपे स्थित्वा विष्णुं नत्वा पुनः पुनः ।
देवस्य दक्षिणे भागे साक्षान्मुक्तिः करे स्थिता ॥ १७ ॥
यदुच्यते तत्र शुभाशुभम्वा नरैः समस्तार्त्तिहरे सुमण्डपे ।
तदेव वृद्धिं सुतराम्प्रयाति तस्मान्न तत्रातिवदेद्विपश्चित् ॥१८॥
ये स्मरन्ति महाविष्णुं ये स्मरन्ति सदाशिवम् ।
त एव तत्राऽधिकृताने ये विकृतवादिनः ॥ १९ ॥
अन्यत्राऽपि वदन्ते किञ्जनाः सुकृतकारिणः ।
किम्पुनः काशिकामध्ये अन्तर्गेहे ततोऽपि हि ॥ २० ॥

मण्डपे इत्येतत्तु स्तुत्यनन्तरभावि पुनर्नमस्कारविषयं पुनर्ग्रहणादिति । विश्वनाथपादोदकञ्च शिवनिर्माल्यत्वेऽपि मूर्द्ध्नि धारणीयम् । "जलस्य धारणम्मूर्ध्नि विश्वेशस्नानजन्मनः ॥ एष जालन्धरो बन्धः समस्तसुरवल्लभः" इति काशीखण्ड वचनात् । तथा "स्नापयित्वा विधानेन यो लिङ्गं स्नपनोदकम् । त्रिःपिबं त्रिविधम्पापं तस्येहाऽऽशु विनश्यति" इति च तत्रैवोक्तेश्च । इदञ्च काशीस्थसकललिङ्गविषयम् । अतएव रत्नेश्वराख्याने काशीखण्डे 'तस्यास्तदैकयानीतं रत्नेशस्नपनोदकम् । तदुत्क्षणात् क्षणादेव तन्मूर्च्छा विरराम ह । श्रद्धावतां स्वभक्तानामुपसर्गे महत्यपि । नोपायान्तरमस्त्येव विनेशचरणोदकम्" इति इयञ्च यात्रा नित्या "शिवं शिवाम्प्रत्यहमर्चयेन्नरः" इति पूर्वोक्तवचने प्रत्यहपदग्रहणात् । काशीखण्डेऽपि "भामनालोक्य यद्भुङ्क्ते तद्भुङ्क्ते केवलन्त्वघम् । असमर्च्य च यो भुङ्क्ते पत्रपुष्पफलैरपि ॥ रेतोभक्षी भवेन्मर्त्यः स जन्मान्येकविंशतिः" इत्यकरणे प्रत्यवायश्रवणाच्च नित्यस्याऽप्यभ्युदयार्थत्त्वम्पुराणान्तरे उक्तसंयोगपृथक्त्वन्यायेन न विरुद्धम् ॥ १५ ॥ शिवस्तुतिः स्पष्टार्था । पुनर्नमेदिति । निर्वाणमण्डपे स्थित्वेत्यनेनाऽन्वेति । अयञ्च स्तवनोत्तरं नमस्कारो द्वितीयो मुक्तिमण्डपे कार्य इत्यर्थः ॥ १६ ॥ देवस्य दक्षिणे भागे मुक्तिमण्डपे पुनः पुनर्विष्णुं नत्वा यः स्थितः (स)तस्य मुक्तिः करे स्थितेत्यन्वयः ॥१७-१८

ततोऽपि मण्डपे देवि ! निर्वाणपदसंज्ञके । इति देवं समभ्यर्च्य गच्छेद्यत्र सुविश्रमेत्

विश्रामः सत्सु परमो विश्रामः शिवकीर्त्तनम् ।
विश्रामो लोभहननं विश्रामः पार्थसारथिः ॥ २२ ॥

संसारदावदहने पतितानां स्वकर्मभिः । काश्येव शरणं नाऽन्यन्मुक्तानामपि पार्वति !

काश्यान्तिष्ठामि सततं विश्वेशम्पूजयाम्यहम् ।
दिशामि तारकं नित्यमविमुक्तप्रसादतः ॥ २४ ॥

अविमुक्तेश्वरम्पूज्य ब्रह्मनारायणादिभिः । फलम्प्राप्तन्तदेवाऽऽद्यं सर्वसामर्थ्यलक्षणम्

न विमुक्तम्मया देवि ! विष्णुना ब्रह्मणा तथा ।
इन्द्रचन्द्रादिभिर्देवैः ऋषिभिर्मुनिभिर्नृभिः ॥ २६ ॥

राक्षसासुरनागैश्च गणगन्धर्वकिन्नरैः । ये चेतनास्तैर्न त्यक्तमविमुक्तमवाप्य च ॥२७॥

विचार्यते तैः सुविविक्तमत्र शास्त्रन्तथाजीवनमत्र लोके ।
तद्गर्भवासादिसुखञ्च नश्वरं विनश्वरन्देहयुगञ्च सत्वरम् ॥२८॥

ये न त्यजन्ति मुनिवासनिवासभूतां वाराणसीम्त्रिविधतीर्थनिषेवितान्ताम् ।
आनन्दसुन्दरविवेकिनिषेविताञ्च तापत्रयार्तिपरिभूतनिषेविताञ्च ॥ २९ ॥

यात्रानन्तरं यत्र सुविश्रमे तत्रैव गच्छेदित्यर्थः ॥ १९—२१ ॥ तस्य स्थानमाह विश्राम इति । साधुसमागमे तिष्ठेदित्यर्थः । पार्थसारथिर्विष्णुः ॥ २२ ॥ विश्वेशम्पूजयाम्यहमिति अहम्मामेव पूजयामीत्यर्थः । अविमुक्तं काशी भगवती पराशक्तिस्तस्याः प्रसादत इत्यर्थः ॥ २४ ॥ अविमुक्तेश्वरम्पूज्येति । ब्रह्मादिभिरविमुक्तेश्वरम्पूज्य सम्पूज्य सर्वसामर्थ्यलक्षणमाद्यम्फलम्प्राप्तमेतादृशोऽविमुक्तेश्वरमहिमेत्यर्थः ॥ २५ ॥ अतएव सर्वैर्न विमुक्तमित्याह न विमुक्तमिति ॥ २६ ॥ अवाप्य प्राप्य न त्यक्तमित्यन्वयः ॥ २७ ॥ ये विष्णवादयस्तैरपि अत्र शास्त्रादिकम्विचार्यते पुनश्च ते काशिकां न त्यजन्ति किम्पुनरन्ये इत्याह विचार्यते तैरिति । देहद्वयं स्थूललिङ्गशरीरात्मकम् ॥ २८ ॥ न शास्त्रत इति । भवाब्धिमज्जनं मनसि

न शास्त्रतो नाऽपि गुरूपदेशतो न सन्मुखाच्चाऽपि भवाब्धिमज्जनात् ।
ज्ञात्वाऽविमुक्ते प्रवसन्त्यथाऽपि स्फुटम्ब्रह्मसुखस्य ये तेऽपि भाजनम् ॥३०॥
ज्ञात्वाऽज्ञात्वाऽपि देवेशि योऽमृतम्परिसेवते। तस्य तत्कुरुते कार्यमविमुक्तन्तथानृणाम्
मा जानीह्यर्थवादन्त्वमात्मतत्त्वविनिर्णये ।
आत्मा काशी तथाऽहन्त्वं तथा देवो जनार्दनः ॥ ३२ ॥
अनावृतं ज्ञानमेतदावृतन्त्वन्यदुच्यते । अनात्मनि रतिर्नैवं भवेज्जीवे यथा मम ॥३३
अतो जीवांस्तारयति ह्यविमुक्तेश्वरः शिवः ।
अविमुक्तः शिवः सोऽहमविमुक्ता त्वमम्बिके ! ॥ ३४ ॥
अविमुक्तन्तथा क्षेत्रं क्षेत्रसन्न्यासकृत्तथा ।
अविमुक्ताः स्थावराश्च तथाऽन्ये तीर्थवासिनः ॥ ३५ ॥

सन्धार्य तद्भयाच्छास्त्रादिभिर्ब्रह्म न ज्ञात्वाऽपि येऽविमुक्ते प्रवसन्ति अज्ञानिन-स्तेऽपीत्यन्वयः ॥ ३६—३० ॥ अज्ञात्वा ज्ञात्वापीत्यर्थः कार्यम्मरणाभावः ॥ ३२ ॥ नचाऽयमर्थवादो मन्तव्य इत्याह मा जानीहीति । आत्मतत्त्वङ्गणयति आत्मेति। आत्मापरमात्मा काशी भगवती पराशक्तिरहं शिवस्तथा त्वं उमा भुवनेश्वरी तथा जनार्द्दनो विष्णुः तदा तदात्मतत्त्वमित्यर्थः ॥ ३२ ॥ कथमेतेषामात्मतत्त्वरूपत्व-मिति चेदनावृतज्ञानत्वादित्याह अनावृतमिति । अन्यदात्मतत्त्वभिन्नं जीवरूप-मित्यर्थः। तथा चैतत्प्रतिपादकवाक्यानामर्थवादत्वे “असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्” इति श्रुत्युक्तदोषापत्तिः स्यादितिभावः। अनात्मनीति। जीवे जीवस्य विभक्ति-व्यत्यय आर्षः । यतो जीवस्याऽनात्मनि संसारे रतिः सुखंनैव भवेन्नैव भवति तत्र दृष्टान्तो यथा ममेति ॥ ३३ ॥ अतो जीवदुःखनाशार्थे शिवो जीवांस्तारयती-त्यर्थः । अविमुक्त इति । न विमुक्तं पदार्थमात्रं येन सोऽयं परमात्माऽविमुक्तस्तद्रूपं सर्वमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ एतादृशे क्षेत्रे दशदोषवर्जितस्तिष्ठेदिति वक्तुं दशदोषा-नाह परान्नमिति । परवादो निन्दा तथा परधनं अदानन्द्रव्यादिदानाभावः

परान्नम्परवादाश्च परदारास्तथा धनम्। अदानाचारविद्वेषाभक्ष्यालस्यानुदैन्यता

दशदोषा महादेवि ! वर्ज्याः काशिनिवासिभिः ॥ ३७ ॥

क्षेत्रे परानन्दमये न कस्यचिद्दुःखङ्कदाचिद्भवतीति सत्यम्।

विक्षिप्तचित्ताद्विषयातुराज्जनात् स्वयङ्कृताद्दुःखगणादृते परम् ॥३८॥

चतुर्भुजं शङ्खगदाब्जहस्तं दृष्ट्वा हृषीकेशमनन्तमाद्यम्।

व्यग्रः प्रपश्येत्खलु राक्षसम्पुरः प्रपश्यमानम्विषचित्तवृत्त्या ॥ ३६ ॥

यच्चिन्त्यते येन तथैव तस्य मनः प्रपश्यत्यथ तन्मयन्तत्।

अतो विहायाऽऽशु समस्तचिन्तितं मामीश्वरं चिन्तयतां न दुःखम् ॥४०॥

देव्युवाच

यात्राविधानं स्थितिकारणम्परं श्रुतम्मयाशङ्कर ! मुक्तिसाधनम्।

अतःपरम्मे तव शर्मभूमिम्वदस्व काश्यां मम दीनबन्धो ! ॥ ४१ ॥

किमाश्चर्यं ब्रह्म स्त्वमपि गुरुगुरौ प्रीतिरधिका भवेल्लोके यस्याऽप्यतुलसुखसारं स लभते

अहन्त्वामाराध्यप्रविलसदुमाकान्तचरणं प्रपश्ये सर्वात्मन्! प्रकटपरमानन्दसदनम्

ज्ञानम्महामोहविमिश्रितेऽस्मिन् संसारमार्गे प्रबलम्भवेत्किम्।

संसारमार्गादपसृत्य सद्गुरुं त्वाम्प्रापयेच्छङ्कर मार्गमार्गम् ॥ ४३ ॥

आचारो दुराचारः विद्वेषो जीवानां अभक्ष्यमभक्ष्यभक्षणं आलस्यं सत्कर्मादिषु दैन्यता दीनभावः ॥ ३६ ॥ स्वयं स्वेन कृत आसमन्तात् दुःखगणो येन तस्मादृते न कस्यचिद्दुःखमित्यन्वयः किन्तु तस्यैव दुःखमतस्तथा न भवेदित्यर्थः ॥ ३८ ॥ चतुर्भुज इति.। यदि व्यग्रः अस्वस्थचित्तःस्यात्तर्हि विषचित्तवृत्त्या विषमचित्तवृत्त्या चतुर्भुजं दृष्ट्वाऽपि प्रपश्यमानं राक्षसमेव प्रपश्यत्यतो व्यग्रो न भवेदित्यर्थः ॥३८॥ तदेव स्पष्टयति यच्चिन्त्यते इति ॥ ४० ॥ अतः परम्मे तवेति। यात्राविधानः काश्यां स्थितिकारणं श्रुतमित्यन्वयः। तवाऽभिप्रेतां लोकस्य शर्मणो भूमस्थानं कल्याण-साधनमित्यर्थः। पुनः कल्याणसाधनानि वदस्वेत्यर्थः। देवमुत्साहयति किमाश्चर्य-

गुरुर्गरीयान्परमोपदेशतो यस्तारयेदाश्रितमन्त्यवासिनम् ।
शिष्ये गुरुत्वं यदि वै जगद्गुरुं संस्मृत्य वर्त्तेत्समियाज्जगद्गुरुम् ॥ ४४ ॥
काश्यां स्थितानान्देवेश ! साधनानि वदस्व भोः ! ।
निरङ्कुशानाम्पापानां न सुखाय कदाचन ॥ ४५ ॥

महादेवउवाच

योगेश्वराणां धनतोऽविरक्त्या गुरूपसक्त्या परमार्थदृष्ट्या ।
असत्कथासज्जनवर्जनाज्जपादास्तिक्यबुद्ध्या शिवनामकीर्त्तनात् ॥ ४६ ॥
आहारशुद्ध्या मृदुभाषणेन शान्त्यासदाचार जपेन दानैः ।
कामादिरागादिविवर्जनेन क्रोधादिमात्सर्यमदादिवर्जनैः ॥ ४७ ॥
मानापमानादिविचारवर्जनैर्जनः परन्देवमुमासहायम् ।
पश्यत्यथोऽनुग्रहमेति शङ्करात् काश्यां सुखम्वा समवाप्नुयाद्वरम् ॥ ४८ ॥
एतैर्विशिष्टैः खलु साधनैर्युता विश्वेश्वरम्प्राप्नुवते महान्तः।
ये पुत्रदाराप्तगृहादिसक्ताः पश्यन्ति नैते पुरतः प्रकाशम् ॥ ४९ ॥
पश्यन्ति ये केवलया स्वसंस्थया गुरुं गुरूणामधिपं शिवङ्गताः ।
कन्दाष्टिमूलफलभक्ष्यपयोव्रतैर्हि कालं नयन्ति सुधियो मदनुव्रता ये ॥ ५०

मिति। हे ब्रह्मन्! यस्य त्वयि मतिर्भवेत्स सुखसारं लभतेऽत्र किमाश्चर्यं यतोऽहन्त्वामाराध्य प्रविलसन्तावुमाकान्तचरणौ यस्मिंस्तादृशं दुर्लभमपि परमानन्दसदनमानन्दवनं प्रपश्येतेत्यर्थः। ज्ञानमिति। अस्मिन्संसारमार्गे प्रबलं ज्ञानमज्ञाननाशकं गुरुं विना किम्भवेन्नैव भवेदित्यर्थः। यज्ज्ञाने संसारमार्गादपसृत्य निष्कास्य मार्गस्थाऽपि मार्गभूतं सन्मार्गप्रदर्शकं गुरुन्त्वाम्प्रापयेदित्यर्थः ॥४३॥ यतो गुर्वधीनं ततो गुरुर्गरीयानिति। शिष्ये गुरुत्त्वं श्रेष्ठत्वन्तु स्वगुरुं जगद्गुरुम्परमात्मानं संस्मृत्य यदि चेत्तिष्ठेत्तदित्यर्थः। एतादृशो यः शिष्यः स जगद्गुरुम्परमात्मानं समियात् आर्षः प्रयोगः समेयादित्यर्थः। समीयादिति वा एतादृशं गुरुलक्षणन्त्वय्येवाऽस्तीतिभावः ॥ ४४ ॥ न सुखायेति यानि भवन्तीतिशेषः ॥ ४५ ॥ योगेश्वराणां धनं यमनियमादिकम् ॥ ४६—५० ॥

ते शुद्धबुद्धिहृदयाः परमम्पवित्रं ज्योतिर्भवन्ति परमं न तु लोलुपाद्याः।
अभक्तिभाजो नच पुण्यभाजोऽजितेन्द्रिया नैव तपो न योगाः ॥ ५१ ॥
न धर्मनिष्ठा नच धर्मशान्तिर्येषान्तु ये दैन्यभाजो मनुष्याः।
अहर्निशं वित्तपराः प्रतारका भवन्ति काश्यां यदि पापनिष्ठाः ॥ ५२ ॥
सुसङ्गहानैः खलु पापसङ्गैर्भवन्ति पैशाच्यसुदुःखभाजः ॥ ५३ ॥
त्रिविधोऽपि कृतो धर्मो महापातकनाशनः। अधर्मशाखा बहुला धर्मशाखास्तथैव च
वृक्षानुरूपं हि फलं लौकिके वैदिके भवेत्। अनन्तजन्मगहने संसारे दुःखसागरे ॥
अनुभूयाऽपि दुःखानि पुनः पापे प्रवर्त्तयेत्।
जनः कथं न दुःखी स्यात् पिशाचपदभोगभाक् ॥ ५६ ॥
क्षणे क्षणे महादेवि ! दुष्कृतं क्रियते तु यत्। परिपाकोऽशुभस्तस्य वर्षाणामयुतत्रयम्
यः काश्यां कुरुते पापं जनो मोहमदान्वितः।
आवयोः कालराजस्य दण्डपाणेर्गणेशितुः ॥ ५८ ॥
अपराधाद् दुराचारः कथं सिद्धिमवाप्नुयात्।
मयाऽपि यत्र सततं कालराजाद्विबिभ्यता ॥ ५६ ॥
स्थीयते सावधानेन काश्यामानन्दभोगिना। स्थानानुरूपा वृत्तिर्हि पुरुषस्य विराजते

एतावत्पर्यन्तं कल्याणसाधनान्युक्त्वा तदकर्तुर्बाधकमाह न तु लोलुपाद्या इति। आदि पदग्राह्यानाह अभक्तिभाज इति। नैव तपो नैव योगा येषां तादृशाः ॥५१॥ तर्हि तेषां का गतिरितिचेत्तत्राऽऽह भवन्ति पैशाच्येति। धर्मनिष्ठा इति ॥५२-५३॥ ये तु धर्मनिष्ठा धर्मेणैव मोक्षंसाधयाम इति वदन्ति तान्प्रत्याह त्रिविधोऽपीति। त्रिविधो वाङ्मनःकायैर्निर्वृत्तो धर्मो यद्यपि महापातकनाशनोऽस्ति तथाऽपि धर्मवृक्षस्य यथा वहुला धर्मशाखाः प्रादुर्भवन्ति तथैवाऽधर्मशाखा अपि वासनावशात्प्रभवन्त्येव तथाचाऽधर्मसम्भवेन दुःखम्भवत्येवेति काशीम्विना न निस्तार इत्याह अधर्मशाखा वहुला इति ॥५४—५७॥ पुनः काश्यां पापं निषेधति यः काश्यामिति ॥ ५८ ॥

न ह्यग्निहोत्रशालायां क्रियते मलमोचनम् । अतो रहस्ये मद्गेहे ह्यविमुक्ते मुमुक्षुभिः
स्थातव्यम्परया भक्त्या जितेन्द्रियमनोगुणैः ॥ ६२ ॥

भयाच्च बुद्ध्या बलधार्ष्ट्यभावात्पुनः पुनः स्वादपरो विचार्य ।
करोति पापं नहि तस्य शान्तिर्दुःखार्णवाद्दारुणताडनेभ्यः ॥ ६३ ॥
वेदाज्ञया निश्चितबुद्धयो ये मोक्षे यथा विश्वसिता भवन्ति ।
तेनैव वेदेन निवारिताः कथं पापान्निवृत्ता न भवन्त्यतद्विदः ॥ ६४ ॥
काश्यां यथा पापकृताम्महाभयं काश्यां तथा पुण्यकृताम्महत्सुखम् ।
अतः सुखार्थम्प्रयतेत धर्मतो जीवञ्जनो याति मृतः परम्पदम् ॥ ६५ ॥
कृते काश्यां ज्ञाननिष्ठा वसन्ति त्रेतायान्ते यज्ञभाजः प्रधानाः ।
पूजादानं द्वापरे तु प्रकुर्युस्तिष्ये दानं केवलम्मोक्षहेतुः ॥ ६६ ॥
यथाशक्त्या दानमत्र प्रयुक्तं सिद्धिङ्कुर्यान्मनसः सिद्धिरूपाम् ।
प्रतिग्रहम्पापहेतुम्वदन्ति वेदादानं शुद्धिहेतुः कृतज्ञाः ॥ ६७ ॥
अतो न गृह्णन्ति महानुभावा धर्मार्थमप्यात्मसुखार्थमेव ।
सीदत्कुटुम्बैश्चरितव्रतैश्च ह्याहारमात्रम्प्रतिगृह्यतेऽत्र ॥ ६८ ॥
वस्त्राद्यलङ्कारधनादिसङ्ग्रहात् क्षुभ्यन्ति क्रुध्यन्ति रमन्ति पापैः ।
ततोऽधिकं धनधान्यादि किञ्चिन्न ग्राह्यमत्र प्रतिपत्तिहेतोः ॥ ६९ ॥
प्रतिग्रहोऽन्यत्रकृतौ न शुद्ध्यै पापाय काश्याम्प्रभवेत्कथञ्चन ।
विप्रः पतेच्चेदधिकम्विगृह्णन्किङ्क्षत्रियाद्याः परि(र)वित्तलोलुपाः ॥ ७० ॥
अतस्त्वधर्मान्न परप्रतिग्रहाज्जीवेत काश्यां सकलो मुमुक्षुः ॥ ७१ ॥

स्थानानुरूपा वृत्तिराचरणं शोभते ॥ ५९—६१ ॥ प्रकुर्युः कुर्वन्तः ॥ ६२—६६ ॥ वेदाः शुद्धिहेतुं दानम्वदन्तीत्यर्थः ॥ ६७ ॥ क्षुभ्यन्ति क्षोभम्प्राप्नुवन्ति तथा क्रुध्यन्ति सङ्गृहीतवस्तुनाशसम्भवे ततस्तस्मात् प्रतिपत्तिः प्रायश्चित्तम् ॥ ६९ ॥

शिवउवाच

इति सम्यक् समाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयाऽनघे ! ।
काशीवासविधौ देवि ! किम्पुनः श्रोतुमिच्छसि ॥ ७२ ॥

सूतउवाच

इति देववचः श्रुत्वा काशीवासविधौ शिवा ।
सन्तोषम्परमम्प्राप ननाम च शिवम्मुहुः ॥ ७३ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्यव्याख्याने काशीवासिजनकृत्यसाधनविधिर्नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥



अथ सप्तदशोऽध्यायः

काश्या लिङ्गनामधेयत्वे विचारवर्णनम्

ऋषयऊचुः

अखण्डं लिङ्गमेकङ्कि काशीति परिगीयते ।
पञ्चक्रोशात्मकं सूत ! स्त्रीनाम्ना प्रथितिङ्गतम् ।। १ ।।
तद्वदस्वाऽऽनुपूर्व्येण शिवयोश्चेष्टितम्महत् । त्वत्प्रसादान्महाभाग ! श्रुतार्था वयमास्महे

सूतउवाच

शृण्वन्तु ऋषयः सर्वे महदद्भुतमादरात् । शिवयोरेवसम्वादपूर्वकङ्कथयाम्यहम् ।। ३ ।।
हरिकेशवने गौरी रुद्रस्याऽङ्कगता सती । पप्रच्छ ऋषिभिः पृष्टं यदेव सुमहात्मभिः ।।

देव्युवाच

भगवन्देवदेवेश ! प्रपन्नार्तिहराव्यय ! । लिङ्गस्य नाम काशीति कथञ्जातं दयानिधे !
पञ्चक्रोशात्मकस्याऽस्य आनन्दसदनस्य हि । काशीकथाऽमृतरसं पिबताङ्किमलम्भवेत्

श्रीभगवानुवाच

शिवशक्त्यात्मकं लिङ्गं श्रुतिभिः परिपठ्यते ।
योनिः शक्तिः शिवो लिङ्गं प्रकृतेः पुरुषस्य च ।। ७ ।।

ज्योतिर्लिङ्गस्य स्त्रीत्वाभावेन काशीति स्त्रीलिङ्गं नाम केन निमित्तेन जातमिति मुनयः पृच्छन्ति ऋषयऊचुः अखण्डमिति । किङ्काशीति प्रश्नार्थं स्वयमेव विवृणोति स्त्रीनाम्ना प्रथितिङ्गतमिति । प्रथितिम्प्रसिद्धिम् ।। १ ।। शिवयोश्चेष्टितेन येन स्त्रीलिङ्गं नामाऽभवत् ।। २ ।। यदृषिभिः पृष्टन्तदेव पप्रच्छेत्यर्थः ।। ४ ।। काशीति स्त्रीलिङ्गं नाम कथञ्जातमित्यर्थः ।। ५ ।। शिवशक्त्यात्मकमिति । तत्र

स्वरूपम्प्रथितम्वेदे पुराणादिषु पार्वति ! । शिवः परात्मा ब्रह्मेति शिवेति हरिरित्यपि
परब्रह्मेति च तथा गीयते बहुधर्षिभिः । शक्तिर्मायेत्यविद्येति विद्येति बहुधोच्यते ॥
उमालक्ष्म्यादिभेदेन ब्रह्मरूपा सनातनी । सदाशिवस्य या काचिच्छक्तिश्चैतन्यरूपिणी
सैव काशीतिसम्प्रोक्ता लिङ्गरूपाऽनपायिनी ।
केचित्काशीम्वदन्त्येतामविमुक्तं तथाऽपरे ॥ ११ ॥
पञ्चक्रोशात्मकं लिङ्गं रुद्रावासमथाऽपरे । ब्रह्मावासं विष्णुवासं वाराणसीमथाऽपरे
इत्यादिनामभिः प्रोक्तमेकमेव सनातनम् । लिङ्गं सदाशिवं शुद्धं ब्रह्माख्यम्पूर्णचिद्घनम्
कदाचिल्लिङ्गरूपेण शिवेन परमात्मना । शक्तिः पृथक्कृता शान्ता काशीति प्रथितिङ्गता

लिङ्गे या योनिरस्ति सा शक्तिरस्ति लिङ्गन्तु शिवो भवति तदेवं रीत्या प्रकृतेः शक्तेः पुरुषस्य च यत्स्वरूपम्प्रथितम्वेदादिषु तदेव काशीत्यर्थः ॥ ७ ॥ तत्र शिवशक्त्योरेवं सर्वत्र प्रतिपादितं स्वरूपं पर्यायनामभिर्नान्यदस्तीति वक्तुं तयोः पर्यायनामान्याह शिवइति ॥ ८ ॥ ब्रह्मरूपा ब्रह्मण एतस्याश्च चन्द्रचन्द्रिकयोरिव विद्यमानत्वाच्छक्ति-शक्तिमतोरभेदाद्ब्रह्मरूपत्वं युक्तमेव। तथा च काशीपदवाच्ये शिवशक्त्यात्मके तत्त्वे शक्तेः स्त्रीलिङ्गत्वात्काशीति स्त्रीलिङ्गं नाम युक्तमेवेतिभावः। तदुक्तं "शक्तिशक्ति-मतोर्भेदम्वदन्ति विषबुद्धयः । अभेदमनुपश्यन्ति मुनयस्तत्त्वचिन्तकाः" इति । देवी-भागवते च "पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः । चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा भवेत्" इति ॥ ननु तथापि शक्तेरपेक्षया शक्तिमतः शिवस्य प्राधान्येन प्रधानानुरोधेनैव नामकरणमुचितमिति चेत्तत्राऽऽह सदाशिवस्येति। तथा च शक्ति-प्रधानमेवैतत्क्षेत्रमिति । शक्तेः स्त्रीलिङ्गं काशीति नामयुक्तमेव ॥ ९—१० ॥ एतस्या एव पराशक्तेरविमुक्तादिनामानि सन्तीत्याह केचित्काशीमिति ॥११-१२॥ लिङ्गं सदाशिवमिति। शक्तिप्रधानं शिवोपसर्जनं लिङ्गमित्यर्थः ॥ १३ ॥ ननु शक्तेः प्रधानत्वङ्कया रीत्येति चेत्तत्राऽह कदाचिदिति । अत्र द्वितीयाध्यायस्था कथा सूचिता तत्र हि देवैः प्रार्थितेन विष्णुना स्वहृदयान्तर्गतो महादेवः प्रार्थित इत्युक्तम्।

अधिष्ठात्री देवता त्वमितिक्षेत्रस्वरूपिणी । भव त्वं सर्व भक्तानां महामोक्षप्रदायिनी॥
आरभ्य तद्दिनन्देवी गङ्गाकेशवसन्निधौ । अविमुक्तेश्वरन्ध्यायन्पश्चिमाभिमुखी स्थिता

पूजिता सा प्रयत्नेन काशीवासफलप्रदा ।
द्वादश्याम्प्रातरेवाद्यां काशीं यः पूजयेत्सुधीः ॥ १७॥

तस्य पापे न रमते बुद्धिर्धर्मे प्रवर्तते । चतुर्विधाश्च ये जीवा ये च वेदादयः परे ॥१८॥
ते सर्वे मुक्तिमायान्ति काश्यां स्थावरजङ्गमाः ॥ १९ ॥

देव्युवाच

मूर्त्तिमत्याः काशिकायाः कोऽधिकारो महेश्वर ! ।
क्षेत्रमूर्त्तिप्रभेदेन स्थितायाः किम्प्रयोजनम् ॥ २० ॥

तस्मिन्समये सर्वेषामनुग्रहार्थं शिवेन स्वशक्तिः मोक्षप्रदत्वतेजोमयत्वशक्तिद्वय-परिछिन्ना शान्ता पृथगिव कृता सा शक्तिः काशीति प्रथितिं गतेत्यर्थः । तथा च शिवोपसर्जनं शक्तिप्रधानमेवैतत्क्षेत्रमिति । अयम्भावः यथा गजशरीरे प्रविष्टस्य चैतन्यस्य गज इति व्यवहारस्तथा पराशक्तिशरीरे प्रविष्टस्य चैतन्यस्य शिव-स्याऽपि काशीति व्यवहार इति शिवशक्त्यात्मत्वमप्यविरुद्धमेवेति ॥ १४ ॥ यदेत्थं शक्तिः पृथक्कृता तदा तां क्षेत्राधिष्ठातृरूपेण क्षेत्ररूपिणी च भव त्वमित्यहमुक्तवा-नित्याह अधिष्ठात्री देवतेति ॥ १५ ॥ तद्दिनमारभ्य स्थिता मूर्त्तिरूपेणेत्यर्थः । अवि-मुक्तेश्वरं ध्यायन्निति पातिव्रत्यं सूचितं गङ्गा केशवो गङ्गान्तर्गतः केशवो यात्राया-म्प्रसिद्धः लिङ्गपुराणे तु विश्वेश्वरात्पश्चिमभागेऽस्याः स्थलमुक्तं "तत्र वाराणसी देवी स्थिता विग्रहरूपिणी । मानवानां हितार्थाय स्थिता देवस्य पश्चिमे । वाराणसीञ्च यो दृष्ट्वा भक्त्या चैव नमस्यति । तस्य तुष्टा च सा देवी वसतिं च प्रयच्छति" इति। वस्तुतस्तु लिङ्गपुराणे वाराणसीक्षेत्रस्य देवतोक्ता ब्रह्मवैवर्त्ते तु काशीक्षेत्रस्य देव-तोक्तेति देवताद्वयमेवाऽस्तीति न विरोधः ॥ १६ ॥ मूर्त्तिरूपेति । प्राणिनां मृतानां

श्रीभगवानुवाच

क्षेत्रे ऋणत्रयात्काशी मोचयेत्सर्वदेहिनः। आधारभूता जीवानामाद्या प्रकृतिरव्यया
मूर्त्तिरूपा चित्स्वरूपाऽप्यविमुक्तेशसेवया। पूर्णरूपं स्वमाहात्म्यं स्वयमेव प्रदर्शयेत्॥
एकदा देवदेवेशि ! कलौ धर्मविवर्जिते। प्राणिनः पापपरमा धर्मवार्ताविवर्जिताः॥
जाता विषादद्दुःखार्त्तिभयशोकतृषावृताः।
कामिनः क्रोधलोभादिमदमात्सर्यहिंसया ॥ २४ ॥
समेताः परदारैश्च रमते(न्ते?) धनतत्पराः। उपपातकसंयुक्ताः पातकैश्च समन्विताः॥
जातिभ्रष्टाः कर्मनष्टाः पाखण्डाः पतिताः शठाः।
लोलुपा व्यङ्कुशाः काश्यां पापकर्तार एव च ॥ २६ ॥
क्षेत्रेऽपि ये पापकृतो महान्तो बहिश्च ये पापकराः सदा नराः।
मुक्ता भवन्त्येव झटित्यनारतं जीवा महाज्ञानमयेऽविमुक्तके ॥२७
काश्यां पापं ये प्रकुर्वन्ति नित्यं नानाशास्त्रैर्वेदसङ्घैर्निषिद्धम्।
तेऽपि ब्रह्म प्राप्नुवन्त्येव शीघ्रं ज्ञात्वा देवा विश्वनाथन्तमूचुः ॥२८॥

देवाऊचुः

इयं काशी देवी सकलपुरुषार्थैकजननी मुमुक्षून्या सर्वाञ्छितकरणदेहान्सुमनसः।
महापापान्क्रूरान्गुरुनिगमदेवद्विजगवां द्रुहस्तानप्याद्या गमयति पदं स्वात्मसदनम्॥

मोक्षार्थं क्षेत्ररूपा जाता भक्तानाम्पूजाग्रहणार्थं तेषामनुग्रहार्थञ्च मूर्त्तिरूपेण स्थितेति अतएव लिङ्गपुराणे मानवानां हितार्थायेत्युक्तं स्वयमेवेति। स्वस्यमाहात्म्यमचिन्त्यमुपकारं स्वयमेव विचारयतीत्यर्थः। अस्याः कदाचिदन्तर्धानेऽपि मुक्तिप्रदक्षेत्ररूपाऽस्त्येवेति न मोक्षशङ्केति तत्त्वम्॥ २२॥ अथाऽस्या मूर्तेर्महिमानम्वक्तुं कथामुत्थापयति एकदेति ॥२३॥ पापकर्तार एव चेति। अत्र सर्वत्र जाता इत्यस्याऽनुषंगः ॥२६॥ क्षेत्रेऽपीति ॥ २७ ॥ एवं रीत्या क्षेत्रे बहिश्च ये पापकर्तारो वेदविरुद्धाचरणवन्तो वेदाज्ञोल्लङ्घनकर्तारस्तेऽपि काशीमहिम्ना मुक्ता भवन्त्येवेति वेदमर्यादा सर्वथो-

वेदशास्त्रविहितः शुभप्रदः प्राणिनां हितकरस्सनातनः ।
मार्ग एष सुधियां सुखप्रदो याति काशिदयया तवाऽऽज्ञया ॥ ३० ॥

ब्रह्मोवाच

नियमः क्रियतान्देव ! ह्यु भयत्राऽपि सम्मतः ।
वेदमार्गस्य रक्षा स्याद्यथा काश्यां शुभा गतिः ॥ ३१ ॥

श्रीमहादेवउवाच

कृतोऽपि नियमः पूर्वं मनवे च यमाय च । न तिष्ठति तदा देवाः प्रबलेयन्तु काशिका
ममापीच्छा सुमहती वर्तते देवसत्तमाः! ।
काश्याङ्कृतानाम्पापानां प्रायश्चित्तविधिर्न हि ॥ ३३ ॥

छिन्नेति दुःखेन देवा विश्वनाथम्प्रत्यूचुरित्याह तमूचुरिति ॥ २८ ॥ किमूचुस्तदाह इयं काशीति पुण्यवतां पापिनाञ्च समानाङ्गतिन्ददातीत्यर्थः ॥ २९ ॥ अस्तु तत्र भवतां का हानिरितिचेदुच्यते वेदशास्त्रविहित इति । वेदमार्गो ह्यनादिसिद्धः परमेश्वरस्याऽऽज्ञारूपः सोऽधुना विलयं याति लोके मोक्षार्थमेव हि मार्गः स च मोक्षोऽनायासेनैव काशी ददातीति वेदमार्गस्य क उपयोग इतीयं महाहानिरस्माकमितिभावः। इदं सर्वं त्वदाज्ञया काशीदयया च जातमिति भवानेव प्रार्थनीयोऽस्तीति॥३० तर्हि मया महादेवेन किङ्कर्तव्यमिति चेत्तत्राऽऽह ब्रह्मोवाच नियम इति । कश्चनैतादृशो नियमः कर्तव्यो येनोभयसंरक्षणं स्यादिति ॥ ३१ ॥ कृतोऽपीति । पूर्वं नियमो मनुयमब्रह्मसमीपे चतुर्दशाध्यायोक्तप्रकारेण कृत एव मया स चेत्थं काशीस्वतन्त्रता मत्तोऽपि प्रबला मोक्षदाने विद्यते तदग्रे मम किमपि न चलति ततो वेदमर्यादापालनं काशीत अन्यत्रस्थले भविष्यतीति तदा कृतो नियमोऽधुनाभवन्मनसि न तिष्ठति किमितिशेषः स किम्भवद्भिर्विस्मृत इत्यर्थः । मनवे यमाय चेति तादर्थ्ये चतुर्थी॥३२॥ ममापीदमेवाऽभिप्रेतमित्याह ममापीति । विधिर्नहीति । तथा च वेदाज्ञा काशीव्यतिरिक्तस्थलेतिभावः ॥ ३३ ॥ तन्मयो ब्रह्ममयः यथा जलमद्ययो-

तन्मयो भवति मानवः परं यत्करोति सुकृतं च दुष्कृतम्
तोयबिन्दुजलमद्यमध्यतस्तद्यथा भवति लोकवैदिके ॥ ३४ ॥

सूतउवाच

इत्युक्त्वा शङ्करो देवान् काशीमाह्वययत्प्रभुः ।
प्रतीत्यर्थन्तु लोकानामुवाच कथयामि तत् ॥ ३५ ॥

श्रीभगवानुवाच

एहि काशि ! महाभागे सर्वलोकहितप्रदे !। महालिङ्गैकनिलये ! योनिरूपे ! परात्मिके !

सूतउवाच

इत्याहूता काशिका शङ्करेण शुद्धाम्मूर्तिम्बिभ्रती शुभ्रवस्त्रा ।
आगत्याऽथो देवमभ्यर्च्य किञ्चिल्लज्जावक्त्रा पार्वतीशं ननाम ॥ ३७ ॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रूहि देवि ! म्लानवक्त्रा दीना लज्जासमन्विता ।
निरुत्साहा निरानन्दा महानन्दप्रदायिनी ॥ ३८ ॥

काश्युवाच

मम प्रतिज्ञा देवेश ! गन्तुमिच्छति सत्त्वरम् ।
तेनाऽहं दुःखिता शम्भो ! म्लाना दीना सलज्जिता ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच

का ते प्रतिज्ञा चिच्छक्ते ! केन वा प्रविहिंसिता ।
कथम्वा तिष्ठति वद क्रियते तन्मयाऽधुना ॥ ४० ॥

काश्युवाच

प्रतिज्ञा मम देवेश ! स्थावराजङ्गमा जनाः ।
तारणीयाः सर्वतो मे सा गच्छति कलौ शुभा ॥ ४१ ॥

मध्ये पतितस्तोयबिन्दुस्तद्वद्भवति तथैव काशीरूपब्रह्मान्तःपातिसुकृतदुष्कृतकारी पुरुषोऽपि तद्वदेव भवतीति ॥ ३४ ॥ प्रतीत्यर्थं विश्वासार्थं ॥ ३५ ॥ योनिरूपेण

तत्राऽपि मनुजा देव ! धर्माधर्माधिकारिणः।
तथाऽन्ये विविधा जीवाः पूर्वकर्मोपजीविनः ॥ ४२ ॥
परदाररताः केचित् केचिद्द्रव्यपरायणाः । परापवादपैशून्यपरद्रोहरताः खलाः ॥
केचिद्गोवधकर्तारः केचिन्मद्यपरायणाः । केचित्पाखण्डकुशला वञ्चकाः सञ्चकाः परे
तीर्थद्रोहकरा लिङ्गविष्णुब्राह्मणविद्गवाम् ।
द्रोहिणो निवसन्त्येव द्वापरान्ते कलौ तथा ॥ ४५ ॥
अन्यान्यपि च पापानि बहूनि सुमहान्त्यपि ।
कुर्वन्त्येव नराः सर्वे मय्येव च विशेषतः ॥ ४६ ॥
अद्य यावत्तारितास्ते प्रतिज्ञारक्षणाय मे । अतः परं त्वच्छरणं गताऽस्मि शिव ! सुव्रत !
त्वया देवैश्च ऋषिभिः स्थीयते सावधानतः । उच्छृङ्खला मनुष्याणां दहन्त्यपक्वैरघैः
मेरुमन्दरतुलथानि पापानि विविधानि च । गतानि मद्दर्शनतः स्थूलसूक्ष्मविभागशः
मोक्षं यस्तु प्रयच्छेत भोगं यस्तु प्रयच्छति ।
जीवन्मुक्तिपदश्चाऽत्र स किं द्रोह्यो महात्मभिः ॥ ५० ॥
पठन्ति शृण्वन्ति वदन्ति धर्मं तथाऽपि पापं न परित्यजन्ति ।
अन्ये वराकाः खलु पापरूपाः कथम्विशुद्धाः पदमाप्नुवन्ति ॥ ५१ ॥

महालिङ्गवासिनीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ देव्या म्लानवक्त्रम्विलोक्य शिवउवाच ब्रूहीति । अत्र म्लानवक्त्रा दीना किमिति ब्रूहीत्यन्वयः ॥ ३७—४१ ॥ प्रतिज्ञा ममेति । इत्थं यदा काश्याः पराशक्तेः प्रतिज्ञा ततस्ताम्प्रतिज्ञाम्विनाशितुमहमसमर्थ इति । काशीमाहूय काशीमुखेनैव देवान्प्रत्युक्तवान्महादेव इतिबोध्यम् । विद्गवामिति । विदां ज्ञानिनां गवां चेत्यर्थः ॥ ४६—४६ ॥ अद्ययावदिति । एतावत्पर्यन्तमित्यर्थः । तथा च मया यदुक्तं तदेव भवत्सम्मुखं काश्या कथितमिति । देवान्प्रति शिवेनोक्त-मितिबोध्यम् ॥ ४७ ॥ सावधानतः सदाचारतः उच्छृङ्खलास्त्वित्यर्थः ॥ ४८ ॥ समादृशः किन्द्रोह्यः किन्तु रक्षणीय एव ॥ ५० ॥ पदमाप्नुवन्ति मद्विनेतिशेषः ॥ ५१ ॥

तवाऽग्रे देवदेवेश ! स्वाधिकारणमद्य मे। निरूपितम्प्रतिज्ञा मे यथा तिष्ठति तत्कुरु॥

श्रीभगवानुवाच

प्रतिज्ञा तव चिच्छक्ते ! देवैः संस्थापिताऽधुना। वेदमार्गश्च सुभगे ! तवाऽऽधिदहनः कृतः

काश्युवाच

कथम्प्रतिज्ञा मे देवैस्त्वया च प्रतिरक्षिता। कृतः कथम्वेदमार्गः सफलः साधिताखिल !

श्रीभगवानुवाच

यत्त्वया प्रार्थितङ्काशि ! तद्देवैर्ऋषिभिः सह। प्रार्थितं धर्मनिष्ठैश्च मनुष्यैः शिष्टसम्मतैः

पश्य वेदव्यतिकरं धर्मः सर्वैर्निराकृतः। भ्रूणशुद्धिर्नान्तशुद्धिर्योनिशुद्धिर्न शुद्धभाक् ॥

जनानां दृश्यते काचिच्छुद्धिर्वेदविधिस्थिता।
एषा नियतिरस्माभिः स्थापिताऽद्यदिनावधि ॥ ५७ ॥

तान्निशामय धर्मज्ञे धर्ममार्गप्रवर्त्तके। पूर्वजन्मकृतैः पापैर्महापातकसंयुतैः ॥ ५८ ॥

शिवेन पृष्टं म्लानवक्त्रकारणङ्कथयति स्वाधीति। स्वस्याऽऽधिर्व्याधिस्तत्कारणं पूर्वोक्तं निरूपितमित्यर्थः। इतः परं सर्वानुद्धर्तुं या मम प्रतिज्ञा सा यथा तिष्ठति तथा कुरु घोरतराणि पापानि नाशयितुमहं श्रान्ताऽस्मीति भावः॥ ५२॥ देवैः प्रार्थ्येत्यर्थः। संस्थापितेति। तव मनसि पातकनिरासार्थमुपायान्तरङ्कर्तव्यमस्ति देवमनस्यपि तथैव वर्तते तथा च तादृशोपाये कल्पिते वेदमर्यादासंरक्षणं देवप्रार्थितं संस्थापितम्भवेत् मोक्षं दास्यामीति त्वत्प्रतिज्ञा च संस्थापिता भवेदित्यर्थः। तवाऽऽधेर्व्याधेर्दहनो नाशकः कृत इत्यर्थः। गुप्तमर्थं स्पष्टयितुम्पृच्छति कथमिति यत्त्वयेति ॥ ५४ ॥ काश्याङ्कृतपातकानां नाशार्थं त्वया प्रार्थितं देवैरपि काश्याम्वेदापराधिनां दण्डोऽपेक्षित इति। प्रार्थितमित्युभयप्रार्थनाएकैवाऽस्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥ वेदव्यतिकरं वेदमार्गोल्लङ्घनम्पश्य कीदृशं जातमस्तीति नान्तःशुद्धिरन्तकरणशुद्धिर्न योनिशुद्धिर्मातृपितृशुद्धिः ॥ ५६ ॥ नियतिर्नियमः ॥ ५७ ॥ बहिष्कृतानाम्पापानां तव दर्शनादिना नाशो भविष्यति काश्याङ्कृतानाम्पातकानान्तु यातनया नाशो

मुच्यते काशिमरणाज्जनो बहिरुपार्जितैः। बहिःकृतानाम्पापानामिदमेव महत्तरम्

प्रायश्चित्तं काशिकायां मरणम्वा वास एव च।
महात्मभिः काशिकामैर्देवर्षिमनुजाधिपैः ॥ ६० ॥
त्वया मया च देवैश्च कृतन्तप इदङ्किल ॥ ६१ ॥

काश्यां स्थित्वा पातकं ये प्रकुर्युस्तेषाम्पापं वृद्धिमायाति नित्यम्।
ये वै पुण्यं साधु कुर्वन्ति नित्यं तेषाम्पुण्यं वर्धते ज्ञानकारि ॥ ६२ ॥
पुण्यङ्कृत्वा काशिके काशिकान्त्वां प्राप्ताः प्राप्तास्ते तु तद्वस्तु नित्यम्।
पापङ्कृत्वा क्षेत्रमध्ये मृता ये तेषाम्मुक्तिर्यातनान्ते भवेद्धि ॥ ६३ ॥
धर्मः काश्यां शुद्धिहेतुः प्रदिष्टः पापम्पुनर्मलदुःखाधिमूलम्।
तस्मात्प्रतिज्ञा तव सिद्धरूपा मुक्तिर्भवत्येव मलावसाने ॥ ६४ ॥
यथा सुलोहस्य सुदर्पणश्चिरन्त्वसंस्कृतो बद्धमलो न शुध्यति।
तथा मनुष्यैस्तु सकृत्कृतन्त्वघं न याति नाशङ्खलु काशिवासिनाम् ॥६५॥
यद्यत्सुखार्थम्वितनोति काश्यां तेनाऽस्य दुःखं दृढतामुपैति।
यद्दुःखमङ्गीकृतमिन्द्रियार्थसङ्कोचतस्तेन वृषे भवेन्मतिः ॥ ६६ ॥
अतो महान्तः सुखलेशहेतोर्महत्सुखङ्काशिजङ्किन्त्यजन्ति।
ये विद्यमानेन्द्रियभोगसाधनं त्यजन्ति गृह्णन्ति सदाऽविमुक्तम् ॥ ६७ ॥
अहोऽतिधन्या जनताविमुक्तये भजत्यथो विश्वपतिं सदाप्तम्।
भजन्ति ये देहगृहेन्द्रियार्थमन्यायकल्पम्परमल्पबुद्ध्या ॥ ६८ ॥
ते तद्वदार्त्ताः सुखमोक्षहीना भवन्ति दुःखार्णवमात्महीनाः ॥ ६९ ॥

भविष्यतीति उभयोरपि मनोरथसिद्धिरेकेनैव भविष्यतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥ कृतन्तपः प्रायश्चित्तमित्यर्थः ॥ ६१ ॥ सुलोहस्य घर्षणादिना कृतो दर्पणः ॥६५॥ किं त्यजन्ति विषयसुखलोभेन काशिजम्महत्सुखं नैव त्यजन्तीत्यर्थः ॥ ६७ ॥ काशीवासकृतो

कामक्रोधपरायणाः प्रतिदिनं लोभैः कनिष्ठाश्च ये
हाहाकारविकारयुक्तमनसो दृष्ट्वा कलिर्हृष्यति ।
ये तु प्रत्यहमर्चयन्ति विभवैः श्रीविश्वनाथम्पतिम्
कालः कालमलः कलिस्तुविशदान्नान्वेषते तान्पुनः ॥ ७० ॥

ऋषयऊचुः

काश्याङ्कलेः प्रवेशो न भवत्येतच्छ्रुतम्मुहुः ।
अविमुक्तस्थिताञ्जन्तून् बाधते स कलिः कथम् ॥ ७१ ॥

सूतउवाच

साक्षात्कलेः प्रवेशोऽत्र विद्यते न कदाचन । वासना प्राणिनाम्पूर्वा विशत्येव तु तैस्सह
शुभा मनःप्रवृत्तिस्तु सुखमित्याहुरादरात् ।
अशुभा मनसो वृत्तिः कलिः साधुविगर्हितः ॥ ७३ ॥
प्रपीडयेन्न जनानत्र कलिर्विशति मूर्त्तिमान् ।
तस्य तस्याऽशुभा बुद्धिः कलिरित्युच्यते नृभिः ॥ ७४ ॥
युगानि मृत्युः कालश्च यमो दूताः सुदारुणाः ।
विश्वेशन्द्रष्टुमायान्ति न तु विघ्नं प्रकुर्वते ॥ ७५ ॥
एतेषां शुभदान्यत्र सन्ति लिङ्गानि सर्वतः । तत्तद्युगकृतैर्धर्मैर्मुच्यते सकृदर्चितैः ॥७६॥
कलिकालेश्वरन्दृष्ट्वा चन्द्रेश्वरसमीपतः । कलिदोषैर्नरो जातु नाऽनुयुज्येत कर्हिचित्
बहिः कलिर्वासकृतः सम्भ्रमोद्भ्रमतोऽपि हि ।
उपसर्गसमानोऽयं स हि काश्यां सुदुःखभूः ॥ ७८ ॥
पूर्वजन्मसहस्रैर्यो ह्यनुभूतः कलिर्बहिः । तद्वासना हृद्गताऽत्र कथं याति महर्षयः ॥७९
दृश्यन्ते चाऽत्र पापानि लोकाः सम्यक्प्रकुर्वते । कलहं मद्यमांसानि भक्षयन्ते नराधमाः

जनात्सम्भ्रमोद्भ्रमरूपेण कलिर्बहिरेवाऽस्ति न काश्यां उपसर्गसमानो विघ्नरूपोपद्रव-
समानस्तु काश्यां दुःखभूमिरूपोऽस्तीत्यर्थः ॥ ७८ ॥ स च कलेरनुभूतस्य पूर्वजन्मनि

परदारपरद्रव्यपरद्रोहपरायणाः । भवन्ति बहवः काश्यां महापातककारिणः ॥ ८१॥

ते कथं यातनामध्यान्निस्तीर्णाः स्युः प्रमादिनः ।
कालराजभयङ्काश्यां पापिना तु बहिः कलि ॥ ८२॥

क्षेत्रेऽविमुक्ते ह्यविमुक्तमीश्वरं भजन्ति ये संस्थितमात्मजीवनम् ।
ते ते विमुक्ताः परमार्थयुक्ताः परस्य तत्त्वस्य पदम्भवन्ति ॥ ८३॥

वाराणसीम्प्राप्य सुदुर्लभां सुरैरपीष्टदेवं जगतः पितामहम् ।
नित्यन्न पश्यन्ति सुदुर्धियो नरा व्यग्राः कलिग्रस्तधियो भवन्ति ॥ ८४॥

विश्वेश्वराराधनतत्पराणां विश्वेश्वरस्तत्परतामुपैति ।
यो विश्वया सार्द्धमिहाऽप्यमुत्र कृतार्थभावन्नयते कृतार्थान् ॥ ८५॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्यव्याख्याने काशीविश्वेश्वरविषय-
प्रतिपादनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७॥

या वासनास्तद्रूपोऽस्तीत्याह पूर्वजन्मेति । तद्वासनावशादत्र पापानि दृश्यन्ते न त्वत्र काश्याङ्कलिप्रवेशोऽस्तीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७६—८५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण
नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

पापीभारम्वोढुमसमर्थायाः काश्याभगवता सह सम्वादवर्णनम्

ऋषयऊचुः

भगवद्वाक्यमाकर्ण्य काशिका तापनासिका। किङ्किमुक्तवती देवं शङ्करं लोकशङ्करम्॥

सूतउवाच

इति श्रुत्वा देवमुखात् पुनः काशी व्यजिज्ञपत्।
तच्छ्रूयताम्महाभागाः! परङ्कौतूहलं हि तत्॥ २॥

काश्युवाच

पापिनाङ्गुरुभारेण पीडिताऽस्मि जगद्गुरो!।
क्षेत्रे पापकृताम्भारं सोढुं शक्ता न शङ्कर! ॥ ३॥

श्रीभगवानुवाच

पापिनान्दुर्ल्लभो वासः सर्वदाऽऽनन्ददायिनि!।
मरणन्दुर्लभन्तेषां त्वयि मृत्वाऽपि यातनाः ॥ ४॥
प्राप्नुवन्त्येव ते पापाः कालराजेन वै कृताः ॥ ५॥
कलौ न काशीवसतिः स्थिरा भवेत् पापात्मनां दण्डपाणिप्रभावात्।
ममाऽऽज्ञया दण्डनाथः शुभात्मा ह्युद्वासयिष्यत्यथ पापकर्तॄन्॥ ६॥
वासङ्काश्यां दुर्लभम्प्राप्य मूढा दुर्व्यापारान् कुर्वते साधुनिन्द्यान्।
तैस्तैर्व्यग्रास्त्वान्न जानन्ति माञ्च वित्तग्राहग्रस्तचित्ताः पतन्ति॥ ७॥

पापिनामिति। पापिनाम्मरणोत्तरं यातनाकल्पनेन देवानाम्मम च मनोरथसिद्धिस्त्वया कृता तथाऽपि ममोपरि ये वसन्ति पापिनस्तेषाम्भारो मया न सोढुं शक्यते तत्रोपायं किञ्चित्कुर्वित्यर्थः॥ ३॥

तीव्रैर्व्रतैर्दानतपोभिरुग्रैर्यज्ञैः समस्तैर्मम भक्तियोगैः ।
आराध्यमामात्मतया परेशं सम्प्राप्नुवन्ते मम काशिवासम् ॥ ८ ॥
निस्तीर्णास्ते सर्वधर्मैः कृतार्थाः काशीम्प्राप्य स्वानुभूतिं लभन्ते ।
कुर्वन्नित्थं पुण्यसारं समन्ताद्भूयः काश्याम्पापकृद्दुःखभाक्स्यात् ॥९॥
भवन्ति शान्ता ननु चित्तवृत्तयः श्रद्धापराणान्तु सुखम्मनोरमम् ।
तस्मादसत्सङ्गविवर्जनैः परं स्थातव्यमानन्दवने बलीयसा ॥ १० ॥
असत्समागमः काशी पापादपि सुदारुणः ।
पापम्भोगात्प्रणश्येत पापाः पापविवर्धनाः ॥ ११ ॥

काश्युवाच

के तेऽसन्तो महादेव ! तवाऽनुग्रहघातकाः ।
काशीम्प्राप्याऽप्यसद्वृत्ता जायन्ते यत्समागमात् ॥ १२ ॥

श्रीभगवानुवाच

गृहेषु दारेषु धनेषु सक्ताः पुत्रेषु धर्मेषु परम्विरक्ताः
दुर्भोगदौर्भाग्यजनेषु रक्ता अवैदिकेष्वेव नितान्तभक्ताः ।
सङ्गः सदा स्याद्यदि तेषु काशी किं किन्न कुर्वन्ति नराधमा भुवि ॥ १३॥
अतो सताम्वर्जनमात्रतो नरा भजन्ति मामेव शिवेतितत्पराः ॥ १४ ॥
असत्सङ्गान्नूनम्भवति विविधं दुःखमुचितम्
विचारो ह्याचारप्रभृतिभिरथो याति विलयम् ।
अतः पुण्याः सन्तो विविधविकृतिस्थानमखिलम्
विहायाऽस्यां कामं शिवसदनमेकान्तसदनाः ॥ १५ ॥

पापाः असाधवः ॥११॥ के ते असन्त इतिच्छेदः ॥१२॥ आचारप्रभृतिभिर्दुराचारादिभिः शिवसदनमाश्रयन्तीति शेषः अस्याङ्काश्यां ॥१५॥ पूर्वं कामकलाया

असत्सङ्गात्प्रत्यहम्पापराशिर्विचीयते सज्जनस्तं क्षिणोति।
अत. सन्तः सावधानेन सेव्याः सद्भिर्दीनो दुःखभारञ्जहाति ॥ १६ ॥
नीचानामपि देवेशि! श्रद्धा शास्त्रे गुरौ दृढ़ा। प्रजायते पूर्वकृतैर्नोत्तमानां हि पापतः
इदमेव भविष्यम्मे विदितम्पूर्वमेव हि। निर्विण्णया गणिकया सम्वादोऽग्रे त्वया सह
त्वयोपदिष्टा पृष्टा च कथयिष्यत्यशेषतः ॥ १६ ॥

काश्युवाच

अहो अत्यद्भुतमिदं वेश्या वैराग्यसंयुता। कथम्ममाऽनया वादो भविष्यति दयानिधे!
कदा कुत्र च को वादः किम्वा प्राप्तन्तया शिव!।
किमाहारा किमाचारा कथन्निर्वेदमाप सा ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

विदर्भनगरे काचिद् वेश्या सज्जनदर्शनात्।
विवेकम्प्राप्य निर्वेदात्प्राप्ता वाणरासीम्पुरीम् ॥ २२ ॥

काश्युवाच

कथं श्रद्धा सुमहती तस्याः परमपूरुष!। एकेन श्रवणेनाऽऽशु जाता निर्वाणदायिनी

श्रीभगवानुवाच

विदर्भनगरे राजा वीरसेन इति स्मृतः। वासुदेवैकभक्तोऽसौ मन्त्रिणश्च तथाविधाः ॥
पुरोहितामात्यभृत्याः सर्वे विष्णुपरायणाः।
नगरस्थो जनो भक्तो यथा राजा तथा प्रजाः ॥ २५ ॥
इत्येवं वीरसेनस्य राज्ञो नीचाश्च धार्मिकाः।
पुराणश्रवणे सक्ता अनुरक्ताः स्वकर्मणि ॥ २६ ॥

असत्सङ्गादसत्फलञ्जातां नीचायाअसत्सङ्गात्पुनः सत्फलञ्जातं तदेतत्कथानकं सैव कामकला त्वाम्प्रतिवक्ष्यतीति भाविनीङ्कथामाह इदमेव भविष्यम्मे इति ॥१६-२२॥ एकेन सज्जनदर्शनोत्तरजातेन ॥ २३—२४ ॥ पुरीषु अयोध्यादिपुरीषु अंशेन तिष्ठति

प्रजाः सदाचारपरा विष्णुव्रतशिवव्रताः। एकदा वीरसेनस्य विचारः समजायत ॥

अधिष्ठानम्भगवतो विष्णोः कुत्र पुरीषु हि।
यत्र साक्षात्क्रियेताऽऽशु याऽऽमरैरपि केशव ! ॥ २८ ॥

ऋषयः प्रार्थिताः प्रोचुर्यथा तत्त्वम्महाधियः। वीरसेन! महाप्राज्ञ! शृणु विष्णुपरायण!

पुरीषु संस्थितो विष्णुरशैः काश्यां स्वरूपतः।
काशीस्वरूपम्विष्णोस्तु यत्र साक्षात्प्रकाश्यते ॥ ३० ॥

अन्यासु रमते देवो भक्त्यनुग्रहकातरः। काश्याम्वसन्ति ये लोका द्विभुजास्ते चतुर्भुजाः

भगवद्विग्रहाः शान्ताः सर्वे पापपराङ्मुखाः। अधिष्ठानम्महत्तत्र विष्णोः परपुरञ्जय!

ऋषिवाक्यम्विदर्भस्य राज्ञा लोकैश्च सात्त्विकैः।
श्रुत्वा काशीम्विष्णुरूपाममन्यत महायशाः ॥ ३३ ॥
काचिद्वेश्या विदर्भस्य श्रुत्वा माहात्म्यमुत्तमम्।
काशिकायाः कामकलाऽधिकृत्यात्मानमातुरा ॥ ३४ ॥
उवाच वचनश्चारु श्रुत्वा संसारविक्रियाम्।
अहो मया मानुषञ्च देहम्प्राप्य न तत्कृतम् ॥ ३५ ॥
येन मुच्ये महापापात् संसाराख्यात् दुरासदात्।
कथङ्काशीम्प्रयाम्यद्य कथन्द्रक्ष्यामि केशवम् ! ॥ ३६ ॥

उदरवहाङ्कथं स्नास्ये ह्यधमा पापजीवना। केशवस्थानमासाद्य करिष्ये गानमुत्तमम्॥

नृत्यादितालवंशादि दर्शयिष्ये शुभाः कलाः।
किम्मया पापरूपिण्या कृतम्वीभित्सितम्मुहुः ॥ ३८ ॥

काश्यान्तु स्वरूपतः सर्वांशेन काशीस्वरूपम्विष्णोऽस्त्विवति। चैतन्यस्य सर्वत्र समानत्वेन शिवशक्त्यात्मकचैतन्यरूपकाश्यात्मकत्वं चैतन्यात्मकविष्णोरस्त्येव अन्यासु पुरीषु रमते क्रीडार्थमेव गच्छति मुख्यो वासस्तु काश्यामेवाऽस्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ तदेवाऽऽह काश्याम्वसन्तीति। अधिष्ठानं निरन्तरो वासः ॥ ३२—३३ ॥ विदर्भस्य

यदङ्गं सम्प्रसार्याऽऽशु धनं सर्वत्र काङ्क्षितम् ।
धिक्तान्ये जगदुच्छिष्टां माम्भजन्ति नराधमाः ॥ ३९ ॥
माञ्च धिक्पापपुरुषान् भजाम्यविजितेन्द्रियान् ।
अहो केशव ! मायायाः प्रभावः परमाद्भुतः ॥ ४० ॥
नरके सुखबुद्धिर्माम्परिहर्त्तुं न शक्यते । अन्तर्मलादि सम्पूर्णन्त्वगस्थ्यादियुतम्बहिः ॥
शरीरङ्क्रमिकेशादि पूयदुर्गन्धिभाजनम् । अयमेव परो भोगो नरकस्याऽद्भुतः खलु
देहं संयोज्य देहेन भोगबुद्धिः क्रियेत यत् ।
अहो सत्सङ्गमाहात्म्यं पश्यताऽऽधिविनाशनम् ॥ ४३ ॥
तत्र गत्वा न पापानि करिष्यामि कथञ्चन ।
विषयान् सर्वतस्त्यक्त्वा शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः ॥ ४४ ॥
पापम्विषयसंसर्गाज्जायतेऽवश्यमेव हि ।
तांश्चेत्त्यजति विष्ण्वात्मा कुतः पापं कुतोऽसुखम् ॥ ४५ ॥
अपृष्ट्वैवजनं काशीं गमिष्ये केशवप्रियाम् । इत्युक्त्वा स्वयमेवाऽऽशु गमनाय कृतोद्यमा
प्रस्थानदिवसं ज्ञात्वा ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम् ।
धनम्विभज्य किञ्चित्तु गृहीत्वा नियमान्विता ॥ ४७ ॥
दासदासीद्वययुता प्रतस्थे केशवं स्मरन् ।
जय केशव ! देवेश ! जय काशीप्रियाच्युत ! ॥ ४८ ॥
काशीम्प्रापय सर्वेश ! देहि वासं जनार्दन ! ।
इति श्लोकं जपन्वेश्या विदर्भनगराच्छुभात् ॥ ४९ ॥
दिनैः कतिपयैः शीघ्रं काशीम्प्राप महाफला ।
पदे पदे पापमलस्तस्याः क्षीणो भवत्यलम् ॥ ५० ॥

विदर्भदेशसम्बन्धिनी वेश्यत्यर्थः ॥३४-३७॥ यदङ्गमिति लोकानाम्पुरत इतिशेषः ॥३९ केशवमायायाः परमात्ममायायाः ॥४०-५०॥ गतः सर्वः सवासन इति । अत्रत्यन्तत्त्वं

दृष्टायां काशिकायाञ्च गतः सर्व्वः सवासनः ।
आगत्य मणिकर्ण्यान्तु स्नात्वा दत्त्वा धनम्बहु ॥ ५१ ॥
वपनङ्कारयित्वा तु स्थिता शुद्धा पयोव्रता । भागीरथ्याः परिसरे स्थिता केशवतत्परा
जय केशव ! देवेश ! जय काशीप्रियाच्युत ! ।
काशीं रक्षस्व देवेश ! देहि श्रद्धां जनार्दन ! ॥ ५३ ॥
मन्त्रेणाऽनेन देवेशं प्रार्थयेत्प्रत्यहं तु सा । स्थूलवस्त्रद्वया दीना सर्वभोगविवर्जिता ॥
तरुणी रमणीयाङ्गी रमते केशवे सदा ।
दोषान्ददर्श भक्ष्याणां जीवहिंसादिसम्भवान् ॥ ५५ ॥
चङ्क्रमेष्वपि हिंसा स्यात्तस्मादेकत्र संस्थिता ।
गङ्गातीरे सुरमणे रमयन्ती स्वमात्मना ॥ ५६ ॥
कदाचिद्रोदिति पुनः कदाचिद्धसतिस्फुटम् ।
कदाचिन्नृत्यति च सा कदाचिद्धा ! सखेति च ॥ ५७ ॥
क्वचिज्जनम्प्रणमति क्वचिद्दूरे स्थिता जनात् ।
विचारयति चाऽऽत्मानं देवम्पतितपावनम् ॥ ५८ ॥

कामकलोवाच

अहो महालिङ्गमयं जनार्दनं पश्यामि काश्यां परमात्मरूपम् ।
आनाहतो योजनपञ्चकात्मकं विस्तारि गव्यूतियुगन्तु सार्धम् ॥ ५९ ॥
स्थूलम्पतिम्प्राप्य रमे ह्यहर्निशं सुपौरुषम्वीर्यसुधैर्यमुक्तिदम् ।
वेश्याऽपि यं सेवमाना सती स्यात्तमात्मतन्त्रम्प्रभजे काशिनाथम् ॥६०॥
शुभाननः शान्तवपुः सनातनो रतिप्रियो धन्यकरः सुपावनः ।
कुरूपदुर्भाग्यदरिद्रदारणः सदा दयावानपराधखण्डनः ॥ ६१ ॥

वाराणस्यां स्वल्पमपि प्रायश्चित्तं महाघहृदिति श्लोकव्याख्याने स्पष्टीकृतम् ।५१-५३।
आनाहतो योजनपञ्चकात्मकमिति । अत्र योजनशब्दो लक्षणया तदवयवक्रोशपरः
तथा च पञ्चक्रोशात्मकं आनाहतो दीर्घमित्यर्थः । विस्तारीति । गव्यूतिशब्दः क्रोश-

अहो कदर्येण महाघमूर्तिना देहेन देवः खलु काशिकायाम् ।
भर्त्ता मया सर्वपतिर्जनार्दनः प्राप्तः स्ववश्यो विषयात्मनां न ॥ ६२ ॥
अहोऽनुलोकः परिपूर्णशोकः कथं न काश्यां रमते न पातकम् ।
स्वानन्दपूर्णम्परिपूर्णकामं स्वात्मानन्दन्देवदेवैरुपास्यम् ॥ ६३ ॥
पश्यामि सर्वत्र जनार्दनम्पतिं काशीश्वरन्देववरैरुपास्यम् ।
चित्तं सदानन्दमये निमग्नं बहिर्न यात्यन्यतमो न रोचते ॥ ६४ ॥

शिवउवाच

इति निश्चित्य गङ्गायास्तीरे तीरे विलासिनी ।
विलसद्भ्रमणेऽनङ्गा चिदानन्दस्वरूपिणी ॥ ६५ ॥
पञ्चक्रोशात्मकं लिङ्गमेकमेवाऽनुपश्यति । विचचार महासत्त्वा जितेन्द्रियमनोगुणा
काचित्तपस्विनी काश्यां सुरसा ब्राह्मणी कृशा ।
पप्रच्छ वेश्यां सुभगां कौतूहलसमन्विता ॥ ६७ ॥

सुरसोवाच

कात्वम्वरोरु ! किन्नाम तव देशः क एष वा ।
जात्या काऽसि स्थिता काश्यां निर्वेदरससंयुता ॥ ६८ ॥

कामकलोवाच

अहम्वेश्या कामकला विदर्भनगरे स्थिता ।
खिन्ना निर्वेदमासाद्य काश्यां तिष्ठामि दीनवत् ॥ ६९ ॥

सुरसोवाच

तव निर्वेदमूलं किमाश्चर्यम्भाति मेऽनघे । वयो रूपं तथा शीलं यूनामेवं सुदुर्लभम् ॥

युगवाचकस्त्वस्य युगश्चतुः क्रोशात्मकं गव्यूतेरर्धमेकः क्रोशस्तेन सहितन्तथा च विस्तारतोऽपि पञ्चक्रोशात्मकमित्यर्थः । अतएव सर्वतः पञ्चक्रोशत्वप्रतिपादकपूर्वोक्तवचनेन न विरोधः ॥ ५९—६२ ॥ पातकं न कुर्वन् कथन्न रमते इत्यन्वयः ॥६३॥

कामकलोवाच

वीरसेनो महाराजो विदर्भनगरे पुरा ।
वर्त्तते धार्मिको विष्णुभक्तः सक्तो न कुत्रचित् ॥ ७१ ॥
तस्यैकदा विचारोऽभूदृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
कुत्र श्रीभगवान् विष्णुर्लभ्यते शीघ्रमेव हि ॥ ७२ ॥
निरूपितन्तु ऋषिभिः काश्यां केशवमूर्तिधृक् ।
वर्त्तते भगवान्विष्णुः परमात्मा सनातनः ॥ ७३ ॥
अतीव सुलभः साक्षात्कर्त्तुं शक्यो जितेन्द्रियैः ।
महोपपातकानाञ्च नाशनः स्मृतिमात्रतः ॥ ७४ ॥
इति श्रुत्वा मदात्मानं धिक्कृत्य सुविचार्य च ।
अत्राऽऽगत्याऽहमव्यग्रा रमे तेन दयावता ॥ ७५ ॥
विचार्यैवं मनसि च श्रुत्वा वाक्यं द्विजन्मनाम् ।
आगता केशवं द्रष्टुं पतिम्पावनपावनम् ॥ ७६ ॥

सुरसोवाच

लक्ष्मीपतिस्तवपतिः कथम्भवति सत्तमे ! । वेश्या जगत्पतिः पापा महाकुत्सितकर्मकृत्

कामकलोवाच

वेश्याऽवश्यम्पापरूपा सदाऽहं लक्ष्मीकान्तः पापसङ्घौघहारी ।
त्यक्त्वा पापं दीनबन्धुः सुसेव्यो ये तद्भक्तास्तानवश्यम्भजेत्सः ॥ ७८ ॥

सुरसोवाच

कथमाहारयात्रा ते भवित्री पापवर्जिता ।
जीवाः सर्वत्र वर्त्तन्ते त्वं न यज्ञाधिकारिणी ॥ ७९ ॥

स्वानन्दपूर्णमित्युत्तरान्वयः ॥ ६४—७४ ॥ त्वं न यज्ञाधिकारिणीति । यदि पञ्च-महायज्ञाधिकारःस्यात्तव तदा यद्यपि सर्वत्र जीवा वर्तन्ते तथापि तेषां हिंसाजन्य-

कामकलोवाच

पयः पानङ्कदाचिद्धि करिष्यामि सुलोचने ! ।
पञ्चयज्ञाधिकारो हि येपान्ते त्वन्नभक्षकाः ॥ ८० ॥
स्थास्याम्यत्रैव जीवानां काशिकावासिनां यथा ।
पीडा न जायते मत्तः स्वचंक्रमणरंहसा ॥ ८१ ॥

सुरसोवाच

किञ्चित्पश्यसि वामोरु ! क्षेत्रेऽस्मिन्कौतुकम्परम् ।
तत्समाचक्ष्व सुभगे ! महानन्दवने शुभे ॥ ८२ ॥

कामकलोवाच

पञ्चक्रोशात्मकं रूपं केशवस्य महात्मनः ।
किञ्चिन्न्यूनं प्रपश्यामि सुरसे ! साधुवादिनि ! ॥ ८३ ॥

सुरसोवाच

पञ्चक्रोशात्मकस्याऽस्य केशवस्य परात्मनः ।
न्यूनतायाः प्रसङ्गः कः का दृष्टिस्तव सुव्रते ! ॥ ८४ ॥

पातकस्य पञ्चसूनात्मकस्य पञ्चमहायज्ञेन नाशसम्भवादाहारयात्रा सम्भवेन्न तु तदस्ति तथा च तव कथमाहारयात्रेत्यर्थः ॥ ७९ ॥ किञ्चिन्न्यूनमिति । उपास्योपासकभेदस्य वर्तमानत्वान्न्यूनम्परिछिन्नं पश्यामि न पूर्णमित्यर्थः ॥ ८३ ॥ न्यूनताया इति । "एकमेवाऽद्वितीयम्ब्रह्म नेह नानाऽस्ति" इति द्वितीयस्य द्वैतरूपपरिच्छेदस्याऽभावान्न्यूनतायाः किम्प्रयोजनमस्तीतिभावः । ननु नेदं मम दृष्टावागच्छतीति चेत्तव का दृष्टिरस्ति कया दृष्ट्या त्वम्पश्यसीत्यर्थः । यदि त्वं स्वस्माद्भेदेन पश्यसि परमात्मानन्तदा कदाऽपि न्यूनतानाशो नैव स्याद्यद्यभेदेन पश्यसि तदा पूर्णमेव स्वरूपमनुभवारूढम्भवेदितिभावः ॥ ८४ ॥ यावन्न ममेति । हे सुरसे ! सखि ! त्वया सत्यमुक्तं परन्तु यावदयन्देहोऽस्ति भाति तावत्पूर्णता न भाति यदाऽयं

कामकलोवाच

यावन्न मम देहोऽयं तन्मयो भाति सात्मकः ।
तावत्पश्यामि चाऽऽत्मानं न्यूनन्देहोपचारतः ॥ ८५ ॥
प्रियादात्मानमन्यन्तु यः पश्यति पृथङ्मतिः ।
तस्य प्रिये रतिः काऽऽस्ते क सुखं क महद्यशः ॥ ८६ ॥

कथम्प्रियस्य विरहं सहन्ते सुविवेकिनः । गतान्यनेकजन्मानि पत्या विरहितानि मे

इदानीङ्कृपया सख्या दृष्टाऽस्मि अपराधिनी ।
स्वगृहं प्रापिता तुच्छा परव्यसनलालसा ॥ ८८ ॥
व्यभिचारपरा दीना प्रियस्नेहविवर्जिता ।
यैरहं वञ्चिता सुभ्रू ! नीचैरिन्द्रियविभ्रमैः ॥ ८९ ॥
तानहम्वञ्चयिष्यामि केशवेनाऽद्य सत्कृता ।
नाहम्बिभेमि निरयान्नाऽसुखादुगर्भवासतः ॥ ९० ॥

न देहगेहदुःखाच्च यथा प्रियवियोगतः । बिभेमि मानुषम्प्राप्य देहं सर्वार्थसाधकम्

न भासेत तदा पूर्णता स्यादित्यर्थः । यद्वाऽयन्देहस्तन्मयः परमात्ममयो हृदयाकाशे परमात्मसाक्षात्कारेण परमात्ममयो न भाति यावत्तावत्परोक्षज्ञानेन न्यूनमेव पश्यामीत्यर्थः । वस्तुतो न्यूनताया अभावेऽपि देहोपचारतो देहोपाधिना सा सम्भवत्येवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥ स्वविरहञ्ज्ञापयति प्रियादात्मानमिति । मम प्रियः पदार्थो देहजीवपुत्रादिरूपो आत्मा तु तस्मात्प्रियपदार्थादन्य इति यः पृथङ्मतिर्भेदबुद्धिर्जानातीत्यर्थः ॥ ८६ ॥ मे ममाऽपि लोकवदेव पतिवियोगेन जन्मानि गतानीत्यर्थः। सख्या काश्या भगवत्याऽनेकजन्ममध्ये इदानीमस्मिञ्जन्मनि कृपया दृष्टाऽस्मि स्वगृहमपि प्रापिताऽस्मि ततो बहुभाग्यवत्यहमस्मि सा सखी मम प्रियमेलनङ्करिष्यतीतिभावः ॥ ८८ ॥ केशवेन परात्मना सत्कृता स्वाभेदेनाऽङ्गीकृता ॥८९—९०॥ प्राप्य तस्माद्बिभेमीत्यर्थः ॥ ९१ ॥ गृहङ्काशीरूपम् ॥ ९२ ॥ मद्धवं मत्पतिं माधवं

अहो प्रियस्य माहात्म्यं सुरसे ! पश्य सुन्दरम् ।
अपराधसहस्राणि क्षान्त्वा मामानयद्गृहम् ॥ ९२ ॥
अहो लोकः पापशोकः पूर्णः सुकृतवर्जितः । माधवं मद्धवम्वीक्ष्य तथापि न विचारयेत्
अहो पतितमप्याशु त्रस्तं शरणमागतम् ।
त्यक्तुं न शक्तो भगवान् केशवः काशिवल्लभः ॥ ९४ ॥
तम्प्रियम्परमानन्दं विहायाऽप्रियदर्शनम् ।
भजन्ति ये दुरात्मानस्तेषाम्प्रियकथा कुतः ॥ ९५ ॥

सूतउवाच

इत्युक्त्वा सा तु सुरसा रुरोद गतचेतना । मूर्च्छिता नाथनाथेति केशवं साऽवदन्मुहुः
विमृज्य नेत्रे सोवाच काऽसि काऽसि महाभुज ! ।
मामालिङ्गापविद्धांङ्गीं विरहेण तवाऽच्युत ! ॥ ९७ ॥

शिवउवाच

अनया परया रीत्या नित्यन्तु रममाणया ।
नीतः कालः कामकलया गङ्गातीरनिवासया ॥ ९८ ॥
पुनस्ताम्प्राह सुरसा देवस्ते मिलितो न वा ।
अद्याऽपि त्वां कामकले ! नाऽऽलिङ्गति हि सत्पतिः ॥ ९९ ॥

कामकलोवाच

प्रियेण सुन्दरेणाऽहं मिलिता न कथञ्चन ।
किञ्चिज्जानासि सुरसे ! कदा सङ्गो भविष्यति ॥ १०० ॥

वीक्ष्य शाश्वतः ॥ ९३—९४ ॥ आलिङ्गालिङ्ग्य ॥९७॥ इत्थं सुरसा तस्या भक्तिम्विज्ञाय पुनः कालान्तरे तस्या अनुग्रहार्थमागत्य ताम्प्रत्याहेत्याह पुनस्तामिति॥९९ प्रियेण सुन्दरेणेति । हे सुरसे सखि! नाऽद्याऽपि प्रियेण मिलिताऽस्मि तद्विरहश्च मया सोढुं न शक्यते ततो यदि किञ्चिज्जानासि ज्योतिषं शास्त्रं तदा कदा सङ्गो भविष्यतीति

सुरसोवाच

अहङ्कारनिवृत्त्या तु केशवो नहि दूरतः । अहङ्कारयुतानाञ्च मध्ये पर्वतराशयः॥१०१

जानामि त्वाङ्कामकले ! सदा मधुरभाषिणीम् ।
मां ज्ञास्यसि यथारूपान्तदा प्रियमवाप्स्यसि ॥ १०२ ॥

कामकलोवाच

का त्वम्भद्रे कथञ्चाऽहं ज्ञास्ये त्वाङ्करुणामयीम् ।
तवाऽऽज्ञया करिष्यामि तत्सर्वम्प्रियकाम्यया ॥ १०३ ॥

काश्युवाच

अधिष्ठात्री देवताऽहं क्षेत्रस्य करुणामयी ।
काशी निर्वाणचित्तान्त्वां दृष्ट्वा प्रष्टुं समागता ॥ १०४ ॥
श्वः प्राप्स्यसि त्वम्वरदं केशवं केशवप्रिये ! ।
मध्याह्ने मणिकर्ण्यान्तु विड्भाण्डं सुविसृज्य च ॥ १०५ ॥
इत्युक्त्वा तां स्वरूपं स्वं दर्शयामास काशिका ॥ १०६ ॥
श्यामा षोडशवार्षिकी सुकरुणा मूर्तिर्दधाना वरं
हस्ताभ्याममभयञ्च विश्वजननी विद्येति सा गीयते ।
या दृष्टा स्मरणङ्कृताऽपि सततं या कीर्त्तिता संस्तुता
या स्पृष्टा नृभिरात्मतत्त्वममलं दद्याद्ध्रुवङ्काशिका ॥ १०७ ॥

वदेत्यर्थः । तस्यामनुग्रहं कुर्वन्ती सुरसोवाच अहङ्कारेति । अहङ्कारो हि जीवोपाधिस्ततोऽहङ्कारस्य ब्रह्मणि लयेन निवृत्त्या जीवस्याऽपि ब्रह्मणि लयेन तदभेदे जाते तव सखा न दूरतोऽस्तीत्यर्थः ॥ १०१ ॥ परन्तु मां यदा यथारूपां यथावद्गुणवतीं ज्ञास्यसि तदा तव परमात्मरूपप्रियसङ्गो भविष्यति नान्यथेत्याह मां ज्ञास्यसीति ॥ १०२ ॥ विड्भाण्डं शरीरम्विसृज्य तादात्म्यं त्यक्त्वा ॥ १०३ – १०५ ॥ काशीध्यानमाह श्यामेति । वराभयलसत्करा दक्षिणहऽस्ते भयम्वामे वरः "वामदक्षिणयोः

शिवउवाच

एवम्मूर्त्तिन्दर्शयित्वा काशी चाऽन्तर्हिताऽभवत्।
सा तां दृष्ट्वा भगवतीं ननाम भुवि दण्डवत्॥ १०८॥
काशिके! दर्शयाऽऽत्मानं केशवम्प्राणवल्लभम्।
अतःपरम्पृथक्स्थातुं न शक्ष्यामि महेश्वरि!॥ १०९॥
द्वितीये दिवसेऽऽप्येवं मुहुर्वदति विह्वला।
मध्याह्ने मणिकर्ण्यां सा स्नात्वा केशवमब्रवीत्॥ ११०॥

जय केशव! सर्वेश काशीवासिसुखप्रद!। नय मामद्य भगवन्काशिवासिप्रियप्रिय!

शिवउवाच

एवमुक्त्वा ध्यानयुता पद्मासनवती च सा। विससर्ज्ज शुभन्देहं केशवेन समागता
स्वभर्त्रा मिलिता साध्वी दृष्टा लोकैश्च सा तदा॥ ११३॥

शिवउवाच

सत्सङ्गजम्फलङ्काशि वेश्याख्यानेन बोधितम्। विमृश्यैतदशेषेण गच्छ त्वन्निरुपद्रवा

सूतउवाच

मूर्त्तिमत्याः काशिकाया उपयोगः शिवाम्प्रति।
शिवेन कथितः सम्यक् साम्प्रतं श्रृणुत द्विजाः!॥ ११५॥
द्वेधा गतिः शास्त्रविचारकाणां कर्त्तेश्वरः पुरुषार्थोऽथवा स्यात्।
ईशात्प्रसन्नादविमुक्तवासः प्राप्यः परम्पौरुषमेतदेव॥ ११६॥

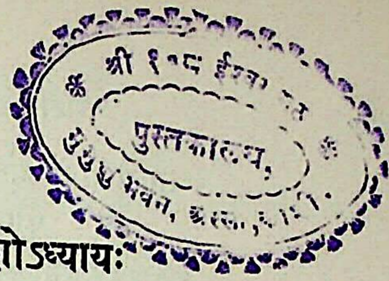
स्यातां द्विभुजे तु वराभये" इति तन्त्रराजोक्तेः, शिवरहस्यसप्तमांशेतु "कोटिसूर्य्यप्रतीकाशां विराड्रूपां सनातनीम्। सहस्रबाहु चरणान्ध्यायेत्काश्यधिदेवताम्" इत्युक्तम्।१०७
केशवेन समागतेति। परमार्थभावम्प्राप्तेत्यर्थः। एतावत्पर्यन्तं कथया साधुसमागमफलं काश्या एतादृशभक्तानुग्रहार्थं शरीरधारणञ्च कृतमिति दर्शितम्॥ ११२॥
द्वेधा गतिरिति। ईश्वरः कर्त्तेति केचित्पुरुषार्थः कर्मैव कर्त्तेति केचित् तत्र प्रथमपक्ष एव समञ्जस इत्याह ईशात्प्रसन्नादिति॥ ११६॥ कर्मैव कर्त्तेति ये वदन्ति तान्प्रति

यथाकथञ्चित्पुरुषेण पौरुषैः कृतैः समस्तैरधिकाशिवासे ।
यत्नः कृतो नश्यति नैव कुत्रचिज्जन्मान्तरे काशिकाम्प्राप्नुयाद्धि ॥११७॥
यत्राऽनृणः पितृदेवादिकांस्तु भजन्परां सिद्धिमवाप्नुयाद्वशी ।
यत्र प्रविष्टं पितृदेवमानुषा वदन्ति साक्षाच्छिवरूपिणं नरम् ॥ ११८ ॥
काश्यां देवः शङ्करः केशवश्च काश्यां देवी त्वन्नपूर्णा रमा च ।
काश्यां ढुण्ढिर्विघ्नहर्त्ता गणेशः काश्यां शास्ता कालराजो महेशः ॥ ११९ ॥
काश्यां गङ्गोदग्वहा विष्णुरूपा काश्यां ब्रह्मा वेदघोषैरुपेतः ।
काश्यां दुर्गा दुःखदारिद्र्यहन्त्री काश्यां सूर्यो व्याधिबाधानिहन्ता॥१२०
किमत्र नास्तीति परम्विमृग्यते यद् दुःखभारैर्युतमल्पसारैः ।
समागमोऽयं न शिवस्य लोके न विष्णुलोके न च सत्यलोके ॥ १२१ ॥
काश्यां यथैकत्र समागमो महाञ्जातो न कुत्राऽपि तथा भविष्यति ।
महत्समाजे खलु सज्जितव्यं कथा प्रवृत्ता पुरुषार्थबुद्ध्या ॥ १२२ ॥
शारीरमात्रे विजितेन्द्रियाणां दोषो न कश्चिद्भविता हि काश्याम् ।
विरुद्धकर्मप्रतिवारणेन सुखाय काशी भवतीह नित्यम् ॥ १२३ ॥
न गेहदेहादि तनूजजाया धनानि सर्वाण्यपि पावनानि ।
नरस्य कुर्वन्ति सुखङ्कदाचित्तस्मात्सुकाशीगमनात्सुखी स्यात् ॥ १२४ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये काशीमहिम्नि कामकलोपाख्यानं नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

वक्तव्यं भवद्भिरस्मिञ्जन्मनि कृतेऽपि पुरुषार्थे न काशी प्राप्यते जन्मान्तरे तु प्राप्यते ईश्वरानुग्रहात्त्वस्मिन्नेव जन्मनि प्राप्यते ततस्तन्मतमेव मुख्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह यथा कथञ्चिदिति । अधिकाशिवासे काशिवासविषये॥११७॥ समागमोऽयमिति देवतानामितिशेषः ॥१२१॥ महत्समाजे इति । यत्र पुरुषार्थबुद्ध्या सत्कथा प्रवृत्ता तस्मिन् साधुसमागमे इत्यर्थः ॥१२२॥ शरीरसम्बन्धि कर्ममात्रे।१२३-१२४।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥



अथैकोनविंशोऽध्यायः

वीरसेनोपाख्याने श्रद्धास्वरूपतत्फलवर्णनम्

ऋषयंऊचुः

वीरसेनो महाराजो विदर्भनगरस्य च ।
किं काशिकागुणान् श्रुत्वा चकार हरिवल्लभः ॥ १ ॥
पुनर्वेश्यावचो ब्रूहि न तृप्यन्ति महर्षयः । शृण्वाना मधुरं सूत ! महाश्चर्यकरम्महत् ॥२

सूतउवाच

वीरसेनः प्रसेनाय राज्यम्पुत्राय दत्तवान् । विष्णुभक्तः काशिकायामाजगाम स्त्रिया सह
वरणायास्तटे रम्ये केशवस्य सुसन्निधौ । स्थित्वाऽऽदिकेशवम्प्राज्ञ आराधयति भक्तितः
प्रातःस्नानम्पादतीर्थेऽथ कृत्वा मध्याह्ने वै मणिकर्ण्यान्निमज्य ।
दृष्ट्वा देवं विश्वनाथं ततस्तु देवीं देवं केशवम्माधवञ्च ॥ ५ ॥
विप्रान्देवानन्नदानैर्धनैश्च सन्तर्प्याऽथो पारणं सञ्चकार ।
नित्यं राजा वीरसेनोऽतिशूरो जित्वा शत्रूनिन्द्रियाद्यांस्थितोऽभूत् ॥६
कस्मिंश्चिद्दिवसे राजा वीरसेनो जितेन्द्रियः ।
वेश्याङ्कामकलां स्मृत्वा कारयामास कौतुकात् ॥ ७ ॥

इत्थं सत्सङ्गतिं तस्याः फलञ्चोपपाद्येदानीमिदं सर्वं श्रद्धासत्त्वे एव सफलं नान्यथेति वक्तुं श्रद्धास्वरूपं तत्फलञ्च कथयितुमध्याय आरभ्यते तत्र कामकला-कथाश्रवणानन्तरं वीरसेनकथां मुनयः पृच्छन्ति ऋषयऊचुः वीरसेन इति ॥ १ ॥ पुनर्वेश्येति । सा कामकला भगवद्भक्ता परमेश्वरसाक्षात्कारोत्तरं कं कं प्रति किं किमुक्तवती तदपि ब्रूहीत्यर्थः ॥ २—६ ॥ आकारयामासेतिच्छेदः ॥ ७ ॥

आगतां तां स पप्रच्छ किङ्करोष्यत्र संस्थिता ॥ ८ ॥

कामकलोवाच

भर्तृशुश्रूषणरता कदाचिच्छान्तमानसा ।

कदाचित्काशीमाहात्म्यपरिशीलनतत्परा ॥ ९ ॥

कदाचिच्छ्रवणासक्ता भर्तुर्गुणगणस्य हि । कदाचित्सत्सभामध्ये गोष्ठीश्रवणतत्परा ॥

एवङ्कालो मया नीतो नीयते च धनाधिप ! ।

न शक्नोमि पतिं त्यक्तुं बहुकालवियोजितम् ॥ ११ ॥

राजोवाच

कस्ते पतिः क्व चाऽऽस्ते स किं नामा कस्य सम्मतः ।

किं ददाति सुखम्वित्तं मिलिताऽसि कथन्तु तम् ॥ १२ ॥

कामकलोवाच

केशवो मे पतीराजन् ! सर्वत्राऽऽस्ते समस्तदृक् ।

तस्य नामान्यनन्तानि न चैकमपि वस्तुतः ॥ १३ ॥

वेदस्मृतिपुराणज्ञसम्मतो ह्यात्मदः प्रभुः । वित्तं तस्य जना नैव तेन दत्तमपि क्वचित्

गृह्णन्ति तत्पदे रक्ता मिलिताऽस्मि गुरोर्गिरा ॥ १५ ॥

भर्त्ता परमात्मा तस्य शुश्रूषणे ॥८—९॥ कस्ते पतिरित्येकः प्रश्नः, क्व चाऽऽस्ते इति द्वितीयः, किं नामेति तृतीयः, कस्य सम्मत इति चतुर्थः, किं ददाति सुखम्वित्तं चेति पञ्चमः, कथम्मिलिताऽसीति षष्ठः। एतेषां क्रमेणोत्तरङ्कथयति केशवो मे पतीराजन्निति। पती राजन्नित्यत्र ढ्रलोपेति दीर्घः, अनन्तानि आरोपितगुणयोगात् वस्तुत एकस्याऽपि गुणस्याऽभावान्नामाभावः ॥ १३ ॥ आत्मदो ह्यात्मानमेव ददाति वित्तन्तु सांसारिकं तेन दत्तमपि जनास्तद्भक्ता नैव गृह्णन्ति यतस्तत्पदे तस्य स्वरूपानन्दे रक्ता आसक्ताः ॥ १४ ॥ मिलितो न पुनर्यातीति । एकवारं मिलितः प्राप्तो यस्य तस्मिन्नेव प्रवर्त्तते तिष्ठति न ततोऽन्यत्र गच्छति इति कथम्भविष्य-

राजोवाच

कथमन्यस्य मिलति कथम्वा सेव्यते नरैः। मिलितो न पुनर्याति कथन्तस्मिन्प्रवर्तते

कामकलोवाच

गुरुभक्त्या स मिलति स्मरणात्सेव्यते बुधैः।
मिलितोऽपि न लभ्येत जीवैरहमिकापरैः॥ १६॥

राजोवाच

वर्णाश्रमेषु के तस्य वल्लभाः कस्य वल्लभः। तस्मिन्प्राप्ते मनोऽन्यत्र न गच्छेद्विषयान्तरे
कथङ्कामकले! ब्रूहि परिजानासि तत्त्वतः॥ १८॥

कामकलोवाच

वेदमार्गरतास्तस्य वल्लभस्य च वल्लभाः। विषये विषदृष्टीनां परमात्मा जनार्द्दनः॥१६
अन्तर्हितो न दृश्येत प्रत्यक्षोऽपि रविर्यथा। यत्र यत्र भवेत्प्रीतिर्जनस्य विषयात्मनः
तत्र तत्र मनो याति जनस्तन्मयतामियात्। अतएव चिदानन्दे परमात्मनि वल्लभे॥
स्नेहः सर्वात्मना कार्यो यथाऽन्यत्र धनादिषु। स्नेहाद्रमणमासाद्य सुखं स रमते वशी
विषयस्नेहिनां राजन्! न मिलत्यपि कर्हिचित्।
केशवस्नेहिनामात्मा साक्षाद्भवति माधवः॥ २३॥

तीत्यर्थः॥ १५॥ क्रमेणोत्तरमाह गुरुभक्त्येति। तथा च श्रुतिः "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इति स्मरणमेव तस्य सेवनं न तु गन्धादिभिस्तस्य नित्यतृप्तत्वात् अहमिकाऽहङ्कारस्तत्परैस्तन्निष्ठैर्मिलितोऽपि नित्यप्राप्तोऽपि न लभ्यते अहङ्काररहितेषु तु नित्यमेव तिष्ठतीत्यर्थः॥१६॥ तस्येश्वरस्य वल्लभाः प्रियाः ये गुरुत्वे नाश्रयणीयास्तेके वर्णेष्वाश्रमेषु च भवन्ति कस्य च पुरुषस्य स वल्लभोऽस्तीत्यर्थः। तस्मिन्गुरौ प्राप्ते इत्यर्थः॥ १७॥ वल्लभस्य ममेतिशेषः देवस्य मम वल्लभस्य ते वल्लभा अर्थात्तेषां भक्तानां स वल्लभः विषदृष्टीनां विषासक्तदृष्टीनाम्॥ १८—२३॥ मर्त्याशाधीर्मनुष्यबुद्धिरित्यर्थः।

राजोवाच

विषयासक्तचित्तानामपि प्रयततां हरौ । कथम्मिलति देवेशः केशवः क्लेशनाशनः ॥

कामकलोवाच

विषयासक्तचित्तानां श्रवणे यदि मानसम् ।
प्रवर्त्तते काशिकायाम्मिलत्यात्मा जनार्दनः ॥ २५ ॥

राजोवाच

सर्वे शृण्वन्ति सद्वृन्दे स्थित्वा काशिकथाम्मुहुः ।
कथन्न साक्षाद्भवति भगवान् मधुसूदनः ॥ २६ ॥

कामकलोवाच

गुरौ शास्त्रे च महति श्रद्धा पुण्यैरवाप्यते ।
अश्रद्धया हताशानां कथं साक्षाद्भवेद्धरिः ॥ २७ ॥
यस्य साक्षाद्भगवति गुरौ शिवतनौ परे ।
मर्त्याशाधीः श्रुतन्तस्य सर्वं नश्यति नाऽन्यथा ॥ २८ ॥

राजोवाच

किन्तत्पुण्यम्महाभागे! येन श्रद्धाऽतिनिर्मला । जायते वर्द्धते चाऽथ यया साक्षाद्भवेद्धरिः

कामकलोवाच

श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तं क्रियते कर्मयच्छुभम् । ब्रह्मार्पणधिया सर्वं कर्त्तव्यं विष्णुवल्लभ!

राजोवाच

श्रद्धापूर्णेति च कथं ज्ञातव्या सुखकारिणी ।
यामासाद्य नरो मङ्क्षु प्राप्नुयात्केशवम्पतिम् ॥ ३१ ॥

तदुक्तम् "गुरौ मनुष्यबुद्धिश्च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिता । प्रतिमासु शिलाबुद्धिङ्कुर्वाणो नरकम्व्रजेत्" इति ।२८। श्रद्धा माहात्म्यं तत्फलं तस्याः कारणन्तस्याः स्वरूपं जिज्ञासू राजाऽऽह किं तत्पुण्यमिति । भवेद्धरिरिति । "श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि" इतिश्रुतेः ।।२८

कामकलोवाच

पूर्णश्रद्धा महाराज ! तदा ज्ञेया मनीषिभिः। किं सत्यमनृतञ्चेति विचारः सम्प्रवर्त्तते
विचारेऽपि कृते राजन्न सत्यपरिवर्जनम्। सिद्धम्भवति पूर्णा स्यात्तदा श्रद्धा महाफला
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासम्पुरातनम्। यं श्रुत्वा श्रद्धया पूर्णो भवेत्सारविचारकः॥

विन्ध्याद्रिकोटरे राजन् भिल्लपल्ली सुविस्मृता।
तस्याम्वसति पापात्मा भिल्लो रौद्राक्षनामधृक्॥ ३५॥
मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य जनान्पल्लीपतिः स च।
हत्वा हत्वा धनं सर्वं गृहीत्या पल्लिमाविशत्॥ ३६॥

'प्रत्यहं जीवहननं प्रत्यहं कर्त्तृकर्त्तनम्। प्राणिनाम्प्रकरोत्येव रौद्राक्षः क्षीणसत्क्रियः॥

एकदा ब्राह्मणाः शान्ता मिलिता मार्गमध्यगाः।
रौद्राक्षेण धृताः सर्वे पृष्टाश्च शुभदर्शनाः॥ ३८॥
के यूयङ्कुत आयाता दीयतां सर्वमेव हि।
नोचेद्धत्त्वा ग्रहीष्यामि (मो?) धनञ्जीवं यशो बलम्॥ ३९॥

ब्राह्मणाऊचुः

गृहाण सर्वं हि धनं यत्किञ्चिद्वर्त्तते वसु। शरीरं त्यज भिल्लेश! येन काशी समाप्यते

रौद्राक्षउवाच

धनम्मूलम्मनुष्याणामायुः परमदुर्लभम्। तच्चेद्गतम्भोगहेतुर्जीवितेन किमीहितैः॥

विप्राऊचुः

धनेन किम्पापशोकादिदुःखमूलेन सर्वार्थविनाशकेन।
आहारमात्रादतिरिक्तसङ्ग्रही नश्यत्यवश्यम्परलोकशून्यः॥ ४२॥

कर्त्तव्यमिति निष्कामधर्मजम्पुण्यं श्रद्धाकारणमित्यर्थः॥३०-३२॥ किं सत्यमिति इदं सत्यम्वोताऽसत्यमिति विचारोत्तरमिदमेव सत्यमिति निश्चये जाते तत्सत्यपरिवर्जनं सत्यमार्जनं न भवति तत्रत्यसत्यबुद्धिर्न चलति यदा तदा श्रद्धा पूर्णा जातेत्यर्थः॥३५ कर्त्तृकर्त्तनमिति। कर्त्तृणां कियाकर्तॄणां हस्तपादादीनी कर्त्तनं छेदनमित्यर्थः॥३६-३७

भिल्लउवाच

पापङ्किमुच्यते विप्राः ! न जानामि तदुच्यताम् ।
पापेन क्रियमाणेन किं नश्यति ममाऽपि हि ॥ ४३ ॥

विप्राऊचुः

पापं दुःखस्य मूलं हि तु(त्व)कृतं सुखकृन्मतम् । पापिनो निरयं यान्ति स्वर्गं सुकृतिनस्तथा

भिल्लउवाच

मया पापङ्कृतङ्घोरं कथं सुखमवाप्यते । नहि दुःखम्विजानामि यावज्जीवम्मनागपि

विप्राऊचुः

सुखं यत्प्राप्यते भिल्ल ! पूर्वजन्मार्जितेन च । सुकृतेन महामूर्ख ! दुष्कृतं दुःखकृद्भवेत् ॥

भिल्लउवाच

दुष्कृतस्य स्वरूपं किं सुकृतस्याऽपि किम्पुनः । वदन्तु सुविचार्याऽऽशु न जाने किं महत्तरम्

येन काशीति काशीनामश्रवणमात्रेण भिल्लमतिरन्यथा जाता एतादृशः काश्यामहिमेति-भावः । तदुक्तं नारदीये 'बहुनाऽत्रकिमुक्तेन पराशक्तिगुणान्प्रति । नामाऽपि शृण्वतां काश्याश्चतुवर्गो न दूरतः' पाद्मे "काशीति वर्णद्वितयं शृण्वंस्त्यजति पुद्गलम् । यत्र क्वाऽपि भवेत्तस्य कैलासे वसतिः स्फुटा मायाबीजयुतं काशीत्येवं हृद्यवधारितम् । अबीजानि भवन्त्येव कर्मबीजानि तस्य वै" । स्कान्दे "काशि काशीति रसना यदि संस्कृता । यस्य कस्यापि भूयाच्चेत्सरसज्ञो न चेतरः" ॥ देवीपुराणे "पराशक्तिरियं भद्रा मुक्त्यर्थं क्षेत्रसंस्थिता । भुवनेशी चान्नपूर्णा तथा काशीति सम्मता ॥ पुरीषु सप्तस्वपि च मूर्त्तिरूपेण संस्थिता । रामचन्द्रेण कृष्णेन शिवेन ब्रह्मणा तथा ॥ सेविता पूजिता नित्यं तथाऽन्यैर्मोक्षकाङ्क्षिभिः । ददाति मोक्षं जीवानां मोक्षदात्री पराऽम्बिका ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तामेवाऽऽराधयेन्नरः । पराशक्तिम्विहायाऽत्र नान्यद्गत्यन्तरन्नृणाम्" इति ॥ ४०—४६ ॥ आत्मदृष्टान्तादिति । यथा तव पीडादिकरणे दुःखम्भवति तथाऽन्यस्याऽपि भवतीति दुःखकरं पीडादिकं दुष्कृतमित्यर्थः ।

विप्राऊचुः

परपीडाकरम्भिल्ल! परद्रव्यादिहारकम्। सन्निन्दामात्मदृष्टान्ताद् दुःखदं दुष्कृतम्मतम्
सुकृतं सर्वसुखकृत्परद्रोहविवर्जितम्। संस्कारैः संस्कृतस्याऽत्र शुभे चित्तम्प्रवर्त्तते ॥४६

भिल्लउवाच

संस्काराः कति सन्तीह बाह्याभ्यन्तरशोधकाः। शुद्धस्य लक्षणङ्किन्तद्ये न संस्कृत उच्यते

विप्राऊचुः

संस्कारा दश कथ्यन्ते देहिनः शुद्धिहेतवः।
आदौ सद्भिः सङ्गतिर्हि ततो निस्तारवुद्धिता ॥ ५१ ॥

ततः सच्छास्त्रपरता विचारस्तदनन्तरम्। ततश्चानुभवास्वादस्ततो विषयमोचनम् ॥
आहारशुद्धिश्च पुनस्ततः प्रीतिर्जनार्दने। ततः सर्वं विष्णुमयं सर्वदाऽऽनन्द एव च॥

भिल्लउवाच

सत्सङ्गोऽपि न कस्यापि दृश्यते सन्मनोगतिः।
तत्कथं श्रवणेनाऽपि सद्वुद्धिः खलु जायते ॥ ५४ ॥

विप्राऊचुः

यावत्पापैस्तु मलिनं हृदयन्तावदेव हि।
न शास्त्रे सत्यवुद्धिःस्यात्सद्वुद्धिः सद्गुरौ तथा ॥ ५५ ॥

अनेकजन्मजनितः पुण्यराशिफलम्महत्। सत्सङ्गशास्त्रश्रवणादेवम्प्रेमादि जायते ॥
स्नेहो यत्र प्रभवति विषये वा जनार्दने। तदर्थङ्कुरुते सर्वं शुभम्वा यदिवाऽशुभम् ॥

पीडाकरं द्रव्यहारकङ्कर्मेत्यर्थः ॥ ४८ ॥ संस्कारैः पुण्यसंस्कारैः ॥ ४६ ॥ निस्तारवुद्धि मोक्षेच्छा ॥ ५१ ॥ सच्छास्त्रं वेदान्तास्तेन श्रवणं सङ्गृहीतं विचारो मननं अनुभवास्वादो निदिध्यासनम्विषयमोचनम्वैराग्यन्तीव्रम् ॥ ५२ ॥ प्रीतिः "सा परानुरक्तिरीश्वरे" इति शाण्डिल्यसूत्रप्रतिपाद्या सर्वम्विष्णुमयमित्यनेन समाधिरुक्तः सर्वदानन्द एव चेत्यनेन तन्निष्ठतोक्ता ॥५३ ५४॥ असाध्योऽपिहीति। असाध्योऽपि

विषये स्नेहबद्धानामशुभान्येव सादरम् । भवन्ति केशवस्नेहाच्छुभान्येव वनाधिप!॥

भिल्लउवाच

असाध्योऽपि हि साध्यः स्यात्कथश्चित्तद्वदन्तु नः ।
महापातकयुक्तस्य ममाऽपि खलु निष्कृतिः ॥ ५९ ॥
जायते चरणोपान्ते न्यपतत्त्रायतां शुभम् ।
सत्सङ्गवासिनो विप्रा न जानन्ति शुभाशुभम् ॥ ६० ॥

ऋषयऊचुः

असाध्योऽपि भवेत्साध्यो महारसनिषेवणात् ।
पथ्यपूताशनाच्चैव नान्यथा जन्मकोटिभिः ॥ ६१ ॥

भिल्लउवाच

को रसः किञ्च पथ्यं स्यात्सर्वस्य जगतः कथम् ।
एक एव महाव्याधिः सहस्रपरिनाशनः ॥ ६२ ॥

ऋषयऊचुः

रसो महान्विष्णुकथा तदुक्तं पथ्यमुच्यते । उपदेष्टा सुहृद्वैद्यो रोगः संसार एव च॥

भिल्लउवाच

सर्वम्मिलति चैकत्र कुत्र ब्रह्मर्षयः ! सदा । सर्वेषां रोगिणां रोगनाशनाय महौषधम्

रोगो यथा साध्यः स्यात्तथा वदन्त्वित्यर्थः निष्कृतिर्जायते इत्यन्वयः ॥ ५५—५९ ॥ इति भिल्लो मुनीन्प्रत्युक्त्वा चरणोपान्ते चरणोपरि न्यपतत् नमस्कारं कृतवान् किञ्च त्रायतामिति शुभम्वाक्यञ्चाऽवोचदितिशेषः । यतो यूयं सत्सङ्गवासिनो मम शुभाशुभं न जानन्ति मनसि नानयन्ति तत इत्यर्थः । इति राजानम्प्रति कामकलावाक्यमेतत् ॥ ६० ॥ महारसः पारदादिः तन्निषेवणादसाध्योऽपि रोगः क्षयादिः साध्यो भवेदित्यर्थः ॥ ६१ ॥ सहस्राणामनन्तानाम्प्राणिनां नाशनो महाव्याधिः संसाररूपः कथन्नष्टः स्यादितिशेषः । अत्र को रसःपथ्यञ्च किं स्यात् ॥६२॥

ऋषयऊचुः

काश्याम्मिलन्ति सर्वे हि विनाऽऽयासेन धर्मतः। तत्र पापकृतो रोगादन्यत्र मरणम्भवेत्
मृता अपि विमुच्यन्ते यातनान्ते सुसंस्कृताः ॥ ६६ ॥

भिल्लउवाच

नयन्तु माङ्काशिकां रोगहन्त्रीं पापात्मानन्देवविप्रद्रुहञ्च ।
अतः परङ्कुरवस्तारयन्तु मामात्मतन्त्रं शरणागतं हि ॥ ६७ ॥

ऋषयऊचुः

त्वं भिल्लराजः सहसा कथं परं वैराग्यमालम्ब्य विहातुमिच्छसि ।
सर्वं जगज्जालमिदं शनैः शनैस्त्यजस्व सद्भिः खलु सङ्गतश्चिरम् ॥ ६८ ॥

भिल्लउवाच

पूर्वजन्मसुकृतैर्भवद्विधाः सङ्गता मम महाघनाशनाः ।
तान्विहाय यदि चात्र पापकृत्सङ्गतः पुनरपीह सा मतिः ॥ ६९ ॥

ऋषयऊचुः

आगच्छ राज्यम्पुत्राय दत्वा काशीम्भवापहाम् ।
श्रुत्वा दृढतरङ्कृत्वा न यथा पूर्वसंस्कृतिः ॥ ७० ॥

कामकलोवाच

वीरसेन ! महाराज ! श्रुत्वा भिल्लो दृढव्रतः ।
श्रद्धाबुद्धियुतो धीरः समायात्कैशवीम्पुरीम् ॥ ७१ ॥

तदुक्तं कथोक्तं, सुहृत्साधुर्गुरुः ॥ ६३ ॥ अन्यत्र काशीतोऽन्यदेशे ॥ ६४ —६५ ॥ शनैः शनैस्त्यजस्व न श्मशानवैराग्यमात्रेण तच्च चिरं साधुसङ्गतस्त्यजस्व न तु शीघ्रम् ॥ ६६—६८ ॥ तान्भवद्विधान्विहाय तेषां समागमेऽपि यदि पापकृन्मर्त्यःस्यात्तदा तस्य सङ्गतः सत्सङ्गादपि पुनः सा मतिः पापकर्त्री मतिः स्यादेवाऽतो मम भवन्त एव साधवो नान्ये इति भावः। यथा पूर्वसंस्कारोद्भवो न भवेत् तथा दृढतरञ्चित्तं

प्रवेशमात्रादनघो महापापयुतोऽपि सः। काश्यामागत्य सततं कथाश्रवणतत्परः॥
श्रद्धाम्बुद्धिं पराम्प्राप्य महाघौघविनाशिनीम्।
महर्षयोऽतिनियताः कृपया पूर्णमानसाः॥ ७३॥
जितेन्द्रियम्महाधीरं सश्रद्धं दृढनिश्चयम्। आहूयोपदिशन्त्यज्ञं कृपया गुरुसेवकम्॥

राजोवाच

काश्यामागत्य मुनिभिरुपदिष्टङ्क्षिमुच्यताम्।
न तृप्तिमधिगच्छामि तव वाक्यैर्महद्गुणैः॥ ७५॥

कामकलोवाच

ज्येष्ठेश्वरसमीपे तु ऋषयः सन्निकेतनाः।
वदन्त्यहर्निशम्भक्त्या शिवकाशीहरेः कथाः॥ ७६॥
शृणोति सततम्भिल्लः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।
श्रद्धया गुरुदेवे हि श्रुतं सिध्यति नान्यथा॥ ७७॥

ऋषयऊचुः

अत्रैव गाथा गायन्ति सिद्धा ब्रह्मर्षयोऽमलाः।
तथा रामेण कृष्णेन कृष्णद्वैपायनेन च॥ ७८॥
शिवभक्तः काशिवासी ह्यर्जुनेन समोऽपि हि।
कृष्ण एव विजानाति शिवतत्त्वं सनातनम्॥ ७९॥
येन स्वनेत्रपद्मेन पूजितोऽम्बिकया सह। विश्वेशो विविधैर्भक्तैर्मार्गैर्बाह्यान्तरैरपि॥
सम्पूजयति देवेशं शङ्करं शङ्करार्थदम्। शङ्करोऽपि सदानन्दो देवदेवं जनार्दनम्॥८१
निरन्तरम्भजत्येव साम्बः साम्बसुतन्तु तम्। यन्नामधेयम्वचसा मनसा रूपमुत्तमम्

कृत्वेत्यर्थः॥ ७०॥ कृष्णद्वैपायनेन च प्रोक्ता गाथा इत्यन्वयः॥ ७८॥ कास्ताः कथाः प्रचलितास्तदाह शिवभक्त इति। काशीवासी शिवभक्तोऽर्जुनेन सम एव ज्ञेय इत्यर्थः॥ ७९॥ विश्वेशो विष्णुः बाह्यान्तरैस्तान्त्रिकवैदिकैः॥ ८०—८१॥

शिरसा पादतीर्थन्तु गृहीत्वा काशिसंश्रयः ।
यस्य स्वरूपं सर्वात्मा काश्यामुपदिशत्यलम् ॥ ८३ ॥
तारकम्ब्रह्म येनास्य लोकस्य न पुनर्भवः । हरिभक्तः शिवः साक्षाद्धरिः शिवपरायणः
विचारतो न भेदोऽस्ति भक्त्या भेदः प्रकल्पितः ।
भक्तिरानीय देवं स्वं समर्पयति सर्वगम् ॥ ८५ ॥
महाकृपासमुद्रं यत्स्वरूपन्तन्मयम्विदुः । यज्ञदानतपोयोगतीर्थविद्याश्रमादिभिः ॥८६
साध्यते भक्तिरचला देवे हरिहरेऽनिशम् ।
ते धन्याः कृतपुण्यास्ते भक्तिर्येषां महाफला ॥ ८७ ॥
उज्जृम्भते सुमहती पुण्यभारैः सुखप्रदैः । नारायणपरः काश्यां महादेवपरोऽथवा ॥
भूत्वा सदाचारपरस्तिष्ठेत्काश्यां न चान्यथा ।
वेदकर्त्ता वेदरूपो वेदमार्गप्रवर्त्तकः ॥ ८६ ॥
वेदमार्गरतं देवो ह्यनुगृह्णाति तत्परः । अतो धर्मपरैर्भाव्यमीश्वरैर्धर्मरक्षकैः ॥ ६० ॥
पूर्णाः पूर्णतरा भवन्ति यदनुध्यानाज्जपान्नामतः
सोऽपि ब्रह्मरसायनैकफलदं कर्माचरंस्तुष्यति ।
काशीनाथपरम्परात्मनयनं कर्मापहं कामिना-
मन्तःक्षालनकृत्कृतान्तभयहृत्सत्कर्म काश्याञ्चरेत् ॥ ६१ ॥
स्वयमेव भवो भव्यैः पूजयेच्छाश्वतं शिवम् । अतएव जनैः काश्यां पूजनीयो भवः सदा
यात्रापूजानामसङ्कीर्त्तनादि स्नानन्तीर्थेष्वेव तत्तद्दिनेषु ।
सत्सङ्गोऽन्यैर्नैव सम्भाषणादिकर्मा देवं देवदेवो दिदेश ॥ ६३ ॥

साम्बसुतन्तुतमिति । साम्बः सुतो यस्य तं कृष्णमित्यर्थः ॥८२॥ भक्त्या उपासनया भेदः कल्पितः ॥८३-८५॥ तन्मयं ब्रह्ममयं विदुर्मुनयः ॥ ८६ ॥ सोऽपि शिवोऽपि सत्कर्माचरंस्तुष्यति ततः सत्कर्माचरेत् कीदृशं सत्कर्म काशीनाथः परो यस्य तत्प्रीत्यर्थमित्यर्थः । परमात्मनयनं तत्प्रापकमित्यर्थः ॥ ६१ ॥ स्वयमेवेति । भवः शिवो भव्यैर्मङ्गलैः साधनैः स्वयमेव स्वात्मानम्पूजयेत्पूजयति अतएवेत्यन्वयः ॥६२॥

सत्ये स्वयं श्रद्दधतेऽहि लोकास्त्रेतायुगे शास्त्रगुरूपदेशात् ।
न द्वापरे श्रद्दधते हि केचित्कलौ किमत्राऽस्ति हरौ हरे गतिः ॥ ९४ ॥
स्नातव्यं जाह्नवीतोये द्रष्टव्यः पार्वतीपतिः ।
स्मर्त्तव्यः कमलाकान्तो वस्तव्यं काशिकास्थले ॥ ९५ ॥

कामकलोवाच

एवङ्कथावसाने स उत्थाय कृतनिश्चयः । गत एकान्तसदनं पश्चात्तापसमन्वितः ॥९६
शिवस्मरणसम्पूर्णहृदयः क्षुत्तृडर्दितः । कदाचित्किञ्चिदश्नाति कदाचिन्न पिबत्यपि

एवन्नयतिकालं स भिल्लः सज्जनसिद्धिभाक् ।
शृण्वन्हरिकथां शुद्धां पापाद्गीम्पापविच्युतः ॥ ९८ ॥
श्रद्धया काशिकाम्प्राप्य मोक्षसिद्धिमवाप सः ।
श्रद्धा धर्मश्च मोक्षश्च श्रद्धा पापप्रणाशिनी ॥ ९९ ॥
श्रद्धया सुखिनो लोकाः श्रद्धया शान्तिराप्यते ।
एवं त्वमपि सच्छ्रद्धः परां सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १०० ॥
इति श्रुत्वा वीरसेनो राजा श्रद्धायुतो महान् ।
भजन्हरिं काशिकायां सिद्धिम्प्राप नराधिपः ॥ १०१ ॥

सूतउवाच

इति कामकलाख्यानं विशदीकृत्य वर्णितम् ।
विचारः पूर्णश्रवणात्कार्यकारी न चान्यथा ॥ १०२ ॥
श्रवणेन परा सिद्धिः श्रवणेन परं सुखम् । श्रवणेन परं ज्ञानं धर्मादिः श्रवणेन च ॥
अन्यत्सर्वम्परित्यज्य श्रवणम्परिसाधयेत् । श्रवणे सर्वमस्तीह श्रवणं नान्यतः क्वचित्

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये कामकलोपाख्यानन्तर्गत रौद्राक्ष भिल्लकथा नाम ऊनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

हरौ हरे वा रतिः किमत्राऽस्ति नैवाऽस्तीत्यर्थः ॥ ९४ – १०१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां ऊनविंशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ विंशोऽध्यायः

ऋषिसूतसम्वादे श्रवणविधिकथनम्

ऋषयऊचुः

श्रवणस्य विधिम्ब्रूहि श्रुतन्धर्मादिसिद्धिदम् ।
यथा भवति लोकानां वक्तृश्रोत्तृगुणान्वद ॥ १ ॥

सूतउवाच

वक्तरि प्रथमम्विश्य कृष्णद्वैपायनो हरिः । प्रवर्त्तयति विप्रेन्द्राः सूतो वक्ता प्रवर्त्तते ॥
यथा भगवतो विष्णोः कृपा भवति सत्तमाः ! ।
तथा वक्तुर्मुखाद्वाणी सरसा सम्प्रवर्त्तते ॥ ३ ॥

पूर्वाध्याये सद्गुरुमाश्रित्य श्रवणं कर्त्तव्यं तेन सर्वं सिध्यतीति पूर्वमुक्तं तत्र श्रवणविधिम्मुनयः पृच्छन्ति श्रवणस्य विधिमिति किञ्च वक्तृगुणांश्छ्रोतृगुणांश्च वदेत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्र प्रथमम्वक्तृस्वरूपमाह हरिरिति हरिः परमात्मा प्रथमम्वक्तरि मनुष्यशरीरे गुरौ प्रविश्य कृष्णद्वैपायनादिरूपो भूत्वा शिष्यं सन्मार्गे प्रवर्त्तयति ततः स सूतसदृशो वक्ता गुरुवाक्यानुकरणभूतवाक्यवक्ता शिष्यः सन्मार्गे प्रवर्त्तते इत्यर्थः। तथा च व्याससूतसदृशौ गुरुशिष्यावित्यर्थः। तदुक्तं "गुरुशिष्यपदेस्थित्वा स्वयन्देवो महेश्वरः। प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यै स्तन्त्रं समवतारयत्" इति ॥ २ ॥ ननु यदि परमात्मैव गुरुस्तर्हि सर्वेगुरोः शिष्याः कृतार्थाः किमिति न भवन्ति तत्राऽऽह यथेति यदा शिष्यो योग्यो भवति तदा यथा गुर्वन्तर्गतस्य परमात्मनः कृपा भवति तथा वक्तुर्गुरोर्मुखात्सरसा शिष्यकृतार्थताकारिणी वाणी प्रवर्त्तत्ते नान्यथेत्यर्थः शिष्यस्याकृतार्थतायां शिष्यापराध एव कारणं न गुरोरिति

पतितोऽपि महापापो मूर्खोऽपि व्यसनान्वितः ।
कामक्रोधादियुक्तोऽपि कृपणोऽपि विषादवान् ॥ ४ ॥
इत्यादि दोषयुक्तोऽपि यन्मुखाद्विष्णुसत्कथा ।
श्रुता विकासमायाति स वक्ता परमो गुरुः ॥ ५ ॥
येनोपदिष्टाः पापिष्ठाः अपि कामतुराः शठाः ।
परं ज्ञानमवाप्याऽपि शाश्वतं यान्ति तत्पदम् ॥ ६ ॥
निरपेक्षः कृपायुक्तः शिवस्मरणतत्परः । एवम्विधो गुरुर्वक्ता त्रैलोक्योद्धरणक्षमः ॥७
आदौ पापात्सन्निवर्त्याऽऽशु धर्मंत्र्याद्वित्तापत्यसौख्यादियुक्तम् ।
श्रद्धां दृष्ट्वा धर्मसत्कर्मकेषु नैष्कर्म्ये तान्योजयेत्सद्गुरुर्यः ॥ ८ ॥
नैष्कर्म्यधर्मे यदि शुद्धबुद्धिः श्रद्धायुतः स्याद्भगवत्प्रसादात् ।
तदा हरेर्भक्तियुतान्स्वधर्मानादिश्य देवस्य शिवस्य वार्त्ताम् ॥ ९ ॥
ततोऽतिमुख्यम्भजनं शिवस्य हरेश्च कृत्वा स्ववृषञ्च गौणम् ।

भावः ॥ ३ ॥ अतएव स गुरुर्यद्यपि पातित्यादिधर्मको भवति पुनश्च यन्मुखाच्छ्रुता कथा शिष्यस्य हृदये विकासम्प्रकाशमायाति स वक्ता परमात्मप्रापकत्वाद्गुरुर्भवति परम उत्कृष्टः ॥ ५ ॥ तदेव स्पष्टयति येनोपदिष्टा इति ॥ ६ ॥ यदैवन्तदा निरपेक्षत्वादि गुणयुक्तस्य गुरोः किम्वक्तव्यमित्याह निरपेक्ष इति ॥७॥ आदाविति । पापकर्मतः शिष्यं निवर्त्त्य ब्रह्मचर्याद्याश्रमधर्मं संसारसौख्यादिकारकं कारयित्वाऽनन्तरं तस्य सत्कर्म श्रद्धां दृष्ट्वा नैष्कर्म्ये शिष्यं यो योजयेत्स गुरुरित्यर्थः ॥ ८ ॥ नैष्कर्म्येति । यदा शिष्यस्य नैष्कर्म्यसाधने श्रद्धा स्यात्तदैव शिवस्य तत्स्वरूपस्य वार्ताङ्गुणकथनरूपां श्रावयित्वा भक्तियुक्तान्स्वधर्मान्साधकधर्मानादिश्योपदिश्योपासनारूढं शिष्यं कृत्वाऽनन्तरं स्ववृषमाश्रितं स्वकर्ममार्गं गौणङ्कृताकृतमित्युपदिश्य शिवस्य मुख्यम्भजनं ध्यानरूपं समादिशेदुपदिशेदथोऽनन्तरं निर्विकल्पस्वरूपमुपदिशेदिति गुरुकर्त्तव्यता दर्शिता प्रथमतः कर्ममार्गं ततो ज्ञान

समादिशेद् गुरुमुख्यः क्रमेण हरिम्परात्मानमथो विकल्पम् ॥ १० ॥
संसारदोषैर्विषयेन्द्रियादिदोषैश्च वैराग्ययुतेन चैव ।
खेदं समुत्पाद्य परात्मनिष्ठं कृत्वा गुरुः स्याच्छिवविष्णुरूपः ॥ ११ ॥
निस्पृहेण गुरुणा जनतायाः शक्यते सकलसिद्धिविधानम् ।
नान्यथा विविधलौल्ययुतेन मोचनं सकलसिद्धिविरुद्धम् ॥ १२ ॥

ऋषयऊचुः

महर्षयोऽपि राजभ्यो गृह्णन्ति गुरुदक्षिणाम् ।
तत्कथं सूत ! जीवस्य ह्यदत्त्वा निष्कृतिः कथम् ॥ १३ ॥

सूतउवाच

वक्ता स रागो नीरागो द्विविधः परिकीर्त्तितः ।
सरागो लोलुपः कामी तदुक्तं हृन्न संस्पृशेत् ॥ १४ ॥
नीरागो द्विविधः प्रोक्तो ह्येकः शिष्यपरीक्षकः ।
मयि देवे काशिकायां धर्मेषु विविधेषु च ॥ १५ ॥

मार्गमधिकारानुरोधेनोपदिशेन्न शीघ्रमित्यर्थः श्लोकद्वयस्य ॥ ९—१० ॥ तदेव स्पष्टयति संसारदोषैरिति । वैराग्ययुतेन चेतसेतिशेषः ॥ ११ ॥ उपदेष्टा गुरुश्च विरक्त एव योग्यो नतु संसारलोलुप इत्याह निस्पृहेणेति । विधानङ्कर्तुमितिशेषः । इदं नाऽन्यथा लौल्ययुतेन तु मोचनं सकलसिद्धानां सनकादीनाम्मते विरुद्धम् ॥१२॥ तत्र मुनयः शङ्कन्ते महर्षयोऽपीति । यदि निस्पृहा एव गुरवस्तर्हि महर्षयो रैक-याज्ञवल्क्यप्रभृतयो राजभ्यो जनकादिभ्यो गुरुदक्षिणा गृह्णन्ति तत्कथन्निस्पृहत्व-व्याघातात् किञ्च ह्यदत्त्वा गुरुदक्षिणाञ्जीवस्य शिष्यस्य निष्कृतिः कथं सम्भवति तस्माद्गुरुशिष्यभावे दक्षिणा नियतैवेति निस्पृहत्त्वं क्वचाऽस्ति नैवास्तीतिभावः ॥१३॥ हृतद्धृदयं न स्पृशेन्न गृह्णीयादिति तादृशे वक्तरि परमेश्वरसाक्षात्काराभावात् ॥१४॥ नीराग इति। स्वस्य निस्पृहत्वेऽपि शिष्यस्य धनादिपदार्थे प्रीतिरस्त्युत्तम(त)दुपदेश्यार्थे

प्रीतिरस्य समुत्पन्ना नवेति प्रविचारयन् । याचते याज्ञवल्क्यादिरपि ब्रह्मपरः परः

परीक्षितुं श्रोतृगुणं स्नेहं स्वस्मिन्करोति वा ।
अन्यस्तु वीतरागो य दत्तात्रेयादि सद्गुरुः ॥ १७

उपदेशं करोत्येव न परीक्षाङ्करोति च । अपरीक्ष्योपदिष्टं यल्लोकनाशाय तद्भवेत् ॥
वक्तारं नाशयत्येव वागधिष्ठातृदेवता । ततो विचार्य वक्तव्यं श्रुतिं स्मृत्वा रहस्यगाम्

अन्यथा श्रावयन्कामाल्लोकात्पतति दुर्मतिः ।
न चात्मनो न लोकाय तदुक्तमपरीक्षितम् ॥ २० ॥

ऋषयऊचुः

कथम्वा याज्ञवल्क्येन दत्तात्रेयेण वा कथम् ।
उपदिष्टम्महाभाग ! केभ्यस्तद्वद तत्त्वतः ॥ २१ ॥

सूतउवाच

आसीद्राजा महासत्त्वो मिथिलायां दृढव्रतः ।
विचारस्तस्य सुमहाञ्ज्ञातस्तत्त्वविनिर्णये ॥ २२ ॥
किङ्करोमि कथं ज्ञानी द्विजः समुपलभ्यते ।
जीवादप्यधिकम्वित्तं दास्यामि ज्ञानदे गुरौ ॥ २३ ॥
श्रुतम्मया श्रुतिगणात्परीक्षन्ते महाधियः ।
ज्ञानं श्रेष्ठतमम्वाऽस्य धनम्वा स्नेहभाजनम् ॥ २४ ॥

प्रीतिरस्तीति परीक्षार्थं धनं याचते स 'एको नीरागो यो याज्ञवल्क्यादि सदृशो द्वितीयस्तु शिष्यः कथमप्यस्तु मया स उपदेश्य एवेति मत्त्वा य उपदिशति स यथा दत्तात्रेयादिस्तथा चोभयत्र निस्पृहत्त्वमस्त्येवेति द्वयोर्मध्ये परीक्ष्योपदेशकर्त्ता गुरुः श्रेष्ठः शिष्यस्य योग्यस्योपदेशेन सन्मार्गनयनात् द्वितीयो परीक्ष्योपदेशे कर्त्ता न वरः शिष्यस्याऽनधिकारेण कर्मोपासनादिष्वभक्तिमुत्पाद्य नास्तिकादि मार्गे नयनादिति श्लोकचतुष्टयस्य सम्पिण्डितोऽर्थः ॥ १५—१६ ॥ अपरीक्षितं शिष्यम्प्रति

प्रार्थयन्ति यथाकेचित्पामराःस्नेहभागिनः ।धनञ्चाऽस्य प्रियम्वाऽहंगुरुर्ज्ञानोपदेशकः
विचार्येति महाराजो जनकः सज्जनाग्रणीः । गवां सहस्रमयुतं स्नापयमास चत्वरे ॥
हिरण्यरूप्यबहुलं कौशेयञ्चामरादिभिः । अलङ्कृतं सर्वगुणैरूपेतं घटदोहनम् ॥२७

आहूय विप्रान्प्राहाऽऽशु जनको जीवकोविदः ।
भवत्सु वीतरागो यो ज्ञानवान्धर्मतत्त्ववित् ॥ २८ ॥
सोऽङ्गीकरोतु गा एता नान्यः संसारदोषकृत् ।
इति श्रुत्वा याज्ञवल्क्यो बभाषे जनकं नृपम् ॥ २९ ॥
धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि अधिकार्यसि सत्तम ! ।
जानासि जीवभावन्त्वमात्मनः परमां स्थितिम् ॥ ३० ॥

प्रीतिर्न विद्यते यस्य विषये विषमप्रदे । ज्ञानाधिकारमतुलं लभते स महामतिः ॥३१

धनादिस्नेहकृद्यस्तु स पापात्माऽतिवञ्चकः ।
आत्मघाती न शुध्येत श्रुतैः शास्त्रैरनेकधा ॥ ३२ ॥

यस्स(स्व)वित्तं तृणीकृत्य धर्मादिषु प्रवर्त्तते । तस्य धर्मादयः सिद्धा भवन्त्येव न संशयः

अतो गाःसुसुवर्णाश्च देहि विप्रेभ्य एव च ।
पृच्छ त्वमात्मनः शुद्धं ज्ञानन्दुःखविघातकम् ॥ ३४ ॥

सूतउवाच

इति श्रुत्वा याज्ञवल्क्यमुखाद्राजा विवेकवान् ।
ससुवर्णाः पृथक्दत्ता ब्राह्मणेभ्यः परार्थिना ॥ ३५ ॥

तदुक्तंगुरुत्कंन लोकाय न परलोकार्थं नात्मनोऽर्थञ्चेत्यर्थः।२०-२४। एतस्य धनम्प्रिय-
मस्ति अथवाऽहम्प्रियस्मीति ज्ञातुम् यथा पामराः प्रार्थयन्ति धनं तथा ज्ञानोपदेशकः
प्रार्थयतीत्यर्थः ॥ २५ ॥ गवां सहस्रमिति । इयं कथा बृहदारण्यके स्पष्टा ॥२६॥
सहस्रमयुतमनेका गाव इत्यर्थः । यद्वा सहस्रमयुतमयुक्तं भिन्नं भिन्नं विद्यमान-
मित्यर्थः । चत्वरे अंगणे जीवकोविदो जीवतत्त्ववेतॄन् विप्रानित्यन्वयः ॥२८-२९॥

याज्ञवल्क्यस्ततः प्रौढो जनकाय महात्मने । वदान्यायौपनिषदं ज्ञानम्प्राहाऽधिकारिणे
जीवात्मनोर्विभागेन पुनरैक्येन तत्त्वतः ।
प्राह प्रीतो गुरुः सर्वं वेदार्थं सान्वयं शिवम् ॥ ३७ ॥
ततः स राजा जनको ज्ञात्वाऽऽत्मानं गुरोर्मुखात् ।
कृतार्थोऽभूत्प्रसादेन सर्वत्र स्नेहवर्जितः ॥ ३८ ॥
परमात्मन्यद्वितीये परप्रेम्णा नराधिपः । रमते गुरुवक्त्राद्धि श्रुत्वा श्रुतिरसायनम्
याज्ञवल्क्योऽपि जनकमुपदिश्य महामुनिः ।
गतो यथेष्टं सर्वात्मा गुरुर्विष्णुपरः सदा ॥ ४० ॥

ऋषयऊचुः

याज्ञवल्क्येन शिष्याय जनकाय परीक्ष्य च ।
दत्तं ज्ञानम्ब्रह्मपरमज्ञानध्वान्तनाशनम् ॥ ४१ ॥
दत्तात्रेयेण मुनिना ह्युपदिष्टा बहिर्मुखाः । कथञ्जाता नरास्तात ! तद्वदस्वाऽनुपूर्व्यशः

सूतउवाच

दत्तात्रेयो हरेरंशस्त्रियुगस्त्रिगुणात्परः । कलौ च्छन्नोऽतितेजस्वी कदाचिदुपलभ्यते ॥
नानावेषैः सुगुप्तार्थो विन्ध्यशैलादिषु स्थितः । कदाचिन्नर्मदातीरे चातुर्वर्ण्यजनेषु च
मिलितेषु स विश्वात्मा वक्तुं समुपचक्रमे ।
एकः परात्मा प्रकृतेः परः शिवः सत्यः सदानन्दमयः सनातनः ॥ ४५ ॥
महानुभावः सकलानुभावः परावरात्मा विकृतेः परः परः ॥४६

जीवभावं स्वस्येतिशेषः स्वस्य न्यूनतां जानासीति तात्पर्यम् । आत्मनः परमात्मनः स्थितिं उत्कृष्टां जानासि ॥ ३०—३४ ॥ पृथक् दत्ता इति । इदन्तु बृहदारण्यके न दृश्यते तत्र तु याज्ञवल्क्येनैव हृता इति वर्त्तते ॥ ३५ ॥ प्रथमतो जीवात्मनोर्विभागेन स्वरूपमुपपाद्य ततः पश्चात्तत्त्वतः पुनरुभयोरैक्येन स्वरूपम्प्राहेत्यर्थः ॥ ३७ —४१ ॥ त्रियुगो युगत्रये वर्त्तमानः ॥ ४२—४५ ॥ सकलानुभावः

अनादिमध्यान्तमनन्यदेकम्ब्रह्मैव भात्यर्थरूपम्विशुद्धम् ।
न चान्यदस्तीह सनातनात्परं विशुद्धविज्ञानघनाच्छिवं शिवम् ॥४७॥
वैष्णवी शक्तिरतुला मायेतीह विजृम्भते ।
देहेन्द्रियादिरूपेण तत्र काऽऽस्थाऽशुभात्मनि ॥ ४८ ॥
किं साधनङ्कश्च साध्यः को वा साधयिता जनः ।
सर्वम्मायेति विज्ञाय निर्व्यापारपरो भवेत् ॥ ४९ ॥
को गुरुः कश्च वा शिष्य उपदेश्यं किमस्ति च ।
यदस्तीह तदस्तीति ज्ञात्त्वा लोकः सुखी भवेत् ॥ ५० ॥

सर्वोत्पादनकर्त्ता प्रकृतेश्च परः परङ्कारणं मायावरं कार्यं जगदुभयात्मा "सर्वं ब्रह्म" इति श्रुतेः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति श्रुतेः । विकृतेः षोडशविकारेभ्योऽपि परस्तद्र-हितइत्यर्थः ॥४६॥ यदर्थरूपम्भाति तद्ब्रह्मैव भाति नान्यदस्तीत्यर्थः । यथा रज्जु-सर्पादौ सर्पो नास्ति किन्तु रज्जुरेवाऽस्ति तद्वदितिभावः । बाधायां सामानाधिक-रण्यं तथा च श्रुतिः "एकमेवाऽद्वितीयम्ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इति ॥४७॥ ननु यद्येकमेव ब्रह्म तर्हि देहेन्द्रियादिकं कस्मादुत्पन्नमिति ? चेत्तत्राऽऽह वैष्णवीति । माया शक्तिरेव विष्णुर्देहेन्द्रियादिभेदेन भासते यतो मायैव भासते ततो मायिके मिथ्याभूते देहेन्द्रियादिके काऽऽस्था का सत्यत्त्वबुद्धिर्न किमपीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" इति प्रकृतिमुपादानम् ॥४८॥ यदैवञ्जीवादिकं द्वैतं मिथ्या ब्रह्म तु नित्यं नित्यप्राप्तमेव तदा साधनसाध्यभावस्योपयोगाभावात्सर्वं कर्मोपा-सनादिकं त्यक्त्वा व्यापाररहित एव तिष्ठेदित्याह किं साधनमिति ॥ ४९ ॥ यदैवं तदा गुरुशिष्यभावस्याऽप्यद्वैते ब्रह्मण्यभावात्सोऽपि त्याज्य इत्याह को गुरुरिति । तदुक्तं "न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा न च त्वं न चाऽहं नचाऽयम्प्रपञ्चः" इति । यदस्ति ब्रह्म तदस्त्येवेति न तदर्थं यत्नापेक्षा यन्नास्ति मिथ्या जगत्तन्नास्त्येवेति न तन्निरासापेक्षेति तदुक्तम् 'अख्यातिर्यदि न ख्यातिः ख्यातिरेवाऽव

श्रृण्वन्तु साधवः सर्वे सर्ववेदार्थमादरात् ।
दृश्यमात्मेति विज्ञाय न धर्मादिषु क्लिश्यते ॥ ५१ ॥
सिद्धस्य साधनैस्तुच्छैर्गुरुशास्त्रादिभिस्तु किम् ।
नहि दीपेन सूर्यस्य दर्शनञ्चोपदिश्यते ॥ ५२ ॥
तस्मात्सर्वम्परित्यज्य स्वात्मानमनुचिन्तयेत् ।
अचिन्तितोऽपि भगवान् स एव परिजृम्भते ॥ ५३ ॥

सूतउवाच

इत्यादि वचनैर्लोका धर्मादिपरिवर्जिताः ।
आत्मानुसंधानपरा जाताः साधनवर्जिताः ॥ ५४ ॥
को गुरुः कश्च वा वेदः किम्वा शास्त्रं क भावना ।
यदस्तीह तदस्तीह ध्येयं ध्यानञ्च नास्ति सत् ॥ ५५ ॥
विवदन्ते तथाऽन्योन्यं कथं धनपरो भवान् ।
धनपुत्राय गेहादियुक्तः कथमवाप्स्यसि ॥ ५६ ॥

शिष्यते। ख्यातिश्चेत्ख्यातिरूपत्वात्ख्यातिरेवाऽवशिष्यते" इति ॥५०॥ दृश्यं जगदात्मेति । विज्ञापनधर्मादिसाधनेषु केनचित्क्लिश्यते ॥ ५१ ॥ सिद्धस्याऽऽत्मनः साधनैः किम्भवेन्न किमपीत्यर्थः ॥ ५२ ॥ तस्मात्सर्वं कर्मोपासनादिकं त्यक्त्वाऽऽत्मनिष्ठो भवेदथवा तस्य सिद्धत्वात्तन्निष्ठाया अपि उपयोगाभावो यतः स एवाऽचिन्ततोऽपि सर्वत्र जृम्भते भासत इत्याह तस्मादिति । तदुक्तं "न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते । एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते" इति ॥ ५३ ॥ इत्थं दत्तात्रेयेण वेदान्तसिद्धान्त एवोक्तस्तथाऽप्यनधिकारिभ्य उक्तत्वातदनधिकारिभिः स सिद्धान्तोऽन्यथाकृत इत्याह इत्यादिवचनैरिति । साधनवर्जितानामात्मानुसन्धानस्याऽसम्भवात्कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टा जाता इतिभावः । तदुक्तम् 'कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टस्तं यजेदन्त्यजं यथा' इति ।५४। केचिद्धर्मादिकं विहायाऽनधिकारेऽप्यात्मनि अन्यथा

ज्ञानम्विशुद्धम्विगुणं विषयादिविवर्जितम्। इति श्रुत्वा वदन्त्यन्य उपहासयुतम्वचः ॥
आहारमैथुनाद्यास्तु देहधर्माः पृथग्विधाः। तत्र दृष्टिर्न कार्या हि यत्करोति करोतु तत्
आत्मैव वर्त्तते नान्यद्विकारपरिकल्पितम्।
वन्ध्यापुत्रद्वयोर्युद्धं यथा नास्ति विचारतः ॥ ५९ ॥
आहारमैथुनादीनि देहकार्याणि वस्तुतः। न सन्ति विमलाकाशे चिदानन्दे परेऽव्यये
एवम्विवदमानास्ते देहगेहादितत्पराः। वैराग्यवार्तामपि नो शृण्वन्ति कथयन्त्यपि ॥

ऋषयऊचुः

भगवान्वेदमर्यादास्थापनाय शरीरभाक्। कथमेवम्विधम्ब्रह्मरहस्यमुपदिष्टवान् ॥६२
सर्वसाधारणङ्कृत्त्वाऽनधिकारिजनाय हि। तद्वदस्व महाभाग! महाकौतूहलं हि नः

सूतउवाच

ईश्वरः सत्यमेवेह वदत्येव न चान्यथा।
लोकोऽजितेन्द्रियः श्रुत्त्वा नश्यत्येव न संशयः ॥ ६४ ॥
अवतारैर्भगवतो ज्ञानमेव निरूप्यते। ऋषभाद्यैः स्वाधिकाराभावान्नाशङ्कतानराः ॥

ज्ञातेऽपि तन्निष्ठा जाताः, केचित्तु ध्यानादिकमपि विहाय तथैव यथेष्टाचरणेन-स्थिताः, केचित्तु यथेष्टाचरणवतां धनादिलोभं दृष्ट्वा कथं यूयं वेदान्तिनः सन्तो धनेच्छवो मातृभगिनीगामिनश्चेति परस्परं निन्दाञ्चक्रुरित्याह विवदन्ते तथाऽन्योन्य-मिति। कथमवाप्स्यसि परम्ब्रह्मेतिशेषः ॥ ५६ ॥ इत्थं ये निन्दा चक्रुस्तान्प्रति वेदान्तिन आहुः किमस्माभिः कर्त्तव्यमस्ति यस्माद्भवद्भिर्निन्दा क्रियते शुद्धे ब्रह्मणि कर्त्तव्यस्यैवाऽभावात् यद्यथा कर्मवशाद्भाति भातु नाम तदित्याहुः ज्ञानम्विशुद्धमिति श्रुत्त्वा केवल ग्रन्थतः श्रुत्वैव नानुभूयेत्यर्थः ॥ ५७ ॥ किं तदुपहासयुतम्वचस्तदाह आहार इति। देहधर्मान्देहः करिष्यत्यस्माकं का हानिस्तत्रेत्यर्थः ॥ ५८—६३ ॥ अजितेन्द्रियो लोको महद्भिः सत्यमुक्तमप्यधिकाराभावादन्यथा जानाति ततश्च नश्यति तस्मादधिकारानुरूपमेव कर्मोपासना तत्त्वमार्गा उपदेष्टव्या इति प्रघट्ट-

दत्तात्रेयेण मुनिना सत्यमेव न संशयः। उपदिष्टं सत्ययुगे गृहीतं स्वाधिकारतः॥६६
जनैस्तदेव त्रेतायामन्तःकरणशुद्धितः। गृहीतं द्वापरे तद्धि ज्ञानम्विषयमिश्रितम्॥६७

प्रकाशितेन सुखदं भेददृष्ट्या निराकृतम्।
विषयात्मनामशान्तानामवेदपथमीयुषाम्॥ ६८॥
कलौ नाशाय भवति ज्ञानमार्गोऽशुभात्मनाम्।
दत्तात्रेयेण मुनिना स्वाधिकारेण वर्णितम्॥ ६९॥

अधिकारविहीनानां तदेवाऽसुखदम्महत्। केनाऽभिप्राययुक्तेन मुनिना वेदरूपिणा निरूपितमभिप्रायस्तस्य न ज्ञायते बुधैः। अन्यैर्विचार्य वक्तव्यमधिकारानुरूपतः॥७१

साधारण्येन कथयन्नन्यायैः संयुतो भवेत्।
अधिकारविशुद्धाय ज्ञानदः सर्वदः स्मृतः॥ ७२॥
अधिकारविहीनाय वदन्नरकमृच्छति॥ ७३॥

ऋषयऊचुः

उपदेशक्रमम्ब्रूहि ज्ञानस्य परमात्मनः। श्रोतुर्हृदि यथा तिष्ठेद्विक्षेपादिविवर्जितम्॥

सूतउवाच

आदौ धर्मकथाः श्राव्यास्त्रिवर्गफलदायकाः।
तत्राऽनित्यत्त्वकथनाद्विरागो जायते नृणाम्॥ ७५॥

कार्थः॥ ६५॥ स्वाधिकारतः सर्वैर्ज्ञानङ्गृहीतम्॥ ६६॥ त्रेतायान्त्वन्तःकरणशुद्धितस्तारतम्येन कैश्चिदेव गृहीतमिति शेषः। द्वापरे विषयमिश्रितं कर्ममार्गमिश्रितं ज्ञानकर्मसमुच्चयरूपं गृहीतम्॥ ६७॥ अशुभात्मनामनधिकारिणाम्॥६८ कलौ तु तन्नाशायैव भवतीत्यर्थः॥ ६९॥ ननु दत्तात्रेयेणाऽनधिकारिभ्यः कथमुक्तमिति चेत्तस्य परमेश्वरस्याऽभिप्रायो मया न ज्ञायत इत्याह केनाऽभिप्रायेति। यद्यपि तादृशानुष्ठानेनैव दुर्गतिर्भवत्विति येषाङ्कर्म तदर्थं स मार्गोऽप्यपेक्षित इति समाधानमस्ति तथाप्ययमपि दोषः परमेश्वरेणाऽपेक्षित इत्यभिमानः॥ ७१—७३॥ इत्थ-

निवृत्तिधर्मनिरता लोका ज्ञानाधिकारिणः ।
स्नेहाद्धनासक्ततमं ज्ञानात्मानमुपादिशेत् ॥ ७६ ॥

यस्य भक्तिर्भगवति गुरौ परमपूरुषे । तस्य श्रुतम्फलत्यत्र नाऽन्यस्य विकृतात्मनः ॥

सर्वाणि शास्त्राणि समस्तधर्मान् सर्वाः कलाः सर्वगुणान्यथेष्टम् ।
सुधार्मिकेष्वेव वदेत्समस्तं ज्ञानम्विरक्ताय हरिप्रियाय ॥ ७८ ॥

वर्णात्मकेषु मन्त्रेषु गुरुशिष्यव्यवस्थया । प्रवृत्तिरुक्ता महती सावधानैर्महात्मभिः ॥
अतो विचार्य कालेन महता धार्मिकेषु च । वक्तव्यं ज्ञानमतुलं जगदात्मप्रबोधनम् ॥

आयुः स्वल्पमिति ज्ञात्वा कलावुपदिशन्ति ये ।
अधिकारविहीनाय(ये) वञ्चका धनलोलुपाः ॥ ८१ ॥
पतन्ति गर्भवासेषु ते स्वात्मपरवञ्चकाः ।
न हि व्यावृत्तचित्तानां ज्ञानं समुपदिश्यते ॥ ८२ ॥
खेदो विरागः सन्तोषः कामादिमलकर्त्तनम् ।
दृश्यन्ते यत्र चैतानि मुमुक्षा च हरौ रतिः ॥ ८३ ॥
तस्मिन्नभिन्ने सत्पात्रे क्षिपेज्ज्ञानामृतम्महत् ।
विष्णुभक्तिस्तु महती निष्पापा काशिकास्थितिः ॥ ८४ ॥
उपदेश्या मोक्षहेतुः सर्ववर्णाश्रमेषु च ।
सर्वेऽधिकारिणो लोकाः पापव्यसनवर्जिताः ॥ ८५ ॥

मुपदेशे भयं श्रुत्वोपदेशक्रमस्मुनयः पृच्छन्ति उपदेशक्रममिति ॥ ७४—७६ ॥ ज्ञानन्तु विरक्तायैव वदेत्कर्मोपासनामार्गन्तु सर्वेभ्यो वदेदित्यर्थः । "यस्य देवे परा-भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इति श्रुतेः ॥ ७७—७८ ॥ अतएव वर्णात्मकमन्त्रोपदेशेऽपि गुरुशिष्ययोर्या व्यवस्था यथोक्त-लक्षणयुक्तत्त्वं तया व्यवस्थयैव प्रवृत्तिरुपदेशे प्रोक्ता मन्त्रशास्त्रे इत्याह वर्णात्मके-ष्विति अभिन्ने छिद्ररहिते यदि विरक्तानामेव ज्ञानोपदेशस्तर्हि साधारण्येन

मुमुक्षवः सुखेन स्युः काशीवासे शिवाज्ञया।
न काशी सदृशङ्किञ्चित्साधनम्विद्यतेऽनघाः ॥ ८६ ॥
शास्त्रमार्गेण वसतामिहाऽमुत्र न दुर्लभः।
मोक्षः साधनसङ्घैर्हि प्राप्यते न तु यः क्वचित् ॥ ८७ ॥
अहो विचित्रा महती महाश्चर्यमयी स्थली। यत्र सर्वैर्म्रियमाणैर्मोक्ष एव प्रलभ्यते॥
विश्वेश्वरोऽप्यात्मरतः परात्मा विश्रामसौख्यं लभते यदत्र।
विश्रामहीनाः खलु मानवा ये ते किञ्जनन्या जठरे न सन्ति ? ॥ ८९ ॥
अहो भवानीसदने निषीदताम्प्रदक्षिणीकृत्य यथा यथा सुखम्।
न तत्सुखं योगयागादिसाध्यमम्बा पुरः प्राणभृतां यदाविः ॥ ९० ॥
दीनम्वदान्यम्महदल्पकम्वा पुण्यम्महापातकसंयुतञ्च।
आराधिता समतां सम्विधत्ते दयापरा भोगमोक्षैकहेतुः ॥ ९१ ॥

सर्वान्प्रति साधुभिः कीदृश उपदेशः कार्यस्तत्राऽऽह विष्णुभक्तिरिति। स्वेष्टदेवताभक्तिरित्यर्थः। काशीवासश्च वक्तव्य इत्यर्थः ॥ ८४—८५ ॥ मुमुक्षवः सुखेन मुक्ताःस्युरित्यर्थः ॥ ८६ ॥ न यः प्राप्यते क्वचित्सोऽत्र लभ्यत इति शेषः ॥ ८७-८८॥ विश्रामहीना वाराणसीवासहीना जनन्या जठरे न सन्ति न गच्छन्ति किमपि तु गच्छन्त्येवेति ॥ ८९ ॥ किञ्चाऽहो लोकाः स्वधर्मान्कुरुत मा वा कर्मोपासना ज्ञानमार्गान्कुरुत मा वा विश्वेश्वरादिदेवतापूजनङ्कुरुत मा वा तथापि यावदियम्परमकरुणार्णवा भक्तकामकल्पलता चिद्रत्नचिन्तामणिरूपाऽन्नपूर्णा भुवनेश्वरी सर्वजननी जागर्त्ति तावन्मोक्षम्प्रति मनागपि चिन्ता न कर्त्तव्येत्यभिप्रायेणाऽऽह अहो भवानीति। प्रदक्षिणीकृत्य निषीदतां स्थितानां यथा यथा येन येन प्रकारेण क्षणे क्षणे विविधं सुखम्भवति तद्योगयागादिभिः कथम्मपि न साध्यं यतः प्राणभृताम्पुरोऽग्रे अम्बा भुवनेश्वरी भवान्यन्नपूर्णा भूमानन्दमयी आविः प्रकटाऽस्ति ततस्तत्सुखमन्यत्र कथं स्यादित्यर्थः ॥९०॥ पापिनाम्पुण्यवताञ्च समदृष्टितया सर्व-

न ये भवानीम्भवभावभञ्जनीं भजन्ति भावेन भवार्णवे भवाः ।
भजन्ति ते सौख्यसमाधिभाजः कथञ्च चिन्तारहिताः समन्ततः ॥ ६२ ॥
चिन्तितार्थपरमार्थदायिकां नायिकाम्परमशङ्करस्य च ।
ब्रह्मविष्णुऋषिशेषसेवितां ताम्पराम्भजत भावभाविताम् ॥ ६३ ॥
अहो विचित्रं जगदम्बिकाया विचित्रमायैरपि दुर्विभाव्यम् ।
काश्याः प्रदेशे खलु संस्थिताऽपि स्वभक्तमाद्या प्रकरोत्यनन्तम् ॥ ६४ ॥
गृहं न काशीसदृशं सुखाय पिता न विश्वेशसमः क्वचिद्भवेत् ।
माता भवानीसदृशी न गर्भदा कुटुम्बमत्रत्यजनो जनार्दनः ॥ ६५ ॥
क्षेत्रेऽविमुक्ते जगतामथाऽम्बिकां पश्यन्ति नित्यं सुकृतैः प्रचोदिताः ।
तांस्तान्प्रपश्यत्यथ सा जगन्मयी स्वचक्षुषा येन च ते सुचक्षुषः ॥ ६६ ॥
भोगार्थिनो दीनजनं समाश्रिता मोक्षार्थिनो बन्धनकोटियुक्तम् ।
भोगञ्च मोक्षञ्च ददाति सत्कृता शिवा शिवानन्दमयी जगज्जनिः ॥६७॥

जननीत्वात्समानं फलन्ददातीत्याह दीनमिति । नहि मातुः सत्पुत्रेऽसत्पुत्रे वा न्यूनाधिकभावोऽस्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥ न ये इथि । ये न भजन्ति ते भवार्णवे भवा उत्पन्ना भवन्ति भजन्ति ते तु सौख्यादिभाजः कथञ्च केनाऽपि प्रकारेण चिन्तारहिता भवन्तीत्यर्थः । चिन्तितार्थो यः परमार्थस्तस्य दायिकाम् ॥ ६३ ॥ अहो इति विचित्रञ्चरितमितिशेषः विचित्रमायैर्विचित्रशक्तिभिर्ब्रह्माद्यैरित्यर्थः । वैचित्र्यमेवाह काश्या इति स्वयमनन्ताऽपि जगदम्बा काशीप्रदेशे मूर्त्तिरूपेण परिच्छिन्ना भक्तानाम्प्रारब्धवशेन भूत्वा भक्तं स्वापेक्षयाऽधिकङ्करोतीत्यहोभक्तवात्सल्यम्भगवत्या एवेतिभावः ॥ ६४ ॥ न गर्भदा गर्भे द्यति खण्डयति सा गर्भदा जन्मान्तरनाशिका जनार्दनो विष्णुस्वरूपोऽत्रत्यजनः कुटुम्बम्बन्ध्वादिस्थानीयम् ॥ ६५ ॥ धन्याः काशीवासिजना ये देवीम्भुवनेश्वरीं अन्नपूर्णाञ्जगदम्बिकां नित्यम्पश्यन्ति यांश्च जनानम्बा स्वचक्षुषा पश्यति अथ च ते सुचक्षुषो ज्ञानिनो भवन्तीत्याह

महान्ति पापानि सुदुर्धराणि फलानि तेषामतिदारुणानि।
भवन्ति मातुः पुरतो न यैर्हि निवेदितं दुःखमदुःखिनः किम् ॥ ९८ ॥
परः परात्मा परया मुदा यामाश्लिष्य चाहावसरो न एषः।
प्रदर्शयामास निरिन्द्रियस्य स्वात्मनूरतेर्जीवविभावभावम् ॥ ९९ ॥
स्तुतिम्प्रकुर्वन्ति महानुभावा नित्यं सदानन्दमया जनन्याः।
त्वम्ब्रह्मविद्या भजताञ्जनानामभक्तिभाजां किल कालरात्रिः ॥ १०० ॥
देहादिसंसक्तधियाम्विमोहिनी माया परानन्दमयी ह्यतद्धियाम्।
शिवे शिवानन्दमपि त्र्यधीश्वरि ! श्रीपार्वति ! ज्ञानघनेऽम्बिके ! शिवे! ॥

क्षेत्रेऽविमुक्ते इति ॥ ९६ ॥ भोगार्थिन इति। भोगार्थिनो ये ते दीनजनं क्षुल्लकमिन्द्राग्न्यादिदैवतं समाश्रिता इदं किम्भगवतीदत्तैश्वर्यभाजो भिक्षुका इन्द्रादयस्तैरन्यस्य भोगः कथं सिध्येदित्यर्थः। तथा च श्रुतिः "इन्द्रमग्निश्च ये विदुःसिकता इव संयन्ति" इति तथा ये मोक्षार्थिनस्ते विष्णवादिदेवङ्गुणत्रयेण बद्धं अतएव धनकोटिभिर्युक्तं समाश्रिता इदमपि किं यो हि स्वयं बद्धः स कथम्परान्मोचयितुं समर्थः स्यात् तदुक्तम् "बद्धो यः स्वात्मना सोऽन्यं कथम्मोचयितुम्प्रभुः" इति अतो गुणत्रयसाम्यावस्थोपाधिसच्चिदानन्दरूपिणी मूलप्रकृतिरन्नपूर्णा भुवनेश्वर्येव भोगमोक्षौ ददाति तथा च सैवाऽऽश्रयणीयेत्याह भोगञ्च मोक्षञ्चेति। तदुक्तं "शिवापदाराधनतत्पराणाम्भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव" इति ॥९७॥ महान्तीति। तैः पापफलैर्जायमानं यद्दुःखन्तन्मातुः पुरतो देव्या अग्रे न निवेदितं यैस्ते अदुःखिनो दुःखरहिता भवन्ति किन्नैव भवन्तीत्यर्थः ॥ ९८ ॥ परः परात्मेति। परमात्मा शिवो यामाश्लिष्याऽऽलिङ्ग्य सेवार्थमागतान्विष्णवादीन् प्रति युष्मद्दर्शनावसरोनाऽधुनास्तीत्याह अवदत् तेन च स्वात्मरतेर्निरिन्द्रियस्याऽपि स्वस्य जीवविभावो जीवैश्वर्यमस्वातन्त्र्यरूपन्तस्य भावं स तान्देवाग्रे यः प्रदर्शयामास देवीपुराणतो नाऽहं स्वतन्त्र इति बोधितवानित्यर्थः ॥९९॥ एतादृश्या भवान्या जनन्याः सर्वे महान्तः स्तुतिङ्कुर्वन्ति

मातर्विशालाक्षि ! भवानि ! सुन्दरि ! त्वामन्नपूर्णे ! शरणम्प्रपद्ये ।
शिवां शिवानन्दमये शिवालये ये भक्तियुक्ताः सततम्भवानीम् ॥१०२॥
स्मरन्ति शृण्वन्ति गृणन्ति नित्यशो यजन्ति ते दुर्गतिपारगामिनः ।
शिवः शिवाज्ञाम्प्रतिपालयेत्सदा विशाखढुण्ढी हरिकेशकेशवौ ॥ १०३ ॥
श्रीकालराजः प्रमथाधिपास्तथा नन्दीशभृङ्गीशमुनीशसूर्याः ।
सर्वे यदाज्ञाप्रसमीक्षका मुहुः काश्यां स्थितिम्प्राप्नुवते सुखाय ॥ १०४ ॥
सुरासुराः कामहता मनुष्या विद्याधराः किन्नरयक्षसिद्धाः ।
नानामृगाः स्थावरजङ्गमाश्च सर्वे वसन्त्यत्र तव प्रसादात् ॥ १०५ ॥
आहारमारोग्यमविघ्नवासं सम्प्राप्नुवन्ते गणितान्दयान्ते ।
तस्मान्न दैन्येन धनेन वा स्याद्वासः सतान्त्वच्चरणार्चनेन ॥ १०६ ॥
श्रीमद्भवानीसदनं समाप्य प्रदक्षिणीकृत्य तथाऽष्टवारम् ।
स्तुतिम्प्रकुर्वन्ति नरोत्तमा ये प्रकृष्टगन्धादिभिरुत्तमास्ते ॥ १०७ ॥

तां स्तुतिमाह त्वम्ब्रह्मविद्येति । कालरात्रिर्नाशिका ॥ १०० ॥ देहादिसंसक्तधियान्देहादितादात्म्यवताम्विमोहिनी मोहकारिणी माया भवसि अतद्धियामदेहतादात्म्यवतां परानन्दमयी ब्रह्ममयी भवसि ॥ १०१ ॥ शिवालये अन्नपूर्णास्थाने ॥ १०२ ॥ हरिकेशो रुद्रः पूर्वशिवस्तु परमशिवः, तदुक्तं कालीपुराणे "त्वदाज्ञापालकाः सर्वे ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । कोटिशो देवि ! जाताश्च जनिष्यन्ति तथाऽपरे" इति । देवीभागवतेऽपि तथैवोक्तेः । अतस्तवैवाऽवलम्बः सर्वैः कर्त्तव्य इति भावः ॥ १०३—१०५ ॥ तथाऽऽहारादिकमपि तव प्रसादादेव प्राप्नुवन्तीत्याह आहारमिति । तस्मादेवं तस्मादहं दरिद्रोऽस्मि दैन्येन मम काशीवासो भविष्यति तथा अहं धनवानस्मि धनेन हेतुना मम काशीवासो भविष्यतीति न मन्तव्यं किन्तु त्वच्चरणार्चनेनैव काशीवासः स्यान्नान्योपायेनेतिभावः ॥ १०६ ॥ गन्धादिभिः पूजयित्त्वेतिशेषः ये नरोत्तमाः स्तुतिं कुर्वन्ति त एवोत्तमा नान्ये इत्यर्थः ॥ १०७ ॥

ते तत्कृतम्प्राप्य मुदा मुकुन्दब्रह्मेन्द्रतुल्याः सुखिनो भवन्ति ॥ १०८ ॥
जय जय जगज्जननि ! जगज्जम्बालजालनिवारिणि !
जाताजातविद्यमानजन्तुजातजीवातुलन्ते
जय जय यज्ञादिसकलधर्मफलप्रदे !
जय जय महादेवि महादेवप्रिये महाफलप्रदे !
महाक्षेत्रनिवासिनि ! महापातकौघतूलदहनकृपावलोके ! ॥ १०९ ॥
जय जय भवानि भवप्रिये भावाभावितभावभक्तभवे !
जय जय पार्वत्यपर्णे पर्णफलप्रदानदारितदारिद्र्यपञ्जरे
जय जय उमे उत्तमोत्तमसेवितचरणकमलनखकिञ्जल्कप्रभे
जयजयाऽन्नपूर्णे अन्नप्रदाननिरते अन्नार्थिसङ्ग्रहपरे !
अन्धबधिरपङ्गुपतितमहापापिशरणागतत्राणनिरते ! ॥ ११० ॥
मोक्षार्थिनाम्मोक्षदनामधेया धर्मार्थिनां धर्मदचिन्तनाद्या ।
अर्थार्थिनामर्थदपादपद्मा कामार्थिनां कामदकल्पवल्ली ॥१११॥

ते पुरुषास्तत्कृतम्पूजाकृतम्फलन्त्वत्प्रसादरूपम्प्राप्येत्यर्थः ॥ १०८ ॥ जगद्रूपं यज्जम्बालं(लम्बा) तस्य जालस्य निवारिणी जाता उत्पन्ना अजाता अनुत्पन्ना ये विद्यमाना जन्तवस्तेषां जातः समूहस्तस्य जीवातुलते जीवनौषधरूपे। यद्वा, जाता जातेत्यादिना भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालिकानां जीवानाङ्ग्रहणं महापातकौघरूपस्य तूलस्य दहनो दाहकर्त्ता कृपावलोको यस्याः सा ॥ १०९ ॥ भावाः पदार्था विषयरूपा अभाविता अचिन्तिता यैरेतादृशा ये भावयुक्ता भक्तास्तेषु भव आविर्भावो यस्याः सापर्णम्बिल्वपत्रम्फलम्पूगफलन्तस्य प्रदानेनाऽपि दारितो नाशितो दारिद्र्यरूपः पञ्जरो निगडरूपो यया सा। उत्तमा ब्रह्मादयः तैः सेविता श्चरण कमलस्य येन स्वरूपाः किञ्जल्कास्तेषां प्रभा यस्या इत्यर्थः ॥११०॥ धर्मार्थिनां धर्मदं चिन्तनं यस्याः सा तथा आद्येति पृथक् पदं आद्या प्रथमा ॥ १११ ॥ उद्यद्भास्करसन्निभेति।

उद्यद्भास्करसन्निभां त्रिनयनां माणिक्यवर्णां शिवाम् ।
पाशञ्चाऽङ्कुशमिक्षुचापमनिशम्बाणान्दधानाम्परां
ध्यात्वा कल्पलतां समस्तफलदां नित्यान्नितान्तप्रियाम्
विश्वेशस्य विनायकस्य जननीं गौरीं नमेद्यो नुताम् ॥ ११२ ॥
ये येऽविमुक्ते श्रुतिमातरं शिवां शिवाङ्कगां साधितभक्तकार्याम् ।
आर्याम्भजन्ते परमादरेण दारिद्र्यबन्धादिभयं न तेषाम् ॥ ११३ ॥
सर्वतीर्थमयी गौरी सर्वदेवमयी शिवा । सर्वधर्ममयी नित्या पूज्या काश्याम्विशेषतः
तीर्थानि सर्वाण्यवगाहितानि यैः कोटिशः पुण्यपरैः कृतार्थैः ।
ततोऽधिकं काशिकायां लभन्ते फलम्विगाह्याऽऽशु तितीर्षवोऽत्र ॥ ११५ ॥
ततोऽपि कोटिगुणितमन्तर्गेहप्रदक्षिणम् । अन्तर्गेहाद्बहुगुणं भवानीक्षेत्रदक्षिणम् ॥
प्रदक्षिणीकृता येन महापातकनाशिनी । अष्टवारं सुकृतिभिर्न तेषां भ्रमणम्भवेत् ॥
पत्रम्पुष्पं फलन्तोयं यत्किञ्चित्सुसमर्पितम् । तदक्षयफलम्विप्रा भगवत्यै भवाज्ञया ॥

ध्यानम्पाशो वामोर्ध्वं हस्तं कुशं दक्षोर्ध्वहस्ते इक्षु चायम्वामाधोहस्ते वाणान्दक्षाधो-हस्ते तादृशीं गौरीं देवैर्नुतांस्तुतां ध्यात्वा यो भक्तो नमेत् एवं ये ये भक्ता वेदमातरं वेदजननीं शिवाङ्कगां शिवभार्यां भजन्ते तेषां दारिद्र्यादिभयं नास्तीति श्लोकद्वयार्थः ॥ ११२—११३ ॥ विशेषत इति । यस्मादियन्तीर्थदेवधर्ममयी तस्मा-दस्या आश्रयणेन तत्सर्वं लब्धम्भवति तत् इयमेव नित्यम्विशेषतः पूज्येत्यर्थः तीर्थ-देवधर्मादीनाम्प्रकृतेः सकाशादुद्भवाद्देवीमयत्त्वं श्रुतिसिद्धमेवेति ॥ ११४ ॥ तितीर्षवः संसारस्य विगाह्य गङ्गामितिशेषः ॥ ११५ ॥ सर्वापेक्षया भवानी क्षेत्रस्याऽन्नपूर्णा भुवनेश्वरी क्षेत्रस्यदक्षिणम्प्रदक्षिणाफलमधिकमित्यर्थः ॥ ११६ ॥ भ्रमणं संसारे पुनः पुनरागमनं न भवेत् ॥११७॥ भगवत्यै समर्पितमित्यन्वयः । भवाज्ञया शिवस्य वचनम्पुराणादिष्वेवं वर्त्तत इति भावः । तदुक्तमुमासंहितायां "पत्रादिकमभक्त्याऽपि भगवत्यै समर्पितम् । मुक्तये भवति क्षिप्रन्तस्मात्ताङ्को न संश्रयेत्" इति भ्रान्तियुजो

काश्याम्भवानीम्विभवैर्यजन्तो भवन्ति भावैर्भवपाशमुक्ताः।
युक्ताः समस्तैः पुरुषार्थसङ्घैर्भवन्ति न भ्रान्तियुजः कदाचित् ॥ ११९ ॥

भवानी पूजिता भीतिं नाशयत्येव नाऽन्यथा।
काश्यान्तेषाम्महाशान्तिर्जीविते जीवितेतरे ॥ १२० ॥

भर्त्ता सदानन्दमयः परः शिवः पुत्रः सदा विघ्नहरो गणाधिपः।
आज्ञाकरो दण्डपाणिस्तु यस्याः सा किं न यच्छत्यनुकूलदात्री ॥ १२१॥

काश्याम्पापकृतो यो हि श्रुत्वा काशिकथामृतम्।
पश्चात्तापेन संयुक्तो भवानीम्भावयेद्वशी ॥ १२२ ॥

न करोति पुनः पापं मुक्तो भवति तत्क्षणात्।
यातनास्तस्य नश्यन्ति कालभैरवचिन्तिताः ॥ १२३ ॥

ज्ञानरहिता न भवन्ति ॥ ११९ ॥ भीतिं संसारभीतिं जीवितेतरे मरणे वा ॥ १२० ॥ किन्न यच्छति किन्तस्याऽदुर्लभमस्ति यन्न यच्छति ददाति किन्तु सर्वं ददात्येव यतोऽनुकूलदात्री भक्तेच्छानुकूलपदार्थमात्रदात्री तदुक्तम् "भूभृद्राजसुता महेश्वरमहाराजाधिराजाङ्गना, ब्रह्माद्याः परिवारकास्त्रिभुवनम्पुत्रीयति प्रेमतः॥ वासः काञ्चनपर्वते मृगपतिः पत्रम्वपुः सुन्दरं सौभाग्यस्य तवोपमा परशिवे कुत्राऽपि नो लभ्यते" इति देवी भागवते च वाञ्छाधिकफलप्रदेति ॥१२१॥ अथ विश्वेश्वरादिसकलदेवतासमाराधनापेक्षया भवान्या आराधने विशेषमाह श्लोकद्वयेन काश्यामिति। पापङ्कृतं येन सः पश्चात्तापेन युक्तो यो भवानीम्भावयेदित्यन्वयः प्रथमतः काश्याम्पापकर्त्तानन्तरं काशीमाहात्म्यश्रवणसञ्जातपश्चात्तापेन युक्तो यो भवानीमन्नपूर्णाम्भुवनेश्वरीम्भावयेत्पुनश्च पातकं न कुर्यात्तस्य भगवतीप्रसादात्कालभैरवेण चिन्तिता यातना नश्यन्ति इतरदेवतोपासकैः कृतानाम्पापानां यातनाम्विना नाशाभावाद्भगवत्यैवाराधनीयेतिभावः ॥ १२३ ॥

श्रीमद्भवानीम्भवपाशभञ्जनीं सेवन्ति ये भावयुता भवाब्धिम् ।
तरन्त्यवश्यन्तरुणार्कसंनिभा भवन्ति भाभिर्गतकल्मषाश्च ॥ १२४ ॥
मातरो भवभयैकभेषजञ्जन्तवः कृतरुजः स्वयम्बत ! ।
इन्द्रियैर्विषयदोषदूषितैः सङ्गता नहि नमन्ति मातरम् ॥ १२५ ॥

किञ्चेतरदेवताराधनेन मोक्षोभवति वा न भवतीति निश्चयः कर्तुं न शक्यते श्रीभगवत्या आराधनेन तु अवश्यमेव मोक्षो भवतीति निश्चयः क्रियत इत्याह श्रीमद्भवानीमिति । अवश्यन्निःसन्दिग्धम् ॥ १२४ ॥ इदञ्च मया नाऽऽग्रहेणोच्यते किन्तु सर्वजनीनलोकन्यायेनेत्याह मातर इति । यद्यपि जन्तवः पुत्राः स्वभावत एव कृतरुजो जातरुजोऽपि इन्द्रियैर्विषयदूषितैः सङ्गता अपि बत इति खेदे मातरं न नमन्ति लोके तथाऽपि मातरो भवभयस्य भेषजमेव दृश्यन्ते कथमपि पुत्रापराधे जातेऽपि मातरः करुणार्णवा एव दृश्यन्ते तत इदम्मयोक्तमिति तात्पर्यं तदुक्तम् "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति" इति ॥ १२५ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्यव्याख्याने अभेदवर्णने काशीमहिमवर्णनं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥



अथैकविंशोऽध्यायः

गङ्गामहिम्नि समुपोद्घातवर्णनम्

सूतउवाच

व्यासेन तु पुरा प्रोक्तं नीचानामपि सत्तमाः!। वस्तूत्तमं क्वचित्प्राप्य नाऽधमे रमते मनः

मुनिभिस्तु पुरा पृष्टो व्यासो भागीरथीतटे।
प्राह काशी कथां दिव्यां मुनीनामभिशृण्वताम् ॥ २ ॥

व्यासउवाच

शृण्वन्तु मुनयः सर्वे मुक्तिबीजमनुत्तमम्। श्रद्धावते विरक्ताय गुरुभक्ताय साधवे
देयमेतत्कथारत्नं श्राव्यं श्रवणमङ्गलम्। काशीरहस्यमतुलं नानारत्नसमुद्रकम् ॥ ४ ॥

काशी दृष्टा येन पुंसा सुरार्च्या द्रष्टुं चाऽन्यं नेच्छते रूपवच्च।
श्रोत्राभ्याम्वै यैः श्रुता काशिवार्ता तेषां श्रोत्रं श्रोतुमन्यन्न चैति ॥ ५ ॥

ये काशीगुणवर्णनेष्वभिरता स्तेषां न जिह्वा पुनर्निः-
सारज्ञनजन्मजीवनमृतिप्रायम्पुनर्वर्णयेत्।
येषाम्पादयुगम्विसर्पति मुदा श्रीकाशितीर्थेष्वहो
तेषां चङ्क्रमणं सुखाय न भवेत्कैलासलोकेष्वपि ॥ ६ ॥

अथ गङ्गामहिमानम्वक्तुमुपोद्घातमाह व्यासेन त्विति। उत्तमम्वस्तु प्राप्य नीचानामपि मनो नाऽधमे वस्तुनि रमते तथा च काशीम्प्राप्य नान्यत्र चेतोरतिः कर्त्तव्येतिभावः ॥ १ ॥ कथम्व्यासेनोक्तं तदाह मुनिभिस्त्विति ॥ २—३ ॥ रत्नसमुद्रकं रत्नकरण्डकम् ॥ ४—५ ॥ जनस्य जन्म उत्पत्तिर्जीवनं स्थितिर्मृतिर्मरणं

मनसा यैः काशिकायाः स्मृतमौदार्यमार्यकैः ।
तेषाम्मनो न स्मरति स्मरामि नगरीम्विना ॥ ७ ॥
काशी काशीति काशीति रसनारससंयुता ।
यस्य कस्याऽपि भूयाच्चेत्स रसज्ञो न चाऽपरः ॥ ८ ॥
शृण्वन्तु रसिकाः सर्वे रसस्य परमां स्थितिम् ।
यामाश्रित्य रसः सम्यग् ज्ञायते रसकोविदैः ॥ ९ ॥

पुरा देवासुरैः सर्वैर्मथितः क्षीरसागरः । तत्र रत्नानि बहुधा जातानीश्वरलीलया ॥
धन्वन्तरिकरात्कुम्भं गृहीत्वा सुरदानवाः । अमृतस्याऽर्थे जहसुः सुराम्पातुं समुद्यताः
स्त्रीरूपमादाय जनार्दनेन कराद्गृहीतः कलशोऽमृतस्य
तेषां सुरान्पाययदात्मतन्त्रः सुधां सुरां दानवदैत्यवर्यान् ॥ १२ ॥
अथ तेषु पिबत्स्वादौ सुधां सुरवरेषु च । सैंहिकेयो वञ्चितांस्तान् ज्ञात्वा देवेष्वथाऽगमत्
प्रविश्य दीनवदनो माम्पायय सुधां हरे ! । प्रपन्न ! पालनपर ! प्रपन्नम्पातुमर्हसि ॥१४
वेषैस्तपोभिर्मनुयन्त्रतन्त्रैर्मायाभिरन्याभिरपि स्वधाभिः ।
न वञ्चितुन्त्वामलमत्रकश्चित्तस्माच्छरण्यं शरणम्प्रपद्ये ॥ १५ ॥
इत्युपांशुवचो राहोः श्रुत्वाऽमृतमपाययत् ।
अखण्डितज्ञानवपुः परमात्मा जनार्दनः ॥ १६ ॥

तत्प्रायन्तद्बहुलं निःसारङ्कथानकमितिशेषः ॥ ६—८ ॥ उत्तमे रसे प्राप्ते नाऽधमे रसे रक्तो भवतीत्यत्र कथानकं शृण्वन्त्वित्याह शृण्वन्त्विति ॥ ६—१० ॥ धन्वन्तरि-करादमृतस्य कुम्भङ्गृहीत्वायच्छद्यत तदमृतन्दृष्ट्वा सुरा दानवाश्चाऽमृतस्याऽर्थे प्रयोजने जहसुः किमिदमेवामृतमिति विनोदङ्कृतवन्तः पश्चात्सुरा दानवाश्च सुधा-न्त्यक्त्वा सुरां पातुं समुद्यता इत्यर्थः ॥११॥ तदेतदयुक्तञ्जातमिति । दृष्ट्वा विष्णुः सुधां सुरानपाययत् दैत्यान्सुरामपाययदित्याह स्त्रीरूपमिति । तेषां करादित्यन्वयः। सुधां सुरानपाययत् सुरान्तु दानवानपाययत् ॥ १२ ॥ सैंहिकेयो राहुः ॥१३—१४॥

देवपङ्क्तौ प्रविष्टा ये ते विष्णुम्परिचक्षते । ये दैत्यदानवगतास्ते पश्यन्ति विमोहिनीम्
अर्धपीतेऽमृते राहुः पुष्पवद्भ्यां प्रसूचितः । तदैव तीक्ष्णधारेण शिरश्चिच्छेद सत्पतिः ॥
द्विधाकृतोऽपि दैत्योऽसौ जीवनं न जहौ पुनः ।
ग्रहेषु हरिणा युक्तः स आस्ते ह्यमृतं स्मरन् ॥ १६ ॥
कदाचिद्दानवा दैत्या मिलिताः पानकर्मणि । राहुमाहूय ते चोचुः पीयतामासवम्मधु

राहुरुवाच

नाहम्पिबाम्यासवं हि मादकं ज्ञाननाशकम् । पीत्वा पीयूषममलं कः पिबेदासवम्पुनः

दैत्याऊचुः

विना मांसं विना मद्यं न क्षणस्तेऽवगच्छति । स्वल्पेनाऽमृतपानेन वहुमद्यन्त्यजस्यहो ॥

राहुरुवाच

न विस्मरेऽहममृतं क्षणार्धमपि भोः सुराः । पाताऽमृतस्य जानाति स्वादं नान्यः कदाचन
यस्मिन्मुखे विनिःक्षिप्तममृतं विष्णुनाऽऽहृतम् । तस्मिन्न पावनं मद्यं कथं दद्याम्वराकवत्

व्यासउवाच

इत्युक्तास्ते सुरा जग्मुरुपहस्य तमुद्धताः । अहोऽतिमूर्खोऽयं राहुः स्वल्पं पीत्वा वहूज्झति
अतएव रसो येन यत्र प्राप्तः शुभे शुभे । तत्रैव रमते नित्यमविचार्य पुनः पुनः ॥२६॥

ननु अयम्वञ्चकोऽस्ति मां वञ्चयित्वा सुधाम्पातुमिच्छतीति चेत्तत्राऽऽह वेषैरिति। स्वधाभिः कल्याणकारिणीभिः ॥ १५—१६ ॥ परिचक्षते कथयन्ति पश्यन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥ पुष्पवद्भ्यान्दिवाकरनिशाकराभ्यां यद्यपि पूर्वन्तत्स्तुतिसमये हरिणा दैत्यो ज्ञात एव तथापि तस्य भक्तिं दृष्ट्वा तस्मा अमृतन्दत्तं पश्चाद्रविशशिभ्यामुक्ते दैत्यपक्षपातित्वं स्वस्य देवा ज्ञास्यन्तीति शिरश्छेदनङ्कृतमिति वोध्यम् ॥१८॥ न जहौ अमृतपानप्रभावात् ॥ १९—२२ ॥ एतावत्पर्यन्तमुत्तमरसास्वादे निकृष्टरससेविनः केऽपि न सन्तीति राहुदृष्टान्तेनोक्तं सम्प्रति तस्योपयोगमाह सतां त्वधिकमेतत्सारासारविचारिणामपेक्षितमित्यर्थः । यद्वा, एतद्धि काशीवास-

सतान्त्वधिकमेतद्धि विचारणवतान्नृणाम् ।
यद्वेदशास्त्रोक्तरससेविनाङ्काशिवासिनाम् ॥ २७ ॥
देहेन्द्रियादिभिर्यैस्तु सेविता काशिका नृभिः ।
तेषामन्यरुचिश्चेत्स्यादाश्चर्यङ्किमतःपरम् ॥ २८ ॥
राहुर्दैत्यः सुरापश्च देवब्राह्मणनिन्दकः । स दैवादमृतम्प्राप्य न स्मरत्यन्यसौरसम् ॥
किन्तु यैः काशिका दृष्टा स्तुता चोक्ता च सेविता ।
तेऽपि चेत्काशिकां शुद्धां ब्रह्मामृतरसस्तुतिम् ॥ ३० ॥
न सेवन्ते सर्वरसां नीरसास्ते नराधमाः। आदिमध्यावसानेषु सरसा सुरसा त्वियम्
काशिका सर्वरसिकैः सेव्या प्रार्थ्या त्वहर्निशम् ॥ ३२ ॥
काश्याङ्गङ्गा सेवनीया प्रयत्नैः सर्वैर्लोकैः सिद्धिसङ्घैर्दुरापा ।
दृष्टा स्पृष्टा स्नानपानादिभिश्च मोक्षद्वारं सम्प्रयच्छेद्वृषाढ्या ॥ ३३ ॥
पवित्रमाद्यं स्वयमेव गङ्गा पुनश्च्युता विष्णुपदात्ततोऽपि ।
ब्रह्मादिलोकादपि मूर्ध्नि शम्भोर्निपातनाद् भूतिसुपाण्डुराङ्गी ॥ ३४ ॥
उल्लङ्घ्य मार्गञ्च भगीरथस्य काश्याम्प्रविश्याऽप्यविमुक्तमन्तः ।
वाराणसीमध्यगतेष्वशेषकूपेषु चाप्लुत्य सरस्सु देवी ॥ ३५ ॥

रूपमेवाऽधिकमित्यर्थः ॥ २७—२८ ॥ सौरसं सुरसमेव सौरसम् ॥ २६—३२ ॥ इत्थं काश्याः सर्वोत्तमरसत्वम्प्रतिपाद्य तस्यां काश्याम्विद्यमानाया गङ्गाया माहात्म्यमाह ॥ ३३ ॥ पवित्रमाद्यमिति । यत्पवित्रमाद्यम्ब्रह्म तदेव गङ्गा "स एव द्रवरूपेण गङ्गाम्भो नाऽत्र संशय" इत्युक्तेः ब्रह्मादिलोकात्सत्यलोकाच्च्युता भूतिसुपाण्डुराङ्गी अतएवेतरजलापेक्षया श्वेता दृश्यत इति भावः ॥ ३४ ॥ भगीरथस्य भगीरथेन दर्शितम्मार्गमुल्लङ्घ्याऽन्तः काश्यन्तर्गतमविमुक्तक्षेत्रपूर्वोक्तपरिमाणमपि प्रविश्य वाराणसीमध्यगतेषु असिवरुणामध्यगतेषु तीर्थसरस्सु आप्लुत्य अन्येष्वपि पल्वलादिषु आप्लुत्य तानि सर्वाणि स्वोदरे स्वप्रवाहान्तर्गतानि कृत्वा तत्र तत्र देशे

महत्सु चाल्पेषु च पल्वलेषु वापीषु तत्स्थासु नदीषु पुण्या ।
आराध्य लिङ्गान्यपि तत्र तत्र शम्भोः स्वयम्भूतिपवित्रभूता ॥ ३६ ॥
देवीमिमां शर्वकृतोपदेशात्संस्थाप्य लिङ्गञ्च शिवं स्वनाम्ना ।
पुनस्तदन्तेऽपि समस्तभावैराराध्य विश्वेश्वरमार्ययैव ॥ ३७ ॥
मनोरथं सूर्यगुरोः स्मरन्ती प्रतिश्रुतन्तत्स्वयमात्मनाऽपि ।
इहैव दिव्या वपुषा स्थिताऽपि प्रवाहतस्तेन ययौ सहैव ॥ ३८ ॥
स्नानं शिवाभ्याम्विधिना च कर्त्री महाह्रदेऽस्मिन्मणिकर्णिसंज्ञके ।
विश्वेश्वरौ तावनुपूजयन्ती परैव भक्त्याऽखिल देवताभ्याम् ॥ ३९ ॥
यज्ञार्थिनां यज्ञफलं यदत्र तीर्थार्थिनां तीर्थफलम्पवित्रम् ।
योगार्थिनां योगफलम्महत्तदा दानार्थिनां दानकृतम्फलं स्यात् ॥ ४० ॥
गङ्गायां काशिसम्बन्धाद्विशेषेण तु लभ्यते । प्रायश्चित्तफलं सर्वञ्चतुर्वर्गफलञ्च यत्॥
ब्रह्मविष्णुशिवदेवरूपिणी सर्वयज्ञफलदा शिवप्रदा ।
सर्वदानजपभोगमोक्षदा गङ्गया नहि समञ्जगत्त्रये ॥ ४२ ॥

स्वप्रवाहगतिमध्यस्थानि लिङ्गान्यप्याराध्य पश्चान्महादेवाज्ञया देवीं श्रीभुवनेश्वरीं गङ्गेश्वरीति नाम्ना संस्थाप्य गङ्गेश्वरनाम्ना शिवञ्च संस्थाप्य पुनरार्ययाऽन्नपूर्णया सहितम्विश्वेश्वरमाराध्य सूर्यगुरोः कश्यपस्य मनोरथं सगरोद्धारणरूपं स्मरन्ती आत्मनः प्रतिश्रुतं शिवनिकटे प्रतिज्ञातं सर्वानुद्धरिष्यामीत्येवं रूपञ्च स्मरन्तीहैव काशीक्षेत्रे दिव्यवपुषा मूर्त्तिरूपेण स्थिताऽपि प्रवाहतः प्रवाहरूपेण तेन क्षेत्रेण काशीक्षेत्रेण सहैव सम्बद्धा ययाविति चतुःश्लोक्या अर्थः ॥ ३५ ॥ किङ्कुर्वन्ती गङ्गा काश्यां तिष्ठति तत्राह स्नानं शिवाभ्यामिति । मणिकर्णिकाह्रदे वर्तमानाभ्यामखिलदेवताभ्यां शिवाभ्यां शिवशक्तिभ्यां तावदनुकूलयितुं तयोर्विधिना स्नानस्य कर्त्री दात्रीत्यर्थः । तथा तौ विश्वेश्वरौ शिवशक्ती अनुपूजयन्ती च स्थितेति शेषः ॥४०॥ गङ्गायामिति । गङ्गाया काशीसम्बन्धादित्यर्थः ॥ ४१—४२ ॥ व्यापृतगात्र-

गङ्गामनाराध्य जगत्प्रसूतिं प्रसूतिमुक्तः कथमातुरःस्यात्।
ब्रह्मद्विषाम्व्याकुलमानसानामयोगिनाम्व्यापृतगात्रवाचाम् ॥ ४३ ॥
दरिद्रदीनान्धकुकर्मिणाञ्च गङ्गैव निस्तारगणेषु मुख्या।
गङ्गा सुतीर्थैः परिसेवितेयमाद्याऽविमुक्तम्परिसेवते या ॥ ४४ ॥
सुदुर्लभं श्रद्धया मानुषाणां गङ्गाऽपराधै रहिता नितान्तम्।
काश्यां गङ्गा प्राप्यते पुण्यभारैर्विश्वेशस्याऽनुग्रहः साधु चेत्स्यात् ॥ ४५ ॥
तेषां श्रद्धा जायते मोक्षहेतुर्गङ्गैवात्मा मोक्षहेतुर्जलात्मा ॥ ४६ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासम्पुरातनम्। गङ्गामाहात्म्यसंयुक्तं श्रृण्वन्तु परमर्षयः! ॥
पाण्ड्यदेशाधिपो राजा पुण्यकीर्तिरितिश्रुतः।
विविधानि पुराणानि चेतिहासानथाऽश्रृणोत् ॥ ४८ ॥
चिच्याः (?) काव्यानि सद्वृत्तः श्रृणोति स निरन्तरम्।
सर्वशास्त्रेषु गङ्गैव महद्भिः प्रतिपाद्यते ॥ ४९ ॥
गङ्गैव पुरुषार्थो हि सर्वसारविचारिणाम्।
मनुष्यदेहं सम्प्राप्य यदि गङ्गा न सेविता ॥ ५० ॥
गर्भवासादिशमनं न तेषां जायते क्वचित् ॥ ५१ ॥
गङ्गैव धर्मः खलु मोक्षदायी गङ्गासुखञ्चार्थरूपाऽपि गङ्गा।
चतुर्विधस्याऽपि सुखस्य दात्रीं गङ्गाम्भजेद्विष्णुशिवप्रियो यः ॥
इति श्रृण्वन्पठन्राजा गङ्गाजलनिषेवकः। स्नानभोजनपानादीन्सर्वङ्गङ्गाजलेन हि ॥५३

वाचां संसारासक्तदेहवाणीनाम् ॥ ४३ ॥ निस्तारगणेषु मोचकसमुदायेषु ॥४४॥ मानुषाणान्तु दुर्लभमविमुक्तमित्यन्वयः पूर्वश्लोकेन अपराधैः पुरुषापराधै रहिता तांश्च गणयतीत्यर्थः। अथवा स्वकृतापराधै रहिताऽविमुक्तं सेवते इत्यर्थः॥४५-४७॥ कथामुत्थापयति पाण्ड्येति ॥ ४८—५२ ॥ सर्वं गङ्गाजलेनहीति। यद्यप्यत्र शौचादिकरणेऽप्यनुज्ञादत्ता तथाऽपि यावत्पर्यन्तं कूपादिजलेन शौचादिनिर्वाहस्तावत्पर्यन्तं

करोति श्रद्धया युक्तो गङ्गास्मरणतत्परः । एवं स राजा गङ्गात्मा सर्वावस्थासु तत्परः
चकार साक्षात्त्रिस्रोतां वरम्वरयभाषिणीम् ॥ ५५ ॥

राजोवाच

यदि देयो वरो मह्यं देवि ! प्राप्तिम्वदस्व तत् ।
येन त्वाम्प्रत्यहम्मातः पश्यास्यमृतरूपिणीम् ॥ ५६ ॥

गङ्गोवाच

प्रत्यहं देवतानाञ्च दर्शनं न भवत्यलम् । कदाचिद्दूरकालेन दर्शयन्तीह देवताः॥५७
प्रत्यहं राजशार्दूल! दर्शनन्त्वं यदीच्छसि । तदा मद्गृहमागच्छ भविष्यति न संशयः

राजोवाच

ब्रह्माण्डसूत्ररूपिण्याः काऽऽस्ते गेहं तवाऽर्थदे ! । ब्रह्माण्डानामनेकानामाधारः प्रकृतिः परा
त्वमेव सर्वजगतां चिच्छक्तिः साधुसम्मता । त्वया ततमिदं देवि ! जगदात्मस्वरूपया
ब्रह्मविद्यागृहम्मातर्न दृष्टं न मया श्रुतम् । तद्गृहं ज्ञातुमिच्छामि यत्र त्वाम्प्रत्यहन्त्वहम्
पश्यामि सर्वजगतां मातरम्मानवर्जिताम् ॥ ६२ ॥

गङ्गोवाच

ब्रह्माण्डव्यापिका चाऽहमवश्यं राजसत्तम ! । तथाऽपि काश्याम्मद्गेहं रमे भर्त्रा सुसङ्गता

शौचादिकं गङ्गाजलेन न कर्त्तव्यमित्येव वरमिति ॥ ५३—५४ ॥ वरम्वरयेति भाषिणीं त्रिस्रोतां त्रिस्रोतसङ्गङ्गां साक्षाद्दृष्टवानित्यर्थः ॥ ५५ ॥ यदि देय इति। हे देवि ! यदि वरो देयस्तर्हि तव प्राप्तिं लाभन्निरन्तरन्देहीतिशेषः ननु साधनम्विना कथं तत्स्यादितिचेद्येन साधनेन त्वाम्प्रत्यहं पश्यामि तदेव वदस्वेत्यन्वयः ॥ ५६ ॥ दूरकाले दर्शयन्ति देवताः स्वस्वरूपमित्यर्थः ॥ ५७—५८ ॥ ब्रह्माण्डसूत्ररूपिण्या ब्रह्माण्डव्यापिकाया आधारोऽधिष्ठानम्परा प्रकृतिश्चैतन्यरूपा तथा च तादृश्या व्यापिकायास्तव परिच्छेदरूपगृहस्याऽसम्भवात्काऽऽस्ते तव गेहमित्यर्थः ॥ ५९ ॥ तदेवाऽऽह त्वमेवेति ॥ ५९—६१ ॥ ब्रह्माण्डेति । यद्यप्यहम्व्यापिका तथाऽपि

काश्यां सर्वात्मना विष्णुः शिवौ सूर्यो विधिस्तथा।
अन्येऽपि देवप्रवरा ऋषयो योगिनस्तथा ॥ ६४ ॥
वसन्ति काश्यां सततं परब्रह्मसुखार्थिनः।
जितेन्द्रियाणां शान्तानां विषयग्रस्तचेतसाम् ॥ ६५ ॥
जायते परमानन्दो ह्यकल्मषधियां सदा।
गच्छ राजन्काशिपुरीं मां द्रक्ष्यसि निरन्तरम् ॥ ६६ ॥

पुत्राय राज्यम्विनिवेद्य सद्धनं प्रगृह्य निर्विण्णमनाः सभार्यः।
गत्वाऽविमुक्तेश्वरपूजकः सुखन्तिष्ठस्व काश्यां विजितेन्द्रियारिः ॥६७॥
पश्यन्ति सर्वे मनुजाः सर्वान्देवांश्छिवालये। स्वल्पायासेन सत्क्षेत्रसामर्थ्येन गतक्लमाः

इत्युक्त्वाऽन्तर्हिता गङ्गारूपिणी भक्तवत्सला।
राजाऽपि गङ्गावचनं श्रुत्वाऽऽश्चर्यसमन्वितः ॥ ६९ ॥
गजवक्त्रमनुस्मृत्य काशीङ्गन्तुं समुद्यतः ॥ ७० ॥

पुत्राय राज्यम्विनिवेद्य भार्यया गङ्गां स्मरन्काशिवासाभिलाषी।
चचाल गेहात्सुसमृद्धिपूरिताद् गङ्गान्दिदृक्षुः सततं सिद्धिरूपाम् ॥ ७१ ॥
स पुण्यकीर्त्तिः सुसमेत्य काशीं स्त्रिया स्वभृत्यैः परमर्षिभिश्च।
स्नात्वाऽपराह्णे स च विष्णुपद्यां देवन्ददर्शाऽऽर्तिहरं हरिञ्च ॥ ७२ ॥

लोकोद्धारार्थं जलप्रवाहरूपेण परिच्छिन्नाऽस्मि ततो मद्रोहं काश्यां जानीहि तत्राहम्भर्त्रा विश्वनाथेन सुसङ्गता रमे इत्यर्थः ॥ ६४ ॥ ननु काश्यां किमर्थन्तिष्ठसीति चेत्सर्वे महान्तस्तत्र तिष्ठन्ति तत्राऽऽहं तिष्ठामीति किमाश्चर्यमित्याह काश्यां सर्वात्मनेति ॥ ६५—७० ॥ सुरनिम्नगामिति। अत्र शिवरहस्ये सप्तमांशे गङ्गोत्पत्तिरुक्ता सा यथा हिमालयस्य काचिद्विमलानाम्नी परशक्त्यंशरूपा कन्या बभूव सा शिवो मम भर्त्ता भवत्वितीच्छया द्वात्रिंशत्कल्पपर्यन्तं तपस्तेपे ततः कदाचिद्ब्रह्मलोकगतां तां ब्रह्मादयो दृष्ट्वा मोहम्प्राप्तांस्तान्स्वस्मिन्मोहितान्दृष्ट्वा भवतां शिवसायुज्य-

सर्वस्वम्ब्राह्मणेभ्यश्च ददौ राजा महामनाः ।
भृत्यवर्गम्विहायाऽत्र महिष्या सह तस्थिवान् ॥ ७३ ॥

गङ्गास्नानं त्रिषवणं चकार श्रद्धयान्वितः । पूजनं स्मरणं सेवां गङ्गायाः श्रवणन्नतिम्
पुण्यकीर्त्तिर्महापूजां करोति विधिपूर्वकम् । एवं राजा भजन्नित्यं ददर्श सुरनिम्नगाम्
प्रसन्नवदनाङ्गङ्गां वरदाऽभयसत्कराम् ॥ ७६ ॥

उवाच राजन्वरयस्व कामान् सम्प्रार्थितान्देवगणैरलभ्यान् ।
काश्याम्प्रपश्यस्व महानुभावान् देवानृषीन्वरदाम्माञ्च विद्याम् ॥ ७७॥

राजोवाच

पश्यामि मातर्वरदाम्भवाब्धिनावम्विचित्राम्भवपारनेत्रीम् ।
सुदर्शनस्पर्शनचिन्तनाद्यैः कृतः कृतार्थो ह्ययमीश्वरि ! त्वया ॥ ७८॥
पश्यामि देवांश्शिवविष्णुधातृगणेशसूर्यप्रभृतीन्पुरस्ते ।
तव प्रसादात्पुरुषार्थदायिनि ! त्वया कृतार्थोऽस्म्यनघेऽघहारिणि ! ॥ ७९॥

गङ्गोवाच

न मत्प्रसादो न तवोद्यमोऽयं श्रीकाशिकायाः परमः प्रभावः ।
यदत्र देवा मुनयः सुसंयुतास्तिष्ठन्ति दृश्याः सुजितेन्द्रियाणाम् ॥ ८० ॥

राजोवाच

अहो माहात्म्यमतुलं काश्याः सर्वसुरप्रियम् ।
त्वञ्चाऽपि वा दिवारात्रं स्मरस्याद्याञ्जगज्जनिम् ॥ ८१ ॥

मोक्षो माऽस्त्विति सा कन्या शशाप पश्चात्स्वस्वरूपमपि परेषां मोहजनकं दुष्टमस्ती-त्यालोच्य तद्रूपं त्यक्त्वा जलरूपाऽभवत् तज्जलं ब्रह्मा विलोक्य विस्मयङ्गतो वारुणैः पाशैस्तस्य जलस्य निरोधङ्कृतवान् पश्चात्पूर्वङ्कृततपसातज्जलं केनचिन्निमित्तेन काश्याम्प्रवाहरूपेणाऽगमत् तदा तज्जलस्य स्वतो गमनं दृष्ट्वा देवैर्गङ्गेति नामस्था-पितं ततस्तज्जलाधिष्ठात्री देवता गङ्गेश्वरमिति लिङ्गं स्थापयामासेति ॥७५—७८॥

केयङ्काशी किम्प्रभावा केनाख्याता कियत्स्थितिः।
केन प्राप्या किम्प्रयच्छत्यहो मातः! प्रकथ्यताम्॥ ८२॥

गङ्गोवाच

चित्कला काशिका तात! प्रभावोऽस्या विमोचनम्।
विष्णुनाऽऽख्यातिमायाता पञ्चक्रोशात्मकस्थितिः॥ ८३॥
जितेन्द्रियैर्धर्मपरैः प्राप्यायच्छति शाश्वतम्॥ ८४॥

राजोवाच

प्रभावश्रवणेच्छा मे प्रवृत्ता त्वन्मुखात्परम्।
नान्यम्वरम्वृणे मातः! काश्याः शंस कृपावति!॥ ८५॥

गङ्गोवाच

न मया वर्णितुं शक्या काशी वर्षशतैरपि।
तथाऽपि तव सन्तुष्ट्यै वर्णयामि शृणुष्व तत्॥ ८६॥
पवित्रमाम्नायसहस्रगम्यं यद्ब्रह्म संसाधयितुम्प्रयत्नम्।
देवद्विजब्रह्मसुदेवतानां काशीस्वरूपं सुलभन्तु सम्यक्॥ ८७॥
उमासहायः शशिशेखरोऽत्र लक्ष्मीसहायो मधुसूदनोऽत्र।
धर्मः सुखं शान्तियुतं यदत्र स्वतोऽविमुक्तं परमम्पदं यत्॥ ८८॥

श्रीकाशिकाया इति। यत्सर्वदेवतानां दर्शनं स प्रभावः काशिकायाः पराशक्तेर्भगवत्या भवतीत्यर्थः॥ ८१॥ इत्थं गङ्गामाहात्म्यमुपवर्ण्य गङ्गामुखेन काशीमहिमानम्प्रकटयितुं प्रश्नमुत्थापयति केयङ्काशीति॥ ८२॥ चित्कलेति। "तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" इति श्रुत्युक्ता चित्कला ज्ञानकला या सा काशी पराशक्तिर्भगवतीत्यर्थः। विमोचनं सर्वप्राणिनां सोऽस्याः प्रभावः ख्यातिम्प्रसिद्धिं द्वितीयाध्यायोक्तप्रकारेणाऽऽयाता पञ्चक्रोशात्मकता मध्यमेश्वराच्चतुर्दिक्षु शाश्वतं मोक्षमिति। सर्वप्रश्नानां क्रमेणोत्तरमुक्तम्भवति॥ ८३—८४॥ पवित्रमिति। ब्रह्मसाधयितुं महान्यत्नोऽपेक्षितस्तदेव ब्रह्म काशीरूपं त्वत्यन्तं सुलभमेवम्प्रभावा·

यज्ञार्थिनां यज्ञफलं यदत्र तीर्थार्थिनां तीर्थफलम्पवित्रम् ।
योगार्थिनां योगफलं नृपेश ! दानार्थिनां दानफलम्विशिष्टम् ॥ ८९ ॥
भवेदवश्यं नहि संशयो शुभः काश्याङ्कृतो देवपराभवस्स्यात् ।
देवम्पराभूय जगद्गुरुं हरिं स यात्यवश्यं नरकानशेषान् ॥ ९० ॥
काशिका सकलतीर्थसेविता काशिका सकलदेवपूजिता ।
काशिका सकलशास्त्ररूपिता काशिका परपदप्रकाशिका ॥ ९१ ॥

स्थितिः काश्यां येषां परमसुखसन्तानसुखिनाम्
सतां सङ्गान्नित्यं हरिहरकथास्वादनजुषाम् ।
भवेदेकान्ते यैर्विविधजनवादादिरहिते
विविक्ते तैःप्राप्तं शिवमखिलसौख्यैकनिलयम् ॥ ९२ ॥
शान्ताः सज्जनवृत्तयः सुमनसस्सारज्ञसङ्गान्विताः
सेवन्ते सततं शिवौ शिवपरा विष्णुप्रियाः साधकाः ।
सामान्यव्यवहारदूरमनसः सम्प्रार्थिताः सौख्यदाः
सारासारविवेकयुक्तमनसो ब्रूयुर्यदत्राऽस्ति तत् ॥ ९३ ॥

आस्वादनपरा ये च काशिजम्परमामृतम् । त एव पृष्टा यद्ब्रूयुस्तत्सुखम्मोक्षलक्षणम्।

काशीत्यर्थः ॥ ८८ ॥ भवेदवश्यं नहि संशय इति पूर्वान्वपि यदि तु काश्यामशुभो देवपराभवो देवतिरस्कारः कृतः तदा तत्फलमुच्यते इत्याह देवम्पराभूयेति पराभूय तिरस्कृत्य ॥ ९० ॥ रूपिता निरूपिता ॥ ९१ ॥ परमसुखस्य ब्रह्मसुखस्य सन्तानो विच्छेदाभावस्तेन सुखिनामेकान्ते काश्यां येषां स्थितिर्भवेत्तैरित्यर्थः। शिवम्मोक्षरूपम् ॥ ९२ ॥ सारम्परमार्थसारज्ञता ये साधवस्तेषां सङ्गेनाऽन्विताः अथ च जनैः सम्प्रार्थिताः सुखदा भवन्ति ते यदत्र काश्यां सुखमस्ति तत एव ब्रूयुर्नाऽन्ये अन्यैर्वक्तुमशक्यत्वादित्यर्थः ॥ ९३—९४ ॥ नन्वन्यैः कुतो वक्तुमशक्यं

नहि व्यापृतचित्तानां लुब्धानां कामकामिनाम्
प्रकाशते परम्ब्रह्म शान्तसाध्यं दुरात्मनाम् ॥ ९५ ॥
राजा ग्रीष्मे भ्राष्ट्रदाहकर्त्ता सिंहासनस्थितः।
कथं राज्ये सुखन्तस्य वह्नौ निपतितस्य च ॥ ९६ ॥
योगैर्यज्ञैस्तीर्थसद्वृत्तदानैर्लोकस्याऽऽत्मा साधनैर्व्याकुलःस्यात्।
काश्यां शान्त्या संस्थितानां नराणां मुख्या शान्तिर्जायते नेतरेषाम् ॥९७॥
न भोगभूमिः किल काशिकेयं न धर्मबन्धोऽर्थलवोऽपि नाऽत्र।
मोक्षोऽपि नानाविधसाध्यसिद्धैर्न साध्यतेऽन्यत्र यथा दुरापः ॥ ९८ ॥
भोगबुद्ध्या सुरापानं परदाराभिधर्षणम्। निक्षेपग्रहणं स्वर्णद्रोहः सर्वस्य चाऽपि हि॥
सर्वा प्रवृत्तिर्भूतानां सुखबुद्ध्या न चाऽन्यथा।
काश्यास्त्यागोऽपि हि तथा विज्ञेयः कामकारितः ॥ १०० ॥
सुखमेव न जानन्ति विषयासक्तबुद्धयः।
सुखङ्काशिजमेवाहुः शान्ताः सद्वृत्तयोऽमलाः ॥ १०१ ॥

तत्राऽह नहीति शान्तैः साधुभिः साध्यम्ब्रह्म न प्रकाशते तेषामनुभवाभावादिति-भावः ॥ ९५ ॥ ननु सिद्धान्ते सर्वेषां दुरात्मनामपि परब्रह्मरूपत्त्वात्तेषाम्परब्रह्म कुतो न प्रकाशते तत्राऽऽह राजा ग्रीष्मे इति। सिंहासनस्थितोऽपि राजा यदि ग्रीष्मे काले भ्राष्ट्रे धान्यस्य दाहकर्ता भवति तदा तस्य तादृशवह्नौ निपतितस्य राज्ये विद्यमानं सुखं कथम्भवेन्न कथमपि तथा स्वतः सर्वेषाम्परब्रह्मरूपत्त्वेऽपि संसारा-सक्तचित्तानां दुरात्मनां शान्तैः साधुभिः साध्यम्प्राप्यम्ब्रह्मकथम्प्रकाशते न कथमपी-त्यर्थः। स्वस्वरूपस्याऽज्ञानेनावृतत्वादितिभावः ॥ ९६ ॥ दुरापोऽपि मोक्षो यथाऽत्र भवति तथाऽन्यत्र न साध्यते इत्यर्थः। नानाविधैरनेकविधैः साध्यैः साधनै र्येसिद्धाः पुरुषास्तेऽपीत्यर्थः ॥ ९८—९९ ॥ कामकारितः स्वेच्छया सम्पादितः ॥ १०० ॥ बिम्बघातकमिति बिम्बप्रतिबिम्बभावविघातकमित्यर्थः नहि कलुषिते

जले विलोडिते राजन् ! कलुषम्बिम्बघातकम्
स्वस्थे बिम्बप्रतिबिम्बप्रतीतिः पुरुषस्य हि ।
तथा काश्यां व्यापृतानां नैवात्मा प्रतिबिम्बति
अतः कदाचिद्ये केचित्प्राप्नुवन्ति गतव्यथाः ।। १०२ ।।
येषाम्प्रियतरः कृष्णः परमात्मा प्रियाप्रियः ।
नान्ये पुत्राः पुत्रपुत्राः प्रिया दासाः प्रिया जनाः ।। १०३ ।।

त एव चिद्घनं रूपं काश्याम्पश्यन्ति साधवः । धनधान्यगृहक्षेत्रमित्राणि पशवस्तथा
यत्सम्पर्कात्प्रियाणि स्युस्तमात्मानं हरिम्भज । यदनुग्रहलेशेन काशिका न सुदुर्लभा

प्रियाणि किं शोककराणि सन्ति प्रियाणि किम्व्याकुलयन्ति चित्तम् ।
प्रियाणि किम्वत्स ! बहूनि सन्ति प्रियः परात्मा हरिरेक एव ।। १०६ ।।

राजोवाच

कथम्परात्मा काशिकायाम्प्रियःस्यादन्यस्य सख्यम्विरमेत्कथम्परम् ।
कथन्त्वदुक्तं हृदि सञ्चरेच्चिरं कथम्प्रियार्थम्प्रयतेज्जनः शुचिः ।। १०७ ।।

गङ्गोवाच

ये न त्यजन्ति सततङ्गुरुं सच्छास्त्रविग्रहम् । तेषां हरिः प्रियतरो भवत्येव न संशयः ।।
सत्सु प्रीत्या कथाप्रीतिस्तत्प्रीत्या विष्णुरव्ययः । वल्लभो जायते नॄणां श्रुतवल्लभवल्लभः

चञ्चले तत्सम्भवति स्वस्थे चाञ्चल्यमलरहिते तु जले तत्प्रतीतिर्भवतीत्यर्थः ।। १०२ ।। व्यापृतानां कलुषितचित्तानां अतो हेतोः कस्मिंश्चित्काले ये केचिदेव साधवो गतव्यथाः शुद्धान्तःकरणास्ते एवं प्राप्नुवन्ति नं सर्वे ।। १०३ ।। प्रियाः पुत्रादयो अप्रिया यस्मिन्विषये स इत्यर्थः ।। १०४ ।। यत्सम्पर्कादिति । आत्मनि मुख्यम्प्रेयस्त्वं 'तदेतत्प्रेयः सर्वस्मात्' इतिश्रुतेः तत्सम्पर्कात्सम्बन्धादन्यत्र प्रेयस्त्वम् ।। १०६ ।। यानि प्रियाणि तानि किं शोककराणि सन्ति नैव सन्ति पूर्वोक्तानि पुत्रादीनि तु शोककराण्येवाऽतो न प्रियाणीत्यर्थः ।। १०७ ।। एवमुत्तरत्र । अन्यस्य पुत्रादेः सख्यम्प्रेयस्त्वं

ये शास्त्रविग्रहन्देवं गुरुं न प्रभजन्त्युत । सेवनैर्दानमानैश्च न तेषां श्रवणम्भवेत् ॥
तेषां सर्वमनर्थाय श्रुतं श्रवणविघ्नतः ॥ १११ ॥

येषान्न वित्तं न शरीरसेवा परोपकारोऽपि न चाऽस्ति सम्यक् ।
न तेषु पापेषु वसत्यवश्यं कथामृतङ्काशिकायाः प्रियायाः ॥ ११२ ॥

ये पश्यन्ति महादेवं गुरुम्मानुषरूपिणम् । धर्मज्ञानादिवक्तारं न तेषां हरिदर्शनम् ॥
हितं न जानाति जनो महात्मा हितं सदा श्रवणङ्कारयेद्यः ।
वेदेषु शास्त्रेष्वपि चोक्तमादौ गुरुः सुसेव्यो ह्यविमुक्तवक्ता ॥ ११४ ॥

कुलं शीलमथाऽऽचारमविचार्य गुरुं हरिम् । भजेत श्रवणाद्यर्थं सर संसारसागरम्
गुरुष्वतिशयो वत्स ! ज्ञातव्यः सुमहत्स्वपि । येषामनुग्रहात्पुंसां समदृष्टिः प्रवर्त्तते ॥
तेषाम्मत्कोशभूतानां नाऽपराधं समाचरेत् । गुण एव सदा ग्राह्यो न दोषो हि कथञ्चन
गुरूक्तशास्त्रसम्पर्कादन्येष्वपि शनैः शनैः । दोषदृष्टिं न कुर्वीत श्रुत्वा शास्त्रामृतम्महत् ॥

राजोवाच

मातः ! के गुरवः कार्याः किं शीलाः किम्विजानताः ।
येषाम्प्रसादाच्छास्त्रार्थस्तिष्ठत्यात्मनि सम्मतः ॥ ११६ ॥

गङ्गोवाच

विष्णुप्रियाः शिवरता वेदवेदार्थरूपकाः ।
भक्ता भक्तिप्रदाः शान्ता गुरवः परिकीर्त्तिताः ॥ १२० ॥

प्रियार्थं आत्मार्थम् ।१०८-१०९। श्रुतं श्रवणं वल्लभं येषां तेषां वल्लभस्ते वल्लभा यस्येतिवा ॥ ११० ॥ श्रवणसाधनगुरुकृपाविघ्नतः ॥ ११२ ॥ न वित्तन्धनङ्गुरवे दातुमित्यर्थः । "गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन 'धनेन वा" इतिस्मृतेः ॥११३-११४॥ वेदेष्विति "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ" इति श्रुतेः अतिशयो भक्तिभावानुभवपरमात्मा-

भक्ताः पापहराः समस्तजगतां भक्ताः परं साधवो
भक्ता एव पुनन्ति तीर्थतनवो भक्ताः सुसक्ता मयि ।
भक्तेष्वेव सुनिश्चिताः परतराः संसिद्धयो भूरिशो
भक्तानाशु न सन्त्यजेत्सुमनसो भक्तेषु विष्णुः स्थितः ॥ १२१ ॥

व्यासउवाच

इत्युक्त्वाऽन्तर्हिता गङ्गा पुण्या कीर्त्तिस्महासतिम्
सोऽपि काश्यां ददर्शाऽतो देवान् गङ्गाञ्च नित्यशः ।
काश्याम्पराङ्कथामेतां गङ्गामाहात्म्य संयुताम्
शृणोति श्रावयति यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १२२ ॥
अविमुक्तस्य गङ्गाया गुरोर्विष्णोः शिवस्य च ।
यः शृणोति कथां दिव्यां स याति परमाङ्गतिम् ॥ १२३ ॥

सूतउवाच

इत्युक्त्वा मुनिमुख्येभ्यो भगवान्बादरायणः ।
ययौ गङ्गा काशिकाञ्च द्रष्टुं शिवमयो मुनिः ॥ १२४ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये काशीमाहात्म्यपूर्वकगङ्गामाहात्म्य-वर्णनं नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

नुभवादिरूपः ॥ ११६ ॥ अन्येषु गुर्वतिरिक्तसामान्यान्यजनेष्वपि ॥ ११६—१२१ ॥ परतरा उत्कृष्टाः संसिद्धयो भक्तेष्वेव सुनिश्चिताः स्थिता इत्यन्वयः ॥ १२२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधाया-मेकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

ऋषिसूतसम्वादवर्णनम्

ऋषयऊचुः

सूत ! काशीकथां श्रुत्वा येऽलम्बुद्धिमुपासते ।
तेऽलं सुखाय मोक्षाय धर्मा हि गुणसंयुताः ॥ १ ॥
नरकार्णवभीत्याऽपि न काशी श्रयते जनः ।
भोक्ता धर्मादिकामानां व्रजनं कुत्र कथ्यताम् ॥ २ ॥

सूतउवाच

नरकार्णवभीतिः क्व धनापहृतचेतसाम् । धनेषु लग्नं हि मनः केन संह्रियते पुनः ॥३॥
द्विविधं धनमित्याहुः पण्डिताः पारदर्शिनः । एकम्बन्धाय पापानामपरं मोक्षसाधनम्
पापाय देहादिषु यत्प्रयुक्तं पुण्याय विप्रादिषु यत्प्रयुक्तम् ।

अथ सर्वशास्त्रधुर्धर्मराजस्य मुखेन काशीमहिमानम्वक्तुं पीठिकां रचयति सूतकाशिकथामिति । ये पुरुषा अलम्बुद्धिं संसारविषये उपासते आश्रयन्ति ते सुखायाऽलं सुखम्मोक्षञ्च भोक्तुं समर्थाः ॥ १ ॥ ये तु नरकार्णवभीत्याऽपि काशीं न श्रयन्ते तेषां मरणोत्तरम्व्रजनं गमनं कुत्र भवति तत्कथ्यतामित्यर्थः ॥ २ ॥ नरकार्णवेति । नरकार्णवभीतिरेव प्रथमतो दुर्लभा धनेन हृतचित्तानाम्भवतीत्यर्थः । दृश्यन्ते हि बहवो धनान्धाः परलोकवार्तानभिज्ञा एतादृशानाम्परलोकवार्ताऽपि नैव ज्ञेया भवतीतिभावः ॥ ३ ॥ तत्किमेतादृशं सकलन्धनं दुष्टमस्तीत्यत्राह द्विविधमिति तथाऽत्र विभागमाह एकमिति ॥ ४ ॥ पुण्यार्थमुपयोगेऽपि काम्यकर्म

पुण्येऽपि पक्षद्वयमादरेण शृण्वन्ति काम्यं त्वथ मुक्तिहेतुम् ॥ ५ ॥
काम्यम्विषयभोगार्थमिहाऽमुत्र प्रयुज्यते । मोक्षाय सुकृतन्तद्धि ब्रह्मार्पणधिया कृतम्
धनार्थम्मानुषन्देहं व्ययीकुर्वन्ति ये नराः ।
न तेषां जन्मसाहस्रैः पापस्याऽन्तः प्रजायते ॥ ७ ॥
नरके परिपच्यन्ते पामरा धनलोलुपाः ॥ ८ ॥

ऋषयऊचुः

कति सन्तीह नरकाः पापिनां दुःखहेतवः । केन पापेन कः कस्मिन्नरके परिपच्यते ॥
कुत्र वा नरकाः सन्ति लक्षणं किम्महामते ! ।
नरकाणां स्थलङ्कीदृक् कियद्दूरन्तदुच्यताम् ॥ १० ॥

सूतउवाच

संख्याम्पापविशेषांश्च पापिष्ठान् स्थानमेव च ।
लक्षणञ्च कियद्दूरं कालादिगणनम्पृथक् ॥ ११ ॥
नरकाणां स्वरूपञ्च राज्ञा सम्वरणेन च । पृष्टो देवर्षिवर्योऽत्र नारदः कथयिष्यति॥१२

नित्यकर्मभेदेन प्रकारद्वयमाह पक्षद्वयमिति काम्यहेतुरेकं धनम्मोक्षहेतुरेकमिति ॥ ५ ॥ तथा च धनापहृतचेतसां नरकभीतिरेव नास्ति तेषाञ्च नरकपात एव भवतीत्याह धनार्थमितिसार्धेन ॥ ७—८ ॥ प्रथमप्रश्नसमाधाने जाते प्रश्नोत्तरमुत्थापयति ऋषयऊचुः कतिसन्तीति । कतिसंख्याः सन्तीत्येकः केन पापेनेति द्वितीयः कः पुरुषः कस्मिन्नरके पततीति तृतीयः कुत्र इह वा अमुत्रक नरकाः सन्तीति नरकस्थानप्रश्नश्चतुर्थः तेषां लक्षणं स्वरूपं कीदृगिति पञ्चमः तेषां स्थलं कीदृगस्तीति षष्ठः ते च नरकाः कियद्दूरं सन्तीति सप्तमः प्रश्नः ॥ १० ॥ पूर्वसप्तप्रश्नानानुवदति संख्यामिति । कालादिगणनं एतावत्कालपर्यन्तमेतस्मिन्नरके पततीति सप्तप्रश्नेभ्योऽधिकं सङ्गृहीतम् ॥११॥ यच्च लक्षणादिकम्भवद्भिः पृष्टन्तन्नारदः सम्वरणेन पृष्टः विस्तरेण कथयिष्यति तत्पुनरग्रे सम्प्रवक्ष्यामि ॥१२॥ अत्र तु भवत्प्रश्नाना

तत्पुनः सम्प्रवक्ष्यामि शृण्वन्त्वत्र समासतः। धर्मराजस्य नगरी शुभा संयमिनी मता
तत्र धर्मसभायान्तु राजानो धार्मिकाः सदा।
सभासदो धर्मपरा महासुखसमन्विताः॥ १४॥
धार्मिकाणां धर्मराजः पापिष्ठानाम्महायमः। यमदूतैः परिवृतो दृश्यते भीषणाकृतिः
धर्मराजसभायान्तु मुनयो ब्रह्मतत्पराः। ब्रह्मार्थकोविदा ब्रह्मविचारणपरा मुहुः॥
यमः क्रूरः स एवैक छिन्धिभिन्धि विपाटय। यमदूतं सभायान्तु वदत्याकुलमानसः
निर्दयस्ताड़नपरस्तत्तत्कर्मप्रवर्तितः। तस्य तस्य तथा शक्तिं करोति क्षालयन्यमः॥१८
दुष्कृतं स्मारयञ्जीवान्मानुष्यम्पुरुषार्थदम्॥ १९॥

ऋषयऊचुः

पापिनः संयमिन्यां किं सर्वे जायन्त एव च।
किम्वाऽन्यत्राऽपि नरकाः सन्ति सूत! वदस्व नः॥ २०॥

सूतउवाच

ज्ञात्वाऽज्ञात्वाऽपि ये पापं कुर्वन्ति मनुजाः सदा।
ज्ञात्वाऽज्ञात्वा तस्य भोगाः कार्यन्तेह परत्र च॥ २१॥

ऋषयऊचुः

ज्ञात्वा कृतानाम्पापानां कथम्भोगः प्रवर्त्तते।
अज्ञात्वाऽपि कृतानाञ्च कथ्यतां सूत! सत्तम!॥ २२॥

सूतउवाच

वक्तारः सर्वशास्त्राणां श्रोतारश्च महाधियः।
कुर्वन्ति स्वेच्छया पापाः पापानि विविधानि ये॥ २३॥

मुत्तरं समासतः संक्षेपतो वक्ष्यामीत्याह समासत इति। यमलोके नरकाः सन्ति तत्र पापिनो गच्छन्तीति संक्षेपत आह धर्मराजस्येति॥ १३—१७॥ शक्तिं यातना-सहनार्थङ्करोति ददाति॥ १८—२२॥ कार्यन्तेहपरत्रचेति। इहाऽपि भोगो भवतीति

तेषां नरकसंदोहः संयमिन्यामुदाहृतः । तानुपालभते धर्मराजः कालवपुर्नरान् ॥२४

मानुष्यम्प्राप्य धर्मादिसाधनं नाशितङ्कुतः ।
सहध्वं यातनास्तीव्रा दुःसहा विविधाः स्वयम् ॥ २५ ॥
एवमुक्त्वा यमो दूतानाह क्रोधसमन्वितः ।
ताडयध्वं ताडयध्वं निर्दया मम शासनात् ॥ २६ ॥
इत्युक्त्वा विमनाभूत्वा गतो धर्मसभां यमः ॥ २७ ॥

ऋषयऊचुः

कथं स विमना जातो धर्मराजः प्रकुप्य च ।
किम्वा धर्मसभायां हि पृष्टः सद्भिरुवाच ह ॥ २८ ॥

सूतउवाच

ऋषयो देवऋषयो राजानो धार्मिकास्तथा । अन्येऽपि शुभकर्त्तारो धर्मराजमुपासते

तैर्दृष्टो विमनाः स्वामी संयमिन्याः प्रतापवान् ।
पप्रच्छुस्ते सदस्यास्ते शिवविष्णुपरायणम् ॥ ३० ॥

अद्य चिन्ता सुमहती दृश्यते तव सर्वग ! । न तन्मूलम्विजानीमो मन्यसे तद्वदस्व नः

धर्मराजउवाच

शृण्वन्तु देवाऋषय आश्चर्यम्महदद्य मे । मनुष्या भारते खण्डे बलाद्दुःखं हि भुञ्जते ॥

इहाऽपि नरकाः सन्तीत्यर्थः नरको नाम न कश्चित्पदार्थविशेषोऽस्ति किन्तु दुःखमेव नरकस्तद्यत्राऽस्ति तत्र नरकोऽस्त्येवेतिभावः । तत्र ज्ञात्वा कृतानाम्भोगमुपपादयति वक्तार इति ॥ २३—२५ ॥ उपालम्भमेवाऽऽह मानुष्यमिति ॥ २५ ॥ इत्थम्प्रतिदिनमुपालम्भङ्कृत्वा ताडयति कस्मिंश्चिद्दिवसे इत्थमुपालम्भनङ्कृत्वा धर्मराजोऽतिखिन्नः सन्सभायाङ्गत इति चमत्कारमाह इत्युक्त्वेति । विमनाः खिन्नः ॥२६ उवाचहेति । खेदस्य कारणङ्किमुवाचेत्यर्थः ।२७-३०। यदि मन्यसे वक्तुमित्यर्थः ॥३१ बलाद्दुःखं हि भुञ्जते इति । उपाये सति तमकृत्वा ये दुःखम्भुञ्जतेऽतोहम्विमना इत्यर्थः।३२

जम्बूद्वीपम्महासारं पृथिव्यां सर्वसौख्यदम् ।
तत्राऽपि भारतङ्खण्डं तत्राऽऽर्यावर्त्तभूमिका ॥ ३३ ॥
तत्राऽपि सर्वतीर्थानि सर्वक्षेत्राणि सत्तमाः ।
धर्माधिकारिणो ये च ये च ज्ञानाधिकारिणः ॥ ३४ ॥
तेऽर्थकामपरा भूत्वा नाशयन्ति जनाः शुभम् ।
भोगाभासेन मुग्धाक्षा धर्मवैराग्यवर्जिताः ॥ ३५ ॥
लभन्ते यातना दीना मानुष्यम्प्राप्य सर्वदम् ।
अहो ! वराकाः संहृष्टा रोदितव्ये मुहुर्मुहुः ॥ ३६ ॥
प्रहृष्टाः प्रहसन्तोऽन्यान्विरक्तान्विषयात्मकाः ।
मनुष्यदेहममृतं साधनम्प्राप्य दुर्धियः ॥ ३७ ॥
विषयेषु विषज्जन्ते घातयन्ति स्वमात्मना। मानुष्यम्प्राप्य सुभगाः साधयन्ति परम्पदम्
तदेव प्राप्य दुर्वृत्ता इहाऽमुत्र च दुःखिताः ।
भवन्ति माययाऽऽत्मानं घातयन्ति स्वयं शिवम् ॥ ३९ ॥

सदस्याऊचुः

कथमात्मा ह्युद्धृतः स्यात्संसाराद्दुखरूपिणः । कथं सुखमवाप्येत मनुजैर्मानवर्जितैः
वेदवेदार्थतत्त्वज्ञ ईश्वरः सर्वदेहिनाम् । क्रममाचक्ष्व मनुजा यथा सुखमवाप्नुयुः ॥४१

धर्मराजउवाच

सभ्याः श्रुणुत भद्रम्वो यथा नृणां शुभात्मनाम् ।
पुण्यभाजाम्प्रभवति तथा वच्मि क्रमोत्तमम् ॥ ४२ ॥

तदेव स्पष्टयति जम्बुद्वीपमिति ॥ ३३ ॥ सर्वक्षेत्राणीति । इत्थं सर्वोद्धारकपदार्थसमवाये सत्यपि ये धर्माधिकारिणः सन्तोऽपि ज्ञानिनः परोपदेशकुशलाः सन्तोऽपि शुभं धर्मं नाशयन्ति ततोऽधिकं किं खेदकारणं स्यादित्यर्थः ॥ ३४ ॥ रोदितव्ये विषये हृष्टा इत्यन्वयः ॥ ३६ ॥ परान्विरक्तान्विहसन्तः ॥ ३७ ॥ स्वयं

महासुकृतिनां सङ्गः सताम्भवति निश्चलः । तत्प्रसादाद्धर्मकथा वर्णाश्रमनिबन्धनाः

सदाचारमनःशुद्धिकारिण्यो मार्गदा नृणाम् ।
भवन्ति पुण्यभाजान्ता यावज्जीवमनारतम् ॥ ४४ ॥

शास्त्रसज्जनसंसर्गो महतामेव जायते । विघ्नितः पापपाखण्डविषयग्रस्तचेतसाम् ॥ ४५

श्रवणं धर्मशास्त्राणां सदाचारस्ततः परम् । ततो धर्मप्रवृत्तिर्हि ततो विश्वास उत्तमः

धर्मप्रवृत्तिर्हि द्विधा सकामाकामवर्जिता । विधिवैगुण्यरहिता इहाऽमुत्र सुखप्रदा

स्वनुष्ठितो वेदमार्गः साधयेत्किन्न देहिनाम् ।
स्वर्गाद्यर्थङ्कृताः सभ्या सावधानैर्महात्मभिः ॥ ४८॥
अवश्यं साधयत्येव तत्तत्फलमनामयम् ॥ ४६ ॥

सभ्याऊचुः

निष्कामं श्रोतुमिच्छामो मार्गम्वेदस्य तत्त्वतः ।
कोऽधिकारी फलन्तत्र धर्मराज! वदस्व नः ॥ ५० ॥

धर्मराजउवाच

गर्भवासादिगहने यस्य खेदः प्रजायते । स नैष्कर्म्यपरो भूत्वा संसारे सुखमाप्नुयात्

एक एवोभयत्राऽपि धर्मः कामिमुमुक्षुभिः ।
कृतस्तस्माद्द्विधा सभ्याः सुखम्मोक्षञ्च गच्छति ॥ ५२ ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तं लौकिकञ्चापि सत्तमाः । अर्पिते ब्रह्मणि परे कर्मसंसारमोचकम्

विरागरागयोः सभ्याः फलम्मोक्षोऽथ बन्धनम् ।
विरक्ता नश्वरं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मबुद्धयः ॥ ५४ ॥

वैराग्यात्सुदृढं ज्ञानं वैराग्यात्सुदृढन्तपः । वैराग्यात्सुदृढो धर्मो वैराग्यात्सुखमुत्तमम्॥

शिवमेतावत्पर्यन्तं खेदकारणमाश्चर्यं कथितम् ॥ ३६ ॥ सर्वदेहिनामीश्वर आत्मा कथमुद्धृतः स्यादित्यर्थः ॥ ४० –४६ ॥ सकामा धर्मप्रवृत्तिर्विधिवैगुण्येन रहितैव फलदेत्यर्थः ॥ ४७—५१ ॥ एक एव धर्मः सकामश्चेत्सुखन्ददाति निष्कामश्चेन्मोक्षन्ददाति ॥ ५२—५५ ॥

भवत्येव नृणामत्र वैराग्यात्पापसङ्क्षयः। तस्माद्विरक्तैर्धर्मादि यत्कृतं सफलम्भवेत्॥

ऋषयऊचुः

केचित्क्रूरं महाभीमं केचिद्धर्मतनुं शुभम्। पश्यन्ति त्वां धर्मराज! ह्येकमेव द्विधा कथम्

धर्मराजउवाच

एकएवाऽहमव्यग्रो नान्योऽस्ति हि कदाचन।
पुण्यपापात्मनां दृष्टिः क्रूरा क्रूरतराऽपि च॥ ५८॥

स्वहृद्येव जनाः क्रूरमक्रूरं कल्पयन्ति हि। पुण्यपापानुरोधेन तेषां दृष्टि प्रवर्त्तते॥ ५६
पुण्यात्मनां शुभा दृष्टिरशुभा पापकर्मणाम्। बलात्पतन्ति नरके नरा दैन्यविहिंसिताः
सर्वत्र दैन्यत्यागेन क्व दुःखन्निरयश्च कः। यदा धनादिषु प्रीतिर्न भवेत्सुकृतैर्धनैः॥६१
तदा प्रीतिर्भगवति वासुदेवे शिवे भवेत्। एकमेव मनः सम्यग् विषये वा परात्मनि
योजितं याति सततं नृणामेव तदात्मताम्। धनस्नेहादधो याति पुण्यस्नेहादुपर्येति (?)
हरिस्नेहाद्व्यापकत्वं विचार्य स्नेहमाचरेत्। नरः कनकबद्धो यः कनकान्मुच्यते हि सः
पवित्रं कनकम्प्रोक्तमपवित्रम्परं स्मृतम्। भोगसाधनबुद्ध्या तु रक्षितं नरकावहम्॥
अपवित्रम्परम्प्राहुर्द्रव्यं शुद्धिविघातकम्। व्ययीकृतम्विष्णुबुद्ध्या महापावनपावनम्

सफलम्मनन्तफलदम्॥ ५६—५७॥ एक एव पदार्थः स्वरुच्यनुसारेण कस्यचित्प्रियः कस्यचिद्द्वेष्यो भवति तथाऽहमपि पापबुद्ध्यनुसारेण क्रूरः पुण्यबुद्ध्यनुसारेण सौम्य इत्यर्थः॥ ५८—६१॥ उपर्येति ऊर्ध्वङ्गच्छति॥ ६२—६३॥ हरेः परमात्मनः स्नेहात्तु व्यापकत्वम्भवतीति त्रिविधस्नेहफलम्विचार्य यत्र योग्यः स्नेहस्तं समाचरेत् ननु धनस्नेहादधो यातीत्यधुना भवतोक्तं धनस्नेहश्च सर्वेषामपरिहार्य एव तत्कथं केचिदधोयान्ति केचिदुपरिगच्छन्ति केचिद्धरिस्नेहाद्व्यापका भवन्तीति चेत्तत्राऽह नरः कनकेति। एकेनैव कनकेन बध्यते मुच्यते चेत्यर्थः॥६४॥ तत्कथमिति चेत्तत्राऽऽह पवित्रमिति। कीदृशकनकेन बद्धो मुक्तो भवतीत्यत्र पवित्रापवित्रभेदेन कनकस्वरूपस्य द्वैविध्यमाह भोगेति॥ ६५॥ विष्णुबुद्ध्या परमेश्वरप्रीत्यर्थः। व्ययी

मदीयसुखपूगस्य साधनम्मदुपार्जितम् । पुत्रपौत्रप्रपौत्राणां जीवनन्तद्भविष्यति ॥
इति लोभपरः स्वर्णसङ्ग्रहेच्छुरनात्मवान् । नरकं याति कृपणः स्वर्णकामसमावृतः ॥
नश्यत्येव धनं सभ्या राजतश्चौरतः स्वतः । पुत्रमित्रकलत्राद्यैर्भुज्यते पापसञ्चितम् ॥
सञ्चितं धर्मतो वित्तं द्विजैर्धर्मेण भुज्यते । तदेव सर्वेश्वरगं सर्वार्थदमनिन्दितम् ॥७०

लक्ष्मीकान्तस्य सकलं धनन्तस्यांऽशतः खलु ।
स्वाम्यहम्वित्तजातस्याऽभिमानादिति च ध्रुवम् ॥ ७१ ॥

नरके याति पुरुषः पुण्यज्ञानविवर्जितः । न सुवर्णसमं मित्रं न सुवर्णसमो रिपुः ॥७२
मैत्रीम्विहाय तु कथं शत्रुत्वं साधयेद्बुधः । तथा देवार्पणम्मुक्त्वा पापार्थङ्कथमर्पयेत् ॥

कलौ कलिर्वासमकल्पयत्स्वं सुवर्ण सौवर्णविकारवस्तु ।
समस्तवस्तुष्वविचारिणां नृणामज्ञानिनां लोलुपवृत्तिचेतसाम् ॥७४॥
एतज्ज्ञात्वा यो विचार्याशु विष्णौ रौद्रं रेतः सम्विभज्यार्पयेत्तत् ।
मोक्षन्दद्यादन्यदेशेऽपि विष्णुर्वित्तन्दद्यात्किम्पुनः काशिकादौ ॥ ७५ ॥
परम्पदङ्काशिकाशिकाम्विष्णुरूपां त्रिधा बद्धा नाऽऽद्रियन्ते धनाशाः ।
यथेष्टभोगाचरणास्तु दुर्धियो देहे गेहे वुद्धयः साधुशून्याः ॥ ७६ ॥

कृतम्पवित्रम् ॥ ६६ ॥ मदीयेति ॥ ६७—६९ ॥ पापसञ्चितं धनं पुत्राद्यैर्भुज्यते धर्मेण सञ्चितन्तु द्विजैर्भुज्यते सर्वेश्वरगं सर्वेश्वरप्रीत्यर्थे व्ययीकृतं लक्ष्म्यंशभूतं लक्ष्मीकान्तस्य धनमिति बुद्ध्या देवब्राह्मणेभ्योऽर्पितं सर्वार्थदमिति पूर्वान्वयी ॥७० स्वाम्यहमित्युत्तरान्वयी न सुवर्णेति । देवब्राह्मणेभ्योऽर्पितं मित्रम् ॥ ७१ ॥ कलिः स्वम्वासं सुवर्णे सुवर्णविकारवस्तु पदार्थेषु अकल्पयत् अविवेकिनान्तु समस्तवस्तुष्वपि अकल्पयत्कल्पितवान् ॥ ७४ ॥ रौद्रं रेतः सुवर्णे सम्विभज्य यथा शास्त्रं विभागङ्कृत्वाऽर्पयेत् काशिकादौ यो वित्तन्दद्यात्तस्मै किम्पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः ॥७५॥ इत्थमेतावत्पर्यन्तमुपोद्घातङ्कृत्वा धर्मराजमुखेन काशीमहिमानम्वक्तुमारभते परम्पदङ्काशिकामिति । ते दुर्धियो ज्ञेया इत्यर्थः । त्रिधा बद्धाः देहे गेहे धने च बद्धाः ॥७६

प्रमादात्पतिते पापे प्रायश्चित्तादिना जनः। नाशयत्यात्मनः पापं न बुद्धिकृतमण्वपि

पुत्रस्याऽपि पिता शास्तिं कुर्यात्प्राणसमस्य हि।
अपराधिनः पुनः शिक्षां करोति स्नेहतोऽसकृत् ॥ ७८ ॥

पुनर्दौष्ट्यम्पापरूपं मा कुरुष्वेति शिक्षयेत्। पुनः करोति चेद्दुष्ट ! अपराधं सुदुर्मनाः

अपि यो जायते पुत्रः प्रियोऽपि पितृदोषकृत्।
तथा जगत्पिता रुद्रः शास्तिङ्कृत्वा सुतारयेत् ॥ ८० ॥
दुःखन्दत्त्वा तथा भुक्त्वा तरणङ्किम्प्रकाशते।
अतएव त्रिधा पापपरित्यागः शुभो मतः ॥ ८१ ॥

काश्याञ्जीवनपर्याप्तं हिरण्यं सुखदम्भवेत्। भुञ्जते ये महात्मानः सदाचारनिवासिनः

अनित्यतानुसन्धेया जगतो विकृतात्मनः।
परतः स्वतस्तथा शास्त्राद्दृष्टश्रुतविचारतः ॥ ८३ ॥

तथाऽपि न वृषे चेतो यस्य तन्नाभिभाषत। उपदेशः प्रस्तराणां नहि स्वार्थकृदुच्यते

बन्धो नादिर्मनुष्याणां प्रवाहेण पुनः पुनः। स एव रोचतेऽन्येषां बद्धास्ते पशवो यथा

पशवो विबुधा दैत्या ऋषयः पन्नगाः खगाः।
सर्वे बद्धाः पाशजालैः प्राकृतैर्मनुजोऽधिकम् ॥ ८६ ॥

ननु ते तत्तत्प्रायश्चित्तादिना शुद्धिमाप्स्यन्ति तत्राऽह प्रमादादिति। बुद्धिकृतस्य पापस्य प्रायश्चित्तं नास्तीत्यर्थः ।७७। नन्वीश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यदोषप्राप्तेः स शास्तिं न करिष्यति ततो धनाशा कथं दुष्टेति चेत्तत्राऽऽह पुत्रस्यापीति। यथा पुत्रस्यापीत्यर्थः ॥७८॥ पितृदोषकृत् यः पुत्रस्तं शिक्षयेदित्यनुषङ्गः। तथा जगदिति। तदुक्तं "लालने ताड़ने मातुर्नाऽकारुण्यं यथाऽर्भके। तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः" इति ॥८० दुखन्दत्त्वेति। परस्मै दुःखन्दत्त्वा तथा स्वयं धनम्भोगम्वा भुक्त्वाऽवस्थिततस्याऽत्र तरणं संसारात्किम्प्रकाशते नैव प्रकाशते इत्यर्थः ॥८१॥ जीवनपर्याप्तं नाऽधिकं एतादृशं धनं ये भुञ्जते ते काशीवासिनो भवन्ति न धनलोभिनः ॥ ८२—८३ ॥ प्रस्तराणां

बद्धा एव पुनर्बन्धं दृढयन्त्यविपश्चिताः । अतः पशुपतिं देवं भजेत्पाशविमुक्तये ॥८७

भजनन्दुर्लभन्तच्च भवेत्काश्युन्मुखस्य च । काश्याम्प्रविश्य पुरुषो भवेद्रुद्रतनुर्महान् ॥

न व्रतैर्न तपोभिश्च न पाण्डित्यादिसाधनैः ।
न योगयागनियमैः प्राप्यते काशिका परा ॥ ८९ ॥

नीरागमानसैर्भक्तैर्निष्पापैः पुण्यतत्परैः । प्राप्यते मोक्षजननी महापाशुपतैस्तथा ॥

सुसाधनसहस्रैस्तु तथा तुष्यति न क्वचित् ।
यथाऽत्रत्यजनानाञ्च यथा शक्त्युपकारतः ॥ ९१ ॥
काशिस्थाश्च जनाः सर्वे शिवविष्णुस्वरूपिणः ।
तस्मात्काशीजनान्नैव दूषयेदपि पापिनः ।

न धर्मः काशिजनता सेवनात्सुभगः परः । न पापङ्काशिलोकानामपराधादतः परम्

चित्तं सभ्याः पापकर्तुर्न स्थितिः प्रतिपद्यते ।
प्रवृत्त्या नाशमायाति जनः सुजनवर्जितः ॥ ९४ ॥
निरालम्बम्मनोराज्यं करोति विषयैर्युतम् ।
काश्यां न पातकैर्योगः सम्पाद्यः साधुभिः सदा ॥ ९५ ॥
सावकाशा नराः सर्वे पूर्वाभ्यासकृतश्रमाः ।
गच्छन्त्यशास्त्रमार्गेण सर्वधर्मविवर्जिताः ॥ ९६ ॥

पाषाणानाम् ॥ ८४—८७ ॥ काश्युन्मुखस्य काशीविमुखस्य ॥ ८८—९० ॥ तुष्यति ईश्वर इति शेषः । अत्रत्यजनानां यथाशक्त्युपकारेण यावानुपकारः स्यात्तावतोपकारेण यथा तुष्यति न तथेत्यन्वयः ॥ ९१ ॥ तत्र हेतुमाह काशिस्थाश्चेति ॥ ९२ ॥ जनता जनसमूहः अतो हेतोः काशी लोकानामपराधात्परमधिकम्पापं नेत्यन्वयः ॥ ९३ ॥ सभ्या इति सम्बोधनं सुजनवर्जितः साधुसमागमवर्जितः ॥ ९४ ॥ निरालम्बं निष्फलं तन्मनोराज्यं काश्यां न कर्त्तव्यं न च पातकैर्योगो न सम्पाद्य इत्यर्थः ॥ ९५ ॥ सावकाशा निर्बन्धरहिताः ॥ ९६ ॥

अतः सत्सङ्गशास्त्राणि शिवविष्णुपरायणः।
अवकाशनिरोधार्थं साधयेज्जीविताबधि ॥ ९७ ॥
इदं शरीरं मानुष्यं परमोत्कर्षहानिदम्। उत्कर्षार्थम्प्रयुञ्जीत नापकर्षार्थमादरात् ॥९८
स्वरूपतो न शुद्धन्तच्छुद्धन्तु पुरुषार्थतः। तन्निरुद्ध्य हठाद्धीरो योजयेत्पावने पथि ॥
क्व काशी क्व शरीरं हि मानुषं पुरुषार्थदम्। क्व पापविषया सर्वे परिणामातिशोकदाः
न काश्याम्व्याकुली भूय नीरसेषु मनो नयेत्।
अनेन जन्मनैकेन स्वीकुर्याच्छाश्वतम्पदम् ॥ १०१ ॥
जीवता यत्सुखङ्काश्यामविक्षिप्तेन्द्रियात्मनाम्।
न तत्सत्येन कैलासे न वैकुण्ठे कथञ्चन ॥ १०२ ॥
अतो न कुर्वन्ति महानुभावाः पापङ्कदाचिन्मनसाऽपि काश्याम्।
न पापयुक्ताः खलु लौकिकं हि भोगम्प्रपश्यन्ति कुतः श्रुतीरितम् ॥ १०३॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्यव्याख्याने काशीमाहात्म्यवर्णनं
नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अवकाशनिरोधार्थं निर्बन्धाभावनिरोधार्थम् ॥ ९७ ॥ परमोत्कर्षहान्योः प्रदम् ॥९८
तन्निरुद्ध्य तच्छरीरं यथेष्टाचरणान्निरुध्य ॥ ९९—१०२ ॥ श्रुतीरितम्मोक्षम् ॥१०३

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण
नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां
द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥



अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

सदस्यानां धर्मराजम्प्रति नरकयातनादिविषये प्रश्नः

ऋषयऊचुः

धर्मराजं सदस्याः किम्पृष्टवन्तो वृषस्थितिम् ।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां महासारः श्रुतो महान् ॥ १ ॥

सूतउवाच

सभासदैर्धर्मराजः पृष्टो नरकयातनाः । पापानि कथयामास यातनाश्च पृथग्विधाः॥

सदस्याऊचुः

कति पापानि धर्मेश ! यातनाः काश्च तत्कृताः ।
पच्यन्ते कासु के पापास्तद्वदस्वाऽऽनुपूर्व्यशः ॥ ३ ॥

धर्मराजउवाच

मनसा पापमायाति वचसा कर्मणा तथा ।
न संख्याऽस्तीह पापानां यातनानाञ्च सत्तमाः ॥ ४ ॥
स्वल्पान्यपि च पापानि लीलयाऽपि कृतान्यपि ।
उपपातकतां यान्ति सङ्ग्रहाभ्यासचिन्तनैः ॥ ५ ॥

इत्थं ज्ञात्वा कृतानाम्पापानां फलमुपपाद्याऽज्ञात्वाऽपि कृतानाम्फलम्वदन् सर्वेषाम्पातकानाम्फलम्वक्तुमारभते धर्मराजमिति। यत्र यस्यां वृषस्थितौ श्रुतिस्मृत्यादीनां महासारः श्रुतो भवति तां वृषस्थितिं धर्मस्थितिम् ॥१-३॥ स्वल्पान्यपीति। प्रथमतः पापस्य चिन्तनं ततस्तस्य सङ्ग्रहकरणं पुनः पुनस्तस्यैव करणमायासस्तैश्चितानि सञ्चितानि यथा यथा पापवासना वर्धते तथा तथा महान्ति पापानि करोतीत्यर्थः। तदुक्तं

महापातकतां यान्ति पुनस्तानि चितान्यलम् । एवम्वृद्धिक्रमेणैव महापातककोटयः ॥
नृणां सञ्चयमायान्ति प्रायश्चित्तादिवर्जनात् ।
तथाऽपि काश्चिद्वक्ष्यामि यातनाः पापसंयुताः ॥ ७ ॥
सर्वत्र नरकाः सन्ति गर्भवासादयोऽशुभा । स्वर्गापवर्गा अपि च पुण्यपापानुसारतः
संयमिन्यां यातनायां भवन्ति मम शासनात् ।
मुख्योपलक्षणार्थन्ताः सम्भवन्ति नृणामिह ॥ ६ ॥
मौक्तिकानां यथा गौणा मुख्या मण्डपिका कृता ।
प्राणिनामवरोधाय प्रभवन्ति तथाऽत्र तु ॥ १० ॥
तत्र तत्र निगृह्यन्ते प्राणिनो विषयैर्युताः । तथा विषयसंयुक्ता यातनाश्च पृथक्पृथक्
देहाभिमानाद्यत्पापं न तद्गोवधकोटिभिः ।
प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिर्नृणां गोवधकारिणाम् ॥ १२ ॥
देहाभिमानिनां ज्ञानमृषीणामपि दुर्लभम् ।
अहम्ममाभिमानोत्थैर्दुःखैः पापच्यते जनः ॥ १३ ॥

शिवरहस्ये "पापवासनपा(मा)पापन्ततः स्यादुपपातकम् । महापातकपूर्वं स्यात्ततस्तद्वासनन्त्यजेत्" इति ॥ ५–७ ॥ पुण्यपापानुसारतः पुण्यवतो जनस्य सर्वत्र स्वर्ग एव पापिनां सर्वत्र नरक एवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ संयमिन्यामिति । यमलोके संयमिन्यां दुःखम्भवति इत्युक्तिस्तु मुख्योपलक्षणार्था मुख्यं स्थानं दुःखस्य तद्भवतीति मूढम्प्रति प्रदर्शनार्था यतस्ता यातना नृणामिहाऽपि भवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ मौक्तिकानामिति । मौक्तिकानां मण्डपिकानाम सरपदवाच्या सा यथा मुख्या गौणा व्यवहारिभिः कृता तथाऽत्राऽपि प्राणिनां भयप्रदर्शनेन पापकर्मभ्योऽवरोधाय निरोधाय मुख्ययातनास्थलं यमलोकात्मकं कल्पितमितिभावः ॥ १० ॥ वस्तुतस्तु सर्वत्रैव यातनास्थलस्भवतीत्याह तत्र तत्रेति । भवेच्छुद्धिरिति । गोवधकारिणामपि प्रायश्चित्तेन शुद्धिर्भवति देहाभिमानिनान्तु शुद्धिरेव नास्तीतिभावः ॥ १२ ॥ मेऽपि हीति । मे मम

सुखबुद्ध्या प्रवृत्तस्य कुतो ज्ञानं कुतः सुखम् ।
ममताकुलचित्तानां नरकास्तु सुदारुणाः ॥ १४ ॥
भवन्ति च न ते नृणां गोवधादिप्रकुर्वताम् । नश्वरे विकृते शुद्धे दुःसाध्ये च सुदुर्लभे
प्रवृत्तिर्विषये नृणां पातकं किमतः परम् ।
का हानिर्यातना वा का तिरस्कारादयोऽपि च ॥ १६ ॥
अहन्देहधियां ये स्युर्न ते निरयकोटिभिः ।
प्रमत्तं मानुषं दृष्ट्वा भीतिर्भवति मेऽपि हि ॥ १७ ॥
अप्रमत्तं नरं दृष्ट्वा हृष्यामि च पुनः पुनः ।
देहाभिमानजामार्तिमनुभूयाऽपि पामरः ॥ १८ ॥
नात्मानमनुसन्धत्ते हरिम्पापहरौ शिवौ । महताऽपि प्रयत्नेन दुष्कृतं साधयत्यलम्
अनायासेन सर्वेशमात्मानं नाऽनुपश्यति । अतः परं किमत्राऽस्ति पापम्परमदारुणम्
कस्त्वम्पृष्ट इति ब्रूयाद्देहोऽहमिति पातकी । चक्रवर्त्तिपदे तिष्ठन्महान् सिंहासने वरे
आत्मानं मन्यते दीनं चाण्डालं दुःखभाजनम् ।
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासम्पुरातनम् ॥ २२ ॥
भरतेन च सम्वादं जनकेन विपश्चिता ।
ऋतुध्वजो नाम महान् जनको मिथिलाधिपः ॥ २३ ॥
तीरे तीरे देवनद्याः प्रददर्श ऋषीन्बहून् । कर्मज्ञानरतान्सर्वान्स्वस्वशास्त्रकृतश्रमान्
पप्रच्छ वेदतात्पर्यं विनीतः प्राञ्जलिर्द्विजान् ।
केचिद्दानं तपः केचित्तीर्थानि च तथाऽपरे ॥ २५ ॥
यज्ञवैराग्यविज्ञानव्रतानि विविधानि च ।
वदन्ति चाऽपरे विप्राः स्वाध्यायाश्रमसत्कथाः ॥ २६ ॥

यमस्यापीत्यर्थः ॥ १७—१८ ॥ शिवौ उमा महेश्वरौ ॥ १९ ॥ ननु चक्रवर्त्तिपदे कथमयञ्जीवः स्थितोऽस्ति चक्रवर्त्तिपदस्य चानुभवी लोके कोऽस्तीति चेत्तत्राऽऽह अत्रैवोदाहरन्तीममिति ॥ २२—२६ ॥

तत्र तत्र ऋषिभ्यो ज्ञः श्रुत्वा राजा महामनाः ।
स्वं स्वम्मतं समालम्ब्य वदतामग्रतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

जनकउवाच

अहो मुकुन्दस्य विचित्ररूपा माया यया मोहिता विप्रवर्याः ।
ग्रस्ताभिमानेन मनो यतो यतः प्रवर्त्तते यान्ति विदस्ततस्ततः ॥ २८ ॥

सूतउवाच

एवं स राजा जनकः सर्वान्पप्रच्छ भूरिशः । उपक्रमोपसंहारात्तात्पर्यज्ञानकेन च ॥
अवदद्भरतः पूर्णश्चीरवासाः परिभ्रमन् । प्रसन्नवदनः प्राप्तो गङ्गाकूलं द्विजैर्युतः ॥३०

आदृतो जनकेनाऽऽशु राज्ञा तत्त्वं विजानता ।
प्रतिपूज्य नृपो विप्रं स्थितो व्याकुलमानसः ॥ ३१ ॥

ऋतध्वजउवाच

कस्त्वम्प्रसन्नः परिपूर्णकामो निष्किञ्चनो भोगयोगादिशून्यः ॥ ३२ ॥
किञ्चित्त्वयाऽऽप्तं सुविचारितञ्च येन त्वमात्मानमनञ्जनङ्कुथाः ।
कुतः समागमनन्तेऽद्य पूर्ण ! गन्तासि कन्देशमितः कृतार्थः ॥ ३३ ॥
जात्याऽसि कः किञ्च तवाऽस्त्यभीष्टं केन प्रयुक्तः प्रकरोषि किञ्च ॥३४॥

यतोयत इति । यस्य यस्य यो यो विषयो मनसा विभाति स तस्मिन्विषये प्रवर्त्तते तन्विषयम्वदति नैकत्र निश्चय इत्यर्थः ॥ २९ ॥ उपक्रमेति । उपक्रमोपसंहाराभ्यां यद्वेदतात्पर्यज्ञानन्तेन हेतुना तत्कस्याऽप्यस्ति वा नास्ति वेति ज्ञानहेतुना यद्वा, उपक्रमोपसंहाराभ्यां यद्वेद तात्पर्यज्ञानन्तेन युक्तो भरतोऽवददित्युत्तरेणान्वयः कस्मिन्स्थले जनकस्य भरतसमागमो जातस्तदाह प्रसन्नवदन इति ॥ ३० ॥ भोगस्य योगः सम्बधः आदिपदेन तद्वासना ॥ ३२ ॥ अनञ्जनं निर्मलम् ॥ ३३ ॥ अवधूतउवाच अहमिति । "यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसम्विशन्ति" इति श्रुतेर्जगत्सृष्टिस्थितिसंहारकर्ताऽहं प्रतीतं जगत्सर्वम्मयि

अवधूतउवाच

अहञ्जगत्त्राणनिरोधसृष्टिकर्त्ता प्रतीतम्मयि भाति सत्ये ।
अतो न कर्ता करणं न कार्यं जातभ्रमः पश्यति दृश्यजालम् ॥ ३५ ॥
प्रसन्नता तत्र न यत्र शोकः शोकैर्युक्तः कलुषीभूय दीनः ।
भवत्यजस्रं निरयार्णवस्य पात्रम्पवित्रं स विसृज्य दूरात् ॥ ३६ ॥
मूलम्परम्ब्रह्मरसायनं हरिं शिवम्परानन्दमयं सनातनम् ।
आस्वाद्य कामान्समवाप्य पूर्ण ! पूर्णस्य किङ्कासलेशाः सुखाय ॥३७॥
निष्किञ्चनाः किञ्चन नाऽऽद्रियन्ते विष्णुं सदानन्दमयम्विहाय ।
न सर्वसन्यासयुतो महात्मा ह्यकिञ्चनो विषयासक्तचित्तः ॥ ३८ ॥
भोगास्तु रोगा इव दीनचेतसं दहन्ति दैन्याधिविषादिमूलाः ।
ततोऽतितुच्छान्प्रविहाय भोगान्भजामि सर्वन्निरवद्यभोगम् ॥ ३९ ॥
यमादिभिः साध्यतमोऽतिकष्टो दृढैर्युक्तैर्नियमैस्तु योगः ।
अतः परानन्दमये निमग्नस्त्वयधीश्वरे वासुदेवे कृतार्थः ॥ ४० ॥
अहो ! मयाऽऽत्मा विषयेषु दत्तः पूर्वम्महानर्घ्यमणिप्रकाशः ।
सच्छास्त्रसत्सङ्गहरिप्रसादात्पुनः प्रलब्धो हि करच्युतो मया ॥४१॥

कल्पितम्मायया अतोऽहं न कर्त्ता नाऽपि कार्यङ्करणञ्च यो हि जातभ्रमः स दृश्यजालङ्कर्तृत्वादिरूपं पश्यति तथा नाऽहमस्मीतिभावः ॥ ३५ ॥ पवित्रं ज्ञानन्दूराद्विसृज्येत्यर्थः ॥ ३६ ॥ स्वस्य तृप्तिम्वर्णयति मूलमिति ॥ ३७–३९ ॥ यमादिभिरिति । अतिकष्टाद्धर्मादिभिस्तथा दृढप्रयुक्तैः सम्पादितैर्नियमस्तु यो योगो जीवपरात्मनोरैक्यरूपः साध्यः अतोऽस्मादेतादृशात्तस्माद्योगात्परानन्दमये परमात्मन्यहन्निमग्न इत्यर्थः ॥ ४० ॥ विषयेषु दत्तो विषयतादात्म्यापन्नः कृत आत्माकराद्धस्ताच्च्युतो गत एव स्थितस्तथाऽपि लब्धः ॥ ४१ ॥

विचारितम्मङ्क्षु विविक्तचेतसा सत्यन्त्वसत्यं श्रुतिचेतसा मुहुः।
विचारसत्यम्प्रगृहीतमद्य मे गतन्त्वसत्यं स्वयमेवाऽद्य चित्रम् ॥ ४२ ॥
मनुष्यदेहेन सुसंस्कृतेन कर्तुं सुयोग्यम्भवतीह यत्सत्।
कृतन्तदेवाऽद्य मया महामते ! धिक्तान्नरान्मानुषं नाशयन्ति ॥ ४३ ॥
पूर्णेतिसम्बोधनतस्त्वयैव सदुक्तमेवाऽत्र वदामि किन्ते।
पूर्णस्य गत्या न सम्भवत्यलं देहादिदृष्टिः खलु देहिनाम्भवेत् ॥ ४४ ॥
जात्यादिदेहादिविवर्जिते मले गतागतम्वदतां हानिरेव।
अहम्प्रयोक्ता सकलस्य राजन्यथा रविर्मृगतृष्णाधिवासः ॥ ४५ ॥

जनकउवाच

बहुभिर्जन्मभिर्विप्र ! तवेयं विमला मतिः। एकेन जन्मना प्राप्तिः कथं ज्ञानस्य तद्वद

सत्यङ्किमसत्यं किमिति विचारितं प्रथमतः श्रुतिचेतसा श्रुतियुक्तिभ्यां पश्चाद्विचारेण यत्सत्यं सिद्धमात्मरूपं तद्गृहीतं तस्मिन्गृहीते असत्यं जगत्क गतमिति जाने ? इदम्महच्चित्रमित्यर्थः ॥ ४२—४३ ॥ पूर्णेति सम्बोधन इति। हे राजंस्त्वया हे पूर्ण इति सम्बोधनङ्कृत्वा यत्सदुक्तं सत्पृष्टं कुतः समागमनन्तेऽद्य पूर्ण "गन्ताऽसिकन्देशमितः कृतार्थः जात्याऽसि कः किञ्च तवास्त्यभीष्टम्। केन प्रयुक्तः प्रकरोषि किञ्च" इत्यनेन श्लोकेन तत्र ते किम्वदामि प्रत्युत्तरम्पूर्णस्य मम गत्यादीनामभावात् ननु गच्छसि वदसि त्वमिति त्वयि क्रिया दृश्यते एवेति चेत्सा देहादिदृष्टिर्देहिनामज्ञानिनाम्भवेदज्ञानिदृष्ट्या तदस्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ परमार्थतस्तु पूर्णे आत्मनि गतागतम्वदतान्देहादिवर्जिते जात्यादिकम्वदतां हानिरेव तत्तद्धर्मवत्त्वेनाऽऽत्मनि ज्ञाते जन्मादिप्राप्त्या सर्वनाश एव भवेत् अहमेव सर्वस्य प्रयोक्ता प्रेरको न मम प्रेरकोऽन्योऽस्तीत्यर्थः। यथा रविर्मृगतृष्णाया अधिवास उत्पादयिता तद्वत् ॥ ४५ ॥ नन्वेतादृशं बहुजन्मसाध्यं ज्ञानङ्कथङ्कस्य वा भविष्यतीति शङ्कां सभ्यमनसि जातां निराकर्तुमेकेनैव जन्मना ज्ञानम्भवतीत्यर्थं जनकप्रश्न-

जडभरतउवाच

एवमेव पुरा देवः पृष्टो देवैः पिनाकधृक् ।
कैलासशिखरे रम्ये साम्बः स्कन्दादिभिर्वृतः ॥ ४७ ॥
एकेन जन्मना मोक्षो भवत्येव न चाऽन्यथा ।
सर्वेषाम्प्राणिनामत्र तथा वद सनातन ! ॥ ४८ ॥

श्रीमहादेवउवाच

इदमेव पुरा पृष्टो विष्णुर्ज्ञानघनः परः । एकेन जन्मना ज्ञानं कथं सिद्धम्भवेन्नृणाम् ॥

श्रीविष्णुरुवाच

जन्मानि क्रमशो यस्य निष्पापसवृषाणि च ।
तस्य त्वयि भवेद्भक्तिस्ततो भेदो मया सह ॥ ५० ॥

अभेददृष्टिः सर्वत्र ज्ञानदाऽज्ञाननाशिनी । वैराग्यादिमहामुख्यैः साधनैः सम्प्रवर्त्तते
तदा बहुतिथे काले कस्यचित्तत्प्रजायते । अतो ज्ञानगृहम्मेऽस्ति काशी विबुधदुर्लभा
एकेन जन्मना तत्र मरणावसरे मलम् । ज्ञानमुत्पद्यते जन्तोः श्रुतिभिर्यन्निरूपितम् ॥
ब्रह्मभूमेः स्वभावोऽयम्महाज्ञानप्रदो नृणाम् । अन्यथा साधनवरैः कदाचित्सम्भविष्यति

अपराधविहीनानां काशिका सम्प्रयच्छति ।
शीघ्रमेव महादेव ! यातनान्तेऽपराधिनाम् ॥ ५५ ॥

श्रीमहादेवउवाच

श्रोतुमिच्छामि देवेश ! ह्यपराधाञ्जगद्गुरो ! ।
केऽपराधाः कृतैः किम्वा अकृतैः किञ्च जायते ॥ ५६ ॥

मुत्थापयति बहुभिरिति । "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्माम्प्रपद्यते" इति भगवद्वच-नाद् बहुभिर्जन्मभिस्तवेयं विमला मतिर्जाताऽस्माकन्तु पामराणामेकेन जन्मनाऽस्या मतेः प्राप्तिः कथं स्यादिति तत्साधनम्वदेत्यर्थः ॥ ४६ ॥ देवैः पृष्टो महादेवो देवान्प्रत्युक्तवान् य एव प्रश्नो भवद्भिः कृतः स एव प्रश्नो मया विष्णुम्प्रति कृत

श्रीविष्णुरुवाच

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च सदाशिव ! ।
अपराधाः पृथक्प्रोक्ताः सर्वेषाञ्च विशेषतः ॥ ५७ ॥
प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामनाचारस्तथाऽपरः । तथा स्वधर्माचरणं शूद्रान्नं शूद्रसेवनम् ॥
क्षत्रियाणाम्प्रजाद्रोहो रणाद्भीतिर्न पापभीः ।
यथेष्टं व्यवसायादिमानकूटम्मृषा विशाम् ॥ ५९ ॥
अपराधा भवन्त्येव शूद्राणां शृणु शङ्कर ! । द्विजासेवा वेदवादः प्रतिग्रहरुचिस्तथा ॥
मद्यमांसादिव्यसनं मायया लोकवञ्चनम् ।
पूज्यबुद्धिरसेवा च वर्णानां वेषधारणम् ॥ ६१ ॥
ब्राह्मणाद्यैः काशिकायामेतद्वर्ज्यम्पृथक् पृथक् ।
विरुद्धाचरणङ्काश्यां न कार्यं स्वस्य वा परम् ॥ ६२ ॥
विरुद्धाचणेनाऽस्मान् काश्यादीन् द्रुह्यते वशी ।
या दृष्टा पापसङ्घौघान् स्मृता जन्मशतस्य च ॥ ६३ ॥
स्पृष्टा शतसहस्रस्य नाशयत्येव काशिका ।
काशिकाऽतीव जननी काशिका सर्वपापहृत् ॥ ६४ ॥
सर्वदा सुखदा काशी ताङ्काशीङ्को विरोधयेत् ।
पितृमातृद्रुहान्नृणामपि जन्मशतैरपि ॥ ६५ ॥
निष्कृतिःस्यान्न काश्यां हि स्थित्वा काशीद्रुहाङ्क्वचित् ।
मात्रा सह समानत्वं काश्याऽपि हीति कुत्रचित् ॥ ६६ ॥
गर्भवासप्रदा माता काशी गर्भविनाशिनी ।
काशिका द्रुह्यते ज्ञैः किं सच्छास्त्रगुरुतत्परैः ॥ ६७ ॥

इत्याह इदमेवेति ॥ ४९ ॥ स वृषाणि धर्मेणसहितानि ॥ ५०—५१ कस्यचिदुत्तमाधिकारिणः विष्णुमुखेन काशीमहिमानम्वक्तुमुपक्रमते अतो ज्ञानगृहमिति

मलमूत्रादिनरकदेहस्थैश्चाऽविताः सुताः । तिरस्क्रियन्ते मात्रा न तथा पापकृतोऽधमाः
वासनाऽपि हि धर्मस्य सुखदा भयदा मता । किम्पुनर्धर्मकर्तारः काश्यां सुखमवाप्नुयुः

धर्मो मदात्मको देव स्तस्माद्धर्मं न सन्त्यजेत् ।
मत्स्मृत्या सर्ववृषयुक् विस्मृत्या पापयुग्भवेत् ॥ ७० ॥
यदा यदा विस्मरणङ्करोति तदा तदा दूरतरम्प्रयामि ।
यदा यदा मां स्मरते महात्मा तदैव मध्यम्प्रविशामि बन्धुः॥७१
यदा जनो यस्य समागमेन स्मरन्यथा याति विकारमन्तः ।
तदा तदाऽऽकारतया प्रवर्त्तते सर्वत्र लोकेष्वथ वैदिकेषु ॥७२॥
पुण्यैस्तु सम्पूर्णतरैर्महात्मा मोहान्धकारप्रशमेन माम्भजेत् ।
मनो महानन्दमयं महातनुं मायापहम्मोक्षदमर्थसाधनम् ।
मक्षिकेण दुरात्मा यो भ्रमरेण समो महान् ।
कस्तूरिकाम्विहायाऽऽशु पूये रमति मक्षिका ॥ ७४ ॥
तथा दुरात्मा मां हित्वा विषयेषु विषज्जते ॥ ७५ ॥
अहम्प्रसन्नः प्रददामि काशीं मन्ये पदार्थाः खलु गर्भवासम् ।
तस्मान्मुमुक्षुः सुविचार्य यत्नाद् भजेत मां काशिकार्थी पराय ॥ ७६ ॥

॥ ५२—५४ ॥ शीघ्रमेवेत्यस्य पूर्वेणाऽन्वयः ॥ ५५—५७ ॥ अस्वधर्माचरणमिति-च्छेदः ॥५८॥ न पापभीरपराधः मृषा मानकूटं तुलाकूटम्विशामपराधः ॥ ५९-६७ ॥ मात्रा यथा न तिरस्क्रियन्ते तथाऽधमाः काश्या न तिरस्क्रियन्ते ॥ ६८—७० ॥ धर्म इति । "धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा" इति श्रुतिः मध्यं हृदयस्य मध्यम्बन्धुः सखा "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ" इति श्रुत्युक्तः ॥ ७१—७२ दुरात्मा पुरुषो कस्तूरिकायाम् ॥७४॥ मक्षिकया तुल्यो भवति महान्पूरुषस्तु भ्रमरेण तुल्यो भवति कया रीत्येति चेत्तत्राह कस्तूरिकामिति । पूये विष्ठादिषु भ्रमरस्तु ॥ ७५ ॥ काश्याः पराशक्तेः प्राप्तिः तस्या उपासना च भवति काशीभगवतीप्रसादाच्च मोक्षो

वेदान्तसारो बहुधा स्मारितो हितकृन्मया ।
भोगा भुक्ता बहुविधा ऐश्वर्यञ्च प्रकाशितम् ॥ ७७ ॥
नीतोऽभिमानो वृद्धिश्च धनं धान्यं सुसेवितम् ।
सुखबुध्या कृतं यत्र ह्येतद्दुष्कृतकारणम् ॥ ७८ ॥
महानरकजालेषु भोगवुद्धिः सुखाय किम् ।
सर्वम्विचार्य हे लोकाः ! सत्यो भोगो हि भुज्यताम् ॥ ७९ ॥
यो न नश्यति नो दुःखमिह सम्पादने क्वचित् ।
न द्वेषो हि भवेत्कैश्चिन्नेर्ष्या च क्रयविक्रयौ ॥ ८० ॥
नाऽऽधिक्यं न धनाकाङ्क्षा न पापङ्काल एव च ।
शृणुध्वं यदि वः पुण्यं यदि वः पापसङ्क्षयः ॥ ८१ ॥
सर्वभोगैकनिलयां परमानन्ददायिनीम् । भजध्वङ्काशिकाङ्कान्तां ममानुग्रहशेवधिम्
त्रयीमयीं तन्मयास्तु ममानुग्रहभोगिनः ।
भोगोऽयन्दुर्लभो नृणां भोगविक्षिप्तचेतसाम् ॥ ८३ ॥
उपदिश्य ब्रह्मऋषींस्तद्द्वारा लोककोटयः । उपदिष्टा महादेव ! कृपया गर्भवासिनः ॥

श्रीमहादेवउवाच

त्वम्भक्तवर्गाधिहरः परात्मा भवाप्रियो भावकृतांस्तु दूरः ।
अभावनाभाग्यवताम्परा स्याद् भाग्यम्विना किन्तव भावना स्यात् ॥८५

भवतीतिभावः । पराय मोक्षार्थम् ॥७६॥ मया भोगा भुक्ता इत्यादिको यो लोका-नुभवस्तत् दुष्कृतकारणमेवेत्यर्थः ॥ ७७—७९ ॥ सम्पादने दुःखं न अकरोत् न पापं न वा कालबाधा यत्र स सत्यो भोगो भुज्यतामित्यन्वयः ॥ ८०—८१ ॥ भजध्वमिति लोकान्प्रति विष्णूक्तिः ॥ ८२ ॥ भोगोऽयम्ममानुग्रह भोगोऽयमित्यर्थः ॥ ८४ ॥ भक्तवर्गस्याऽधिव्याधिः अभावकृतामभावो भक्तिस्तदभावकृतामभक्ति-भाजामित्यर्थः । अभाग्यवतामितिच्छेदः तव भावना स्यादित्यन्वयः ॥ ८५ ॥

त्वदाज्ञया याति जनो जनत्वं त्वदाज्ञया सम्वृणुते परन्तत्।
त्वदाज्ञयाहङ्कृतिहा भवत्यलं त्वदाज्ञया नाशितया स्वयं नशेत्॥८६॥
यावन्न जानाति तव स्वरूपं नास्वाद्य तावद्भ्रमतीह विष्णो!।
तव स्वरूपामृतपानतुष्टो विषाग्निना दह्यति किं जगत्सु॥ ८७॥
न शास्त्रवादे न गुरूपदेशतो न लोकदृष्ट्या न च सम्प्रचारैः।
तृप्तिं न भुक्तिम्परिहृत्य चाऽश्नुते जनः कदाचिद्विविधान्नवादैः॥ ८८॥
त्वत्सेवनादेव तथा नरः परम्पदम्प्रपश्यत्यवशः सुदुर्लभम्।
न वेदवादैर्नच शास्त्रविस्तरैर्वचोभिराप्येत सुधासमन्धनैः॥ ८९॥

श्रीविष्णुरुवाच

न मत्प्रियाः केऽपि न चाऽप्रिया वा समस्य शुद्धस्य सनातनस्य।
तथापि दीनम्प्रभजामि मानवं येनाऽऽत्मसात्सर्वमिदञ्जगत्कृतम्॥ ९०॥
न वाह्यसंस्कारविकारमानसैः प्राप्यः परात्माऽहमथाऽऽदृतः क्वचित्।
हृदि प्ररूढासिवनैः सपूयविण्मूत्रकेशास्थिमयैः सकामैः॥ ९१॥

अजनत्वमितिच्छेदः अजनत्त्वममृतत्वं सम्वृणुते प्राप्नोति अहङ्कृतिहाऽहङ्कारच्छेदकः नशेत् नश्येत्॥८६॥ यावन्न जानातीति। ना पुरुषो यावत्तवस्वरूपमास्वाद्य न जानातीत्यन्वयः अनुभव पर्यन्तं न जानातीति तात्पर्यम्। विषाग्निना संसाररूपविषाग्निना स्वरूपमास्वाद्येति वा पाठः॥ ८७॥ शास्त्रवादादिभिस्तथा विविधान्नवादैर्विविधान्नकथनैस्तन्मात्रेण भुक्तिम्विना भोजनं विना जनो यथा तृप्तिं नाश्नुते न प्राप्नोति तथा नरः शास्त्रवादादिभिः परम्पदं नाप्नोति किन्तु त्वत्सेवनादेवेत्यर्थः॥ ८८॥ सुधासमन्धनैः धनैर्यथा सुधा न प्राप्यते तद्वत्॥ ८९॥ येनात्मेति। येन दीनेनात्मसादात्माधीनं जगत्कृतमात्मरूपेण दृष्टमित्यर्थः॥ ९०॥ न बाह्येति। बाह्या ये विषयास्तेषां संस्कारा एव विकारास्तद्युक्तं मानसं येषान्तैरनादृत इत्यन्वयः अतन्द्रित इति पाठे तन्द्रा अविवेकरूपा निद्रा तया आच्छा-

कामप्रधानाः पुरुषार्थहारका वसन्ति यत्रत्य वने कुतस्कराः ।
तैर्लुण्ठितम्वेति न राजमन्दिरं दीनो बहिर्धावति मध्यशून्यः ॥ ६२ ॥
ममाऽपि सामर्थ्यमनेन नाशितमन्तर्गतस्यापि बहिः कृतं यत् ।
गृहस्थितम्पद्मनिधिम्विनाश्य बहिर्बहिर्याति वराटिकार्थम् ॥ ६३ ॥

यैरहं सुकृतैर्दृष्टः स्पृष्टः सम्पूजितः श्रुतः । स्मृतस्त एव मां नित्यं न त्यजन्ति कदाचन

पीत्वा पीयूषममलं नाऽऽसवम्पातुमिच्छति ।
मयि किन्न महादेव ! किम्वा न क्रियते मया ॥ ६५ ॥
अतो मयि रतिङ्कुर्यात्सवदे ! पापहारिणि ! ।
यदि माम्प्राप्तुमिच्छन्ति प्राप्नुवन्त्येव नाऽन्यथा ॥ ६६ ॥
कलौ कलुषचित्तानां वृथाऽऽयुःप्रभृतीनि च ।
भवन्ति वर्णाश्रमिणां न तु मच्छरणार्थिनाम् ॥ ६७ ॥

कलावपि प्रसन्नोऽहं प्रयच्छामि महेश्वर ! । काशीं ये न प्रमुच्यन्ते संसाराद्दुःखसागरात्
इयमेव पराभक्तिरिदमेव परन्तपः । इदमेव परं ज्ञानं काश्याम्पापविवर्जनम् ॥६९॥

दितस्तन्द्रितः न तन्द्रित अनाच्छादितस्तथा न कृतः किन्तु तैरहमाच्छादित एवेत्यर्थः ॥ ६१ ॥ कामप्रधाना इति । यस्मिन्सन्निहिते वने विद्यमानैः कुतस्करै राजगृहं लुण्ठितं तान्नवेति अथच तांश्चोरान्मृगयितुं दीनो मध्यशून्यो विवेकयुक्त-हृदयशून्यो बहिर्धावति तद्वत् स्वान्तर्विद्यमानैः कामादितस्करैरानन्दरुप आत्मा नाशितस्तान्न ज्ञात्वा केन मम दुःखन्दत्तमिति बहिर्मृगयति अहो कष्टमितिभावः एतादृशेनानेन ममाप्यन्तःस्थितस्य सामर्थ्यं सृष्ट्यादिकर्तृत्वलक्षणं विश्वामित्रादिषु ज्ञानिपुरुषेषु दृष्टन्नाशितं यद्यस्मान्माम्बहिरेव ज्ञात्वा पूजादिकङ्कृतमनेन तव ज्ञानिपुरुषेषु दृष्टन्नाशितं यद्यस्मान्माम्बहिरेव ज्ञात्वा पूजादिकङ्कृतमनेन तव

कलौ काशी सावधानैः संसेव्या नाऽजितेन्द्रियैः ।
अजितेन्द्रिया महापापाः किन्न कुर्वन्ति पातकम् ॥ १०० ॥
कलौ कुलन्नैव यथा क्रमेण मात्रादिदोषेण सुनिश्चितं स्यात् ।
तपो जपः प्राणनिरोधनादि दानं तथा तीर्थनिवासयज्ञाः ॥ १०१ ॥
सर्वे सरागैः परिकल्पमाना भवन्ति रागादिसमृद्धयेऽलम् ।
अतः कलौ दानमेकङ्कथञ्चित् काशीं सुतीर्थेषु समाश्रयेत ॥ १०२ ॥
नमन्गृणन्वाऽपि वसन्स्मरन्वा मुच्येत लोकः खलु काशिकायाम् ।
नो चेत्स्वधर्माश्रमकर्मवर्तनं दुर्गङ्कलौ कालमले जितेन्द्रियैः ॥ १०३ ॥
तस्माद्वर्णैराश्रमैः साधुवृत्तैः काशी सेव्या सावधानैः सुमेधैः ।
लाभस्थानं रक्षणीयम्प्रयत्नात्सेव्यो धर्मो दानमुखः सदाऽत्र ॥ १०४ ॥

॥ ६३—६४ ॥ मयि किन्नास्ति अपितु सर्वम्वर्तत एव तथा मया किं न क्रियते अपि तु सर्वङ्क्रियते एव ॥ ६५—१०० ॥ सुनिश्चितं स्यादिति । एतयोरेवाऽयमुत्र इति । नियमाभावात्कुले सन्देह एव भवतीत्यर्थः । तथा न तपो न जप इति। नञ्पदं सर्वत्र योज्यम् ॥ १०१ ॥ सर्वधर्मेभ्यः श्रेष्ठं तीर्थेषु दानमेव भवति नान्यत् तथा द्वितीयन्तीर्थेषु मध्ये काश्या भगवत्याः पराशक्तेराराधनमेव श्रेष्ठन्नान्यदित्यर्थः ॥ १०२ ॥ नमन्गृणन्वाऽपीति । नोचेत्कर्मवर्तनं कर्ममार्गाचरणं दुर्गमतिकठिनमित्यर्थः ॥ १०३ ॥ लाभस्थानम्मोक्षरूपधनलाभस्थानम् ॥ १०४ ॥ ते जीवन्त एवाधिकम्ब्रह्म भवन्ति जीवन्मुक्ता भवन्तीत्यर्थः पापिनान्तु जीवन्मुक्तसुखङ्कुतस्ते तु भोगाद्यातनाभोगादनुपश्चादेव शैवम्पदं यान्ति इत्थमेतावत्पर्यन्तं यममुखेन काशीमहिमा प्रकाशितस्तत्प्रसङ्गेनाऽवधूतसम्वादस्तत्प्रसङ्गेन शिवविष्णुसम्वादः

ये काश्यां निवसन्ति पुण्यपरमाःसच्छास्त्रनिष्ठाः सताम्।
सङ्गात्प्राप्तसमस्तसौख्यनिलया जीवन्त एवाधिकम्।
ये तु व्याकुलचित्तदेहवचसोऽसत्सङ्गयुक्ताः परम्
तेषाङ्कुत्रसुखम्मृताः शिवपदं यान्त्येव भोगादनु ॥ १०५ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये काशीमाहात्म्यवर्णनं नाम
त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

प्रदर्शितो यमसम्वादसमाप्तिस्तु अध्यायसमाप्त्यैव सूतेन कृतेतिबोद्ध्यम् ॥ १०५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानंन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण
नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां
त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

विष्णुमुखेन काशीमाहात्म्यवर्णनम्

ऋषयऊचुः

काशीकथाम्पुनः शम्भुः काम्पप्रच्छ स माधवम् ।
न तृप्तिमधिगच्छामो महारसनिषेवणात् ॥ १ ॥

सूतउवाच

शृण्वन्तु मुनयः सर्वे कथां सर्वागमाश्रिताम् ।
ममाऽपि परमानन्ददायिनीं दुःखनाशिनीम् ॥ २ ॥

पुनः शिवेन स हरिः पृष्टः काशीरहस्यके। कथयामास संहृष्टः पुनः काशीकथाद(द्)तः

श्रीविष्णुरुवाच

यः काशिकाम्प्राप्य जनो न मुञ्चति श्रीमान्ममाऽऽज्ञापरिपालकः सः ।
मुञ्चत्यथो मूर्खतरो वराकः स पापराशिः खलु पामराणाम् ॥ ४ ॥
अहम्विचार्याऽखिलशास्त्रजालं सुखस्य मोक्षस्य निधानमेकम् ।
प्रसन्नरूपः खलु वै दिशामि काश्यां स्थितिर्मरणम्पापशून्यम् ॥ ५ ॥
बिभेति यस्तिष्ययुगादतीव यो मध्यमाश्रित्य जनः प्रवर्त्तते ।
बहिः समीचीनतरम्विधाय धनेषु दारेषु जितेन्द्रियार्थः ॥ ६ ॥

पुनः विष्णुमुखेन काशीमहिमानम्वक्तुमध्याय आरभ्यते काशीकथामिति ॥ १ ॥ काशीरहस्यके तद्विषये इत्यर्थः ॥ २—३ ॥ काश्यां स्थितिःपापशून्यम्पापमकृत्वा मरणञ्चेति द्वयमुपदिशामीत्यन्वयः ॥५॥ बिभेतीति । तिष्ययुगस्य कलियुगस्य भीत्या यः काशिकाया मध्यमाविश्य प्रवर्त्तते वासङ्करोति बहिःकर्म समीचीनतरं

स काशिकायान्निवसत्यजस्रं धर्मावलम्बः क्षतविघ्नपूगः ।
गुरुं स्तुवन्यः परिपूजयन्यः सेवेत एवाऽत्र परत्र पूज्यः ॥ ७ ॥
यदुक्तवाचो विभवैः कृतार्था भवन्ति लोकाः परिपूर्णकामाः ।
न ये गुरुं स्वात्मरहःप्रकाशं भजन्ति भावैः सकलैर्मनुष्याः ॥ ८ ॥
न तच्छ्रुतङ्कार्यकरम्भवेत्यलं मुमूर्षवे दत्तमिवौषधम्परम् ।
सर्वात्मना येऽत्र भजन्ति सद्गुरुं न तेषु शास्त्रम्विफलङ्कदाचित् ॥ ९ ॥
काश्यामेवं ये मनुष्या वसन्ति ते वै काश्याः प्राप्नुवते सुखं स्वम् ।
स्नानं दानम्विष्णुगुर्वर्चनञ्च नित्यम्भक्त्या कुर्वताङ्कुत्रवन्धः ॥ १० ॥
धर्मान्तरं शक्त्यनुसारतो ये कुर्वन्त्यवश्यं श्रवणं सुसेवते ।
ते काशिकायामपराधहीना भवन्ति नित्यं श्रवणप्रधानाः ॥ ११ ॥
गजस्य मत्तस्य यथाऽङ्कुशो भवेत्तथा नृणां श्रवणम्मार्गदायि ।
श्रुत्वाऽपि ये पापरता वराका ह्यसाध्यपिण्डे नहि कृत्यमौषधैः ॥ १२ ॥
श्रुतैस्तपोभिर्व्रतदानजाप्यैः समस्तदेहादिजयैरुपायैः।
साध्यम्मनःस्थैर्यमहीनसत्वैर्नो चेच्छ्रमः स्याच्छमतोषहीनैः ॥ १३ ॥
प्रियं यथा यस्य मनः स्मरेत तथा प्रवृत्तिः खलु तस्य पुंसः ।
हरौ हरे वा कनके रतौ वा प्रीतिः प्रिये स्यान्न नियामिका श्रुतिः ॥१४॥

वेदशास्त्राविरुद्धम्विधाय धनादिषु यो जितेन्द्रियार्थो विरक्त इत्यर्थः । स इत्युत्तरेणा-न्वयः ॥६॥ सेवेत गुरुं यश्च धर्माचरणेनाऽत्र परत्र च लोके पूज्यः स काशिकाया-न्निसतीत्यन्वयः एतादृशस्याऽत्रवासोऽधिकार इत्यर्थः ॥ ७ ॥ गुरुमहिमानमाह यदुक्तवाच इति । एतादृशङ्गुरुं ये न भजन्तीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ८ ॥ तच्छ्रुतन्तस्माद्गुरोः श्रुतम् ॥ ९ ॥ श्रवणं सच्छास्त्रस्य ये वराकाः श्रुत्वाऽपि पापरतास्तेषां श्रवणेन किङ्कृत्यन्न किमपीत्यर्थः । असाध्यो यथा पिण्डे देहे औषधैः कृत्यन्नहि नास्त्येव-तद्वत् ॥ १२ ॥ श्रवणङ्कृत्वाऽपि न तथा स्थैर्यं किन्तु मनः स्थैर्यं सम्पादनीयमित्याह

पुण्यस्य पापस्य निदानमेकं शृणुष्व देव ! प्रवदामि सत्यम् ।
मनुष्यदेहम्परमं समाप्य स्वात्मन् रतिर्वा विषये भवेद्वा ॥ १५ ॥
ताडनं धनगृहादिनाशनं रोगभोगपरिवर्जनादि च ।
विघ्नजातमिति नो भवत्यलं काशिकाविरह एव विघ्नदः ॥ १६ ॥
देहादिविघ्नं सोढ्वा तु यस्तिष्ठेत्प्रीतिभा(ङ्)ग् नरः ।
स निर्विघ्न इति प्राहुः सविघ्नः काशिकान्त्यजेत् ॥ १७ ॥
विघ्नज्ञानं न येषां हि कथन्ते शास्त्रवित्तमाः ॥ १८ ॥

श्रीमहादेवउवाच

विघ्नज्ञानम्महाविष्णो ! कथन्निर्विघ्नता भवेत् ॥ १९ ॥

श्रुतैरितिशमः शान्तिः सन्तोषः तृप्तिः ॥ १३ ॥ "न नियामिका श्रुति" इति श्रुतिः सदसद्विषयदर्शनमात्रङ्करोति न कस्यचिद्विषयदर्शने नियमनङ्करोति बलात्कारेण पुरुषस्तु स्ववासनावशात्तत्र तत्र प्रवर्त्तते इति । स्वकृतावेव बन्धमोक्षाविति स्वयमेव मनोनिरोधङ्कृत्वा सत्कर्मणि मनः प्रवर्त्तयेदितिभावः ॥ १४ ॥ स्वात्मन् स्वात्मनि रतिश्चेत्पुण्यस्य निदानम्विषयेषु रतिश्चेत्पापस्यनिदानमित्यन्वयः ॥ १५ ॥ ताडनं शरीरस्य तथा रोगः क्षयादिः भोगस्य परिवर्जनमभावो शक्त्यादिना इत्यादिकम्विघ्नजातम्मोक्षन्नाशयितुं नालं न समर्थ एतत्सत्त्वेऽपि मोक्षस्य जायमानत्वात् किन्तु काशिकाया विरह एव वियोग एव मोक्षे विघ्नदो भवतीत्यर्थः । ततः काशीविरहो न कर्त्तव्यः किन्तु काश्यामेव स्थेयमितिभावः ॥ १६ ॥ देहादीति देहादिविघ्नम्पूर्वोक्तं ताडनादिकं राजादिभिः कृतं सोढ्वा यः पुरुषः काश्याम्प्रीतिभावसन्तुष्टस्तिष्ठेत्स पुरुषः काशिवासे निर्विघ्नो जात इति प्राहुर्महान्त इत्यर्थः । यदि तथा न स्यात् किन्तु पूर्वोक्तविघ्नेन स विघ्नः स्यात्तर्हि काशिकामुच्चाटादिना त्यजेत् ततः स विघ्नो न भवेदित्यर्थः ॥ १७ ॥ इत्थङ्काशीवासे जायमानं विघ्ननिरोधङ्कृत्वा काशीवासजन्ये फलेऽपि जायमानम्विघ्नं ज्ञात्वा तन्निरोधः कर्त्तव्य इत्याह विघ्न-

विष्णुरुवाच

मनःक्षोभो विघ्नपूगो विघ्नाः कामादयो मताः ।
विषयात्मनान्ते वह्वो भवन्त्यसुखहेतवः ॥ २० ॥
अप्रवृत्त्या ह्यनर्थेषु निर्विघ्ना काशिकास्थितिः ।
इत्यान्तरैर्विघ्नजालैर्बहिर्विघ्ना भवन्ति हि ॥ २१ ॥
बहिर्विघ्नैः काशिवासो निष्फलःस्यात्सुदुर्मतेः । अयमेव परो धर्मो ह्ययमेवोद्यमः परः
यत्काश्याम्विघ्नरहिता भवेत्सुकृतिनां स्थितिः ।
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासम्पुरातनम् ॥ २३ ॥
तच्छृणुष्व महादेव ! निर्विघ्नप्रतिपादनम् । काश्याङ्कश्चिद्द्विजवरः सनातन इतिश्रुतः
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः सर्वविद्याविशारदः । पुत्रपौत्रप्रपौत्रादिकुटुम्बसहितः सुखी ॥२५॥

ज्ञानमिति । अतो विघ्नज्ञानं सम्पाद्य विघ्नो हेय इत्यर्थः ॥ १८ ॥ तत्र सङ्क्षेपेणोक्तं विघ्नज्ञानम्पृच्छति श्रीमहादेवउवाच विघ्नज्ञानमिति । विघ्नज्ञानस्वरूपम्वद निर्विघ्नता च कथम्भवति तदपिवदेत्यर्थः ॥ १९ ॥ मनः क्षोभ इति । मनसः क्षोभश्चाञ्चल्यं स एव विघ्नानाम्पूगः समूहः करण्डकमित्यर्थः । तस्मिन्कामादयो विघ्ना वसन्ति मनश्चाञ्चल्यमूलकत्वात्कामादीनां ते च कामादयो विषयेषु प्रवर्त्तनात् विषयात्मनाम्विषयिणाम्विषयसेवनोत्तरं असुखावहा दुःखदायकायातनादिना भवन्ति ततश्च तादृशापराधिनां काशीवासो विफलो भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥ यस्मादेवं तस्मादनर्थेषु न प्रवर्त्तेतेत्याह अप्रवृत्त्येति । उपसंहरति इत्यान्तरैरिति आन्तरैः कामादिविघ्नैर्बहिर्विघ्ना बह्वोऽसंख्याता भवन्ति तैश्चापराधैः काशीवासो निष्फलो भवति तस्मादेवम्प्रवर्त्तितव्यं येन काश्यां विघ्नरहिता मोक्षफलनाशकापराधरूपविघ्नरहितास्थितिर्भवेदित्याह यत्काश्यामिति ॥ २१—२२ ॥ एतस्मिन्नर्थे निर्विघ्नप्रतिपादनमिति । यस्याङ्कथायां कथामुत्थापयति अत्रैवेति ॥ २३ ॥ निर्विघ्नत्वस्य प्रतिपादनम्भवतीत्यर्थः ॥ २४—२५ ॥

स सदा काशिमाहात्म्यश्रवणासक्तमानसः ।
निर्विघ्नकामः सततं काश्याम्वाससुखोऽन्वहम् ॥ २६ ॥
शृणोति काश्या महिमानमद्भुतं वदत्यजस्रं स्मरतीह काशीम् ।
करोत्यवश्यम्प्रतितीर्थमज्जनं प्रदक्षिणङ्क्षेत्रभुवः करोति ॥२७॥
तस्य पुत्रास्त्रयः पौत्रा भवन्सर्वे दुरन्वयाः । कलहद्यूतपाखण्डभण्डवैतण्डिकप्रियाः
पितरम्मातरं शुद्धं ताडयन्ति वहिर्मुखाः । वेश्याव्यसनपापादिव्यसनेन समन्विताः
ज्येष्ठः सनातनसुतः सिनिः सौम्याकृतिः खलः ।
ज्योतिःशास्त्रम्प्रकटयंस्त्रैणः स्त्रीमोहनो वशी ॥ ३० ॥
एकदाऽन्तःपुरस्त्रीणां कररेखापरीक्षया ।
यब्धा काचिद्राजपत्नी सिनिना सुन्दरेण हि ॥ ३१ ॥
स्वयमेव व्यभिचरन् दृष्टो राज्ञा सुबाहुना ।
धृतः पाशैर्द्दढम्बद्ध्वा कस्त्वम्पृष्टश्च ताडितः ॥ ३२ ॥
नागरैः स सिनिर्द्दष्टो बद्धः पाशैर्द्दढैः पुनः ।
हन्यताम्बध्यतामेष पापात्मेति च ते वदन् ॥ ३३ ॥
इति लोकास्तु मिलितास्ताडयन्ति पृथक् पृथक् ।
कश्चिद्वदति चौर्येण धनन्नीतं दुरात्मना ॥ ३४ ॥
कश्चिद्वदति राजेन्द्र ! दूषिता मम कन्यका ।
कश्चिद्वदति भार्याम्मे नीत्वा विक्रीय चाऽऽगतः ॥ ३५ ॥
कश्चिद्वदति दग्धम्मे गृहम्वित्तम्प्रलुण्ठ्य च ।
इत्यादिदोषजालन्तु तस्योक्त्वा नागरो जनः ॥ ३६ ॥
देशान्निःसारणन्तस्य प्रार्थयामास भूपतिम् ।
तस्याऽऽहूतः पिता राज्ञा सनातन उदारधीः ॥ ३७ ॥

यब्धा यभ मैथुने भुक्तेत्यर्थः ॥ २७—३६ ॥

उपालभ्योक्तवान् राजा पुत्रवानसि सत्तम ! ।
ब्राह्मण ! त्वम्मया त्यक्तो गच्छ पुत्रैर्यथा सुखम् ॥ ३८ ॥
मम राज्ये त्वया विप्र ! न स्थेयम्पुत्रकामुक ! ॥ ३९ ॥

ब्राह्मणउवाच

राजन्पुत्रांस्तजाम्यद्य काशीवासार्थमातुरः । मम चेदपराधः स्यात्तदा वद महामतेः !

राजोवाच

अपराध्यसि विप्रेन्द्र ! यस्त्वम्पुत्रपरायणः । पुत्रादिसङ्ग्रहात्पुंसामपराधाः पदे पदे ॥
शुभाशुभम्पुत्रकृतं गृह्यते चेन्न मानवैः । नापराधस्तदा कोऽपि स्नेहहीनस्य खेदिनः ॥

स्नेहाद्बन्धनमायाति स्नेहाद्गर्भम्विशत्यलम् ।
स एव बन्धकः स्नेहो बन्धः काश्या विमोचनः ॥ ४३ ॥
सदानन्दमये क्षेत्रे भोगमोक्षादिसिद्धये ।
स्नेहः क क च पुत्रादौ कृतो बन्धनकोटिदः ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणउवाच

त्यक्ता मया पुत्रपौत्राः काश्याम्वासाभिलाषिणा ।
तान्यथेष्टम्महाराज शिक्षयस्व यथार्थतः ॥ ४५ ॥

राजोवाच

गच्छ विप्र यथान्यायं काश्यान्तिष्ठ यथासुखम् ।
पुत्रादिस्नेहिनाम्विप्र ! काश्याम्वासो न शर्मणे ॥ ४६ ॥

श्रीविष्णुरुवाच

एवमुक्तः स विप्राग्र्यो राज्ञा शिव ! सुबाहुना ।
पुत्रापराधेऽपि स च नाऽपराध्यति कर्हिचित् ॥ ४७ ॥
कदाचित्तस्य सुदती भार्या कलहकारिणी ।
शपत्यविरतं लोकान् स्त्रियो बालानपि स्वतः ॥ ४८ ॥
राजानं राजपुत्रांश्च राजपत्नीश्च दुर्मुखी ।
लोकैः सर्वैर्मिलित्वा सा राज्ञोऽग्रे विनिवेदिता ॥ ४९ ॥

राजन्वृथा शपत्येषा त्वामस्मांश्च निरन्तरम् ।
निर्निमित्तं डाकिनीयं पृछ्यतां शास्यतामपि ॥ ५० ॥

राजोवाच

आनयन्तु द्विजं शुद्धं सनातनमृषिं कविम् ।
काश्यां सुखङ्कृतस्तस्य यस्यैषा कर्कशा गृहे ॥ ५१ ॥

श्रीविष्णुरुवाच

आनीतः किङ्करैर्विप्रो राज्ञोऽग्रे विनिवेदितः ।
पृष्टश्च राज्ञा काश्यर्थी प्राह राजानमातुरः ॥ ५२ ॥

सनातनउवाच

पुत्राः प्रथमतस्त्यक्ता भार्यामपि विचारतः ।
त्यजामि नापराध्यस्मि शास्यतां यदि रोचते ॥ ५३ ॥
येन केन भवेद्विघ्नः काशीवासस्य भूभुज! । तत्त्यजामि न चिरं न काशीङ्करुणामयीम्

राजोवाच

सनातन मुने गच्छ काश्यान्तिष्ठ यथासुखम् ।
अपराधिनस्त्वया त्यक्ता न काशी सर्वदुःखहृत् ॥ ५५ ॥

श्रीविष्णुरुवाच

एवम्विप्रः काशिकार्थी सर्वन्त्यजति विघ्नदम् ।
धिक्कृत्य विषयांस्त्यक्त्वा काशीं श्रयति सर्वदा ॥ ५६ ॥
काशीप्रदेशान्पश्यन्स तीर्थानि स्नाति नित्यशः ।
काशीलिङ्गान्यर्चयति काशीनामामृतञ्जुषन् ॥ ५७ ॥
एवम्वसन्काशिकायां भ्रातृभिः पुत्रबन्धुभिः ।
बद्धः सनातनमुनिर्धनार्थं धनलोलुपैः ॥ ५८ ॥
धनन्देहि धनन्देहि धनन्देहीतिवादिभिः ।
बद्ध्वा राजगृहन्निन्युर्बान्धवा वै धनप्रियाः ॥ ५९ ॥

राज्ञा पृष्टाः किमर्थम्वै वद्धः पाशैर्यथा पशुः ।
मुच्यताम्मुच्यतामेष काश्यर्थी नाऽपराध्यति ॥ ६० ॥
ते ऊचुः अयमस्ति धनी राजन्वयन्धनविवर्जिताः ।
कथञ्जीवेम सर्वस्वम्विभज्य न ददाति हि ॥ ६१ ॥
पितृपैतामहम्वित्तं सर्वेषाम्भागमर्हति। शठो धनमतिः क्रूरः कदर्यो निर्दयोऽधमः॥६२
क्लिश्याम हे महाराज! विभज्य प्रददातु नः। धनन्धान्यञ्च यत्किञ्चित्पितृपैतामहम्वसु

राजोवाच

सनातनमुने! वित्तं वर्त्तते तव सन्निधौ । ददस्व पुत्रभ्रातृभ्यो यथाशास्त्रं विभज्य हि
नोचेद्बहिर्यास्यसि त्वं काश्यामत्प्रेरितोऽघकृत् ॥ ६५ ॥

सनातनउवाच

राजन्दास्यामि सर्वस्वं न गृह्णामि च किञ्चन ।
रक्षस्व काशिकायां न त्यजामि सकलम्वसु ॥ ६६ ॥
इति तान्गृहमानीय दत्त्वा सर्वस्वमप्युत ।
जगौ गाथां शान्तमनाः काश्यर्थी वित्तदुःखितः ॥ ६७ ॥

सनातनउवाच

अहो मया ब्रह्मसुखं समग्रं प्राप्तङ्कलत्रादिविवर्जनेन ।
गुरुर्मदीयः सुमहायशास्त्वयं राजा सुबाहुर्विषयान्न्यवारयत् ॥ ६८ ॥
अहो मया देहकृतेति भीषणं कृतम्महापापकृतम्विकर्म ।
कलत्रपुत्राप्तधनादि सेवनं न सेवनम्विश्वगुरोः कृतं हरेः ॥ ६९ ॥
काश्यान्धाष्ट्र्यं नैव कुर्यात्कथञ्चिद्विद्यावित्तध्यानयोगादिदानैः ।
सिद्ध्यै साध्यो मोक्षधर्मादिरर्थः क्वेयङ्काशी तद्विदाम्बाह्मनेत्री ॥७०॥

देहकृते देहार्थम्महापापैर्महादुष्टैः कृतं विकर्मदुष्टाचरणङ्कलत्रादिसेवनम्मया कृतमित्यन्वयः॥६९॥ धाष्ट्र्यमभिमानं सिद्ध्यै मोक्षार्थम्मोक्षधर्मो मोक्षसाधनं आदिना

दीनः काश्यां यो वसेद्विश्वनाथं दीनानाथैः प्राप्यमाराधयेच्च ।
वाग्भिः कायैर्मानसैः संस्मृताद्यैः सोऽत्राऽऽनन्दे वासमाप्नोति मोक्षम् ॥७१
अत्राभिमानो बहुदुःखकारी द्वेषादयो हानिकरा वृषस्य ।
कामादयो हनिकराः सुखस्य हर्षादयो व्याकुलयन्ति चित्तम् ॥ ७२ ॥
काशीकथामूलमिदं हि सर्वं कथा सतां संसदि जायतेऽत्र ।
सन्तः सुसेव्याः सततम्प्रयत्नाद्येषाम्वचोभिः सुखदुःखहानिः ॥ ७३ ॥
काश्यां स्थितानामपराधपूगा भवन्त्यवश्यं गुरुवर्जितानाम् ।
गुरोर्गुरुः सन्दिशते स्थितिम्परां निवारयेद्यश्च महाघसङ्कटात् ॥ ७४ ॥
तीर्थेषु देवेषु कृतोऽपराधो मोहादवश्यम्मनुजैर्महान्धैः ।
गुरुर्गरीयान्प्रमृजत्यवश्यं शास्त्रोपदेशात्सुमहानुभावः ॥ ७५ ॥
गुरुं शिवं शाश्वतशास्त्रविग्रहं योऽवज्ञया पश्यति दग्धदृष्टिः ।
नश्यन्ति सर्वाः शुभदृष्टयस्तु तस्याऽधमस्याऽऽधियुतस्य नित्यम् ॥ ७६ ॥
गुरुम्विना तिष्ठति यो वराकस्तस्याऽभिमानो दृढतामुपैति ।
निरङ्कुशाः पापरता गुरुद्रुहा भवन्त्यवश्यं श्रवणादिविच्युताः ॥ ७७ ॥

कर्मोपासना परिग्रहः क्वेयङ्काशी अतिदूरेत्यर्थः । तद्विदान्धाष्ट्र्यं विदाम्बाह्ये देशे नेत्री ॥ ७० ॥ संस्मृताद्यैः स्मरणसेवननामोच्चारणैः आनन्दे आनन्दकानने मोक्षश्चाऽऽप्नोतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥ बहुदुःखकारी अभिमाननाशे सति वृषस्य धर्मस्य हानिकराः अन्यस्यानिष्टचिन्तनात् सुखस्य हानिकराः असन्तोषोत्पादनात् व्याकुलयन्ति सुखाद्यनुरागोत्पादनेन ॥ ७२ ॥ इदन्निषिद्धानाचरणङ्काशीकथाश्रवणमूलमित्यर्थः ॥ ७३ ॥ गुरुः किङ्करोति तत्राऽऽह सन्दिशत इति ॥ ७४ ॥ महान्धैरविवेकिभिः शास्त्रोपदेशाद्धर्मप्रायश्चिताद्युपदेशात् ॥ ७५ ॥ शाश्वतशास्त्रं धर्मप्रतिपादकशास्त्रं तद्विग्रहन्तत्स्वरूपन्दग्धदृष्टिर्दग्धविवेकज्ञानः आधियुतस्य दोषरूपाधियुतस्य ॥ ७६ ॥ अल्पकोऽपि हीति । अन्नाच्छादनमात्रपर्याप्तः ते यद्यधिकधनरूपमर्थ-

पतन्ति घोरे नरकेऽतिदारुणे यथेष्टकामाभिरता विषादिना ॥ ७८ ॥

श्रीविष्णुरुवाच

इति गाथाङ्गीयमानां श्रुत्वा लोकाः सुविस्मिताः ।
गुरुशास्त्रानुभविनीं श्रद्दधुः काशिवासिनः ॥ ७९ ॥
अतोऽयमेव शास्त्रार्थो ह्ययमेव गुरुक्रमः ।
विसृज्य सर्वत्र रतिं काश्याङ्कुर्यात्सुखावहाम् ॥ ८० ॥
अनायासेन येषां हि योगक्षेमोऽल्पकोऽपि हि ।
तेऽधिकार्थन्त्यजन्त्यस्यां धर्मद्रोहोऽत्र दारुणः ॥ ८१ ॥
एकाकिनान्धनं यच्च तद्विश्वेश्वरसात्कृतम् ।
भवेद्येषाङ्कृतार्थानां ते क्षेत्रे फलभागिनः ॥ ८२ ॥
वाराणस्यां समुत्पाद्य वसु त्यक्त्वा म्रियेत यः ।
स कालराजपाशेन बद्धः प्राप्नोति यातनाम् ॥ ८३ ॥
प्रीतिङ्कुर्यात्काशिकायां न धनेन गृहादिषु ।
यत्र प्रीतिः फलन्तत्र लभ्यते मानवैः स्फुटम् ॥ ८४ ॥
काशीम्विहाय न धने न पुत्रादौ विदो जनाः ।
कुर्वन्ति कृतिनः स्नेहं जन्मनाशविदो यतः ॥ ८५ ॥

मिच्छन्ति तदा तमधिकमर्थमस्याङ्काश्यान्त्यजन्त्येव नाधिकं सम्पादयन्ति अधिकसम्पादने धर्मद्रोहः स्यादितिहेतोः ॥ ७९ ॥ विश्वेश्वरसात्कृतम्विश्वेश्वरप्रीत्यर्थंस्त्राह्मणेभ्यो दत्तम् ॥ ८२ ॥ समुत्पाद्य प्रतिग्रहादिना त्यक्त्वा धर्ममकृत्वा गृहे स्थापयित्वेत्यर्थः । धनादीनाञ्जन्मनाशौ जानन्तः ॥ ८५ ॥ परां शक्तिम्भगवतीं-

सूतउवाच

एवं सदाशिवः श्रुत्वा महाविष्णोर्मुखात्कथाम् ।
अतर्क्यगुणसम्पूर्णां काशीं सर्वात्मनाऽभजत् ॥ ८६ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये काशीनिवासमहिमप्रतिपादनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

काशीं शिवोऽप्यभजत् किम्पुनरन्य इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

विशेषेण काशीवासिधर्मवर्णनम्

सूतउवाच

न लोकाश्चिन्तयन्त्येते काश्याम्पापाः सकृत्कृतम् ।
चिन्तयन्त्येव विघ्नानि दुःखानि च पदे पदे ॥ १ ॥
विनाऽपराधं न च दुःखभारो भवत्यवश्यं हि कदाऽपि केषाम् ।
भवन्ति विघ्नाः खलु पापकर्मणां काश्यान्निवासे मरणे सुजीविते ॥ २ ॥
उक्तम्मया पुरैवैतल्लोकशिक्षार्थमुत्तमम् ।
व्यासोऽपि काश्या निष्कास्य गङ्गापारम्प्रतारितः ॥ ३ ॥
काश्यान्धनपरा ये च न ते काशीनिवासिनः ।
सिंहासनोपविष्टानां दैन्यं दुःखाय केवलम् ॥ ४ ॥
सार्वभौमश्रियाजुष्टश्चर्वणच्चणकस्य च । मनोरथसहस्रैस्तु प्रार्थयेन्त्येव पापकृत् ॥५॥
मोक्षलक्ष्मीप्रदे क्षेत्रे विषयेषु दरिद्रता। आकण्ठमग्नो गङ्गायां म्रियते स पिपासया॥६
काश्यामन्तर्यो वसेत्सावधानः कश्चित्साधुः साधयत्येव सर्वम् ।
नोचेद्विद्यावादचातुर्यवित्तैः श्रीकालेशम्वञ्चितुं सम्प्रवृत्तः ॥ ७ ॥

पुनः काशिवासिधर्मान्वक्तुमध्यायान्तरमारभ्यते न लोका इति । काश्यां सकृदपि कृतम्पापमनर्थाय भवतीति न चिन्तयन्ति पुनश्च विघ्नानि अपराधानेव चिन्तयन्ति तेन कारणेन दुःखानि पदे पदे भवन्तीत्यर्थः ॥१॥ तदेव-स्पष्टयति विघ्नाअपराधाः काश्यामितिस्थलत्रये योज्यम् ॥२॥ धनपरा धनलोभिनः ॥ ४ ॥ विषयेषु विषयाभावनिमित्तम् ॥ ६ ॥ वञ्चितुं सम्प्रवृत्तः कालभैरवाज्ञो-

अहो ! विचित्रा महती शिवस्य विष्णोः परा मोहकरी च माया।
यया विषन्त्वमृतीकृत्य लोकाः सुवञ्चितास्त्वमृतम्मृत्युरूपम् ॥ ८॥

ऋषयऊचुः

कलौ न धर्मो न ज्ञानं वैराग्यं न च केशवे।
भक्तिर्विशुद्धा सुभगा न काश्यां तद्युता स्थितिः ॥ ९ ॥
विचारतो न निर्वाणवार्ताऽपि सुलभा सताम्।
कथं संसारकूपात्तु निष्कासः कामिनामिह ॥ १० ॥

सूतउवाच

आसीत्पुरा कृतयुगे महापाशुपतः कृती। शिवपादाब्जनिरतो जितेन्द्रियमनोगुणः॥
धर्मेश्वरसमीपी तु विरक्तस्त्वपरिग्रहः ॥ १२ ॥
महातपस्वी शिवनामतत्परो महानुभावः परिपूर्णकामः।
हिरण्यगर्भः स कदाचिदत्र महाभिमानात्सुपिशाचदुःखभाक् ॥ १३ ॥
जातः पिशाचः परमादरेण श्रीकालराजेन सुताड्यमानः।
असत्समाजेन तथा प्रवृत्त्या दुःखम्परम्प्रापायुतत्रयम्परम् ॥ १४ ॥

ऋषयऊचुः

असत्समागमात्सर्वं सुकृतन्तस्य नाशितम्।
कथङ्कथम्वा पैशाच्यं प्राप्तः काश्याम्मृतोऽपि हि ॥ १५ ॥

ल्लङ्घनात् ॥ ७ ॥ विषं संसाररूपममृतीकृत्यामृतम्मोक्षं मृत्युरूपङ्कृत्वा वञ्चिताः ॥८ आसीत्पुरेति। हिरण्यगर्भो दुरभिमानेन कपटाचरणेन काशीवासङ्कृतवांस्तदा पैशाच्यम्प्राप्तो यस्तु दुरभिमानादिकं हित्वा काश्याम्वसति तस्य संसारकूपान्निकासः स्यादेवेति कथाप्रसङ्गेन पूर्वप्रश्नोत्तरं सूतेन दत्तमितिबोद्ध्यम् ॥ ११ ॥ दृष्ट्या जात इति। लोके तपस्विनाम्पूजादानमानादिभिर्दृश्यते ततोऽहमपिपूजाधनलाभार्थन्तपस्विवेषन्धारयिष्यामीति लोकदृष्ट्या तपोनिष्ठो जातो न तु शास्त्रतः शास्त्रा-

सूतउवाच

धर्मेश्वरसमीपे तु मठिका तस्य योगिनः ।
जितेन्द्रियस्तपोनिष्ठो दृष्ट्या जातो न शास्त्रतः ॥ १६ ॥

कदाचित्तस्य परमः प्रियः पाशुपतः कृती । आह्वानमकरोद्विप्राः! मुनिर्धर्मनिधिः प्रियः

धर्मनिधिरुवाच

हिरण्यगर्भ! सततं किङ्करोषि महामुने!। काश्यां स्थितिः कथन्तेऽत्र प्रत्यहम्प्रतिपद्यते॥

हिरण्यगर्भउवाच

जपेन तपसा शुद्ध्या विद्यया योगयोग्यया ।
समाधिदानमानाद्यैः पूर्णस्तिष्ठामि सर्वदा ॥ १९ ॥

धर्मनिधिरुवाच

अहो! पाशुपताचार्य! कथमेवम्प्रभाषसे । अभिमानयुतम्वाक्यं व्यासाद्यैर्यन्न चोच्यते

सर्वज्ञः शङ्करो देवो नान्योऽस्ति भुवनत्रये ।
परमात्मा महेशानः कोऽन्यो जीवस्त्विदम्वदेत् ॥ २१ ॥

हिरण्यगर्भउवाच

अहमेव शिवः साक्षाच्छङ्करो लोकशङ्करः ।
नान्यद् द्वितीयम्मत्तोऽन्यच्छुद्धं यद्दृश्यते बहु ॥ २२ ॥

धर्मनिधिरुवाच .

त्वमेकः शिवसन्यासी ब्रह्मविद्रागसंयुतः । पूर्णोऽहमिति मत्त्वाऽपि विषयस्नेहसंयुतः

नुसारेण परमार्थतः ॥ १६ ॥ कथमेवमिति । पूर्णो व्यापकः कृतार्थस्तिष्ठामीत्येवं रूपं साभिमानम्वाक्यं कथम्भाषसे व्यासाद्यैरिति । अतएव बृहदारण्यके होत्राश्वलेन "याज्ञवल्क्य! त्वं ब्रह्मिष्ठोऽसि किमिति पृष्टे स होवाच नमो वयम्ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयम्" इति याज्ञवल्क्यो निरभिमानम्वाक्यमुवाचेतिभावः ॥ २० ॥ अहमेवेति। ज्ञानाभावेऽपि स्वस्य ज्ञानित्वं लोकान्दर्शयितुं ज्ञानिनो याम्भाषाम्वदन्ति

विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्माऽहमिति यो वदेत्। गर्भवाससहस्रेषु पच्यते पापकृन्नरः॥

विषयोत्क्रान्तदेहस्य श्रवणादिसुखावहम्।
सत्सङ्गः श्रवणम्विष्णोः काश्याम्वासः शिवार्चनम्॥ २५॥
भवत्येव सतां सङ्गात्सत्सङ्गः शैवधिर्नृणाम्।

हिरण्यगर्भउवाच

पूर्णस्य किङ्कथालापैः सत्सङ्गादिभिरप्यहो !। परामृतम्भुक्तवतः किम्मे धनपरिग्रहैः॥

धर्मनिधिरुवाच

अहो ! धाष्टर्यन्तव महद्ब्रह्मज्ञानाभिमानिता।
दासदास्यादियुक्तस्त्वं गोमहिष्यादिसंयुतः॥ २८॥
धनधान्यादिसंयुक्तो दीनो रागी रजोयुतः।
तथाऽपि त्रपसे न त्वं वदन्ब्रह्मेति निर्गुणम्॥ २९॥

हिरण्यगर्भउवाच

धनधान्यादि यत्किञ्चिद् दृश्यते कल्पितं हि तत्।
अधिष्ठाने परा दृष्टिर्मम पूर्णस्य सर्वदा॥ ३०॥

सूतउवाच

इत्युक्त्वा गच्छ पापेति रुष्टः प्रोवाच तम्मुनिम्। पुनः प्रतिग्रहपरो दासदासीयुतोऽनिशम्
व्यग्रो वार्धुषिकः शैवो वेषतो धनलोलुपः। निर्लेपः परमात्मा हि देहादिभिरतन्द्रितः

ताम्भाषामाह शिवः साक्षादिति॥ २१—२२॥ त्वमेक इति॥ विषयासक्तः सन्ज्ञानी त्वमेवैको मया दृष्टोऽधिगतस्तु त्वामितिभावः॥ २४॥ विषयेभ्य उत्क्रान्तो निर्गतो देहो यस्य तस्यैवेत्यर्थः॥ २५॥ पूर्णस्येति। पूर्णस्य मम सत्सङ्गादिभिः किम्भविष्यतीत्यर्थः परमामृतम्ब्रह्मानन्दम्॥ २७॥ दीनो मुखदैन्यवान्॥ २८॥ तम्मुनिन्धर्मनिधिम्॥ २९॥ तस्मिन्देहे स्थितः प्रभुः परमात्मा अमायिक एव

देहः स्वकार्यङ्कुरुते मायिको मायिकः प्रभुः ।
किम्पापं कस्य वा पुण्यं कः पापी कश्च पुण्यभाक् ॥ ३३ ॥
कः स्वर्गो नरकः कश्च परमात्मन्यनामये ।
अयम्पुमानियं योषा मायया कल्पितो भ्रमः ॥ ३४ ॥
मदीयश्च त्वदीयश्च धनन्धान्यं स्त्रियो मृषा ।
पञ्चात्मके शरीरेऽस्मिन् जातिधर्मक्रमो वृथा ॥ ३५ ॥
ब्रह्मानन्दरसे मग्नो न देहादिषु रज्यते । ईश्वरोऽहं समस्तात्मा नियामकविवर्जितः ॥
लीलया सर्वकार्येषु प्रवृत्तिर्मम नान्यथा ॥ ३७ ॥

सूतउवाच

धनार्थम्प्रत्यहं यत्नं करोति भ्रान्तमानसः ।
दासदासीगोमहिषीतत्तत्सङ्ग्रहतत्परः ॥ ३८ ॥
धनान्नवृद्धिपरमः प्रतिष्ठा काम एव हि । करोति विकृतं सर्वं वदत्यविकृतं सदा ॥
प्रतिष्ठाकाम एवाऽसौ भिक्षुभ्योऽन्नम्प्रयच्छति । गृह्णाति बहुलोभेन ब्रह्मचर्चाविशारदः
वदत्यविरतम्ब्रह्म स्मरत्यविरतन्धनम् । करोत्यविरतङ्कर्म नैष्कर्म्यं सम्प्रदर्शयन् ॥४१
सर्वन्धनादिकम्मिथ्या कल्पितम्विष्णुमायया ।
त्यक्त्वा सुखमवाप्नोति शान्तिसन्तानवर्धनम् ॥ ४२ ॥
अहो ! लोकस्य दौर्जन्यं कर्मबन्धस्य पश्यतः ।
शिवयोगिजने वित्तं लोको नार्पयते सकृत् ॥ ४३ ॥
धनस्य कार्यमेतद्धि यद्विद्वत्सात्क्रियेत वै । बन्धो धनकृतो नृणां धनन्दत्वा विमुच्यते

मायिको न भवतीत्यर्थः ॥ ३२—३३ ॥ प्रवृत्तिर्मम नान्यथेति । निर्लेपः परमाहीत्या- रभ्यैतत्पर्यन्तं लोकवञ्चनाय लोकान्प्रति जगावितिभावः ॥ ३७—३८ ॥ विकृतं सांसारिकमविकृतम्ब्रह्म ॥ ३९ ॥ लोकानुपहसति अहो लोकस्येति । शिवयोगिने मत्सदृशे ॥ ४३ ॥ यद्विद्वत्सात्क्रियते विद्वदधीनङ्क्रियतइत्यर्थः ॥ ४४ ॥

धनमेव मनुष्याणां कारणम्बन्धमोक्षयोः। धनमेव परं सौख्यमितिबुद्ध्या तु बन्धकृत्
धनमीश्वरसात्कार्यमिति बुद्ध्या विमुच्यते।
व्ययङ्करोति धर्मात्मा न च नीचस्तु दीनकृत् ॥ ४६ ॥

इत्याद्युपदिशन्काश्यां सर्वस्य वसु सर्वदा। गृह्णात्येव महाधूर्त्तो धर्मानुपदिशन्बहून्॥
ब्रह्मज्ञानम्वदन्स्तौति धनिनो धनकाम्यया। क्वचिद्विभूतिधवलो रुद्राक्षपरिवेष्टितः॥
क्वचिद्वैष्णवरूपेण प्रतारयति मानवान्।
क्वचिच्छाक्तः क्वचित्सौरः क्वचिद्गाणेश एव च ॥ ४६ ॥

क्वचित्तपस्वी शास्त्रार्थवक्ता भवति जापकः। इत्यादि धनलोभेन करोति बहुधा बुधः
दम्भम्प्रपञ्चयंल्लोके शोकं सञ्जनयन्मुहुः। आमन्त्रितः कदाचित्स बलादादरपूर्वकम्
धनङ्गृहीत्वा च पुनर्भुङ्क्ते न ग्रहदर्शकः। एवङ्काश्याम्वसन्धूर्त्तः प्रतारयति मानवान्
स्त्रीजितस्त्रैणसम्बन्धी ब्रह्मब्राह्मणदूषकः। कदाचिज्जृम्भणङ्कुर्वन्वायुरूर्ध्वंगतोऽभवत्॥
व्याकुलः सोऽत्यजत्प्राणानविमुक्ते विमुक्तिदे। यातनादेहमावेश्य भैरवः पापपूरुषम्
पातयामास बहुधा पापं संस्मारयन् रुषा। त्रिंशद्वर्षसहस्राणि त्रिंशद्वर्षशतानि च॥
पात्यमानो न बुबुधे दुःखैरात्मानमण्वपि। यातनान्ते कालराज उवाच जगदार्त्तिहा

भैरवउवाच

हिरण्यगर्भ! धन्योऽसि महापाशुपतः कृती।
वर्णाश्रमसमाचारः सम्यक् सम्पादितस्त्वया ॥ ५७ ॥

किम्वर्णयामि देवस्याऽविमुक्तस्य विचेष्टितम्।
अयुतत्रयङ्किञ्चिदधिकङ्कृतं येन महात्मना ॥ ५८ ॥

ईश्वरसादीश्वराधीनमीश्वरप्रीत्यर्थम्माहृशायार्पितव्यमितिबुद्ध्येत्यर्थः ॥ ४६—५० ॥
शोकङ्गृहीणाम्पुत्रादिपदार्थेषु सञ्जनयन् स्वस्यैव धनन्देयमित्यभिप्रायेण ॥ ५१ ॥
अनुग्रहेति। मया परान्नन्त्यक्तमस्ति केवलम्भवत्सु कृपावशादेव भोजनार्थमागतोऽस्मीति भावः ॥ ५२ ॥ अविमुक्ते अविना पापेन मुक्तमविमुक्तमित्यर्थो लैङ्गे ॥५४॥

पापानुसारतो नैव कृता निष्कृतिरादरात्। तव पापस्य भोगस्तु कल्पैरपि न सिद्ध्यति

यत्त्वया काशिकायान्तु कृतम्पापम्विजानता ।
ज्ञात्वा काश्यां यस्तु पापं करोति हि नराधमः ॥ ६० ॥
न तस्य निष्कृतिर्वेदे पुराणे परिपठ्यते ॥ ६१ ॥

सूतउवाच

इत्युक्त्वा भैरवो देवो महापातकनाशनः। दण्डपाणिं समाहूय प्रोवाच भगवान्भवः
दण्डपाणे! नयस्वैनं मुक्तिदां मणिकर्णिकाम्। तत्राऽविमुक्तं देवेशं विज्ञापय ममाऽऽज्ञया

अयम्पाशुपतो दम्भो मुक्तः पापात् सुदारुणात् ।
दृश्यतां सर्वतोभद्रं ब्रह्म तत्तारकम्महत् ॥ ६४ ॥
इति श्रुत्वा दण्डपाणिराज्ञां तां भैरवीं शुभाम् ।
हिरण्यगर्भं निष्पापं शङ्कराय न्यवेदयत् ॥ ६५ ॥
दृष्ट्वा तं देवदेवेश उवाच प्रहसञ्छनैः ॥ ६६ ॥

श्रीशङ्करउवाच

अहो पाशुपतश्रेष्ठ! सम्यक् काश्यां स्थितिं त्वया ।
एवमेव सदा कार्यो मुमुक्षुभिरथोद्यमः ॥ ६७ ॥
धिक्तम्पापसमाचारं दाम्भिकं धनलोलुपम् ।
ब्राह्मण्यम्मानुषम्प्राप्य तत्राऽपि हि तपस्विताम् ॥ ६८ ॥

सम्यक् सम्पादित इति। स्तुतिनिन्दाफलकमर्थवादवाक्यमेतत् ।५७-५८। भैरवउवाच। पापानुसारतो नैवेति नन्वेकैकस्य पातकस्य त्रिंशद्वर्षसहस्रयातना पूर्वमुक्ता तथा च स्वल्पा यातनाऽस्तीति कथमिति। चेत्तस्य पापबाहुल्येन कृतायामपि यातनायां भैरवस्य सन्तोषो न जात इत्थं काश्यपराधजन्यं पातकं महद्भवतीतिं बोधनार्थं तथोक्तेः, शिवरहस्ये तु प्रत्येकपातकस्य द्वात्रिंशत्कल्पपर्यन्तं यातना उक्ताः ॥५८-६६. अहो पाशुपतेति। इदमपि स्तुतिनिन्दाफलकमर्थवादवचनमेव ॥६७॥ धिक्तमिति।

काश्यां धनार्थं यो मूढः क्लिश्यन्क्लेश्यः सदैव मे ।
अहो ! जन्मसहस्राणां पापं या नाशयेद्ध्रुवम् ॥ ६९ ॥
ताम्प्राप्य ये धनाद्यर्थं प्रवृत्ता आत्मघातिनः ।
येषां युगसहस्राणि परमायुर्विनिश्चितम् ॥ ७० ॥
तेऽपि काश्यां सावधानास्तिष्ठन्ति हि दिवानिशम् ।
मशका मनुजाः पापा निमेषोत्पत्तिजीविनः ॥ ७१ ॥
कुर्वन्ति सततम्पापं लभन्ते यातनाः सदा ।
अहो ! साहसमत्युग्रं पश्यन्तु विबुधाः स्फुटम् ॥ ७२ ॥
वैष्णव्या मायया ग्रस्ता विचारविमुखाः कृताः ।
या काशी धर्मजननी या काशी मोक्षदायिनी ॥ ७३ ॥
पापक्षयकरी या च तां काशीं द्रुह्यतेऽधमः ।
ईषदप्युपकारं हि करोति मनुजोऽपि यः ॥ ७४ ॥
तस्य द्रोहात्कृतघ्नः स्यान्महानरकभाजनम् ।
उपकारसहस्राणां जननीं मुक्तिदां ततः ॥ ७५ ॥
तां द्रोग्धुमिच्छन्नरके पतेत्किं द्रुह्यतीति च ॥ ७६ ॥

सूतउवाच

इत्युक्त्वा भगवाञ्छम्भुर्दण्डपाणिं प्रणोदयत(त्) ।
अत्यालङ्कारविषये दिव्यम्वपुरुपेयुषि ॥ ७७ ॥

तपस्वितामपि प्राप्य यः पापसमाचारं कुरुते, तं धिगित्यर्थः ॥ ६८ ॥ काश्यामिति । क्लिश्यन्यस्तिष्ठति, स मे क्लेश्य इत्यर्थः ॥ ६९ ॥ तामिति । ये प्रवृत्तास्ते आत्मघातिन इत्यर्थः ॥ ७०—७४ ॥ किं द्रुह्यतीति । यदद्रोह्यं काशीरूपं, तत्किमयं द्रुह्यतीति हेतोः ॥ ७५ ॥ इत्युक्त्वेति । अत्यालङ्कारो भूतिरुद्राक्षधारणादि ॥ ७६—७७ ॥

दण्डपाणिरलङ्कृत्य तेजोमयवपुर्धनम् । दर्शयामास देवाय दीनानाथैकबन्धवे ॥७८

सद्योऽपि भगवान्देवः काशीनाथो महेश्वरः ।
आचष्टे तरकाम्ब्रह्म यच्छ्रुत्वा ब्रह्मताम्व्रजेत् ॥ ७९ ॥

एवं हिरण्यगर्भः स पाखण्डधनतत्परः । अनेकायुतकालञ्च यातनाम्प्राप्य मुक्तिभाक्

अतएव द्विजाः काश्यां धनदेयपरायणाः ।
पापसङ्ग्रहमासाद्य पच्यन्ते यातनाग्निषु ॥ ८१ ॥

शिवविष्णुपरा ये च ये च दानरताः सदा । पापस्य सङ्ग्रहस्तेषां न स भवति दारुणः

स्वम्भृत्यवद् ब्राह्मणस्य पश्यत्यानन्दकानने ।
तस्य विष्णुः शिवौ देवाः प्रसन्ना काशिका तथा ॥ ८३ ॥
जीवितं तरलं ज्ञात्वा धैर्यमालम्ब्य यत्नतः ।
ज्ञात्वोग्रयातनां देवाद्भीतास्तिष्ठन्ति साधवः ॥ ८४ ॥

विषम(य)व्ययतोधर्मादपराधशतान्यपि । क्षमते शङ्करः साक्षात्सङ्ग्रहादत्र कुप्यति ॥

दातव्यमिति नो काश्यां वक्तव्यम्मनुजैः क्वचित् ।
अहोरात्रमतिक्रम्य तद्दानं द्विगुणम्भवेत् ॥ ८६ ॥

दशोत्तरम्पर्वसु च शतञ्चन्द्रग्रहे भवेत् । सूर्यग्रहे सहस्रन्तु मरणेऽनन्तकं स्मृतम् ॥ ८७

तस्माद्दातव्यमित्युक्तं देयमेव न चाऽन्यथा । बुधैस्तदेव वक्तव्यं दातुं शक्यं यदेव हि

तारकमिति । "ओङ्कारमोङ्कारयतीन्दुमौलिः" इति सनत्कुमारसंहितायां ओङ्कार-यति ग्राहयतीत्यर्थः ॥ ७८ ॥ अनेकायुतेति । प्रत्येकपातकस्य, त्रिंशद्वर्षसहस्रयातना-पेक्षयेदम् ॥ ७९ ॥ कथा तात्पर्यमाह सूतः । अतएवेति ॥ ८० ॥ स्वमात्मानं ब्राह्मणस्य भृत्यवज्जानीयाद् ब्राह्मणसेवापरो भवेदिति तात्पर्यम् शिवौ पार्वतीपरमेश्वरौ ॥८२॥ तरलं चञ्चलम् ॥ ८३ ॥ विषम(य)व्ययत इति । धनादीनाम्विषये अयोग्यपात्रे व्ययाद्धर्माचरणाच्च जायमानान्यपराधशतान्यपि क्षमते धनसङ्ग्रहन्तु न क्षमते इत्यर्थः ॥८४॥ भ्रूणहा नैव मुच्यते इति । "प्रायश्चित्तं भ्रूणस्य न" इति स्मृतेः । न च

उक्त्वा न दीयते यद्धि यातनाबन्धमेव तत् ।
दानमेव कलौ नृणां प्रायश्चित्तं न चेतरत् ॥ ८९ ॥
काश्यामपि कृता दोषा नश्यन्ति हि सुदानतः ।
दातव्यमिति गोदानमुक्त्वा धात्रीप्रदो यथा ९० ॥
प्रतारयति पापात्मा तस्य दानफलम्वृथा । तथाऽन्येष्वपि दानेषु प्रतिकल्पो न धर्मदः
धनिनां कृपणानाञ्च दाम्भिकानां दुरात्मनाम् ।
दातव्यमिति यो ब्रूयान्न ददात्याशु पामरः ॥ ९२ ॥
तस्य तद्वचनम्पुण्यनाशम्पापं करोति हि ॥ ९३ ॥

ऋषयऊचुः

सूत ! काश्यामृणङ्कृत्वा काश्यामेव म्रियेत चेत् ।
का गतिस्तस्य कथय ऋणहा नैव मुच्यते ॥ ९४ ॥

सूतउवाच

काश्याम्मृतानां सर्वेषां मुक्तिरेव न संशयः । बुद्धिपूर्वं कृतम्पापं दुःखायैव भवत्यलम्॥
शृण्वन्तु सुविचित्रार्थां कथां शुद्धिविधायिनीम् ।
यथा धर्मः पापभीतिरुत्पद्येत विचारतः ॥ ९६ ॥
काश्यामासीत्सदाचारो वणिक्सत्याशिषः कृती ।
तस्य पुत्रद्वयं चासीत्सुखसम्वर्धितं शनैः ॥ ९७ ॥
एकः कल्याणनामाऽन्यो धनप्रिय उदाहृतः ।
धनम्विभज्य च पिता दत्त्वा काशीमवाप ह ॥ ९८ ॥

यातना ऋणशुद्धिः स्यादितिवाच्यं सर्वधर्मकर्तुरीश्वरपरायणस्य, सद्यो मुक्तिर्भवतिं ? वा न भवति ? योग्यस्य ऋणापराधमात्रेण यातनाया अयोग्यत्वात् । तथा च तस्य किं सद्यो मुक्तिभवति ? वा न भवति ? इति प्रश्नार्थः ॥ ९३ ॥ बुद्धिपूर्वमिति । संसारभोगसम्पादनार्थं कृतस्य ऋणस्य, यातनयैव परिहारः अन्ना-

कल्याणः स्वधनम्भुङ्क्ते ददाति वसु याचके।
कालेन क्षीणवित्तोऽभूदृणङ्कृत्वा स जीवति ॥ ९९ ॥

धनप्रियो द्वितीयस्तु पुत्रः पापमतिः शठः। पितुर्धनम्विनाश्याऽऽशु ऋणम्बहु चकार ह
वेश्याद्यूतमद्यपानरतः पापमतिः सदा। ऋणग्रहगृहीतात्मा न वेद गतिमात्मनः॥१०१

पुण्यपापसमाचारौ मृतौ काश्यां वणिक्सुतौ।
सद्यो मुक्तिं यातनाञ्च प्राप्य मोक्षमवापतुः ॥ १०२ ॥

ऋषयऊचुः

ऋणङ्कृत्वाऽपि कल्याणः कथम्मुक्तिमवाप्तवान्।
धनप्रियोऽपि ऋणकृत्कथम्मोक्षस्य भाजनम् ॥ १०३ ॥

सूतउवाच

धार्मिको ऋणभीतो यो म्रियेताऽत्र प्रमादतः।
स सद्यो मुक्तिमाप्नोति ऋणी तस्य च शङ्करः ॥ १०४ ॥

च्छादनयोर्गत्यन्तराभावेन धर्मात्मनामकृतस्य ऋणस्य, परिहारः शिवेन क्रियत-
इति सर्वप्रघट्टकार्थः ॥ ९४—१०३ ॥ ऋणं बहुगुणमिति। ननु महादेवेनाऽद्या-
वधि कस्याऽपि ऋणं धनिकाय दत्तमिति केनाऽपि न श्रुतं नानुभूतञ्च, धनिकोऽपि
महादेवाद्धनम्प्राप्य धनम्मया लब्धमिति च न चोक्तवान्। ननु महादेवः साक्षा-
द्धनं न ददाति किन्तु तस्य व्यापारे धनबुद्धिङ्करोति, इति चेत्तद्व्यापारे धने
लब्धेऽपि प्रारब्धेन मया धनं लब्धं ऋणन्तु ममाऽमुकेन गृहीतं नष्टमेव हा! किङ्कर्तव्य-
मिति। तस्य पूर्ववद्बुद्धेर्विद्यमानत्वात्तथाचेदङ्कथमुक्तमिति चेन्न, न महादेवेन
साक्षाद्धनं दीयते, किन्तु धनव्यये धर्मार्थङ्कृते यत्पुण्यम्भवति तद्दीयते धनिके-
नाऽपि शास्त्रविश्वासेन पुण्यं लब्ध्वा सन्तोष्टव्यमित्यत्र तात्पर्यात् ॥ १०४ ॥

ऋणम्बहुगुणन्तस्मै ददाति भगवान्हरः । धार्मिकस्य मतिः प्रान्ते जायते ऋणभीतितः

विश्वेशप्रवणा चान्ते तेन विश्वाधिपो ऋणी ।
स्वयमङ्गीकृत्य ऋणं तारकम्प्रदिशत्यलम् ॥ १०६ ॥
तारकश्रवणाद्विप्रा विश्वेशमुखनिःसृतात् ।
जायते व्यापकः साक्षात्तस्माद्धर्मो हि रक्षति ॥ १०७॥
कल्याणः प्राप कल्याणं काशीमरणमात्मनः ।
निस्तीर्णो दानबलतः काश्याङ्काशीकथाश्रयः ॥ १०८ ॥
धनप्रियो धिक्कृतस्तु कालराजेन यातनाः ।
प्रापितोऽयुतशः सर्वभोगार्थं ऋणकृत्स च ॥ १०६ ॥
कुटुम्बभोगकृत्यार्थमृणङ्कृत्वा विमुह्यति ।
स पापात्माऽशुद्धतनुर्यातनाः प्रतिपद्यते ॥ ११० ॥
अतः सर्वैरुपायैर्हि ऋणशुद्धिः समीरिता ॥ १११ ॥

इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये काशीमाहात्म्यनिरूपणे विश्वेशकृत-तारकमन्त्रेण ऋणशुद्धिवर्णनं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

काशिवासिजनानां स्थितिवर्णनम्

ऋषयऊचुः

महाज्ञानमयी सूत ! श्राविता काशिसत्कथा । त्वया महानुभावेन महाफलसमृद्धिदा

पुनः काञ्चित्स्थितिम्ब्रूहि काश्यान्निवसतां सताम् ।

यथा न मानवो याति यातनां कालभैरवीम् ॥ २ ॥

सूतउवाच

सताम्प्रसङ्गैः श्रवणैः सुकीर्तनैः निन्दापरद्वेषविषादवर्जनैः ।

दानैर्व्रतैरिन्द्रियनिग्रहैश्च प्रतिग्रहग्राहविवर्जनैश्च ॥ ३ ॥

भवन्ति लोकाः सुखिनो विरागाः कामारिवासे वृषरागयुक्ताः ।

विशेषतो निन्दनवर्जिता जना जनार्दनं सानुनयम्प्रकुर्वते ॥ ४ ॥

वक्ता परुषवाक्यानां विज्ञेयो नरकागतः ।

सन्देहो न मुनिश्रेष्ठाः ! पुनर्यास्यति यातनाम् ॥ ५ ॥

परापवादी पापात्मा सर्वपापकृदध्रुवः । पच्यते नरके सोऽपि महापातकिभिः सह ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासम्पुरातनम् । सद्यः फलप्रदा निन्दा दर्शिता विष्णुशर्मणे ॥

पुनः काशिवासिजनानां स्थितिम्वक्तुमध्यायान्तरमारभ्यते, महाज्ञानमयीति ॥ १ ॥ सतामिति । प्रतिग्रहरूपो महाग्राहस्तद्विवर्जनैश्चेत्यर्थः ॥ ३ ॥ कामारिः शिवस्तस्य वासे वासस्थाने काश्यामित्यर्थः ॥ ४ ॥ वक्तेति । परुषाणि कठोराणि मर्मभेदकानि वाक्यानि तेषाम्वक्ता नरकादेव महापापी समागत इति मन्तव्यं पुनस्तेनैव कर्मणा नरकं गमिष्यतीति मन्तव्यम् ॥ ५ ॥ ज्ञानम्सु-

पुत्राय सुविनीतेन मुनिना यज्ञशर्मणा। विष्णुशर्मा पितुर्वेदान्साङ्गोपनिषदः क्रमात्

अधीत्य सर्वशास्त्राणि पुराणानि च सर्वशः।
पप्रच्छ पितरम्पुत्रो विष्णुशर्मा महामतिः ॥ ९ ॥
अन्यद्यदस्ति वक्तव्यं तद्ब्रूहि कृपया पितः ! ॥ १० ॥

यज्ञशर्मोवाच

शृणु तात ! महाविद्या पुरुषार्थफलप्रदा।
यामाश्रित्य नरः सर्वो जायते मोक्षभोगभाक् ॥ ११ ॥
सर्वप्राणिषु विश्वात्मा परमात्मा जनार्दनः।
संस्थितस्तस्य पीडाम्वा निन्दाम्वा कुरुते तु यः ॥ १२ ॥

स याति नरकङ्घोरं शिवद्रोही स च स्मृतः। ज्ञानम्मुनिवरैः सर्वैस्तपोविद्याविशारदैः
ततो न कस्यचिन्निन्दां पीडां वाऽपि प्रकुर्वते। सर्वं देवीमयम्विश्वं सर्वं शिवमयं तथा

विष्णुशर्मोवाच

देहस्तु निन्दितः सर्वैरात्मा निन्द्यो न कस्यचित्।
पीड़ा तु किङ्कृता लोके निन्दितानान्तु दृश्यते ॥ १५ ॥

गुरुरुवाच

देहदेहिसमायोगादभिमानो भवत्यलम्। तन्निन्दनान्महद्दुःखं जायते विदुषामपि॥

अध्यास एव दुःखाय देहादौ प्राणिनाम्भवेत्।
तन्निन्दनान्महद्दुःखं जायते नाऽत्र संशयः ॥ १७ ॥

निवरैरिति। परपीड़ा न कर्त्तव्येति ज्ञानं, सर्वैः स्वीकृतमितिशेषः। ज्ञातम्मुनिवरैरिति पाठे इदम्पूर्वोक्तं, मुनिवरैर्ज्ञातमङ्गीकृतमित्यर्थः ॥ ९—१३ ॥ तत इति। प्रकुर्वते, ऋषयः इति शेषः। तत्र हेतुमाह, सर्वं देवीमयमिति। तदुक्तं नारदीये देवीभागवते च "देव्या व्याप्तम्" इति। मार्कण्डेये च "त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्" इति।१४ किं कृतेति। निन्दितानां जनानां निन्दया या पीडा जायते सा किं निमित्तेत्यर्थः।

तस्मान्निन्दा न कर्त्तव्या निन्दितस्य वृषार्थिना ।
निन्दनात्पितृभिः साकं नरकम्प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥
सत्ये निन्दाऽऽशीघ्रदुःखप्रदा स्यात्त्रेतायां सा पक्षमात्रेण दद्यात् ।
मासादर्वाक् द्वापरे दुःखदात्री तिष्ये ज्ञाता सर्वदा पापरूपा ॥ १९ ॥
निन्दकानां सुखन्धर्मस्तपः सत्यं दया भयम् ।
तीर्थव्रततपोदानं विद्यादि च निरर्थकम् ॥ २० ॥
आत्मानं सद्गुणम्मत्वा शास्त्राचरणसन्मतम् ।
ततोऽन्यस्य करोत्यज्ञो निन्दां निन्दित एव सः ॥ २१ ॥
निन्दया नहुषो राजा शतक्रतुसमो महान् ।
पातितः स्वर्गतोऽप्यर्वाङ्महाधर्मकृदप्यहो ॥ २२ ॥
आत्मानं सर्वकुशलं मत्वैव परनिन्दकः ।
भवत्यवश्यं पापात्मा कुशलः स्वात्मघातकः ॥ २३ ॥
यस्य कश्चित्प्रियो देवः शिवो वा विष्णुरेव वा ।
स कथन्निन्दते जीवान् सर्वात्माराधको न सः ॥ २४ ॥
प्रमादादपि कर्णे यच्छ्रुतिस्मृतिसमीरितम् ।
सर्वात्मा भगवान्देवः पतितम्वाक्यमुत्तमम् ॥ २५ ॥

देहात्मनोरध्यास एव कारणमित्याह, देहदेहीति ॥ १६ ॥ सत्येनिन्देति । "तदानीं सर्वे पुण्यवन्तः शान्त्यादिगुणवन्तो जनास्तत्र केनचिन्निदा क्रियते चेत्सानिन्दाऽशीघ्र दुःखप्रदा बहुकालपर्यन्तं क्रियते चेदेवं दुःखदा, न स्वल्पकालं त्रेतायान्तु शान्त्यादि गुणानां ह्रासेन पक्षमात्रेण दुःखदा द्वापरे तु ततोऽपि शान्त्यादिगुणानां ह्रासेन मासादर्वाक् "पक्षा वै मासाः" इति श्रुतेर्मासात्पक्षादेवाऽर्वागेव दुःखदा कलौ शान्त्यादीनामभावात्सर्वदा पापरूपा दुःखरूपा निन्दा भवत्युतिः सा त्याज्येतिभावः "आशीघ्र दुःख प्रदेति च्छेदः" । स कथमिति । मम देवता सर्वत्र वर्तते इति जानन्,

स कथम्पामरः श्रुत्वा तत्र तत्र महत्सु च । निन्दाङ्करिष्यते मोहात्परलोकदर्शिनरः॥

अतएव त्वया वत्स ! निन्दितस्याऽपि देहिनः ।
न श्रोतव्या न कर्त्तव्या न स्थेयं तत्र यत्र सा ॥ २७ ॥

विष्णुशर्मोवाच

उपदेशः समीचीनः प्राप्तस्तात ! मयाऽधुना ।
काश्यां स्थित्वाऽपि सततं निन्दन्त्यत्र निवासिनः ॥ २८ ॥

अभिमानमहासर्पग्रस्तानाम्पापकर्मणाम् । तेषां दैवहतानाञ्च का गतिस्ताम्वदस्व मे॥

यज्ञशर्मोवाच

रुद्रावासे महाक्षेत्रे रुद्राः स्थावरजङ्गमाः ।
स्थितानां प्राणिनां निन्दां कुर्वन्याति ह्यधस्ततः ॥ ३० ॥

यथेश्वरो हि यं जीवं प्रवर्त्तयति देहकृत् । तथा प्रवर्त्तते सोऽपि न स्वतन्त्रः कथञ्चन

स्वयं तथाविधो भूत्वा कथमन्यं विनिन्दयेत् ।
सर्वज्ञत्वं बुद्धिमत्वं धार्मिकत्वं तथाऽऽत्मनि ॥ ३२ ॥
निन्दन्ति पापा आरोप्य स्वस्मिंल्लोकान्पृथग्विधान् ॥ ३३ ।

काशीस्थनिन्दनपरान्परमादरेण काश्याम्मृतानपि हि पातयते परात्मा ।
श्रीकालराज इति यः प्रथितः परेशः सोऽस्यावमन्यसुकृतम्परिशिक्षयेच ॥३४॥

कथं निन्दते ? नैव निन्दते इत्यर्थः । यदि निन्देत्तर्हि स सर्वात्माराधको नेत्यर्थः ॥ २४ ॥ प्रमादादपीत्यर्थः । "सर्वं खल्विदं ब्रह्मतज्जलानिति शान्त उपासीत" इति "सर्वं देवीमयं जगत्" इतिस्मृतिः ॥२५-२६॥ अतइति। न श्रोतव्या निन्देत्यर्थः। सा निन्देत्यर्थः ॥ २७—३० ॥ यथेश्वरोहीति। यथा येन प्रकारेणाऽन्तर्यामीश्वरो जीवम्पुण्ये वा पातके वा प्रवर्त्तयति तथा जीवः करोति तथा च न तथा जीवस्याऽपराधोऽस्तीतिभावः। तदुक्तं गीतासु "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि" इति ॥ ३१ ॥ तथाविधः स्वयमीश्वराधीनो भूत्वा सर्वज्ञत्वं

तस्मात्काश्यां सर्व सत्त्वेषु बुद्धिः कर्त्तव्या ते रुद्ररूपाः सदाऽऽदौ ।
पश्चादन्यद्धर्मजातञ्च शक्त्या कर्त्तव्यन्ते पुत्र ! कल्याणहेतोः ॥ ३५ ॥

विष्णुशर्मोवाच

निन्दाकृतम्महापापं श्रुतमस्माभिरादितः ।
मिथ्यानुवादिनाम्पापं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ३६ ॥

यज्ञशर्मोवाच

मिथ्यावादा बहुविधाः सन्ति पुत्र ! विघातकाः ।
न तेषु रमते प्राज्ञः सर्वप्यतिषु (?) सर्वदा ॥ ३७ ॥
विहाय विष्णुमव्यक्तमन्यन्मिथ्या प्रचक्षते ।
वेदाः सर्वे पुराणानि शास्त्राणि सुजनास्तथा ॥ ३८ ॥
मिथ्यावादस्त्वयम्मुख्यो गर्भवाससहस्रदः ।
सत्यम्विहाय मिथ्याऽस्य यदि वागिन्द्रियम्भवेत् ॥ ३९ ॥
तन्नाशयति पापिष्ठं यावदाभूतसम्प्लवम् ।
लौकिकेष्वपि यः पापो मिथ्यावाग्जायते नरः ॥ ४० ॥
तस्याऽपि निष्कृतिर्नास्ति मिथ्यावादानुसारतः ।
धनाद्यर्थन्तु यो मूढो मिथ्यावादानुसारतः ॥ ४१ ॥
धनाद्यर्थन्तु यो मूढो मिथ्यावादङ्करोति हि ॥ ४२ ॥
तस्याऽऽशु सुकृतं याति नरकम्प्रतिपद्यते । देहाद्यर्थम्प्रवदति यो नरोऽनृतमत्र हि ॥४३

स्वस्मिन्नारोप्येत्येन्वयः ॥ ३२ ॥ निन्दन्ति तामिति शेषः ॥ ३३—३४ ॥ तस्मादिति आदौ बुद्धिः कर्त्तव्येत्यन्वयः ॥ ३५—३८ ॥ अयम्मुख्य इति । सर्वम्मिथ्याऽस्तीति । वेदप्रतिपादितो यो मिथ्यावादः स मुख्यः सोऽङ्गीकर्त्तव्यः । स च गर्भवास-सहस्रस्य हन्ता भवति तत्प्रतिपादितार्थस्य सत्यत्वात् । यस्तु सत्येऽपि पदार्थे सति तस्याऽपलापङ्कृत्वा यन्मिथ्याभाषणन्तदेव दोषाधायकमिति सर्वप्रघट्टकार्थः ।

स याति रौरवम्पापं न पुनः सत्यभाग्भवेत् ।
अनृतानां न चान्तोऽस्ति यातनानाञ्च पुत्रक ! ॥ ४४ ॥
वक्तुं न शक्यते तात ! तारतम्यमवान्तरम् ।
न वाच्यमनृतं तात ! न वाच्यम्वाच्यमेव च ॥ ४५ ॥
इति निश्चित्य विचरेन्न तस्य भयमण्वपि ।
ऋषयो राजऋषयो (?) वैश्याः शूद्रास्तथान्त्यजाः ॥ ४६ ॥
अन्येऽपि देवयक्षाद्याः पतिता अनृतेन हि । अनृतं न वदेत्प्राज्ञः प्राणैः कण्ठगतैरपि
कौतुकेनाऽपि हि महास्वैरहास्येष्वपि क्वचित् ।
अनृतं सर्वपापानां पात्रन्तस्मिन्हि सञ्चितम् ॥ ४८ ॥
पापराशिस्तु सुमहाञ्जायते वर्धतेऽपि च । बहुनाऽत्र किमुक्तेन पापराशिरनन्तकः॥
दुःखप्रदोऽतो भवति नानृतात्पातकम्परम् । पुराणेषु पृथग्गीतं नानाख्यानैरनेकशः॥
अनृतन्नैव वक्तव्यमनृतात्सुकृतङ्क्षरेत् ॥ ५१ ॥

"नानृतम्वदेत्" इति श्रुतेः । "अश्वमेधसहस्रात्तु सत्यमेकं विशिष्यते" इति स्मृतेश्च ॥ ३६—४३ ॥ न वाच्यमिति । विनोदेन वाच्यमप्यनृतं न वाच्यमित्यर्थः । अतएव देवीभागवते द्वितीयस्कन्धेऽविनोदेन तृणव्याघ्रदर्शकस्य मुनेर्दुर्गतिरुक्ता ॥ ४४-५१॥ ततो भागवतमिति । अत्र भागवतशब्देन देवीभागवतस्य ग्रहणमुत विष्णुभागवतस्य ग्रहणमिति निर्णयस्तु देवीभागवतटीकायां द्रष्टव्यः (अत्र ग्रन्थे ३५० तमपृष्ठे) ॥५२ त्रिषट् अष्टादशेत्यर्थः । पृच्छकश्रोतृनामानीति । पृच्छकः प्रश्नकर्त्ता शिष्यस्तथा श्रोता प्रश्नश्रोता गुरुर्वक्ता इदमुपलक्षणम्प्रतिपाद्यविषयस्याऽपि तथा च कानिचित्पुराणानि वक्तुर्नाम्ना प्रसिद्धानि तानि च ब्राह्मनारदादीनि; कानिचिच्छिष्यनाम्ना प्रसिद्धानि तानि च स्कन्दादीनि; कानिचित्प्रतिपाद्यदेवतानाम्ना प्रसिद्धानि तानि च भागवतादीनि । तदुक्तं शिवपुराणे "यत्र वक्ता स्वयन्तण्डे ब्रह्मा साक्षाच्चतुर्मुखः।

विष्णुशर्मोवाच

कानि सन्ति पुराणानि व्यासोक्तानि महान्ति च ।
अन्यान्युपपुराणानि संख्यया वद मे पितः ! ॥ ५२ ॥

यज्ञशर्मोवाच

ब्राह्मम्पाद्मम्वैष्णवञ्च शैवं लैङ्गञ्च गारुडम् ।
ततो भागवतम्प्रोक्तं भविष्याख्यञ्च वामनम् ॥ ५३ ॥
नारदीयं तथाऽऽग्नेयं मार्कण्डेयञ्च कूर्मकम् । मात्स्यञ्च ब्रह्मवैवर्त्तन्तथा वाराहमेव च
स्कान्दञ्च वायवीयञ्च पुराणानि च तत्रिषट् ।
पृच्छकश्रोतृनामानि मुख्यत्वे प्रथितानि हि ॥ ५५ ॥
तेन नाम्ना तानि तानि विभक्तानि विशेषतः ।
सर्वाः कथास्तु भगवानेकीकृत्य जनार्दनः ॥ ५६ ॥
कृष्णद्वैपायनश्चक्रे ह्यष्टादशमितानि च ।
विष्णुशर्मा पितुर्वक्त्राच्छ्रुत्वा निन्दामृषाफलम् ॥ ५७ ॥

तस्माद्ब्राह्मं समाख्यातं पुराणम्प्रथमम्मुने !" इति । तथा "यत्र स्कन्दः स्वयं श्रोता वक्ता साक्षान्महेश्वरः। तत्तु स्कान्दं समाख्यातम्" इति। तथा "भगवत्याश्च दुर्गाया-श्चरितं यत्र विद्यते। तत्तु भागवतम्प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम्" इति। अनेन च भगवत्या इदम्भागवतमिति भागवतपदव्युत्पत्तिर्दर्शिता मुख्यत्वे मुख्यपुराणत्वे इति यावत् ॥ ५४ ॥ तत्तन्नाम्ना ब्रह्मस्कन्दभगवत्यादिनाम्ना शिवपुराणोक्तप्रकारेण विशेषतः सर्वपुराणानि विभक्तानीत्यर्थः। सर्वाः कथास्त्विति। हिरण्यगर्भेण प्रथमतः पुराण-मेकमेव शतकोटिप्रविस्तरमेव कृतं तस्मात्पुराणात्सर्वाः कथा एकीकृत्य सारं व्यासो गृहीत्वाऽष्टादशपुराणानि चक्रे इत्यर्थः। तदुक्तं देवीभागवते द्वादशस्कन्धे "शतकोटिप्रविस्तीर्णन्तत्कृतं ब्रह्मणा पुरा। तत्सारमेकतः कृत्वा व्यासेन शुकहेतवे" इति ॥ ५५ ॥ निन्दामृषयोः निन्दमृषावादयोः फलमित्यर्थः। मिथ्या-वादनिन्दयोर्निवृत्त्यर्थमित्यर्थः ॥ ५७ ॥ मितिः प्रमितिः अष्टादशं भागवतमिति ।

असत्समागमांस्त्यक्त्वा पुराणपरमोऽभवत् ।
अत्तो धर्मकथा नित्यं शृण्वन्ति कथयन्ति च ॥ ५८ ॥
महानुभावाः सततं मिथ्यानिन्दानिवृत्तये ॥ ५९ ॥

ऋषयऊचुः

सूतान्यानि पुराणानि श्रूतान्यष्टादशैव तु ।
तेषां नामानि नो ब्रूहि कैः कृतानि मितिश्च का ॥ ६० ॥

सूतउवाच

आद्यं सनत्कुमाराख्यं नारदीयं द्वितीयकम् ।
तृतीयं नारसिंहाख्यं शैवधर्मं चतुर्थकम् ॥ ६१ ॥
दुर्वा(स?)सं पञ्चमं षष्ठं कापिलेयमतः परम् । सप्तवं मानवम्प्रोक्तं शौक्रमष्टमसेव च
वारुणं नवमम्प्राहुर्ब्रह्माण्डं दशमं स्मृतम् । कालीपुराणन्तु तत एकादशममुच्यते ॥६३
वासिष्ठलैङ्गं द्वादशं माहेशन्तु त्रयोदशम् । साम्बश्चतुर्दशम्प्रोक्तं सौरं पञ्चदशं स्मृतम्
पाराशर्यं षोडशकं मारीचन्तु ततः परम् । अष्टादशम्भार्गवाख्यं सर्वधर्मप्रवर्त्तकम् ॥
एतान्युपपुराणानि सर्ववेदमयानि च । ऋषिभिः सम्प्रयुक्तानि पुरुषार्थफलानि च ॥
वेदधर्माः पृथक्कृत्य ज्ञायन्ते सर्वकाङ्क्षिभिः ।
न पुराणम्विना विप्राः ! पुरुषार्थः प्रवर्त्तते ॥ ६७ ॥
पुरुषार्थम्विना कश्चिन्न सुखम्पुण्यमश्नुते । अन्यथा नरकं याति श्रवणादिविवर्जितः ॥
शुभाशुभविवेकश्च श्रवणादेव जायते । पुराणेषु च सर्वेषु नामभेदेन कानिचित् ॥७०

हेमाद्रौ पुराणान्तरे च पाठस्तत्र भागवतपदेन कस्य ग्रहणमिति विचारस्तु देवीभागवत टीकायां विशदीकृतस्ततएवाऽवधार्यः ॥ ६४ ॥ व्यत्यासमिति । अन्यान्युपुराणेषु गारुडादिषूपपुराणानां नामभेदो दृश्यते तेन पुराणानां भेदः प्राप्तः परन्तु कालभेदेन तानि नामानीहोक्तपुराणानामेव व्यत्यासेन भवन्ति नैतेभ्यो व्यतिरिक्तानि तानीति बोद्धव्यमित्यर्थः ॥ ६५—६९ ॥ भाविजन्मजालं काशी जहाति

व्यत्यासं यान्ति तान्येव कालभेदेन कुत्रचित् । अयमेव पुराणार्थो ह्ययमेव परो वृषः ॥

इदमेव परं ज्ञानं यदात्मा मुच्यते भयात् ।
तद्वयं न विना काशीप्राप्तिम्भावि जहाति च ॥ ७१ ॥
विष्णोरियङ्कृपामुख्या शिवस्य परमा दया ।
धर्मयोगादि सद्वृत्तफलङ्काशी यदाप्यते ॥ ७२ ॥

काश्यां स्थित्वा देवदेवौ शिवौ च विष्णुम्वा ये संयजन्ते मनुष्याः ।
ते वै लक्ष्मीपार्वतीकान्तभक्त्या वित्तैर्धान्यैर्मोक्षयुक्ता भवन्ति ॥ ७३ ॥
तथा विपापाः परमार्थयुक्ता दीनाः सुदीनाः सुखधैर्यवीर्यैः ।
दीनान्भजन्ते निरपत्रपाः किम्भवन्ति ते भ्रान्तिभाजः सदैव ॥ ७४ ॥

ऋषयऊचुः

सूत ! जीव महाबुद्धे ! व्यासशिष्य ! हरिप्रिय ! ।
यत्त्वया काशिमाहात्म्यं श्राविता ऋषयोऽमलाः ॥ ७५ ॥
स्वधर्मदानव्रतधर्मसाधनैरन्यैश्च यागादिभिराप्यते यत् ।
पुण्यम्भवेत्तेन दृढा मतिः सतां काशीकथाश्रवणे मानवानाम् ॥ ७६ ॥
इदम्महाख्यानमशेषपाप्मनां विनाशनङ्काशिनिवाससौख्यदम् ।
शृण्वन्ति गायन्ति महानुभावाः परम्पदम्प्राप्य परां लभन्ते ॥ ७७ ॥

श्लोकार्धं श्लोकपादम्वा नित्यङ्काशीकथामृतम् ।
पिबन्ति ये महाभागास्तेषाम्भीतिर्न भैरवी ॥ ७८ ॥
महापातकयुक्तोऽपि शृणुयाद्यः कथामिमाम् ।
स युक्तो मुक्तिमाप्नोति पुण्यसम्भारदुर्लभाम् ॥ ७९ ॥
देवेषु च यथा शम्भुस्तीर्थमुख्येषु काशिका ।
व्रतेष्वेकादशी मुख्या पुराणेषु तथा त्विदम् ॥ ८० ॥

ताम्विनेत्यन्वयः ॥ ७० ॥ अतीतजन्मवर्तमानजन्मनोर्मुक्तकोटिप्रविष्टत्वेनार्थाद्भावि-

जगद्ब्रह्मविवर्त्तं हि वदन्ति श्रुतिमौलयः ।
काशी ब्रह्मैव साक्षाद्धि विदुषां श्रुतिचक्षुषाम् ॥ ८१ ॥
काशी कथाश्रवणतः काशी कीर्त्तनतः स्मृतैः ।
यत्फलञ्जायते नृणां न तद्योगादिभिः क्वचित् ॥ ८२ ॥
सर्वं स विघ्नम्मोक्षस्य साधनङ्काशिकाम्विना ।
काशी निर्विघ्नजननी काशी मोक्षस्य सत्खनिः ॥ ८३ ॥
विष्णुविश्रामभूमिश्च शिवविश्रामभूमिका । ऋषयो देवगन्धर्वा यत्र विश्राममागताः
पूर्णा अपि रमन्तेऽत्र पञ्चक्रोशात्मके स्थले । अपूर्णानाम्वराकाणां रतिरन्यत्र पापतः
यैर्दृष्टा यैः श्रुता काशी यैः स्मृता कीर्त्तिता तथा ।
त एव वन्द्याः पूज्याश्च कृतार्था मुक्तिभागिनः ॥ ८६ ॥

ऋषयऊचुः

वदन्ति योगिनो देहं काशीरूपम्विमुक्तिदम् ।
अन्तर्दृष्ट्या महाभाग ! तत्कथं सूतनन्दन ! ॥ ८७ ॥

सूतउवाच

आदौ काश्यां धर्ममार्गेण वासः पापत्यागः काशिमाहात्म्यदृष्टिः ।
देहं गेहं पुत्रमित्रादि यस्य सर्वन्तुच्छं सोऽधिकारी महात्मा ॥ ८७ ॥

जन्म जहातीति युक्तमेव तथा च पारमर्षसूत्रं "हेयं दुःखमनागतम्" इति । 'जगद्ब्रह्मविवर्त्तं हि' इति 'सर्वञ्जगद्ब्रह्मणोविवर्त्तभूतम्'इति । श्रुतयो वदन्ति तद्ब्रह्मैव काशिका भगवती पराशक्तिर्भवतीत्यर्थः । तथा ब्रह्मणि निष्ठावत्काश्या भगवत्याः पराशक्तेर्निष्ठाध्यानपूजाजपादिभिः कर्त्तव्येत्यर्थः ॥ ८० ॥ पूर्णाः ज्ञानिनः ॥ ८४ ॥ वन्दन्तीति योगिनोऽन्तर्दृष्ट्या देहमेव काशीति वदन्ति तत्कथङ्कया भावनयेत्यर्थः ॥ ८६ ॥ प्रश्नोत्तरम्वक्तुम्प्रथमतस्तादृशभावनाया अधिकारिणआह आदाविति ॥ ८७ ॥

जीवन्देहङ्काशिकाङ्कर्तुमिच्छन्कुर्यादेतन्नातिचित्रन्नृणां हि ।
देहः काशी काशिका देहरूपा तस्य प्रोक्ता यो विरक्तः सदाऽऽस्ते ॥८८॥
तथापि मुनयो वच्मि गुह्याद्गुह्यतरम्परम् ।
लिङ्गतीर्थान्यनेकानि यथा भान्ति शरीरके ॥ ८९ ॥
तथा शृणुध्वमाश्चर्यं क्व मेरुः सर्षपोदरे । आश्चर्यकारि मनसो नानाख्यानैस्तथोत्तरैः
स्थूलादपि स्थूलतरा काशिका ब्रह्मरूपिणी ।
यथा मनुष्यदेहेऽस्मिंश्शोधिते भाति न वस्तुतः ॥ ९१ ॥
एतच्छ्रवणतः पुंसां सर्वत्र विजयो भवेत् । सौभाग्यश्चापि सर्वत्र प्राप्नुयान्निर्मलाशयः
यस्य विश्वेश्वरस्तुष्टस्तस्य स्याच्छ्रवणे मतिः । जायते पुण्ययुक्तानां महानिर्मलचेतसाम्
सर्वेषां मङ्गलानाञ्च मङ्गलम्परमं स्मृतम् । गृहेऽपि लिखितम्पूज्यं सर्वमङ्गलसिद्धये ॥
इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते तृतीयखण्डे काशीरहस्ये काशीमाहात्म्यवर्णनं नाम
षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

अथ भावनामाहः देहः काशीति । देह एव काशीति भावनया देहरूपा काशिका भवत्येवेत्यर्थः । अयम्भावः ब्रह्ममायात्मिका काशी देहोऽपि ब्रह्ममायात्मकस्तथा च तया भावनया देहः काशिका भवत्येवेत्यर्थः ॥८८॥ ननु काशी ब्रह्मरूपिणी व्यापिका देहे परिच्छिन्ने कथं स्थास्यति यथा मेरुः सर्षपस्योदरे क्व कथं स्थास्यति तद्वदिति चेत्तत्राऽऽह तथेति । यथा मेरुः सर्षपस्योदरे कथं स्थास्यति यद्यपि तथापि लिङ्गतीर्थान्यनेकानि यथाऽस्मिञ्छरीरके कुत्सिते शरीरे यथा भान्ति तथा गुह्याद्गुह्यतरम्मनसोऽप्याश्चर्यकारि वच्मि तथा शृणुध्वमित्युत्तरेणाऽन्वयः ॥ ८९ ॥ किं शृणुध्वन्तत्राऽऽह नानाख्यानैस्तथोत्तरैरिति । पूर्वम्प्रोक्तैर्जनकावधूतसम्वादादिरूपैः स्थूलादपि स्थूलतरा काशी ब्रह्मरूपिणी शोधितेऽस्मिन्देहे तद्गते त्वम्पदार्थे शोधिते सति वस्तुतः परमार्थतस्तद्भेदे न भातीत्यर्थः जीवब्रह्मणोरेकत्वादिति तात्पर्यम्. यथा शब्दः पादपूरणार्थः ॥ ९१ ॥ पुराणश्रवणकर्त्तुः फलमाह एतच्छ्रवणत इति ॥ ९३ ॥ लिखितं पुस्तकमित्यर्थः ॥ ९४ ॥

अथाऽत्र मरणविचारः क्रियते। 'तत्राऽन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि काशीप्राप्तिकराणि वै'इति। तथा 'प्रयागादपि तीर्थात्प्रागिदमेव परं स्मृतम्। अनायासेन चैवाऽत्र मोक्षप्राप्तिः प्रजायते'।। तथा मात्स्ये "एक एव प्रभावोऽस्ति क्षेत्रस्य परमेश्वरी। एकेन जन्मना देवि ! मोक्षम्प्राप्स्यत्यनुत्तमम् ।।". इत्यादि सर्वपुराणबृहज्जाबालरामतापनीयादिश्रुतिभिः काशीभगवती सर्वोत्तमेति निर्विवादमेव। अत्र शिवकृततारकोपदेशान्मुक्तिः सर्वत्राभिहितेत्यपि निर्विवादमेव। तत्र तारकशब्देन बृहज्जाबालरीत्या महादेवाष्टाक्षरः, रामतापनीयरीत्या रामषडक्षरः भुवनेश्वरीसंहितोक्तरीत्या तथा 'शर्वाणीप्रणवोपदेशचतुरश्रीकण्ठकण्ठीरवश्रोतारम्' इति शिवरहस्य द्वादशांशोक्तरीत्या देवीप्रणवसंज्ञकः श्रीभुवनेश्वरीमन्त्रो हि तारकमन्त्रः 'अनिलो मृगनाभिरेणुगन्धैरथ काशी प्रणवोपदेशकाले हरते भवजं श्रमं नराणां हरवामार्धकुचोत्तरीयजन्म' इति पुराणरीत्या वैजिकः प्रणवः शिवरहस्ये सप्तमांशे 'तारकम्ब्रह्मपरमं शिव इत्यक्षरद्वयम्' "इदमेव परम्ब्रह्म काश्याम्मल्लिङ्गधारिणाम्। अन्तकाले परक्तानां मायादेव्युपदिश्यते" इति रीत्या शिव इत्यक्षरद्वयात्मक एव तारको मन्त्रः। तथा तत्रैव द्वादशांशे अन्तिमाध्याये 'एवं निवासरसिकस्य हरोऽन्तकाले तारं स पञ्चार्णमथोदिदेश' इति वचनात्षडक्षरः शिवमन्त्रस्तारकमन्त्रः। "ब्रह्मज्ञानेन मुच्यन्ते नान्यथा जन्तवः क्वचित्। ब्रह्मज्ञानन्तदेवाहं काशीसंस्थितिभागिनाम्।। दिशामि तारकम्प्राप्ते मुच्यन्ते तत्र तत्क्षणात्" इति वचनेन काशीखण्डोक्तरीत्या महावाक्यरूपस्तारको मन्त्र एवमन्यान्यपुराणतन्त्रपर्यालोचनयाऽनेके तारकमन्त्राः सिद्धास्तथाऽत्राऽनेकेषु तारकमन्त्रेषु शिवः कं तारकमन्त्रमुपदिशतीति तद्रहस्यं शिव एव जानाति। अत्र केचिदनेकेषु तारकमन्त्रेषु कस्य मन्त्रस्योपदेश इति नियमाभावे नैकस्यानेकमन्त्रोपदेशेप्रयोजनाभावेन महावाक्योपदेशस्यैवाऽज्ञाननाशाय सर्वश्रुतिषु सिद्धान्तितत्त्वेन महावाक्योपदेशः प्रसिद्धः एव शिवेन क्रियते रामादिमन्त्रोपदेशप्रतिपादकानि वाक्यानि तु तत्तन्मन्त्रवाच्यब्रह्मोपदेशमात्रपराणीति वदन्ति। ननु यदाशिवस्याऽऽगमनं काशीसेवनार्थन्नाभूत्ततः पूर्वमुपदेश-

कर्त्तुरभावादुपदेशम्विना कथम्मुक्ताः प्राणिनोऽभवन् तथा 'कलावन्तर्हितो देव स्तत्पुरञ्च विशेषतः। पुरी तु वसते नित्यं सर्वप्राणिविमोक्षदे।" इत्यादि वचनैरग्रेऽपि शिवस्यावस्थानाभावेन ततः परम्मृतानां महावाक्योपदेशम्विना मोक्षः कथम्भविष्यतीति चेन्न स्वतन्त्रा काशिका भगवती पराशक्तिरेवोपदेशङ्कृत्वा जनान्मोचयतीत्यनिच्छताऽप्यस्याऽर्थस्याऽवश्यम्वक्तव्यत्वात् उपायान्तरस्याऽभावात्। अतएव काशिकायाः स्वतन्त्राया एव मोक्षदायकत्वप्रतिपादकानि वचनानि पुराणागमादिषु शतश उपलभ्यन्ते परमात्मज्योतिर्लिङ्गरूपिण्याः शिवशक्त्यात्मिकायाः काश्या भगवत्या मोक्षदाने इतरसाधनस्यानुपयोगाच्च एतदुपदेशार्थमेव काश्या भगवत्या मूर्त्तिधारणङ्कृतमस्ति तदुक्तं काशीरहस्ये सप्तदशाध्याये "देव्युवाच। मूर्तिमत्याः काशिकायाः कोऽधिकारो महेश्वर!॥ क्षेत्रमूर्त्तिप्रभेदेन स्थितया किम्प्रयोजनम्" इति। "महादेवउवाच। क्षेत्रे ऋणत्रयात्काशी मोचयेत्सर्वदेहिनः। आधारभूतजीवानामाद्या प्रकृतिरव्यया॥ मूर्त्तिरूपा चित्स्वरूपाऽविमुक्तेश्वरसेवया। पूर्णरूपा स्वमाहात्म्यं स्वयमेव प्रकाशयेत्" इति। अग्रे च कामकलावेश्यायै काश्यैव भगवत्या उपदेशः प्रदर्शितः। तथा "इयं काशी देवी सकलपुरुषार्थैकजननी मुमुक्षून्या सर्वाञ्जितकरणदेहान्सुमनसः। महापापान् क्रूरान् गुरुनिगमदेवद्विजगवान्द्रुहस्तानप्याद्यागमयति परं स्वात्मसदनम्" इति। नन्वेवं चेत्स्वतन्त्रा काशी भगवत्येव निरन्तरं सर्वेषाम्प्राणिनामुपदेशङ्करोतु किमर्थं शिवो महावाक्योपदेशङ्करोतीति चेन्न राजप्रतिनिधिवत्समाधानात्। यथा राजा स्वकार्यं स्वयमेव करोति प्रधानद्वाराऽपि करोति तथेयम्भगवती काशी महावाक्योपदेशं स्वयमेव करोति शिवद्वाराऽपि करोतीति स्पष्टश्चायमर्थः शिवपुराण इति। अतः सिद्धङ्काशी भगवती पराशक्तिः। स्वतन्त्रा-मोक्षदायिनीति। सैव काशी मन्त्रजपपूजाध्यानहोमादिभिराराधनीयेति। अतएव सर्वदेवैः काश्या आराधनार्थमत्र वासः क्रियत इति काशीरहस्ये उक्तम्। 'सर्वपुराणेषु स्पष्टं कृतम्' अत्र मरणे कालदेशकृतविशेषाभाव उक्तः। "उत्तरन्दक्षिणञ्चाऽपि नायनञ्च विचारयेत्" इति काशीखण्डात्; "रथ्यान्तरे मूत्रपुरीषमध्ये चाण्डालवेश्मन्यथवा

स्मशाने" इति सनत्कुमारसंहितोक्तेश्च। 'भूमौ जलेऽन्तरिक्षे वा यत्र क्वाऽपि मृतो द्विजः। ब्रह्मात्मकत्वमाप्नोति काशी शक्तिरूपा हिता इति पाद्माच्च। इदञ्च दुर्मरणमात्रोपलक्षणम् 'आत्महत्या न कर्त्तव्या' इति शिवपुराणात्साऽत्र न कर्त्तव्या। प्रायोपवेशनाग्निप्रवेशयोस्तु वचनात्तदधिकारिणो दोषाभावः। तदुक्तं काशीखण्डे 'विनाऽऽत्मघातमीशान! त्यक्त्वा प्रायोपवेशनम्। नैश्रेयस्याः श्रियो हेतुस्तदस्तु जगदीश्वर!' इति प्रायोपवेशनं त्यक्त्वाऽऽत्मघातम्विनेति सम्बन्धः 'अत्र काशी मरणजन्ये मोक्षे अधिकारिविशेषापेक्षा नास्ति 'कीटाः पतङ्गा मशकाश्च मत्स्याः' इत्यादि। 'मण्डूकमत्स्याः कृमयोऽपि काश्यां त्यक्त्वा शरीरं शिवमाप्नुवन्ति' इति पाद्मात् 'यस्य कस्याऽपि वा स्वयम्' इति रामतपनीयात्। अथाऽत्र मृतस्य तत्कालङ्कथम्मुक्तिः कस्य वेत्यादि विचार्यते, तत्र त्रिविधा अधिकारिणः उत्तममध्यमकनिष्ठभेदात्; उत्तमास्तु काशीरहस्योक्तसद्धर्माचरणवन्तः। ते च द्विविधाः तत्तल्लोकप्राप्त्यर्थं काम्यसत्कर्मकर्त्तारो निष्कामसत्कर्मकर्त्तारश्च तत्राऽऽद्यानां सालोक्यादिमुक्तिः पश्चात्तत्रैव स्थित्वा ज्ञानवन्तो भूत्वा तत एव मुच्यन्ते ब्रह्मलोकगतप्राणिवत् एतेन सतीगमनमपि व्याख्यातम्। स्वपुण्यकृतस्वर्गभोगोत्तरं दिव्यदेहं धृत्वा शिवोपदेशं सम्पाद्य मुक्तिम्प्रति गतत्वात्। निष्कामकर्मिणान्तु देहपातोत्तरं दिव्यदेहप्राप्त्यनन्तरं भगवदुपदेशेन ज्ञानप्राप्त्या सद्य एव मोक्षः 'ननु अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकम्ब्रह्म व्याचष्टे तेनाऽसावमृतीभूत्वा मोक्षी भवति' इति श्रुतावुत्क्रममाणेष्विति वर्तमानार्थकलटः श्रवणात् प्राणोत्क्रान्तिसमये एवोपदेशः प्रतीयते तत्कथन्देहपातोत्तरन्दिव्यदेहप्राप्त्योपदेशउच्यत इतिचेन्न वर्तमानसामीप्येऽपि लटः श्रवणात्। यथा गोषु दुह्यमानासु गत इत्यत्र घाटकातः पूर्वमुत्तरम्वा गमनेऽपि तथा प्रयोगस्तद्वदत्राऽपि सत्त्वात्। ननु तथापि सहस्रावधिवर्षपर्यन्तं भैरवयातनानुभववताम्पापिनां दिव्यदेहोत्तरमुपदेशसमये वर्तमानसामीप्याभावेन तद्विषये कथं श्रुतेः सङ्गमनमिति चेन्न दिव्यदेहात्पूर्वदेहस्थस्यानुभूतयातनस्यैव जीवस्य प्राणोत्क्रान्तेर्विवक्षितत्वात्। अतएव चाण्डालादीनामप्युपदेशे योग्यता दिव्यदेहे सर्वेषामधिकारात्। कीटानादीश्वाक्षरज्ञाना-

भावेऽपि दिव्यदेहे तत्सम्भवात्। कर्णमूल इत्यत्र दिव्यदेहकर्णमूलम्विवक्षितं दिव्यदेहप्राप्तिश्च काशीरहस्ये पञ्चविंशेऽध्याये उक्ता "इत्युक्त्वा भगवाञ्छम्भुर्दण्डपाणिम्प्रचोदयत्। अत्यालङ्कारविषये दिव्यम्वपुरुपेयुषि ॥ दण्डपाणिरलङ्कृत्य तेजोमयवपुर्धरम्। दर्शयामास देवाय दीनानाथैकबन्धवे ॥ स चापि भगवान्देवः काशीनाथो महेश्वरः। आचष्टे तारकम्ब्रह्म यच्छ्रुत्वा ब्रह्मताम्व्रजेत्" इति। एतेनोत्क्रममाणेष्विति श्रुतौ वर्तमानकालस्योक्तत्वेन चाण्डालकीटादीनां तत्समयेऽधिकाराभावेनोपदेशस्य च जन्तुमात्रविषयत्वेन तन्निर्वाहार्थं विश्वनाथस्य सामर्थ्यविशेषं कल्पयन्ति प्राञ्चस्तत्परास्तं यातनोत्तरोपदेशविषये दिव्यदेहग्रहणम्विना निर्वाहाभावेन सर्वत्र दिव्यदेहग्रहणस्यैवौचित्यात्। तदतिरिक्तसामर्थ्यविशेषकल्पनाया अनुपयोगाद् गौरवाच्च। मध्यमाधिकारिणस्तु पापिन एव, ते च द्विविधाः अबुद्धिपूर्वकपापकर्त्तारो बुद्धिपूर्वकपापकर्त्तारश्चेति। तत्राऽऽद्यानाम्पश्चात्तापयुतानामन्तर्गृहपञ्चक्रोशप्रदक्षिणया गङ्गास्नानादिभिश्च दग्धपापानामुत्तमाधिकारिष्वेवाऽन्तर्भावः किञ्चित्तारतम्यं त्वकिञ्चित्करं बुद्धिपूर्वकपापकर्तॄणान्तु प्रतिपापं त्रिंशद्वर्षसहस्रभैरवयातनोत्तरन्दिव्यदेहग्रहणानन्तरमुपदेशेन मुक्तिः। तदुक्तम्पाद्मे "काशिकाकृतपापस्य भोगो रुद्र! पिशाचता। एकैकस्य तु पापस्य समानमयुतत्रयम्" इति। कनिष्ठास्तु अत्युत्कटपापकारिणः तेषान्तु भैरवयातनोत्तरमपि कर्मशेषेण देशान्तरेऽनेकनीचयोनिप्राप्त्यनन्तरं पुनः काश्याम्मरणे दिव्यदेहप्राप्त्युत्तरमुपदेशेन मोक्षः। अतएव पद्मपुराणे काशीकृतपापस्य तत्रैव मृतस्य कस्यचिद्दशजन्मान्युक्त्वा काञ्चनमालिनीदत्तमाघस्नानजपुण्येन देवजन्मोक्तं सङ्गच्छते तथा हि "अविमुक्ते कृतम्पापं वज्रलेपो भविष्यति। वज्रलेपेन पापेन तेन मे जन्मराक्षसम् ॥ रौद्रङ्क्रूरतरम्पापं सम्भूतं हिमपर्वते। द्विर्जातो गृध्रयोनौ प्राक्त्रिर्व्याघ्रो द्विः सरीसृपः ॥ एकवारमुलूकश्च विड्वराहस्ततः परम् ।३। इदन्तु दशमञ्जन्म राक्षसं मम भामिनि!" इति। अतीतानि सहस्राणि वर्षाणां पञ्चसप्ततिः ॥ ददौ सा माघजम्पुण्यं तस्मै वृद्धाय रक्षसे। तदैव प्राप्तपुण्यस्तां विमुक्त्वा राक्षसीन्तनुम् ॥ सम्भूतो देवतारूपस्तेजोभास्वरविग्रहः"

इति । तथाऽन्यत्राऽपि पाद्मे 'परद्रोहरता ये च तथा च प्राणिहिंसकाः । परापवादिनः पापा देवतागुरुनिन्दकाः ॥ कुप्रतिग्राहिणः सर्वे सम्भवन्ति पुनः पुनः । खरोष्ट्रसूकरावित्वं गोजाश्वमृगपक्षिताम् चण्डालपुल्कसत्वञ्च प्राप्नोति ब्रह्महा क्रमात् । दस्यूनां विड्भुजां योनिं पक्षिणाञ्च तथैव च । कृमिकीटपतङ्गानां सुरापः प्राप्नुयान्नरः ॥ राक्षसानाम्पिशाचानां चोरायान्ति सहस्रशः । क्रव्याददंष्ट्रिणां योनिं तृणादीनान्तथैव च ॥ क्रूरकर्मरतानाञ्च प्राप्नोति गुरुतल्पगः" इत्यादि । ननु काशीमरणोत्तरं पुनर्जन्मप्राप्तौ काशीमरणजविशेषो नो वारितोऽस्ति काशीमरणोत्तरम्पुनर्जन्माभावप्रतिपादकसर्वपुराणगतवचनसमूहस्य विरोधश्चेति चेन्न यातनाजन्मादिभिः काशीकृतपापनाशोत्तरमेव पुनः काश्याम्मरणेन मोक्षेऽवश्यम्भावित्वरूपस्य विशेषस्य सत्त्वात् काशीमरणोत्तरम्पुनर्जन्माभावप्रतिपादकवाक्यानान्तु यातनाजन्मादिभिः पातकनाशोत्तरं जन्माभाव इत्यर्थकरणेन तद्विरोधाभावश्च माघस्नानजपुण्येन त्यक्तराक्षसयोनेर्देवभावम्प्राप्तस्य पुनः काशीमरणेन मोक्षः । अतएवैतादृशपातक्युद्देशे "नाशनम्वसनम्वासः काश्यां येषां कुमार्गतः । कीकटेन समा काशी गङ्गाप्यङ्गारवाहिनी" ॥ इत्यादीनि पुराणवचनानि सङ्गच्छन्ते तत्सिद्धं काशीमरणान्मोक्ष इति । अन्ये तु काश्याम्मृतस्य पुनर्जन्माभाव प्रतिपादकसर्वपुराणवचनविरोधादेतादृशानाम्वचनानाङ्कृतकाशीयात्रस्य देशान्तरे मृतस्य पुनर्जन्मसम्भवेन तद्विषयत्वम्वा पापभीत्युत्पादनार्थमर्थवादत्वम्वेति वदन्ति इत्थङ्काश्याम्मृतानाङ्गतिरुक्ता । ये तु काश्यामागत्य पापङ्कृत्वाऽन्यदेशे मृतास्तेषामपि यमयातना नास्ति किन्तु यामाख्याः शिवगणा यातनाङ्कुर्वन्ति तेषां यातनोत्तरं त्रिंशद्वर्षसहस्रम्भैरवो रुद्रपिशाचतान्दत्त्वा यातनाङ्करोति । ततो भूमौ वा कुत्रचिद्देशे काश्याम्वा जन्म गृहीत्वा काश्यामेव तनुन्त्यजन्ति ततश्च मुक्ता भवन्तीति । तदुक्तम्पाद्मे "दुष्कृतानि विधायाऽत्र बहिः पञ्चत्वमागताः । तेषाङ्गतिम्प्रवक्ष्यामि शृणुत द्विजसत्तमाः ॥ यामाख्या मद्गणाः सन्ति घोराविकृतमूर्त्तयः । मूषायान्तेधमन्त्यादौ क्षेत्रदुष्कृतकारिणः । वर्षाकाले दुराचारान्पातयन्ति महाजले ॥ ततो यामैर्हिमर्तौ ते नीयन्तेऽथ

हिमालये । अशनावरणैर्हीनाः क्लिश्यन्ते ते दिवानिशम् ॥ मरुस्थले ततो ग्रीष्मे वारि-वृक्षविवर्जिते । दिवाकरकरैस्तीव्रं ताप्यन्तेऽतिपिपासिताः ॥ क्लेशितास्ते गणैरुग्रै-र्यातनाभिः समन्ततः । इत्थङ्कालमसङ्ख्यातमानीयन्ते ततस्त्विह ॥ निवेदयन्ति ते यामा कालराजान्तिके ततः । कालराजोऽपि तान्दृष्ट्वा कर्म संस्मार्य दुष्कृतम् ॥ अन्यरुद्रपिशाचैश्च सहस्रं यो जपत्यपि'। इत्यादि। 'एवं त्र्ययुतसंख्याकं कालन्तेऽत्राऽति दुःखिताः ॥ श्मशानस्तम्भमभितो नीयन्ते कण्ठपाशिताः । पिपाशिता अपि न तेऽम्बुस्पर्शमपि चाऽऽप्नुयुः ॥ अथ संक्षीणपापास्ते कालभैरवदर्शनात् । इहैव देहिनो भूत्वा मुच्यन्ते ते ममाऽऽज्ञया॥ तस्मान्न कामयेताऽत्र वाङ्मनः कर्मणाऽप्यघम्। शुचौ पथि सदा स्थेयं महालाभमभीप्सुभिः" इति ॥ "गङ्गा काशी भुवनजननी श्रीभवानी तृतीया या चैकैकैवमुक्तिम्वितरितुमधिका हेलया नाममात्रात्। तद्यस्त्रैतत्त्रयस-विकलम्मोचने बद्धदृष्टिः क्षेत्रन्तन्मां सदाऽव्यात्पुरहरदयिता यस्य काशीति नाम॥ सहस्रपञ्चकञ्चैव त्रिशतोत्तरमेव च । संख्या काशीरहस्यस्य सटीकस्य समीरिता॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशिवानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्येण नीलकण्ठसरस्वतिना विरचितायां काशीरहस्यव्याख्यायां सेतुबन्धाभिधायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥



भागवतनिर्णयः

अथेदम्प्रस्तूयते देवीभागवतस्य नीलकण्ठीटीकाप्रतिपादितो भागवतनिर्णयः। अत्र टीकायां ३३८ पृष्ठे देवीभावतविष्णुभागवतयोर्निर्णयेविशेषतोऽवध्येयस्तदित्थम्

तत्र तावत्पुराणेषु भागवतद्वयम्प्रसिद्धम्—एकं महापुराणान्तर्गतमपरमुपपुराणान्तर्गतम्। लोकेऽप्युपलम्भो द्वयोर्देवीभागवतनाम्ना विष्णुभागवतनाम्ना चाऽस्त्येव। तत्रैकम्महापुराणान्तर्गतमन्यदुपपुराणान्तर्गतमित्यपि निर्विवादमेव। तथापि किं देवीभागवतं महापुराणमन्यदुपपुराणमथवा विष्णुभागवतं महापुराणमन्यदुपपुराणमिति संशये केचिद्विष्णुभागवतमेव महापुराणमिति वदन्ति। केचिद्देवीभागवतमेव महापुराणमिति वदन्ति। तत्र प्रथमपक्षैकदेशिनः केचिदुपपुराणेषु द्वितीयम्भागवतं नास्त्येव महापुराणेष्वेवैकं भागवतम्प्रसिद्धम्। तच्च विष्णुभागवतमेव न देवीभागवतम्। देवीभागवतन्तु निर्मूलमेवेति वदन्ति। द्वितीयपक्षैकदेशिनोऽपि विष्णुभागवतं बोपदेवकृतमिति वदन्ति। वस्तुतस्तूभयोरपि पुराणयोः पुराणमतभेदेन महापुराणत्वमुपपुराणत्वञ्च। ननु महापुराणेष्वेवैकं भागवतम्प्रसिद्धं नतूपपुराणेषु द्वितीयमस्तीतिचेन्न—कूर्मगरुड़पाद्मादिषूपपुराणेषु द्वितीयस्य स्पष्टम्परिगणनात्। तथाहि हेमाद्रौ दानप्रस्तावे कूर्मपुराणे ऽष्टादशपुराणान्युक्त्वा "अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कथितानि तु। आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमतः परम्' इत्यादि "पराशरोक्तम्प्रवरं तथा भागवताह्वयम्।" इति। तथा गारुड़े तत्त्वरहस्ये द्वितीयांशे धर्मकाण्डे प्रथमाध्याये प्रथमतो महापुराणानां सात्त्विकादिभेदेन विभागमुक्त्वा लघुपुराणानां सात्त्विकादिभेदेन विभागप्रदर्शनपरे ग्रन्थेऽप्युक्तम्। "पुराणं भागवतं दौर्गं नन्दिप्रोक्तन्तथैव च। पाशुपत्यं रैणुकञ्च भैरवञ्च तथैव च॥" इति। तथा तत्पूर्वमपि "विष्णुधर्मोत्तरेचैव तत्र (तन्त्रं) भागवतं तथा।" इति। तन्त्रम्भागवतन्तथेति पाठेऽपि तन्त्रं शास्त्रमित्यर्थः। तद्विशेषणेन चोत्तमत्वं सूचितम्। तथा पाद्मे शकुनपरीक्षायाम् "ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च मार्त्तण्डं रितमूनारदे।" इत्यादि "तथैव गदितं राम! पुराणं कापिलन्तथा। वाराह-

म्ब्रह्मवैवर्त्तं शकुनेषु प्रशस्यते ।। शैवम्भागवतं दौर्गं भविष्योत्तरमेव च" इति। तथा पाद्मे भागवतमाहात्म्ये एकोनविंशेऽध्याये उपपुराणेषु "शैवमादिपुराणञ्च देवीभागवतन्तथा" इति। तथा मधुसूदनसरस्वतीकृतसर्वशास्त्रार्थसंग्रहेऽप्युपपुराणमध्ये भागवतम्परिगणितम्। नागोजिभट्टादिभिश्च धर्मशास्त्रग्रन्थेष्वेव अन्यैरपि निबन्धकारैरिति। ननु देवीभागवतस्य "तत्र भागवतम्पुण्यं पञ्चमम्वेदसम्मितम्" इति प्रथमाध्यायस्थ स्ववचनेनाऽष्टादशमहापुराणेषु पञ्चममिदम्पुराणमिति स्वस्य महापुराणत्वं बोधयतः कथमन्यपुराणमुपपुराणत्वं बोधयेन्नह्येवं क्वचिद् दृष्टचरमितिचेन्न नारदीयशिववायव्यादित्यपुराणानां स्वमुखेनाऽन्यमुखेन वा महापुराणत्वेन ज्ञायमानानामन्यपुराणैरुपपुराणत्वस्य व्यवस्थापनात्। पुराणमतभेदेनैकस्याऽपि पुराणस्य महापुराणत्वोपपुराणत्वसिद्ध्या तद्विरोधाभावात्। पुराणभेदेन मतभेदस्तु बहुशः प्रसिद्धः। वैष्णवपुराणेषु सात्त्विकत्वं तामसत्वं शैवपुराणेषु तामसत्त्वं वैष्णवपुराणमतेन; शैवपुराणेषु सात्त्विकत्त्वं वैष्णवपुराणेषु तामसत्त्वं "दश शैवपुराणानि सात्त्विकानि विदुर्बुधाः। तामसानि च चत्वारि वैष्णवानि प्रचक्षते" इति स्कान्दे शैवपुराणमतेनेत्येवम्प्रकारेणेति। तथाहि नारदीयस्य पुराणस्य स्वान्तर्गतमहापुराणग्रन्थसूच्या स्वमुखेनैव स्वात्मनो महापुराणत्वं बोधयतः "मद्वयं भद्वयञ्चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्। आलिम्पाग्निपुराणानि कूस्कं गारुडमेव च" इति वचनेन वक्ष्यमाणमुद्गलपुराणवचनेन महापुराणवहिर्भूतत्वं बोध्यते। आलिम्पाग्नीत्यात्राशब्देनादित्यपुराणस्य तथा शैवपुराणस्य स्वमुखेन स्वस्य महापुराणमत्वं बोधयतो मद्वयं भद्वयमित्यमेव वचनं तद्बहिर्भूतत्वं बोधयति। ननु वायव्यं पुराणमेव शैवं शिवप्रतिपादिकत्वात्तस्य च वचतुष्टयपदेन सङ्ग्रहात्तदुदाहरणं न सम्भवतीति चेन्न मुद्गलपुराणे "ब्राह्मञ्च वैष्णवम्पाद्मं शैवम्भागवतं तथा। भविष्यम्ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयञ्च वामनम्। आग्नेयम्वायव्यम्मात्स्यम्" इति वचनेन शैववायव्यपुराणयोः परस्परं पृथक्त्वेन परिगणनात्। तथा वायव्यपुराणस्य स्ववचनेन स्वस्य महापुराणत्वं बोधयतो वक्ष्यमाणशैवपुराणवचनं महा-

पुराणबहिर्भूतत्वं बोधयति। तथाऽऽदित्यपुराणस्याऽप्याग्निपुराणानीति क्वचित्पुराणसम्मतपाठेन महापुराणत्वम्। अनापलिङ्गकूस्काख्यमिति क्वचित्पुराणसम्मतपाठेन महापुराणबहिर्भूतत्वं यथा चैतेषां चतुर्णां क्वचित्पुराणेषु महापुराणत्वेन क्वचिच्चोपपुराणत्वेन ग्रहणम् तथा देवी भागवतस्याऽपि भविष्यतीति को विरोधः ? मतभेदेनोभयोरपि वचनयोः प्रमाणत्वात्। ननु "अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कथितानि तु" इत्यादिवचनैरुपपुराणानि व्यासान्यमुनिकृतान्येव सन्ति देवीभागवतन्तु व्यासकृतमेवेति तस्य कथमुपपुराणेष्वन्तर्भाव इतिचेन्न नारदशैववायव्यादित्यपुराणेषु व्यासकृतत्वेऽपि कस्यचित्पुराणस्य मते उपपुराणत्वदर्शनात्तादृशनियमस्याऽस्वीकारात्। प्रायशस्तथा सत्त्वाभिप्रायेण तु तद्वचनम्। इत्थं भागवतद्वयस्य महापुराणमध्ये उपपुराणमध्ये च सत्त्वसिद्धौ कस्य पुराणस्य मते किम्भागवतम्महापुराणान्तर्गतमितिचेदुच्यते शैवपुराणमते मात्स्यपुराणमते च देवीभागवतमेव महापुराणमिति। तथाहि शैवपुराणे उत्तरखण्डे मध्यमेश्वरमाहात्म्ये शिवाङ्गःधवरेण व्यासेन महापुराणानि प्रणीतानीत्युक्त्यनन्तरं तेषां नामान्यष्टादशोक्त्वा तेषां योगरूढानां नाम्नां निर्वचनं तत्रैव कृतम्। तद्यथा 'यत्र वक्ता स्वयं तण्डे! ब्रह्मा साक्षाच्चतुर्मुखः। तस्माद्ब्राह्मं समाख्यातं पुराणम्प्रथमम्मुने!।" तण्डे इति मुनिसम्बोधनम्। "पद्मकल्पस्य माहात्म्यं तत्र तस्मादुदाहृतम्। तस्मात्पाद्मं समाख्यातं पुराणञ्च द्वितीयकम्॥ पराशरकृतं यत्तु पुराणम्विष्णुबोधकम्। तदेव व्यासकथितं पुत्रपित्रोरभेदतः॥ यत्र पूर्वोत्तरे खण्डे शिवस्य चरितम्बहु। शैवमेतत्पुराणं हि पुराणज्ञा वदन्ति च॥ भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते। तत्तु भागवतम्प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम्। नारदोक्तम्पुराणन्तु नारदीयम्प्रचक्षते। यत्र वक्ताऽभवत्तण्डे! मार्कण्डेयो महामुनिः॥ मार्कण्डेयपुराणं हि तदाख्यातञ्च सप्तमम्। अग्नियोगात्तदाग्नेयं भविष्योक्तेर्भविष्यकम्॥ विवर्त्तनाद्ब्रह्मणस्तु ब्रह्मवैवर्त्तमुच्यते। लिङ्गस्य चरितोक्तेश्च पुराणं लैङ्गमुच्ते॥ वराहस्य च वाराहं पुराणं द्वादशम्मुने!। यत्रस्कन्दः स्वयं

वक्ता साक्षान्महेश्वरः ॥ तत्तु स्कान्दं समाख्यातं वामनस्य तु वामनम् ॥ कौर्मं कूर्मस्य चरितं मात्स्यं मत्स्यस्य कीर्त्तितम् ॥ गरुडस्तु स्वयं वक्ता यत्तद्गारुडसञ्ज्ञकम् । ब्रह्माण्डचरितोक्तत्वाद्ब्रह्माण्डम्परिकीर्त्तितम्" इति । अत्र क्वचिद्वक्तृसम्बन्धः क्वचिच्छ्रोतृसम्बन्धः क्वचित्प्रतिपाद्यमुख्यदेवताचरितसम्बन्धः प्रवृत्ति निमित्तमिति स्पष्टमेव दर्शितम् । तत्र भागवतनाम्नो निर्वचनवाक्यमेतत "भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते । तत्तु भागवतम्प्रोक्तं न तु देवीपुराणकम् ॥" इति । अनेन च वाक्येन भगवत्या इदम्भागवतमिति व्युत्पत्त्या ग्रन्थप्रतिपाद्यमुख्यदेवताचरितसम्बन्धः प्रवृत्तिनिमित्तमिति स्पष्टमेव प्रदर्शितम् । का सा भगवतीत्यपेक्षयामाह दुर्गाया इति । तत्तु भागवतं तु शब्दो निश्चयार्थकः तदेव भागवतपदवाच्यं प्रोक्तमित्यर्थः । न तु पुराणान्तरमतप्राप्तं विष्णुभागवतं महापुराणान्तर्गतं भागवतमित्यर्थ इति शैवपुराणेन स्वमतं दर्शितम् । कश्चिदेतत्पुराणान्तरमतेनोपपुराणं जानीयात्तत्राऽऽह "न तु देवीपुराणकम्" इति अत्रकप्रत्ययोऽल्पार्थकः । 'अल्पे' इति सूत्रात् पुराणकमल्पं पुराणमिति यावत् । देव्याः पुराणकं देवीपुराणकम् । यदिदमुक्तं तद्देव्या उपपुराणं नैवास्तीत्यर्थः । अनेन च वाक्येनाऽन्यस्य महापुराणत्वनिषेधेन स्वाभिप्रेतस्य चोपपुराणत्वनिषेधेन श्रीमद्देवीभागवतस्यैव महापुराणत्वं बोधयति व्यासः । मुख्यत्वेन भगवतीचरितप्रतिपादकस्य महापुराणमध्ये कस्यचित् पुराणस्याऽन्यस्याऽभावात् । ननु नारदादिपुराणवचनबलाद्विष्णुभागवतस्य महापुराणान्तर्गतत्वे निर्विघ्नं निश्चिते तद्बलाद्भागवतद्वयस्य मतभेदेन महापुराणत्वकल्पनापेक्षया यत्किञ्चिद्भगवतीचरितस्याऽस्मिन्वचने ग्रहणेनाऽनेन वचनेन विष्णुभागवतनाम्न एव निरुक्तिः कृतेति कुतो न कल्प्यते । वर्तते च तत्र विष्णुभागवते दशमस्कन्धे किञ्चिद्विन्ध्यवासिन्याश्चरितमितिचेन्न तथासति मुनेर्विष्णुभागवत विषय एव तात्पर्यसत्त्वे भगवत इदं भागवतमित्येव व्युत्पत्तिं कुर्यात्; नहि केनचिन्मुनेः शिरसि भारः स्थापितो यत्स्वाभिप्रेतां युक्तियुक्तां निरुक्तिं त्यक्त्वा निष्प्रयोजनोऽनभिप्रेतां

निरुक्तिङ्करोति। किञ्च सर्वत्रैतद्वचन प्रकरणे यत्र पूर्वोत्तरे खण्डे "शिवस्य चरितम्बहु। शैवमेतत्पुराणं हि पुराणज्ञा वदन्ति च" इति वचनैर्बहुचरितमुख्यचरितसम्बन्धरूपप्रवृत्तिनिमित्तस्यैवाभिप्रेतत्त्वं मुनेरवसीयते। मतभेदेन पुराणभेदकल्पना तु नात्रैव नवीनाऽस्ति। पूर्वोक्तयुक्त्या नारदशैववायव्यादित्यपुराणेष्वन्यत्राऽपि सत्त्वात्। अस्तु वा गौरवं नहि तद्भयान्मुनेस्तात्पर्यमन्यथा कर्त्तुं कश्चिदीष्टे। तस्मात्पूर्वोक्तं तात्पर्यम्विहायान्यतात्पर्येणान्यार्थकरणम्महासाहसमेव।

ननु लक्षणवाक्यमेतत्। ततश्च दुर्गाचरितं यत्र वर्त्तते तद्भागवतमित्यर्थः। तच्च न देवीभागवतं भवितुमर्हति। तस्य तल्लक्षणलक्ष्यत्वेन तु देवीपुराणकमिति निषेधविषयत्वेन निषेधविध्योः समानविषयत्वापत्तेः। किन्तु विष्णुभागवतमेव। ननु तथाप्येतल्लक्षणमन्यपुराणेष्वतिप्रसक्तमितिचेन्न यथा वृत्रासुरवधलक्षणमन्यपुराणेषु प्रसक्तमपि यथा लक्षणत्वेन गृहीतं तद्वदत्राऽपि सत्वादितिचेन्न पूर्वोक्त निरुक्तिवचनप्रकरणस्थत्वविरोधात्। किञ्च लक्षणवाक्यमेतदितिपक्षेऽप्येतस्य लक्षणस्य महापुराणोद्देशेनैव सत्त्वादुपुराणेष्वस्य प्रसक्त्यभावाद्देवीपुराणकालिकापुराणयोरुपपुराणत्वस्य निश्चितत्त्वात्तत्रैतल्लक्षणस्य प्रसक्तिरेव नास्तीति न तु देवीपुराणकमिति निषेधो व्यर्थ एव स्यात्। तस्मादेतद्वचनस्य पूर्वोक्त एवाऽर्थः। किञ्च लक्षणवाक्यमेतदिति पक्षे यत्किञ्चिच्चरितं गृह्यते उत यावच्चरितम् ? यत्किञ्चिच्चरितस्य सर्वमहापुराणेषु सत्त्वाद् देवीपुराणमात्रनिषेधेन न निर्वाहः। तस्माद्देवीपुराणस्यैव निषेधस्वारस्याद्यावच्चरितं मुख्यत्वेन भगवतीचरित्रमेव ग्राह्यम्। तदा तव नाभीष्टार्थसिद्धिः। मुख्यत्वेन विष्णुभागवते दुर्गाचरितस्याऽभावान्ममैवत्वभीष्टार्थसिद्धिः। निषेधविध्योः समानविषयकत्वरूपं दूषणं नैव सम्भवति। प्रकरणबलात्तात्पर्ये निश्चिते तद्विषयं विहायैव निषेधप्रवृत्तेः। वृत्रासुरवधोपेतलक्षणन्तु गायत्र्यारम्भविशिष्टमिति न तदतिप्रसक्तम्। तस्मात्पूर्वोक्त एव तद्वचनार्थ इति तद्वचनाद्देवीभागवतं महापुराणं न तु विष्णुभागवतमिति शिवपुराणमतम्। अत्र च नियमद्वयस्य पूर्वोक्तस्य सत्त्वाद्विष्णुभागवतविषये यथा

प
२२४

नियमद्वयाभावादिदं शिवपुराणमतमेव मुख्यमन्यपुराणमतन्त्वेकदेशीति नियमद्वयप्रदर्शकव्यासवाक्येन स्पष्टमेव बोधितमिति सुधियो विभावयन्तु।

किञ्च "शैवमादिपुराणञ्च देवीभागवतन्तथा" इति पाद्मवचनसम्वादितया 'नवरात्रे तु देवेशि! दौर्गम्भागवतम्पठेत्। जपेत्सप्तशतीञ्चण्डीं नियमेन समाहितः।' इति दुर्गातरङ्गिणीधृतयामलवचनेन तथा 'देवीभागवतं नित्यं पठेद्भक्त्या समाहितः। नवरात्रे विशेषेण श्रीदेवीप्रीतये मुदा' इति महेशठक्कुरकृतदुर्गाप्रदीपधृतदेवीयामलवचनेन च सप्रमाणस्य देवीभागवतस्य सर्वथोपपुराणमध्ये एव निवेशात् 'तत्र भागवतं पुण्यं पञ्चमं वेदसम्मितम्' इति प्रथमस्कन्धस्य महापुराणेषु पञ्चममिदम्पुराणमित्यर्थकस्य देवीभागवतोक्तवचनस्य निरालम्बनत्वादप्रामाण्यापत्तेः। मन्मते तु तस्य विषयालाभान्नाऽप्रामाण्यम्। तद्वचनप्रमाण्यादपि देवीभागवतमेव महापुराणमिति।

किञ्च हेमाद्रौ कालिकापुराणे 'यदिदं कालिकाख्यं तन्मूलं भागवतं स्मृतम्' इति वचनं तदपि देवीभागवतस्यैव महापुराणत्वम्बोधयति तथाहि 'अष्टादशभ्यस्तु पृथक्पुराणं यत्प्रदृश्यते। विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तथा तेभ्यो विनिर्गतम्॥' इति मात्स्यवचनेनोपपुराणानां महापुराणमूलकत्वनियमादिदं कालिकापुराणं किम्पुराणमूलकमित्याकाङ्क्षायां तस्या निवर्त्तकमिदम्वाक्यं विषयत्वेन कालिकाख्यम्पुराणं 'तन्मूलं भागवतम्विदुः' इति हि तस्याऽर्थो निबन्धकारैर्दर्शितः। यथाऽन्यान्युपपुराणानि एकैकस्मान्महापुराणान्निर्गतानि तद्वदिदं भागवतादुत्पन्नमिति यावत्। तच्च भागवतं न वैष्णवं तन्मूलम्भवितुमर्हति। देव्युपपुराणस्य देवीपुराणमूलकत्वे एव सामञ्जस्यात्। शैवोपपुराणानां शैवेभ्य एव वैष्णवोपपुराणानाम्वैष्णवेभ्य एवोत्पत्तिदर्शनादिति देवीभागवतमेव तन्मूलमिति तस्य महापुराणत्वं सिद्धम्। यत्र तु क्वचित्क्वचिन्महापुराणमूलकप्रसिद्धं तत्र यथायोग्यमनुमेयमिति। किञ्चाऽऽदित्यपुराणदृष्ट्याऽपि देवीभागवतमेव महापुराणम्:—तथाहि आदित्यपुराणे रक्तासुरवधप्रस्तावे 'या जघ्ने महिषं दैत्यं क्रूरं वृत्रासुरं तथा। साऽद्य रक्तासुरं

हत्वा स्वाराज्यन्ते प्रदास्यति' इति वचनात्। अनेन वचनेन देवीभागवते स्वसम्मतिर्दर्शिता। न हि देवीभागवतातिरिक्तसर्वपुराणेषु देवीकृतो वृत्रासुरवधः क्वचिदप्यस्ति। इन्द्रकृतस्यैव तस्य सत्त्वात्केवलं देवीभागवते एव देवीकृतः सोऽस्ति तद्ग्रहणेन देवीभागवते स्वसम्मतिर्दर्शितेति युक्तमेव। अनन्तरञ्च तत्रैव पुराणदानप्रस्तावे 'ददाति सूर्यभक्ताय यस्तु भागवतं द्विजाः!। सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितः। जीवेद्वर्षशतं साग्रमन्ते वैवस्वतम्पदम्' इति पठितम्। अत्र च स्वसम्मतमेव भागवतमेव ग्रहीतुमुचितम्। किञ्चेदम्वचनं देवीभागवतपक्षे एव स्वरसतः सङ्गच्छते। प्रथमश्लोके एकादशद्वादशस्कन्धयोश्च सविस्तरं गायत्रीविधानसहस्रनामादेः कथनात् सूर्यस्य गायत्रीदेवतात्वात् तद्भागवतपक्षे तु 'वैकुण्ठङ्गच्छेत्' इत्येव वदेत् इति। किञ्च 'यत्राऽधिकृत्य गायत्री वर्ण्यते धर्मविस्तरः। वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते' इति मात्स्यवचनमपि देवीभागवतस्यैव महापुराणत्वम्बोधयति। 'वेदे त्रिपदा गायत्री' इति गायत्रीलक्षणं श्रूयते तेन च त्रिपाच्छेदोऽधिकृत्य यत्र धर्मविस्तरो वर्ण्यते तद्भागवतमिति तदर्थः। त्रिपाच्छन्दश्च देवीभागवते प्रथमश्लोके "सर्वचैतन्यरूपान्तामाद्यां विद्याञ्च धीमहि। बुद्धिं यानः प्रचोदयात्" इति श्रूयते न विष्णुभागवते तच्छन्दोऽस्ति मुख्यार्थसम्भवे गायत्रीपदस्य लक्षणया धीमहि इत्यर्थकरणेन विष्णुभागवतपरत्वकल्पनमस्य वचनस्य तु साहसमेव। क्वचित्पुराणेषु यदि तादृशान्येव विष्णुभागवतपराणि वचनानि सन्ति तत्र गत्यन्तराभावादस्तु लक्षणा। उदासीने मात्स्यवाक्ये तु मुख्यविषयसम्भवे साऽनुचिता। यद्यप्याधुनिकपुस्तकेषु क्वचिच्चतुश्चरणश्लोकोऽपि दृश्यते तथाऽपि सप्तशत्यां गुप्तवतीटीकाकारादिभिस्त्रिपाच्छ्लोकस्यैव व्याख्यातत्वेन स एव साम्प्रदायिकः पाठ इति बोध्यम्। यत्तु गायत्र्यर्थश्च विष्णुध्यानं न तु शिवशक्तिसूर्यादिध्यानमित्युक्तं तत्तु नास्तिकत्वमूलकमेव। मैत्रायणीयानां 'भर्गो वै रुद्रः' इति श्रुतौ प्रपञ्चसारादिसर्वतन्त्रेषु पुराणादिषु च शिवसूर्यशक्त्यादिरूपार्थस्योक्तत्वाच्च। तदुदाहृतमाग्नेयवाक्यन्तु 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इति न्यायात्तावकमेवेति। किञ्च "हयग्रीव ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवध-

स्तथा। गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः' इति पुराणान्तरवाक्यमपि देवीभागवतस्यैव महापुराणत्वबोधकम्। तथाहि हयग्रीवनामाऽसुरो देवीभागवते प्रथमस्कन्धे प्रसिद्धः तेनोपासिता ब्रह्मप्रतिपादिका विद्या स्त्रीदेवत्यो मन्त्रः। सा विद्या यत्र वर्त्तते तद्भागवतमित्यर्थः। स दैत्यस्तदुपासिता विद्या चेत्युभयमपि तत्रैव प्रथमस्कन्धे दर्शितम्। 'जपन्नेकाक्षरम्मन्त्रं मायाबीजात्मकं मम' इत्यादिना। ननु विष्णुभागवते पञ्चमस्कन्धेऽपि हयग्रीवमन्त्रस्य सत्त्वादिदं वचनमुभयसाधारणमितिचेन्न नारदीये शारदादितिलकादिनिबन्धेषु च 'मन्त्राः पुन्देवताः प्रोक्ता विद्याः स्त्रीदेवताः स्मृताः' इत्यादि वचनैः स्त्रीदेवत्यमन्त्रेष्वेव विद्यापदप्रयोगो न पुन्देवत्यमन्त्रेष्विति प्रतिपादनात्। क्वचित्पुन्देवत्यमन्त्रे तथा प्रयोगस्तु गौणः। न च गौणार्थमादाय तद्वचनस्य विष्णुभागवतपरत्वङ्कल्पितुमुचितम्। लक्षणारूपदोषापत्तेः। तस्मान्न तद्वचनमुभयसाधारणमिति देवीभागवतस्यैव महापुराणत्वं बोधयति। किञ्च 'सारस्वतस्य कल्पस्य' इति मात्स्यवचनादपि देवीभागवतमेव महापुराणम्। अत्र ह्येवं प्रकरणशुद्धिः—'ऋषय ऊचुः। पुराणसंख्यामाचक्ष्व सूत! विस्तरतः क्रमात्' इति मुनि प्रश्नोत्तरम्ब्रह्मणाऽभिहितम्पूर्वं यत्तद्ब्राह्मं पद्मकल्पवृत्तान्ताश्रयं पाद्मं वाराहकल्पवृत्तान्ताश्रयं वैष्णवं श्वेतकल्पवृत्तान्ताश्रयं वायवीयमित्येवं तत्तत्कल्पवृत्तान्ताश्रयाणि पुराणान्युक्त्वा तदुत्तरं 'यत्राधिकृत्य गायत्री वर्ण्यते धर्मविस्तरः। वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते' इति। 'सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः। तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमिष्यते' इत्युक्त्वा ततोऽन्यान्यपि महापुराणान्येव तत्तत्कल्पवृत्तान्ताश्रयाणि दर्शितानि। पश्चादुपपुराणकथनार्थमुपभेदान्प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय पद्मपुराणान्नारसिंहं निर्गतमेवं नन्दिसाम्बादित्यसञ्ज्ञकान्युक्त्वा अन्योपपुराणान्यपि महापुराणेभ्य एव निर्गतानीति। 'अष्टादशभ्यस्तु पृथक्पुराणं यत्प्रदृश्यते। विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदा तेभ्यो विनिर्गतम्' इति वचनेन सूत ऋषिरुक्तवान्। ततः 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च' इत्यादिना पुराणलक्षणान्युक्त्वा 'सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहा-

त्म्यमधिकं हरेः। राजसेषु च कालेषु माहात्म्यम्ब्रह्मणो विदुः॥ तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च। सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणाञ्च निगद्यते' इति वचनेन पुराणप्रतिपाद्यहरिब्रह्माग्निहरसरस्वतीपितॄणां माहात्म्यसम्बन्धात्कल्पानां सात्त्विकराजसतामसत्वसङ्कीर्णत्वभेदैश्चातुर्विध्यमुक्तवानिति। तत्र कल्पानां तत्तद्देवतासम्बन्धज्ञानन्तु तत्तत्कल्पाश्रिततत्तत्पुराणाप्रतिपाद्यमुख्यदेवताज्ञानेनैव बोध्यम्। अन्यप्रकारस्य क्वचिदपि पुराणेष्वनुपलम्भात्तत्रैवं सति 'सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः। तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमिष्यते' इति वचनं भागवतस्य लक्षणप्रतिपादकं प्रतिपादितम्। तदर्थस्तु यथा गारुडकल्प इत्यत्र गरुड़स्य अयं गारुड़ः यथा वा वाराहकल्प इत्यत्र वराहस्याऽयं वाराह इति व्युत्पत्तिः प्रसिद्धा तद्वदेव सरस्वत्या अयं सारस्वत इति विग्रहः। 'सरस्वत्यास्तथाकल्पो गौरीकल्पो स्तथैव च' इति कल्पनामसु सरस्वतीकल्पत्वेनैव कथितत्वाच्च। मत्स्यपुराणे उपान्त्याध्याये "सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां कल्प उच्यते" इति वचनेन तथैवोक्तत्वाच्च। ब्रह्मविष्णुरुद्राणां कल्पवद्गौरीलक्ष्म्योः कल्पवच्च सरस्वतीकल्पस्याऽर्थप्राप्तत्वाच्च। तादृशसारस्वतकल्पसम्बन्धिनो ये देवमनुष्यास्तद्वृत्तान्तस्योद्भव उत्पत्तिर्यस्मात्तत्पुराणं भागवतम्विदुः। तद्वृत्तान्तप्रदर्शकं यत्पुराणं तद्भागवतसंज्ञकमिति यावत्। अत्र च तत्तद्देवतानामाविर्भावाश्रया ये ये कल्पास्ते तत्तन्नाम्ना व्यवह्रियन्ते। एतच्च तत्तन्नामककल्पाश्रितेषु पुराणेषु तत्तद्देवताया एव मुख्यत्वेनोत्पत्तिप्रदर्शकवाक्यैर्लक्ष्मीकल्पादिकल्पाश्रितकूर्मपुराणादिषु सर्वत्र प्रसिद्धमेव। तथा च मुख्यत्वेन सरस्वत्या आविर्भावप्रतिपादकं पुराणं यत्तद्भागवतमित्यतिरहस्यार्थः। तत्र सारस्वतकल्प इति पदेनैव कल्पस्य सरस्वतीसम्बन्धे बोधिते तस्य सङ्कीर्णत्वं 'सङ्कीर्णत्वं सरस्वत्याः' इति वचनेनेश्वरप्रेरणां विनाऽपि गृहागतमेव। अस्मिंश्च वचने भागवतपदेन विष्णुभागवतस्य ग्रहणं वन्ध्यापुत्रोपममेव तत्र मुख्यत्वेन सरस्वत्याविर्भावस्यासत्त्वात्। विष्णुभागवते द्वितीयस्कन्धे 'पाद्मं कल्पमथो शृणु' इति वचनेन स्वमुखेनैव स्वस्य पाद्मकल्पकथाश्रयत्वस्योक्तत्वात्।

तद्विरोधाच्च। न च पाद्मकल्प एव सारस्वतः—सरस्वान्समुद्रस्तस्माज्जातं कमलं सारस्वतं तस्य कल्प इति व्युत्पत्त्येति वाच्यम्। "पद्मकल्पस्य वृत्तान्तं तत्र यस्मादुदाहृतम्। तस्मात्पाद्मं समाख्यातम्" इति पूर्वोदाहृतशिवपुराणवचनेन—'एतदेव यदा पद्ममभूद्धैरण्मञ्जयेगत्। तद्वृत्तान्ताश्रयं तद्वत्पाद्ममित्युच्यते बुधैः॥ पाद्मं तत्पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणीह कथ्यते' इति। मत्स्यपुराणवचनेन—'सारस्वस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः'। इति वचनेन च पाद्मकल्पसारस्वतकल्पयोः पृथक्कथाकथनात्। किञ्च सारस्वतकल्पपाद्मकल्पयोरेकत्वे पद्मकल्पस्य प्रतिपादकं पुराणद्वयं पाद्मं भागवतञ्चेत्येव वदेत्। किञ्च पद्मकल्पस्य वृत्तान्तमित्यत्राऽभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुता इति न्यायेन पूर्वम्बुद्ध्यारूढं प्रसिद्धं पाद्मशब्दं विहायाप्रसिद्धं सारस्वतशब्दं पाद्मशब्दस्य वाचकङ्कृत्वा सारस्वतपदघटितकल्पनं प्रयोजनाभावः। किञ्च "सरस्वत्यास्तथा कल्पः" इत्यादेः पूर्वोक्तस्य सारस्वतपदनिरुक्त्यर्थकस्य वचनसमूहस्य विरोधश्च। न च पाद्मकल्पसारस्वतकल्पयोः पृथक्त्वे त्रिंशत्कल्पेषु मत्स्यपुराणान्तिमाध्याये कीर्त्तितेषु सारस्वतपदेन पाद्मस्य ग्रहणं न स्यादिति वाच्यम्। प्रभासखण्डे त्रिंशत्कल्पेषु विष्णुजकल्पार्चिषकल्पसुपुमानकल्पानां ग्रहणेऽपि तेषां कल्पानां यथा मात्स्यान्तिमाध्याये न ग्रहणं तथा पाद्मस्यापि न ग्रहणमित्यस्य तुल्यत्वात्। यदि तेषां पर्यायत्वेन कुत्रचिदन्तर्भावः क्रियते तर्ह्यस्याऽपि कुत्रचिदन्तर्भावोऽस्तु। अतएव विष्णुभागवतस्य प्रबन्धटीकाकारेण पितृकल्पे एव पूर्वार्धान्ते पद्मस्योद्भवात्पितृकल्पपदेन पाद्मसङ्ग्रहो वेदितव्य इत्युक्तम्। पुराणकल्पकथनप्रस्तावे सारस्वतकल्पपाद्मकल्पयोः पृथक्त्वकरणेन सारस्वतपदेन पाद्मस्य सर्वथा न ग्रहणम्। वस्तुतस्तु त्रिंशत्कल्पाब्रह्मणस्त्रिंशत्तिथ्यात्मकाः त्रिंशत्तिथिषु प्रतिपदादिषूत्पद्यन्ते। भूः भुवः सुवः भूर्भुवः सुव इत्यादयस्त्रयस्त्रिंशत्कल्पाः। पाद्मादयश्च वायुपुराणोक्ता दिनकल्पा ब्रह्मणः प्रतिदिवसेषूत्पद्यन्त इति दिनकल्पतिथिकल्पानां सुतरां भेदात्तिथिकल्पेषु दिनकल्पानां पाद्मादीनां न ग्रहणमितिसिद्धान्तः। यत्तु विष्णुभागवतस्याऽऽरम्भतः पाद्मकल्पकथाश्रयत्वेऽपि

कृष्णजन्मखण्डस्यैव सारस्वतकल्पभवत्वेन तस्य च दशमस्कन्धे सत्त्वात् "सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये येस्युर्नरामराः" इति वचनस्य विष्णुभागवतम्विषयोऽस्तीत्याहुः, तदसत्, कृष्णजन्मखण्डस्य सारस्वतकल्पभवत्वप्रतिपादकानां वचनानां निर्मूलत्वात् समूलत्वेऽपि यस्मिन्पुराणे यस्य कल्पस्य प्रथमतः प्रदिपादनं तत्कल्पप्रतिपादकमेव तत्पुराणमिति नियमः। सर्वपुराणेषु तथा दृष्टत्वात् तथा कृष्णजन्मखण्डस्य दशमस्कन्धे विद्यमानत्वेऽपि प्रथमतस्तत्कथायाः अभावात् पाद्मकल्पकथायाः प्रथमतो विद्यमानत्वस्य स्वेनैवोक्तत्वाच्च न सारस्वतस्य कल्पस्येति वचनस्य विष्णुभागवतम्विषयः। किञ्च कृष्णजन्मखण्डस्य यथा दशमस्कन्धे कथनं तथा सर्वपुराणेषु तत्कथनं वर्तत एवेति सर्वपुराणानां तद्वचनविषयत्वं स्यात्। तथा च सर्वपुराणानि भागवतपदवाच्यानि स्युस्तस्मात्सारस्वतकल्पस्य यत्र प्रथमतः प्रतिपादनं स एव तद्वचनस्य विषयो वक्तव्यः। तादृशश्च देवीभागवतमेवाऽस्तीति देवीभावतमेव तद्विषयो वक्तव्य इति। किञ्च शिवपुराणे उमासंहितायां "ब्रह्मणा संस्तुता सेयं मधुकैटभनाशने। महाविद्या जगद्धात्री सर्वविद्याधिदेवता। द्वादश्यां फाल्गुनस्यैव शुक्लायां समभून्नृप!" इति वचनात्फाल्गुनशुक्लद्वादश्यां देव्या उद्भवस्तद्दिने एव सारस्वतकल्पोद्भवस्तदुक्तं हेमाद्रौ कल्पश्राद्ध(प्र)करणे नागरखण्डे "सारस्वतस्तु द्वादश्यां शुक्लायां फाल्गुनस्यच" इति। तथा च सरस्वत्याः कल्प इत्यर्थकस्य "सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः" इति वचनस्य सर्वथा देवीभागवतमेव विषयो न विष्णुभागवतमिति बोध्यम्। किञ्च तस्य ग्रहणे तस्य हरिमाहात्म्यप्रतिपादकत्वात् तदाश्रितकल्पस्य सात्त्विकत्वमेवाऽऽयास्यति। "सात्त्विकेष्वथकल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः" इति वचनात्। ततश्च "सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः" इति वचनेन सारस्वतकल्पनाम्ना च पारमहंस्यसामग्र्येव कर्त्तव्या स्यात्। अतो विष्णुभागवतम्विहाय देवीभागवतमेवाऽस्य विषयोऽनिच्छताऽपि वक्तव्यः। तस्मात्सारस्वतस्य कल्पस्येति वचनाद्देवीभागवतमेव महापुराणम्। अस्ति चात्र सरस्वत्याविर्भावप्रतिपादकम्वचनम्। तदुक्तं देवीभागवते प्रथमस्कन्धे 'तस्यास्तु

सात्त्विकी शक्ती राजसी तामसी तथा। महालक्ष्मीः सरस्वती महाकालीति तास्त्रयः। तासां तिसृणां शक्तीनां देहाङ्गीकारलक्षणः। सृष्ट्यर्थे च समाख्यातः सर्गः शास्त्रविशारदैः' इति। "अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु" इति वचनमपि शुकाय प्रोक्तमिति व्युत्पत्त्या देवीभागवतमपि सङ्गच्छते। भवति हि देवीभागवतं शुकायैव प्रोक्तं व्यासेनेति। किञ्च "अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः। भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहणम्" इति मात्स्यवचनमपि देवीभागवतस्यैव महापुराणत्वं वोधयति। अष्टादशपुराणोत्तरं भारतस्य जातत्वात्। भारतोत्तरञ्च विष्णुभागवतस्य जातत्वात्। भारतोत्तरकालं निर्विण्णो व्यासश्चकारेति विष्णुभागवते एवोक्तत्वात्। 'ननु वेदशाखाः पुराणानि वेदान्तं भारतन्तथा। कृत्वा सम्मोहसम्मूढोऽभवं राजन्मनस्यपि।' इति देवीभागवते तृतीयस्कन्धे एवोक्तत्वात्तत्राऽपि स विरोधस्तदवस्थ एवेति चेन्न। मन्मते तदानीं ग्रन्थो नैव जातः किन्तु जनमेजयम्प्रति एवं वक्ताऽस्मीति ज्ञानचक्षुषाज्ञात्वा भारतात्पूर्वमेव देवीभागवतं कृतमित्यर्थस्य कल्पनात्। त्वन्मते तु तथा कल्पयितुं न शक्यते। चतुःश्लोकी भागवतोपदेशस्य जायमानत्वात्। उपदेशात्पूर्वं तज्ज्ञानाभावस्याऽवश्यं कल्पनीयत्वात्। यदि तत्राऽपि पूर्वं व्यासस्य ज्ञानमस्तीति स्वीक्रियते तदा वक्ष्यमाणः सर्वोऽप्यर्थवादः स्यात्। ततश्च ग्रन्थस्वारस्यभङ्गप्रसङ्ग इत्यास्तां तावत्। वस्तुतस्तु वेदशाखाः पुराणानीति पाठोऽसङ्गत इति वक्ष्यते तृतीयस्कन्धे तदा न कोऽपि विरोधः। यत्तु पाद्मे भागवतमाहात्म्ये श्रीमद्भागवतकथाश्रवणाय समागतानां परिगणनप्रसङ्गेन "वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राणि संहिताः। दशसप्तपुराणानि षट्शास्त्राणि समाययुः" इत्युक्तम्। तत्र व्यासकृतपुराणानामष्टादशत्वादष्टादशेति वक्तव्ये सप्तदशत्वोक्तिः श्रीमद्भागवतस्याष्टादशत्वङ्गमयति। तस्याऽष्टादशानन्तर्गतत्वे देवीभागवतस्याऽष्टादशान्तर्गतत्वे वाऽष्टादशानां श्रोतृत्वसंम्भवेन श्रोतुमागतानां पुराणानामष्टादशत्वानुक्तेर्निर्बीजत्वप्रसङ्गात्। एवं पाद्मे "दशसप्तपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः। नाप्तवान्मनसा तोषं भारतेनाऽपि

भामिनि!। चकार संहितामेतां श्रीमद्भागवतीम्पराम्" इति सप्तदशत्वोक्तिः श्रीमद्भागवतस्यैवतां संहितामिति निर्दिष्टस्याष्टादशत्वं गमयति। देवीभागवतस्याष्टादशत्वेऽष्टादशपुराणानीत्यनुक्तेर्निर्बीजत्वप्रसङ्गादित्याहुः। तदसत्। तेषामेववचनैर्विष्णुभागवतस्याऽष्टादशपुराणान्तर्गत्वेन सिध्यति किन्तु देवीभागवतस्यैवेति वार्धुषिकत्वं कुर्वाणो मूलमेव विनाशितवानिति न्याय आगतः। तथा हि भारतम्व्यासमुखाच्छ्रुत्वा तत्र सन्दिहानः क्रौष्टुकिमार्कण्डेयम्प्रत्यागत्य सन्देहं पृष्टवान्। तस्मै मार्कण्डेयो मार्कण्डेयपुराणमुक्तवान्। तदुक्तं मार्कण्डेयपुराणे— 'तदिदं भारताख्यानं बह्वथ श्रुतिविस्तरम्। तत्त्वतो ज्ञातुकामोऽहं भगवन्तमुपस्थित' इति। तथा च भारतोत्तरं मार्कण्डेयपुराणमभवत्। तथैव त्वदुक्तरीत्यैव विष्णुभागवतमपि। तथा च भारतात्पूर्वं षोडशपुराणान्येव सिद्धानि। तथा च पूर्वोक्तवचनमध्ये षोडशेत्येव वक्तव्ये सप्तदशेत्युक्तत्वात्। देवीभागवतमेव महापुराणमन्यथा सप्तदशत्वपूर्त्तेर्नस्यात्। तस्मात्तद्वचनप्रामाण्याद्देवीभागवतमेव महापुराणमिति नतु विष्णुभागवतम्। वंह्लापनेनापि भारतात्पूर्वं सप्तदश मदीयभागवतसहितानि मार्कण्डेयमष्टादशमुभयमतसिद्धमेव। विष्णुभागवतस्य भारतोत्तरं जायमानत्वेन तन्मध्ये तस्याऽवस्थानस्थलाभावादित्येव वंह्लापनेनाऽपि दोषाभावादिति सुधियो विभावयन्तु। यत्तु किञ्च पाद्मे—'वैष्णवं नारदीयञ्च तथा भागवतं शुभम्। गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने!। सात्त्विकानि विज्ञेयानि शुभानिवै।' इत्युक्त्या च भागवतस्य सात्त्विकमुक्तम्। "सात्त्विकेषु पुराणेषु" इति कौर्मोक्त्या च सात्त्विकपुराणानां विष्णुपरत्वमुक्तम्। अतो विष्णुपरमेव भागवतमष्टादशपुराणान्तर्गतं न तु देवीभागवतमिति। अपि च स्कान्दे प्रभासखण्डे—'चतुर्भिर्भगवान् विष्णुर्द्वाभ्यां ब्रह्मा तथा रविः। अष्टादशपुराणेषु शेषेषु भगवान्भव' इत्युक्तम्। स्कान्दे सौरसंहितायाञ्च—'कथ्यते दशभिर्विप्राः पुराणैः परमेश्वरः। चतुर्भिर्भगवान्विष्णुर्द्वाभ्यां ब्रह्मा प्रकीर्त्तितः॥ एकेनाग्निस्तथैकेन भगवांश्चण्डभास्करः' इत्युक्तम्। अतोऽपि विष्णुभागवत-

मष्टादशान्तर्गतं न त्वन्यदित्याहुस्तदसत्। त्वन्मते मात्स्योक्तसात्त्विकराजसतामसस-ङ्कीर्णपुराणेषु मध्ये त्रयाणां व्यवस्थापूर्वंवचनैस्त्वयोक्ता। सङ्कीर्णपुराणानां तु नोक्ता। तेषां केषु पुराणेष्वन्तर्भाव इति वद। करिष्यामि कुत्रचिदिति चेन्मन्मतेऽपि श्रीभगवत्या विष्णुशक्तित्वाभिमानेन मन्त्राधिष्ठात्रीं देवतां वेदमानो दुर्गां दुर्बोधध्वान्तभानुं गुरुञ्चेति श्रीक्रमदीपिकोक्तप्रकारेण विष्णुमन्त्राणां दुर्गाया अधिष्ठातृत्वेन तयोरैक्याद्वा तत्प्रतिपादकभागवतस्य वैष्णवेष्वेवाऽन्तर्भावत्वात्। अतएव 'हरिर्द्वाभ्यां रविर्द्वाभ्यां द्वाभ्याञ्चण्डीविनायकौ। द्वाभ्यां ब्रह्मा समाख्यातः शेषेषु भगवाञ्छिवः' इति वचनं सङ्गच्छते। वस्तुतस्तु द्वयोरपि भागवतयोरस्मन्मते प्रमाणत्वाद् विष्णुभागवतपक्षपातिनां वचनानामस्माकं विरोधाभावेन तल्लापने प्रयोजनाव एव। तथा च नारदीयादि पुराणमतेन श्रीविष्णुभागवतं महापुराणं तद्वचनानि प्रसिद्धान्येवेति न लिखितानि। देवीभागवतन्तु तन्मते उपपुराणम्। शैवमात्स्यपुराणादिमते तु देवीभागवतं महापुराणं विष्णुभागवतमर्थादुपपुराण-मितिसिद्धम्। अत्र केचिद् देवीभागवतसम्मतित्वेन देवीयामलतन्त्रस्थं— 'श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम्। परीक्षितायोपदिष्टं सत्यवत्यङ्गजन्मना। यत्रदेव्यवताराश्च बहवः प्रतिपादिता' इति। तथा 'इदं रहस्यं चरितं राधोपासन-मुत्तमम्। व्यासाय मम भक्ताय प्रोक्तम्पूर्वम्मयाऽद्रिजे!। मत्तो रहस्यं ज्ञात्वैव राधामाहात्म्यमुत्तमम्। एतस्य विस्तरं चक्रे श्रीमद्भागवते तथा। नारदे ब्रह्मवैवर्त्ते लोकानां हितकाम्यया।' इति सौभाग्यकल्पलतायां संहारभैरवतन्त्रस्थं वचनं लिखन्ति। तत्र परे विवदन्ते। तदुभयमपि गौरवभिया न लिख्यत इति।

समाप्तश्चायं काशीरहस्यग्रन्थः सव्याख्यः।

॥ शुभम्भूयात् ॥

काशीपञ्चकम्

मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः सा तीर्थवर्या मणिकर्णिका च। ज्ञानप्रवाहा विमला-दिगङ्गा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥१॥ यस्यामिदङ्कल्पितमिन्द्रजालं चराचरं भाति मनोविलासम्। सच्चित्सुखैका परमात्मरूपा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥२॥ कोशेषु पञ्चस्वधिराजमामाना वुद्धिर्भवानी प्रतिदेहगेहम्। साक्षी शिवः सर्वगतो-ऽन्तरात्मा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥ ३ ॥ काश्यां हि काश्यते काशी काशी सर्वप्रकाशिका। सा काशी विदिता येन तेन प्राप्ता हि काशिका ॥ ४ ॥ काशीक्षेत्रं शरीरं त्रिभुवनजननी व्यापिनी ज्ञानगङ्गा भक्तिः श्रद्धा गयेयं निजगुरुचरणध्यान-योगः प्रयागः। विश्वेशोऽयन्तुरीयः सकलजनमनःसाक्षिभूतोऽन्तरात्मा देहे सर्वं मदीये यदि वसति पुनस्तीर्थमन्यत्किमस्ति ॥५ इति श्रीमच्छङ्कराचाय वि०का०पं०सं०।

काश्यष्टकम्

पापौघविध्वंसकरीम्प्रसिद्धां श्रीजाह्नवीभूषितदिव्यरूपाम्।
निर्वाणदात्रीं निखिलैकपूज्यां शिवप्रियाञ्चैव नमामि काशीम् ॥ १ ॥
देवासुरैर्वन्दितपादपद्मां गायन्ति मुनयः सुयशश्च दिव्याम्।
प्रसिद्धवेदेषु प्रभावमस्याः शिवप्रियाञ्चैव नमामि काशीम् ॥ २ ॥
मुमुर्षूणाञ्चैव शिवप्रदायिनीं वैकुण्ठश्रेणिङ्गुणमन्दिराञ्च।
शिवालयां शोकविनाशिनीञ्च शिवप्रियाञ्चैव नमामि काशीम् ॥ ३ ॥
विनाशशून्यां शिवरूपिणीञ्च मोहान्धकारस्य विनाशिनीञ्च।
ब्रह्मात्मिकां कामप्रदायिनीञ्च शिवप्रियाम्वै प्रणमामि काशीम् ॥ ४ ॥
विशुद्धविज्ञानघनाञ्चिदात्मिकां मोहाटवीञ्चैव दवाग्निभूताम्।
शुद्धां सुशान्तां शिवभक्तिदायिनीं शिवप्रियाम्वै प्रणमामि काशीम् ॥५॥
भूतौघसन्तापविनाशिनीञ्च लोकेश्वरैर्वन्दितदिव्यरूपाम्।
महाव्रताङ्गर्भनिवासकृन्तनीं शिवप्रियाम्वै प्रणमामि काशीम् ॥ ६ ॥
विज्ञानदात्रीम्प्रणवस्वरूपां चिन्तामणिं भक्तिप्रदाञ्च नित्याम्।
गोलोकदात्रीम्भवभक्तिदात्रीं शिवप्रियाम्वै प्रणमामि काशीम् ॥ ७ ॥
बुद्धेः परां शङ्करप्राणवल्लभां मोहार्णवं कुम्भसमुद्भवाञ्च।
पापेभव्याघ्रीं हरलोकदात्रीं शिवप्रियाम्वै प्रणमामि काशीम् ॥ ८ ॥
प्रातः प्रातः समुत्थाय यः पठेत्प्रयतः पुमान्।
अन्यदेशेऽपि भक्त्या स काशीवासफलं लभेत् ॥ ९ ॥
इति श्रीगोपालव्यासविरचितं काश्यष्टकं सम्पूर्णम् ॥



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

परिशिष्टम् (क)

वैष्णवमतेन श्रीमद्भागवतपुराणमीमांसा

(भागवतनिर्णयवर्णनम्)

विदितमेव भवेद्भव्यजनानाम्, यच्छ्रीमद्भागवतं नाम श्रीव्यासमहामुनिप्रणीतं महापुराणमैहिकामुष्मिकचतुर्विधपुरुषार्थसाधनैकधुरीणमाबालमापण्डितं समस्तवैदिकधर्मावलम्बिभिः परमपवित्रतया समाद्रियमाणं वेदार्थरहस्यसिद्धान्तशुद्धान्तायमानं शश्वद्भक्तजनैः पापठ्यमानं शोश्रूयमाणं च वरीवर्ति सकलमहापुराणमूर्धन्यभागे। यत्र किल नरीनृतीति श्रीव्यासमहर्षिवर्यस्य विविधपदविन्यासपेशला सरस्वती। यत्पठनपाठनश्रवणसमर्चनादिभिस्तरीतर्ति सेतुशीताचलमध्यवर्ती भक्तजनः। यत्सत्तया दरीधर्ति धर्मो धरित्रीम्। यच्च सञ्जरीहर्ति तापम्। चरीकर्ति च सकलसत्कामनासिद्धिमिति समन्ततः प्रसिद्धमेव।

तत्र चैतच्छ्रीमद्भागवतं नाम महापुराणं यथास्वरूपं यादृग्विधं वेत्यत्र प्रायो बहूनां व्यामोह आपतति। यद्ध्येतन्महापुराणं वाऽन्यत्किञ्चिदिति। अत्रार्थे यथामति बहून्ग्रन्थान्समालोच्य बहुलविद्वज्जनकृततद्विषयकविचारपुरःसरस्वाभिमताभिप्रायदिग्दर्शनमुखेन परामर्शः प्रस्तूयते—

तत्रादौ पण्डितवरश्रीवंशीधरमतमनूद्यते। तच्चेत्थं—न हि भागवतं श्रीव्यासदेवेन रचितं किं तु पूर्वं सदेवाविष्कृतमन्यथा तस्य "इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्" इति वाक्येन ब्रह्मरूपत्वाद्ब्रह्मणोऽप्यनित्यता स्यात् 'पिबत भागवतं रसमालयम्' इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वादप्यस्यानागताख्यानेनैव प्रवृत्तेः।

पुराणान्तरे प्रशंसाश्रवणादपि नित्यत्वमेवास्य सिध्यति। तथाच गरुडपुराणे—"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः। गायत्रीभाष्यभूतोसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥ ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः। पठनात्पाठनाद्ध्यानात्स्पर्शनादर्चनाद्दृशेः। सर्वपापहरः कृष्णरूपी चैव न संशयः॥" इति। ब्रह्मवैवर्तेऽपि—'पुराणेषु भागवतम्' इति विभूतिषु श्रीभागवतस्य गणितत्वादपि ब्रह्मरूपताऽस्य सिद्धेत्यतो नित्यमेवेदं पुराणम्॥

अत्र श्रीमद्भागवते त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां यथावत्प्रतिपादनाद्वेदरूपत्वमेव साक्षादिति हि निश्चितम्॥

तत्र कर्मकाण्डमाह॥ स च विधिनिषेधात्मकः। तत्र संक्षिप्य विधिभेदास्त्वित्थमवधेयाः—अप्राप्तं फलवन्तं चार्थं यः स्वसामर्थ्येन प्रकाशयति स विधिरुत्पत्त्यादिधर्मैर्युक्तः। स चोत्पत्तिविधिः, विनियोगविधिः, प्रयोगविधिः, अधिकारविधिश्चेति चतुर्द्धा भवति। तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिः प्रथमः, यथाऽग्निहोत्रं जुहोतीति। अङ्गसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः, यथा दध्ना जुहोतीति। स हि तृतीयाप्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्नो होमसम्बन्धं विधत्ते 'दध्ना होमं भावयेत्' इति। दध्यादीनामङ्गत्वं नाम परोद्देश्यप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वं पारार्थ्यम्, तच्चानेन विधिना ज्ञाप्यते। प्रयोग आशुभाव बोधको विधिः प्रयोगविधिः। स चाङ्गवाक्यैक्यतामापन्नः प्रधानविधिरेव साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन्विलम्बे मानाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोग आशुभावं विधत्ते। न च विलम्बवदविलम्बेऽपि मानाभावः, विलम्बेऽङ्गप्रधानविध्येकवाक्यतावगततत्साहित्यानुपपत्तेः। न हि विलम्बेन कृतयोः पदार्थयोः सहकृतमिति साहित्यं व्यवहरन्ति। स चाविलम्बो नियते क्रम आश्रियमाणे भवति। अन्यथा किमेतदनन्तरमेतत्कर्तव्यमेतदनन्तरं वेति प्रयोगविक्षेपापत्तेः। अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोग आशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते। तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः, पौर्वापर्यरूपो वा। फलस्वाम्यबोधको विधिरधिकार

विधिः। "यजेतस्वर्गकामः" इत्यादि। अधिकार विशेषणं च तदेव यत्पुरुषविशेषणत्वेन श्रुतम्। अतएव-"राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत" इत्यनेन स्वाराज्यमुद्दिश्य राजसूयं विदधताऽपि न स्वाराज्यकाममात्रस्य तत्फलभोक्तृत्वं बोध्यते, किन्तु राज्ञः सतस्तत्कामस्य। किञ्चित्तु पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारविशेषणं भवति, यथाध्ययनविधिसिद्धा विद्या। अग्निसाध्येषु च कर्मस्वाधानसिद्धाऽग्निमत्ता। एवं सामर्थ्यस्याप्यधिकारिविशेषणत्वम्। 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी' इति न्यायात्, 'अर्थी समर्थो विद्वान्यजेत्' इत्यसमर्थं प्रति विध्यप्रवृत्तेश्च। एवमर्थितादेरपि बोध्यमिति दिक्। तत्सिद्धफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिरिति तदेवं निरूपितो विधिभेदश्चतुर्द्धेति। चतुर्धाऽप्ययम्पुनः प्रकारान्तरेण त्रिविधः। "स च—विधिर्वास्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम् १।२।१६।" "उदक्त्वं चापूर्वत्वात् ३।४।१३।" "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात् ३।४।१५।"। "नियमार्थो वा पुनः श्रुतिः ४।२ २४।"। "परिसंख्या १।२।४२।" इत्येवमादिषु भगवतो जैमिनेः सूत्रेष्वभिहितः॥ भट्टपादैश्चान्योन्यासंकीर्णतया सलक्षणो विशिष्टमुपपादितः—"विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते॥" इति। अस्यार्थः—यस्य यदर्थत्वं मानान्तरेणाप्राप्तं तस्य तदर्थत्वेन यो विधिः सोऽपूर्वविधिः, यथा "यजेत स्वर्गकामः" "व्रीहीन्प्रोक्षति" इत्यादिनाऽत्र यागस्य स्वर्गार्थतायां व्रीहीणां प्रोक्षणस्य च संस्कारकर्मणो विधिं विना न कथमपि प्राप्तिरस्त्यतोऽयमपूर्वविधिः। पक्षप्राप्तस्याप्राप्तांशपरिपूरणफलोविधिर्नियमविधिः, यथा 'व्रीहीनवहन्ति' इति। अत्र विद्ध्यभावेऽपि पुरोडाशप्रकृतिद्रव्याणां तण्डुलनिष्पत्त्याक्षेपादेवाहननाप्राप्तांशसम्भवात्तदंशपरिपूरणफलः। उभयत्रैकस्योभयोर्वैकत्र युगपत्प्राप्तावन्यतरनिवृत्तिफलो विधिः परिसंख्याविधिः, यथा चयने अश्वगर्दभरशनयोर्ग्रहणे युगपदनुष्ठेये सामर्थ्यविशेषात्प्राप्तस्य "इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य" इति मन्त्रस्य "अश्वाभिधानीमादत्ते" इति गर्दभरशनाग्रहणव्यावृत्तिमात्रफलको विधिः। एवम्

"पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इत्यपि परिसंख्याविधिः। इदं हि न भक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। किन्तु पञ्चेतरपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति। न च नियमपरिसंख्ययोः फलतो न विशेषः, यतो नियमस्य विधेयावघातनिष्ठत्वात्सन्निहितमप्राप्तांशपूरणमेव फलम्, नखविदलनादिनिवृत्तिस्त्वार्थिकीति विधिपक्षे वक्तव्यं बह्वस्ति तदन्यत्रानुसंधेयम्। विधेर्यथा विधेयार्थपरिच्छेदकत्वेनार्थवत्त्वं तथानर्थहेतुकर्मणः सकाशात्पुरुषस्य निवृत्तिकरणत्वेन निषेधस्यापि पुरुषार्थानुबन्धित्वं बोध्यम्। तथाहि विधयो यथा प्रवर्तनामभिदधतः स्वनिर्वर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादेः श्रेयःसाधनत्वमाक्षिपन्तः पुरुषं तत्र प्रवर्तयन्ति, एवं "न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्यादयो निषेधा अपि निवर्तनामभिदधतः स्वनिर्वर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेधस्य कलञ्जभक्षणादेरनर्थहेतुत्वमाक्षिपन्तः पुरुषं ततो निवर्तयन्तीति। किञ्च—निषेधस्य क्रतुवैगुण्यप्रतिपादकत्वेन हेयतया यागार्थताऽपि सिद्धा। अर्थवादवाक्यं हि स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावाद्विधेयनिषिध्यमानयोः प्राशस्त्य निन्दितत्वे लक्षणया प्रतिपादयति। तल्लक्षणं तु—प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। स द्विधा—विधिशेषो निषेधशेषश्चेति। तत्र "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" इत्यादिविधिशेषस्य "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादेर्विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयार्थऽवत्त्वम्। "बर्हिषि रजतं न देयम्" इत्यादिनिषेधशेषस्य "सोरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" इत्यादेर्निषेध्यनिन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्। न च प्राशस्त्यादिबोधस्य निष्प्रयोजनत्वेन नार्थवादस्यार्थवत्त्वमिति वाच्यम्, आलस्यादिनाऽप्रवर्तमानस्य पुंसः प्रवृत्त्यादिजनकत्वेन तद्बोधस्योपयोगात्। स पुनस्त्रेधा। तदुक्तम्—"विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादतद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥" इति। प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः। यथा—आदित्यो यूपः" इति यूपे आदित्याभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्वरूपगुणोऽनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते। प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽनुवादः, यथा "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्यादि। हिमविरोधित्वस्याग्नौ प्रत्यक्षावगतत्वात्।

प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधको भूतार्थवादः, यथा "इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्" इत्यादि। न ह्यत्र प्रामाणान्तरविरोधतत्प्राप्ती स्तः एवं सर्वः कर्मकाण्डो विधिनिषेधान्तर्गत एव। अत्रैव धर्मशास्त्रमपि गतार्थं तत्प्रतिपादकमिति बहुवक्तव्यत्वादत्रोपरम्यते ॥

उपासनाकाण्डमाह ॥ उपासनास्वरूपन्तु—वस्तुस्वरूपानपेक्षं पुरुषेच्छामात्रतन्त्रं मानसं प्रवाहरूपमुपासनम्, यथा—"यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्" इत्यादिरूपम्। उपासना हि परमेशस्य कार्या। तत्र च परमेशोऽनेकधा यथामति दार्शनिकैः स्वीकृतस्तस्य चोपासना कर्त्तुमशक्याऽतः सर्वाविरुद्ध एवोपास्यः। स चौपनिषदाभिमतः। कथं तदुपगमे सर्वाविरोध इति चेदत्र पातञ्जलमतमाह—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः, सोऽपि जीववदसङ्गश्चिद्रूपश्च परश्च जीवेभ्यस्तन्नियन्तृत्वात् "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" इति श्रुतेः। ननु नियन्तृत्वं नाम कारयितृत्वं तच्चासङ्गस्यानुपपन्नम्, यः कारयति स करोत्येवेति न्यायेन कर्तृत्वस्य दुर्वारत्वात्। दृश्यते हि योधयितृषु नृपेषु दानादिकर्तृत्वं स्वयं योद्धृत्वं च। लोहचुम्बकन्यायेनासङ्गस्यापि प्रेरकत्वोपपत्तेः। न च तत्रिष्प्रमाणम् "भीषास्माद्वातः पवते" इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात्। बन्धमोक्षादि व्यवस्था पृथिव्यवस्थित्यनुपपत्तिसिद्धत्वाच्च। जीवानामपि स्वतःक्लेशादिराहित्येऽपि बुद्ध्या सह विवेकाग्रहेण क्लेशादिसत्त्वाङ्गीकारात्। ईशस्तु सदा तैरसंसृष्ट इति विशेषः। एतेन सेश्वरसांख्यवादोऽपि व्याख्यातः, एतत्तुल्ययोगक्षेमत्वात् ॥ तार्किकास्त्वसङ्गस्य नियन्तृत्वमसहमाना नित्यबुद्धीच्छाकृतिमान्पुरुषविशेष ईश्वरः। पुंविशेषत्वमप्यस्य नित्यबुद्ध्यादिगुणकत्वादेव नान्यथा, नित्यज्ञानादिमत्त्वात्। अनित्यज्ञानादिमज्जीवेभ्यस्तद्वैलक्षण्यमपि सिद्ध्यति। क्षित्यादि सकर्तृकं कार्यत्वादित्यनुमानं तत्र मानम्। स च लाघवादेकः सर्वत्र कार्योपलब्धेर्विभुश्च। ज्ञानादेर्निष्कर्षवदुत्कर्षोऽप्यङ्गीकार्यो बाधकाभावादिति न्यायेन भ्वाद्युपादानसर्वसूक्ष्मदर्शित्वात्सर्वज्ञश्च सत्यकामः

सत्यसङ्कल्पः। 'यः सवज्ञः सर्ववित्' इत्यागमोऽपि तत्र मानमित्याहुः॥'''ब्रह्मादौ मत्स्यादौ चांशत्वोक्तिरौपचारिकी बोध्या। तच्चांशत्वं ब्रह्मादिष्वाविष्कृतोत्पत्त्यादिहेतुत्रयाल्पोपपत्त्याद्यैकैकशक्तित्वमेव, न तु स्वांशित्वेनाभिमतानन्तशक्ति मायीशापेक्षया। वस्तुतोऽल्पशक्तित्वं संख्यातशक्तित्वेनानीशत्वापत्त्या तदनन्तशक्तिबोधकानन्तवाक्यानामप्रामाण्यापत्तेः। तस्मात्त्रिगुणमायोपहित एक एवेशः। किं बहुना वाग्जालेन। श्रीकृष्णोपासनैव मोक्षहेतुः। श्रीकृष्णोपासने रतिस्तु पूर्वकृतसुकृतानामेव नान्येषाम्। तदपि तत्रैव गीतासु—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः॥ महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥" इति। किं बहुना, श्रीकृष्णभक्तिरेव कल्याणहेतुरित्यलमतिप्रसङ्गेन। 'किञ्च—भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी' इति कपिलोक्तेः, "भुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्" इति पञ्चमोक्तेश्च मुक्तेर्भक्तिरधिकाऽत एव भक्तैः सा मुक्तिर्नाद्रियते "नेच्छन्ति ते मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्" इति भगवदुक्तेः। मुक्तौ तु तद्रूपता जायते भक्तेस्तु श्रीहरिः स्वायत्तीभवतीति रहस्यम्। न हि वशीकृतनृपनरस्येव स्वयं नृपस्य तत्सुखमिति भावः॥

अथ ज्ञानकाण्डमाह॥ व्यावहारिक—प्रातिभासिक—पारमार्थिकभेदाज्ज्ञानं त्रिधा। घटपटादिव्यवहारोपयोगि घटोऽयम्पटोऽयमित्यादिरूपमाद्यम्। स्वप्नादिविषयं द्वितीयम्। मोक्षोपयोगि पारमार्थिकम्। तच्च जीवब्रह्मणोरभेदरूपमस्ति। तदधिकारि तु साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता। साधनानि तु—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थफलभोगविरागः, शमादिषट्कसम्पत्तिः, मुमुक्षुत्वं च। नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद्ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्। नित्यत्वं नाम कालानवच्छिन्नत्वम्, तद्विपरीतत्वमनित्यत्वम्। ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतया नित्यत्ववदामुष्मिका-

णामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविराग इति। शमादयः शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्या इति। शमः— श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्। निवर्तितानां च सर्वेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिः। अथवा—विहितानां कर्मणां विधिना त्यागः। तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता। निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्। गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धेति। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा। मोक्षो नाम विद्यानिरस्ताविद्यातत्कार्यब्रह्मात्मनावस्थानम्। तद्विषयेच्छा मोक्षेच्छा, तद्वत्त्वं मुमुक्षुत्वमिति। अथायमधिकारी जन्ममरणादिभवाग्नितप्तः समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसरति, स निजदयालुतयाऽध्यारोपापवादाभ्यामुपदिशति। अध्यारोपो नाम वस्तुन्यवस्त्वारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दं ब्रह्म, तद्भिन्नमज्ञानादिसकलजडमवस्तु। अज्ञानं नाम सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधिभावरूपं यत्किञ्चिदिति। इदमज्ञानं समष्टिव्यष्टिरूपेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। व्यष्टिर्विशेषः। समष्टिः सामान्यम्। यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशः, यथा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति व्यपदेशः, तथा नानात्वेन प्रतीयमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः, "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीम्" इत्यादिश्रुतेः। इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया शुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वादिगुणाश्रयं सदव्यक्तमन्तर्यामीश्वर इत्यादि शब्दैर्व्यपदिश्यते, सर्वज्ञानावभासकत्वात्। अज्ञानस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्च। आनन्दमयः कोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशः, यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति तदनेकत्वव्यपदेशः, तथा ज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः, "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादिश्रुतेः। इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधि-

तया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वादिगुणात्मकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानावभासकत्वादिति। अस्यापीयमहङ्कारादिकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वादानन्दमयः कोशः सुषुप्तिः सर्वोपरमस्थानत्वात्स्थूलसूक्ष्मशरीरलयस्थानमिति चोच्यते। तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्येद्धाभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः। अनयोर्व्यष्टिसमष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिवाभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिवाभेदः। वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलगतप्रतिविम्बाकाशयोर्वा धारानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यामविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते। अस्य ज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकं शक्तिद्वयमस्ति। यथाल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनमायतं सूर्यमण्डलं द्रष्टृनेत्रपथपिधायकतयाऽऽवृणोति, तथाऽऽवरणशक्तिः परिच्छिन्नाप्यपरिच्छिन्नमात्मानमवलोकयितृबुद्धिपथपिधायकतयावृणोति। आवरणशक्त्यवच्छिन्नात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारभावना भवति, यथाऽज्ञानावृतरज्जौ सर्पत्वभावना। विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्ववृत्तरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयति, एवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति। शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानञ्च। "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णीते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। तथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवति विश्वम्" इति श्रुतेः, तमःप्रधान विक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशमाकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते। आकाशादिषु जाड्याधिक्यात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्येति। तदानीं तेष्वाकाशादिषु कारणगुणप्रक्रमेण सत्त्वरजस्तमांस्युत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चेत्युच्यन्ते। एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि

स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते। सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवकानि लिङ्गशरीराणि। ते चावयवाः–ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, प्राणादिपञ्चवायवः, ज्ञानेन्द्रियाणि, श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतानि पुनराकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकांतःकरणवृत्तिरिति। अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः। एते पुनराकाशादिसात्त्विकांशेभ्य उत्पद्येते। एषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्। इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयः कोशः। अयमेव कर्त्तृत्वाद्यभिमानित्वेनेहलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते। मनस्तु कर्मेन्द्रियैः सहितं मनोमयः कोशोऽस्ति। कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि। एतानि पुनराकाशादीनां रजोंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। वायवस्तु प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नासाग्रवर्त्ती प्राग्गामी। अपानस्त्वधोगामी पाय्वादिवर्त्ती। व्यानोऽखिलशरीरसञ्चारी। उदानः कण्ठव्याप्यूर्ध्वगामी। समानोऽशितपीतादिसमीकरणकरः। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्रमाणमयः कोशः। प्राणादेः क्रियात्मकत्वेन रजोंशकार्यत्वम्। एतेषु कोशेषु विज्ञानमयः कर्त्तृरूपः, मनोमयः करणरूपः, प्राणमयः कार्यरूपः। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते। अत्राऽप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिः। अनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरिति च भवति। एतत्समष्ट्य पहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राण इति चोच्यते, सर्वत्रानुस्यूतत्वात्, ज्ञानक्रियाशक्तिमदपञ्चीकृतपञ्चमहाभूताभिमानित्वाच्च, तदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः, स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात्। सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। एतद्व्यष्ट्य पहितं चैतन्यं तेजसो भवति, तेजोमयोऽन्तःकरणोपहितत्वात्। अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नः स्थूलशरीरलयस्थानमिति

चोच्यते। तदानीं सूत्रतैजसौ मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः। अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितयोः सूत्रात्मतैजसयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवद्वा जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेद एव। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिरिति। स्थूलभूतानि पञ्चीकृतानि। पञ्चीकरणं त्वाकाशादिषु पञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु प्राथमिकापञ्च भागान्प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां स्वस्वद्वितीयभाग परित्यागे भागान्तरेषु संयोजनमिति। केचित् त्रिवृत्करणमप्याहुः। तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते। वायौ शब्दस्पर्शौ। अग्नौ शब्दस्पर्शरूपाणि। अप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः। पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इति। एतेभ्यः पञ्चीकृतभूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महोजनस्तपस्सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानामतलवितलसुतलतलातलरसातलमहातलपातालनामकानामधोऽधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्गतानां चतुर्विधस्थूलशरीराणामन्नपानादीनां चोत्पत्तिर्भवति। शरीराणि जरायुजाण्डजस्वेदजौद्भिज्जाख्यानि। जरायुजानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजानि पक्षिपन्नगादीनि। स्वेदजानि यूकामशकादीनि। उद्भिज्जानि तृणवृक्षादीनि। अत्रापि चतुर्विधस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवत्समष्टिर्वृक्षवद्वनवद्व्यष्टिश्च भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडिति चोच्यते। सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाद्वा। अस्यैषां समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयः कोशः। स्थूलभोगायतनत्वाज्जाग्रदिति चोच्यते। एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते, सूक्ष्मशरीरमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्। अस्याऽप्येषा स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयः कोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च जाग्रदित्युच्यते। तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कप्रचेतोभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानिन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्च चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पविकल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्त्यांश्च

सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतः। अत्राप्यनयोः स्थूलसमष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितयोर्विश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलजलाशयवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च वा पूर्ववदभेद एव। एवं पञ्चीकृतस्थूलभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिरिति। एषा स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महाप्रपञ्चः। यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं, यथा चावान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महाञ्जलाशयः, एतदुपहितं विश्ववैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमवान्तरवनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयतद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव। आभ्यां महाप्रपञ्चतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सदनुपहितचैतन्यम् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति वाक्यस्य वाच्यं सल्लक्ष्यमिति। एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपः सामान्येन प्रदर्शितः। किञ्च—'प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्त्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सत्" इत्यादिप्रबलश्रुतिविरोधात्, अस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वात्पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव। अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावप्रत्यक्चैतन्यमेवात्मतत्त्वमिति विद्वदनुभव एवमध्यारोप इति ॥ अथापवादमाह ॥ अपवादो नाम अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवृतिः, यथा रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादिप्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वमिति। कार्यस्य कारणमात्रावशेषणं कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्तावधारणं वापवाद इति यावत्। तथाहि—एतद्भोगायतनं चतुर्विधं सकलशरीरजातं भोग्यरूपान्नादिकमेतदादाश्रयभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदाश्रयभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणभूतं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतभूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेणैतत्कारणभूतज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति। एतदपि तत्सर्वमज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यतुरीयब्रह्ममात्रं भवति। आभ्या-

मध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वं पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि—अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितचैतन्यं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितचैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहितालपज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतन्यं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वंपदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दंतुरीयंचैतन्यं त्वं पदलक्ष्यार्थो भवति। अथ महावाक्यार्थः॥ इदं तत्त्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। संसर्गानवगाहि यथार्थज्ञानजनकत्वमखण्डत्वम्। तदुक्तम्–"सामानाधिकरण्यं विशेषणविशेष्यतः। लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्" इति। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः सामानाधिकरण्यम्। यथा सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन्पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः, तथा तत्त्वमसीति वाक्ये परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वंपदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः। विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थ तत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्त्तकतया विशेषणविशेष्यभावः, तथा तत्त्वमसीति वाक्येऽपि तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्त्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। व्यावर्त्तकं विशेषणं, व्यावर्त्यं विशेष्यम्। तथा च—सोऽयं देवदत्त इति वाक्य एवायं शब्दवाच्यो योऽसावेतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टो देवदत्तपिण्डः, अयं स इति तच्छब्दवाच्यात्तत्कालतद्देशसम्बन्धविशिष्टाद्देवदत्तपिण्डाद्भिन्नो नेति यदा प्रतीयते, तदा तच्छब्दार्थस्यायंशब्दवाच्यार्थमिष्टभेदव्यावर्त्तकतया विशेषणत्वम्। अयंशब्दार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद्विशेष्यत्वम्। यदा च स इति तच्छब्दवाच्यस्तत्कालतद्देशविशिष्टो देवदत्तपिण्डः सोऽयमितीदंशब्दवाच्यादेतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशि-

ष्टाद्देवदत्तपिण्डान्न भिद्यत इति यदा प्रतीयते, तदायंशब्दवाच्यस्य तच्छब्दवाच्यस्तत्कालतद्देशविशिष्टो देवदत्तपिण्डः सोऽयमितीदंशब्दवाच्यादेतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टाद्देवदत्तपिण्डान्न भिद्यत इति यदा प्रतीयते, तदायंशब्दवाच्यस्य तच्छब्दार्थनिष्ठभेदव्यावर्त्तकतया विशेषणत्वम्। तच्छब्दार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद्विशेष्यत्वम्। अयमेव स एवायमित्यन्योन्यभेदव्यावर्त्तकतया सोऽयंशब्दार्थयोः परस्परं विशेषणविशेष्यभाव इत्यर्थः। लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा परस्परविरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वादिविशिष्टत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव जहदजहल्लक्षणापरपर्यायाएकांशपरित्यागेनैकांशस्य बृंहणाद्भागत्यागलक्षणेत्युच्यते। असाधारणधर्मप्रतिपादकं वाक्यं लक्षणम्। तत्प्रतिपाद्यमविशिष्टवस्तु लक्ष्यमिति विवेकः। एवमन्येषामपि महावाक्यानामर्थो ग्रन्थान्तरादवसेयः। एतेनाभेदज्ञानमेव ज्ञानकाण्डप्रयोजनमिति सिद्धम्। तज्ज्ञानं मोक्षहेतुः। एवं काण्डत्रयात्मकवेदोपबृंहकतया श्रीमद्भागवतमपि वेदतुल्यमेवादरणीयताकोटिनिविष्टमिति निष्कण्टको घण्टापथः।

अथेदानीं श्रीमद्भागवतस्यान्यकृतत्वशङ्का निराक्रियते। ननु भागवतं न व्यासदेवकृतं किन्तु बोपदेवादिभिः कृतं स्यादिति प्रायः पुष्कलाः शङ्का भवन्ति। तदेतदत्र समाधानकदम्बकमवधेयम्—बोपदेवेन भागवतं यदि कृतं तर्हि व्यासनाम समाप्तौ किमिति लिखितं, ग्रन्थकर्तुर्नाम्नि यदि सन्देहस्तर्हि महाभाष्यादिग्रन्थेष्वपि सन्देहो दुर्वारः। किञ्च—बोपदेवात्प्रागुत्पन्नैश्चित्सुखाचार्यैर्भागवते टीका कृता, विजयध्वजेनापि भागवते टीका कृता, तत्रादा अष्टौ टीका अवलोक्य इत्युक्तम्, 'हनुमट्टीकां शङ्कराचार्यटीकां दृष्ट्वा' इति वर्णितं, तत्कथं सङ्गच्छेत। शङ्कराचार्याणां सप्तशतसम्वत्सराणां व्यतीतौ बोपदेवस्य तु पञ्चशती व्यतीतेति रामाश्रमेण लिखितम्। अन्यच्च भट्टोजिदीक्षितैर्बहुप्रकारैर्भागवतं स्तुतम्। शिव-

तत्त्वविवेकादौ सम्मतित्वेन च गृहीतम्। मधुसूदनसरस्वतीभिः भक्तिरसायनग्रन्थे भागवतं व्याख्यातम्। विद्यारण्यगुरुभिरपि सूतसंहितादिटीकादौ भागवतं सम्मतित्वेन गृहीतम्। शङ्कराचार्यैर्गोविन्दाष्टके 'मृत्सामत्सि' इत्याद्युक्तं, तच्च भागवतादन्यत्र नास्ति। एवमेकनाथप्रभृतिभिः प्राकृतग्रन्थकारैरपि स्वीकृतम्। एतदधिकः को वा पण्डितो यो भागवतं निन्देत्। किञ्च—भागवतं वाममार्गिणो निन्दन्ति, ते निन्दन्तु नाम, तेषामपि भागवते निन्दितत्वात्। चोराश्चन्द्रमिव, उपपतयो मुख्यपतिमिव, पाखण्डिनो वेदमिव, चैद्यः कृष्णमिव, रजको राममिव, गतश्रीर्गणकमिव, गतायुश्चिकित्सकमिव, उभयवर्जितो ब्राह्मणमिव, तादृशा सर्वपुरुषार्थभ्रष्टा निन्दन्तु भागवतं, न नः किञ्चिच्छिद्यते। किञ्च महाभागवतमेव सर्वपुराणप्रसिद्धमिति दामोदरशास्त्रिभिरपि निर्णीतम्। तद्यथा—"अष्टादश-पुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः" इति। अष्टादशपुराणानि तु—'ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च' इत्यादिवाक्येषु भागवतं नाम पुराणमेकमेव गणितम्। लोके तु श्रीमद्भागवताख्यौ द्वौ ग्रन्थौ प्रसिद्धौ। तत्र कतरो व्यासकृताष्टादशपुराणान्तर्गत इति जिज्ञासायां श्रीमद्भागवताख्य एव तथेति पुराणवाक्यैर्निर्णीयते। तथाहि स्कान्दे—"परीक्षिच्छुकसम्वादो योऽसौ व्यासेन वर्णितः। ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः सोऽसौ भागवताभिधः॥" इति। नारदीये—"मरीचे शृणु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यत्कृतम्। श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम्॥" पाद्मे तु—"चकार संहितामेतां श्रीमद्भागवतीं पराम्" इति। "स्कन्धा द्वादश एवात्र कृष्णेन मुनिना कृताः" इति देवीभागतोक्त्या देवीभागवतमपि व्यासकृतमिति न वाच्यम्, द्वयोर्व्यासकृतत्वे व्यासकृतपुराणानामष्टादशत्वचतुर्लक्षश्लोकत्वयोर्हानिप्रसङ्गात्। न चैवं देवीभागवतवचनाप्रमाण्यप्रसङ्गः, तस्य शिष्यद्वारा व्यासकृतत्वमित्यर्था-न्तरपरताया एवागत्या स्वीकार्यत्वात्। भारतोत्तरमसन्तुष्टो व्यासो भागवतं चकारेत्यादिश्रीमद्भागवतवचनेनाविरुद्धत्वायार्थान्तरपरत्वमुपनेतुमुचितत्वात्। किञ्च—पाद्मे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रीमद्भागवतकथाश्रवणाय समागतानां

परिगणनप्रसङ्गे—“वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राणि संहिताः। दशसप्तपुराणानि सहस्राणि तदाऽऽययुः ॥” इत्युक्तम्। तत्र व्यासकृतपुराणानामष्टादशत्वादष्टादशेति वक्तव्ये सप्तदशत्वोक्तिः श्रोतव्यस्य श्रीमद्भागवतस्याष्टादशत्वं गमयति, तस्याष्टादशान्तर्गतत्वे देवीभागवतस्याष्टादशान्तर्गतत्वे वाऽष्टादशानां श्रोतृत्वसम्भवेन श्रोतुमागतानां पुराणानामष्टादशत्वानुगतेर्निर्बीजत्वप्रसङ्गात्। एवं पाद्मे—“दश सप्त पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः। नाप्तवान्मनसस्तोषं भारतेनाऽपि भामिनी ॥ चकार संहितामेतां श्रीमद्भागवतीं पराम्।” इति सप्तदशत्वोक्तिरपि श्रीमद्भागवतस्यैव ‘एतां संहिताम्’ इति निर्दिष्टस्याष्टादशत्वं गमयति। देवीभागवतस्याष्टादशत्वे ‘अष्टादश पुराणानि’ इत्युक्तेर्निर्बीजत्वप्रसङ्गात्। किञ्च—नारदीये ब्राह्मादीन्यष्टादशपुराणानि प्रदर्श्य क्रमेण तेषामनुक्रमण्यो दर्शिताः। तत्र—“विरिञ्चे! शृणु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यत्कृतम्। श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम् ॥ तदाष्टादशसाहस्रं कीर्तितम्पापनाशनम्। सुरपादपरूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्युतः। भगवानेव विप्रेन्द्र विश्वरूपी समाहितः। तत्र तु प्रथमे स्कन्धे सूतर्षीणां समागमे। व्यासस्य चरितं पुण्यं पाण्डवानां तथैव च ॥” इत्यादिना द्वादशानां स्कन्धानामनुक्रमणी प्रोक्ता। सा च श्रीमद्भागवत एवोपलभ्यमाना तस्यैवाष्टादशान्तर्गतत्वङ्गमयति, न तु देवीभागवतस्य, तत्र तस्याऽनुपलम्भात्। एवं दामोदरशास्त्रिभिः श्रीमद्भागवतमष्टादशमहापुराणान्तर्गतमिति निर्णीतम्। अर्थात्—देवीभागवतमुपपुराणमिति च ॥ अस्माकं त्वेवं भाति—श्रीमद्भागवतं देवीभागवतमित्युभयमपि महापुराणान्तर्गतम्, सर्गविसर्गादिदशलक्षणलक्षितत्वात्, शुकप्रोक्तत्वादिबहुलक्षणसमन्वयाच्च। तर्ह्यष्टादशमहापुराणानीत्युक्तं, तद्व्याकुप्येतेति तु न वाच्यम्, कल्पभेदेन तद्व्यवस्थाकरणस्यौचित्यात्। तथाहि—स्कान्दे नागरखण्डे-त्रिंशत्कल्पा उक्ताः। मात्स्येऽपि-श्वेतकल्पादिपितृकल्पान्तास्त्रिंशत्कल्पा उक्ताः। तत्राग्नेयकल्पे लिङ्गपुराणमुक्तम्, मानवकल्पे वाराहपुराणमुक्तम्, तत्पुरुषकल्पे स्कान्दमुक्तम्, लक्ष्मीकल्पे कौर्ममुक्तम्, अघोरकल्पे भविष्यम्,

वाराहे वैष्णवम् भविष्ये भागवतमित्यादि । प्रभासखण्डेऽपि—"पुरातनस्य कल्पस्य पुराणेषु विदुर्बुधाः । इतिहासपुराणानि विद्यन्ते कालगौरवात् ॥ स्कान्दं तथा च ब्रह्माण्डं पुराणं लैङ्गमेव च । वाराहकल्पे विप्रेन्द्रास्तेषां भेदः प्रवर्त्तते ॥ अष्टादश-प्रकारेण ब्रह्माण्डं विश्वभावनम् । अष्टादशपुराणानि तेन जातानि भूतले ॥ लिङ्गमेकादशविधमभिन्नं द्वापरे शुभम् । स्कान्दं तु सप्तधा भिन्नं वेदव्यासेन धीमता ॥" इति । अस्तु वा यथाकथञ्चिद्व्यवस्था, श्रीमद्भागवतं तु महापुराणं व्यासकृतमिति तु सिद्धमेव । पद्मपुराणे तल्लक्षणमुक्तम्—"ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसंयुतः । परीक्षिच्छुकसम्वादः श्रीमद्भागवताभिधः ॥ पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्भागवतम्परम् । यत्र प्रतिपदं विष्णुर्गीयते बहुधर्षिभिः ॥ इति सङ्कल्य मनसा श्रीमद्भागवतम्परम् । जन्माद्यस्य यतश्चेति धीमह्यन्तमुपावदत् ॥" इति । ननु "यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः" इति मात्स्योक्तं लक्षणन्तु भागवते नास्तीति चेन्न, गायत्रीपदेन गायत्र्यर्थस्य ग्राह्यत्वात, "गायत्रीभाष्यरूपोऽयं द्वादशस्कन्धसंयुतः । ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः ॥" इति गौरीतन्त्रोक्तेः । गायत्र्यर्थश्च विष्णुध्यानं तच्च प्रथमश्लोक एवाऽस्ति । ननु पद्मपुराणे—द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखाः' इति भागवतस्य द्वात्रिंशदधिकशतत्रयसंख्या अध्यायाः प्रतीयन्ते । श्रीधरैस्तु त्र्यधिका व्याख्याताः, केचिदघासुरकथात्मकाध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमिति मन्यन्ते, अतो विरोध इति चेन्न, "ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः । पञ्चत्रिंशोत्तराध्यायस्त्रिशतीयुक्त ईश्वरि ! ॥" इति गौरीतन्त्र-वचनप्रामाण्यात् द्वात्रिंशत्त्रिशतमित्यादेर्व्याख्यानं पूर्वोक्तं ग्राह्यम् । शङ्कान्तराणि तु तत्र तत्र व्याख्यातानीत्युपरम्यते । अनेन यथार्थसार्थसमर्थनेन निःसंशयं श्रीमद्भागवतमाप्तवाक्यत्वात्सर्वथा प्रमाणमेवाऽप्रतिहतं सकलशास्त्रसिद्धान्तसाद्गुण्यादिति हि निर्विवादमिति ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गतकाशीरहस्यस्थमूलशुद्धिपत्रम्

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२	४	इत्यलुक	इत्यलुक
३	२	चेत	चेत्त
३	६	तदुद्धाराथ	तदुद्धारार्थं
४	१७	रूपानयायिनी	रूपानपायिनी
४	१८	तद्दो	तद्दोऽ
५	२५	श्लोक	ब्रह्मवैवर्त्ते
६	३	छुटा हुआ—भवानीतनयाद्याद्य तनयानन्ददायक। काशीवासिजनाघौघ हारिन्ढुण्ढे नमोस्तुते। जयति जयति काशी काशितज्ञानराशिः शिवहरिविधातृ श्रीगणेशाम्बिकानाम्। निवसति-रियमाद्या तां भजध्वं भजध्वं स्मरत नमत शुद्धां शुद्धये कीर्त्तयध्वम् ॥	
७	२	गत्वा	मत्वा
७	१३	प्रवर्त्ततताम्	प्रयतताम्
७	१७	श्रुत्वायं	श्रुत्वाऽयं
८	१०	सृष्टवा	सृष्ट्वा

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
६	८	प्रधषकाः	प्रधर्षकाः
९	२१	मन्तव्यः	मन्तव्यम्
१०	७	प्राख्यापयत्	प्रास्थापयत्
१०	१२	गुणो	गुणाः
१०	१९	प्राख्यापयदिति	प्रास्थापयदिति
११	६	लक्षितःशान्तः	लक्षितेऽशान्तः
११	८	प्रयतन्त्य	प्रपतन्त्य
१२	२३	सहाय्यं	साहाय्यं
१२	२४	शत्रभ्य	शत्रुभ्य
१३	३	पण्डितः	पण्डितैः
१३	५	निर्दयै	यैर्निदयै
१३	९	वेदेशं	देवेश
१५	२३	गुरु	गुरु
१६	१३	विहित्वा	विदित्वा
१६	१५	वेदं	वेद-
१७	२२	गुरू	गुरु
१९	१४	गुरुत्तम	गुरुतम
२१	८	दुःखार्त	दुःखार्त्त
२१	८	आर्त	आर्त्त
२१	१२	पापपूरुषः	पापपूरुष
२२	३	बुध्या	बुद्ध्या
२२	१६	भत्भ्या न या	भक्त्याऽनया
२३	१२	शङ्करोप्युमया	शङ्करोऽप्युमया

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२५	१	शिवविष्णोः	शिवविष्ण्वोः
२५	१०	गुरुभक्त्या	गुरुभक्ता
२६	७	दारुकैः	दाहकैः
२६	११	यमयमेव	त्राप्ययमेव
२६	१८	इत्युक्त्वा	इत्युक्तो
२९	११	देवान् कश्चित्ते	देवा न केचित्ते
३०	६	धर्मवत्सलः	धर्मवत्सलैः
३४	१४	सर्ववृश्चिकैः	सर्पवृश्चिकैः
३५	१	हारिणो	हारिणा
३६	५	सुप्रतर्प्य्यं (र्प्यं)	सुप्रतर्प्यं
३६	१४	शिवध्रुवक्	शिवध्रुक्
३७	५	नैश्चित्यं	नैश्चिन्त्यं
३८	५	कीर्त्तयति	कीर्तयति
३८	१९	स्वग	स्वर्ग
४०	४	महाम्भमि	महाम्भसि
४२	४	शुद्धिर्दृश्याते	शुद्धिर्दृश्यते
४३	२१	विष्णो	विष्ण्वो
४५	४	जड़	जड़ा
४५	४	(ध्व्या अ)	
४५	२४	वैष्णत्वम्	वैष्णवत्वम्
४६	१०	तेष्वपि	तेष्वेष्वपि
४६	१८	गुरूणाङ्काशिका	गुरुणाकाशिका
४७	२	भवापहाः	भवापहा

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
४८	१०	भगवान्	भगवन्
४६	२		र्भवापहा
४६	१४	योगदा	योंगद
४६	२१	कर्वन्तीति	कुर्वन्तीति
५०	२	योगभिः	योगिभिः
५२	४	मानायमानादि	मानापमानादि
५२	१०	बहुविंध	बहुविध
५३	६	चिता	चित्ता
५५	५	मार्गेनिरतो	मार्गेऽनिरतो
५५	८	शातिताद्याः	शातिताघाः
५[illegible]	६	सव	सर्वं
५६	१०	विवध	विविध
५७	७	पश्व	पश्य
५८	८	प्रदेशात्	प्रदेशान्
५८	२०	त्यथः	त्यर्थः
५६	१४	समुदिश्यते	समुपदिश्यते
६०	१६	कालरजो	कालराजो
६१	२	भवनं	भवनं (भजनं)
६२	१५	स्थास्पे विमुक्तिदे	स्थास्येऽविमुक्तिदे
६३	२	कासी	काशी
६३	७	शन्तं	शान्तं
६४	१२	विद्याधनेषु	विद्यमानेषु
६५	७	कलौ (?)	क्लौ

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
६५	१४	प्ररितो	प्रेरितो
६७	७	विषयङ्ग्रहाः	विषयग्रहाः
६७	१४	विराजिते	विराजितं
६७	२३	अत्रत्ते	अत्रते
७२	१२	त्तमोऽन्धं	तमोऽन्धं
७६	३	मंक्षु (?)	मंक्षु
७६	४	सन्दर्शी	सन्दर्शा
७६	७	दारा	दार
८०	५	बालादिषु	बाल्यादिषु
८०	७	तदापकारः	तदोपकारः
८०	१०	शृण्वन्ति	शृण्वन्तु
८२	१३	शिवापराधा	शिवापराधाद्
८४	१०	किमर्थे	किमर्थं
८४	१७	लोकेषु	लोलेष
८५	१२	समना	समनाग्
८७	५	शिरो	शिरा
८७	८	काशिरा	काशिराज
८७	१५	संस्मरत्	संस्मरन्
८६	१३	काशी	काशि
६२	१	षष्ठमो	षष्ठो
६२	१८	तच्छून्यैः	तच्छनै
६३	१०	निर्गुणो (णे)	निर्गुणे
६४	२	भवेर्धर्म	भवेद्धर्म

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
६४	७	भगवन्	भगव
६४	१३	वणा	वर्णा
६५	८	परिक्रान्तो	परिक्रान्तां
६५	११	माम्सां	मां
६६	३	कीर्त्तनां	कीर्त्तना
६६	११	सङ्कटे	सङ्कटं
६६	१४	संस्तृणुया	संश्रृणुया
६७	६	कद्व्य	कदर्य्यः
६७	१०	पापो	पायी
६७	१२	सन्धः	सङ्घः
१००	४	बन्धः	वन्द्यः
१००	७	त्यागयोगेः	त्यागयोगैः
१००	८	क्षेत्रेषूप	क्षेत्रेषूप्त
१०१	४	भवान्युवाच	श्रीभवान्युवाच
१०१	१७	देव्युवाच	श्रीदेव्युवाच
१०२	१६	ब्राह्मणोन	ब्राह्मणेन
१०२	१६	स्वधनार्थ	स्वधनार्थं
१०३	६	ब्राह्म	ब्राह्मण
१०४	१०	भूमिदेव	भूमिदेवै
१०४	१३	सुवलिभि	सुवलिभि
१०५	११	देव्युवाच	श्रादेव्युवाच
१०५	१६	वाप्यादि	[illegible]तादि
१०६	२	देव्युवाच	श्रीदेव्युवाच

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१०६	१०	काशी	काशो
१०७	४	वश्यंम् (?)	वश्यम्
१०७	८	कश्चित्	काश्चित्
१०९	१५	कांश्याम्धियन्ते	काश्याम्विधीयन्ते
१०९	१७	क्यादि	क्त्यादि
१११	१	जैगीषव्यो;	जैगीषव्ययोः
१११	१५	ह्रियस्य	ह्रिया ह्यस्य
११२	५	दुर्विनयन्तव	दुर्विनयस्तव
११५	१४	जैगि (गी)	जैगी
११५	२५	पि ऽ	पि
११६	२	लिङ्गम्	लिङ्ग
११९	६	कुयाद्विमोहात्	कुर्याद्विमोहात्
१२३	१७	कुष्माण्ड	कूष्माण्ड
१२४	२	कुष्माण्ड	कूष्माण्ड
१२४	७	कुष्माण्ड	कूष्माण्ड
१२४	१०	ममाद्य (घ)	ममाघ
१२४	२	जैगि (गी)	जैगी
१२५	१०	कुष्माण्ड	कूष्माण्ड
१२६	४	शिव (वे) म्	शिवे
१२७	२	वा	च
१२८	७	सुमहत (?) स्य	सुमहत्तस्य
१२८	१६	कुष्माण्ड	कूष्माण्ड
१२९	६	स (सोऽ?) द्वोषो	सद्धोषो

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१२६	१३	आहूयन्त्येव	आह्वयन्त्येव
१२६	१६	(विश)	
१३१	२	नी (?)	
१३१	७	धात्रा (?)	यात्रा
१३३	४	कथाश्र (?)	कथाश्र
१३३	१७	निष्पापो (: ?)	निष्पापः
१३३	२१	शुचि	शुद्धि
१३५	३	पातकेभ्यो	पातकेभ्योऽ
१३६	५	देवं (मा) आदि	देवमादि
१३६	१४	चयेत्	र्चयेत्
१३८	१३	दृष्ट् ा	दृष्ट्वा
१३६	१३	सुपूयं	सुयूपं
१४०	६	(च्छु ?)	
१४१	६	तानि	गतानि
१४१	१४	नूनं	न्यून
१४४	७	वर्त्ताश्च	वार्त्ताश्च
१४४	१२	क्षेत्रे	क्षेत्र
१४४	१२	क्षत्रे	क्षेत्र
१४४	१५	ह्रानान्	ह्रानं
१४४	१५	नाथं	नाथ
१५१	८	तया	तथा
१५१	६	साधनैर्यतः	साधनैर्युतः
१५३	१६	एकादशो	एकादशे

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१६५	७	परिभज्य	परिभर्ज्यं
१६५	१४	भद्रा	भद्र !
१६६	३	वारो	कारी
१६६	६	तन्मेऽत्र	तन्मन्त्र
१७०	३	चोत्पाप	चोत्थाय
१७१	१६	यात्राऽऽगत्य	यत्राऽऽगत्य
१७१	१८	लव्वा	लब्ध्वा
१७२	१८	पापैस्त्रस्तः	पापात्त्रस्तः
१७४	५	त्य (प्र ?)	प्र
१७४	१६	काकार्पण्य	कार्पण्य
१७४	१७	द्विजवर्जाय	द्विजवर्याय
१७४	२१	तद्वत्त	तद्दत्त
१७७	१८	धनदर्घ्या	धनर्घ्या
१७८	६	धर्मे	धर्मं
१८०	७	प्रजापतेः	प्रजायते
१८१	६	उषरा	ऊषरा
१८२	२	तर्थेवराणि	तीर्थवराणि
१८२	७	देवदेवै	देवदेवै
१८६	७	वेंशम्पायन	वैंशम्पायन
१८६	१५	तदनुमोदितः	तदनुमोदिता
१९०	३	सस्मरुयत्र	सस्मरुर्यत्र
१९३	३	स्थावरान्तिका	स्थावरान्तिकाः
१९४	१२	दग्ध	दह्य

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१६४	१३	शृणुष्व (त्वं ?)	शृणुष्वात्र
१६५	७	द्ध्यु	ह्यु
१६५	१०	मीमांसते (न्ते ?)	मीमांसन्ते
१६५	१४	स्मृत्वा	स्थित्वा
१६५	१६	गणितं	गुणितं
१६६	१२	वासिनानम्	वासिनाम्
१६८	२	ब्राह्माणा	ब्राह्मणा
१६६	१०	तीर्थाऽनि	तीर्थानि
२०१	११	न कार्षि (र्षी !) त्	न कार्षीत्
२०८	३	स्फुटम्ब्रह्मसुखस्य येतेऽपि-	येतेऽपि स्फुटं ब्रह्मसुखस्य
२१०	२	न्यरमो	न्परमो
२१२	१२	सिद्धि	शुद्धि
२१२	१८	कृतौ	कृतो
२१२	१६	परि (र) वित्त	परवित्त
२१३	१	साघन	साधन
२१६	६	वेदादयः	(देवादयः)
२१७	४	पूर्णरुपं	पूर्णरूपं (पा)
२१७	७	रमते (न्ते ?)	रमन्ते
२१६	१५	काश्युवाच	श्रीकाश्युवाच
२१६	२१	काश्युवाच	श्रीकाश्युवाच
२२१	५	काश्युवाच	श्रीकाश्युवाच
२२१	६	भाक्	वाक्
२२२	३	मरणम्बा वास	मरणम्वास

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२२२	१३	मनुष्यैस्तु	मनुष्यैर
२२२	१६	मन्यायकल्प	मल्पायुमल्प
२२३	२	लोभैः कनिष्ठा	लोभैकनिष्ठा
२२३	१३	प्रपीडयेन्न	पीड़येन्न
२२४	४	पापिना	पापिनां
२२४	४	कलि	कलिः
२२५	४	तापनासिका	तापनाशिकाः
२२६	१०	काश्युवाच	श्रीकाश्युवाच
२२६	१४	संक्ताः	सक्तांः
२२७	७	काश्युवाच	श्रीकाश्युवाच
२२७	१०	न्निवेद	न्निर्वेद
२२७	१४	काश्युवाच	श्रीकाश्युवाच
२२८	४	याऽऽमरैरपि केशव !	पामरैरपि केशवः
२२८	६	रशैः	रंशैः
२२८	८	भक्त्यनुग्रह	भक्तानुग्रह
२२८	८	चतुभुजा	चतुर्भुजाः
२२८	२०	म्वीभित्सि	वीभत्सि
२२६	२१	महाफला	महाफलां
२३१	१०	विलसद्भ्रमणे	विलसद्भ्रमणे
२३३	१२	किञ्चिन्यूनं	किञ्चिन्न्यूनं
२३४	११	सुभ्रू	सुभ्र
२३५	१३	शिवउवाच	श्रीशिवउवाच
२३७	२	शिवउवाच	श्रीशिवउवाच

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२३७	१०	शिवउवाच्च	श्री शिवउवाच
२३७	११	विससर्ज्जं	विससर्ज्जा
२३७	१२	साध्वा	साध्वी
२३७	१३	शिवउवाच	श्रीशिवउवाच
		स्मृत्वा कारयामास	स्मृत्वाऽऽकारयामास
२४२	१४	मर्त्याशाधीः	मर्त्यासद्धीः
२४३	३	पूर्ण	पूर्णा
२४३	६	सुविस्मृता	सुविस्तृता
२४४	६	तु (त्व) कृतं	सुकृतं
२४५	१३	सत्सङ्गोऽपि	सत्सङ्गेऽपि
२४७	३	म्मिलन्ति	म्मिलति
२४७	३	सर्वें	सर्वं
२४८	५	स श्रद्धं	सश्रद्धं (सच्छ्रद्धं
२४८	१६	र्भक्तैर्मार्गैः	भक्तैर्मार्गैः (भक्ति)
२४६	२०	कर्मादेवं	कुर्यादेवं
२५०	३	गतिः	रतिः
२५०	१०	पापाघ्नी	पापघ्नी
२५१	५	श्रोत्तृ	श्रोतृ
२५२	६	कामतुराः	कामातुराः
२५३	५	निस्पृहेण	निः स्पृहेण
२५३	६	सिद्धि	सिद्ध
२५४	१४	सुमहाञ्ज्ञात	सुमहाज्ञात
२५५	३	स्नापयामास	स्थापयामास

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२५५	१४	यस्त (स्व)	यस्तु
२५५	१५	सुसुवर्णा	ससुवर्णा
२५६	१३	तद्वद्स्वऽनुपूर्व्यंशः	तद्वद्स्वाऽनुपूर्व्यंशः
२६१	३	स्नेहा	देहा
२६१	३	ज्ञाना	ज्ञात्वाऽऽ
२६१	१०	विहीनाय (ये)	विहीनाय
२६१	१२	व्यावृत्त	व्यापृत
२६३	६	विचित्रं	विचित्रं (चरित्रं)
२६३	६	विचित्रमायै	विचित्रमार्यै
२६४	६	शिवानन्दमपि	शिवानन्दमयि
२६५	६	नाना	नागा
२६६	४	तुलन्ते	तुलते
२६६	६	पर्णफल	पर्णपुष्पफल
२७०	६	समुद्गकम्	समुद्गकम्
२७१	३	स्मरामि	स्मरारि
२७१	१४	त्वधाभिः	स्वधीभिः
२७२	१०	ऽव	च
२७५	१२	चिच्या (?)	विद्याः
२७६	१४	यत्नम्	यत्नः
२७६	१७	स्व	ह्य
२८३	६	सर	तरेत्
२८४	७	पुण्या	पुण्य
२८४	१५	गङ्गा	गङ्गां

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२८६	२	शृण्वन्ति	शृण्वन्तु
२८६	१६	भात्मन	न्हणां शुभागतिः
२६०	६	कृताः	कृतः
२६२	५	सम्वितं	संचितं
२६२	५	धर्मेण भुज्यते	धर्मेणयुज्यते (धर्मे नियोज्यते)
२६३	५	दुष्ट ! अप	दुष्टह्यपराधं
२६३	१२	शास्त्राद्द	शास्त्राद्द् ।
२६३	१३	तन्नाभिभाषत	तन्नाभिभाषयेत्
२६४	२	विपश्चिताः	विपश्चितः
२६४	१२	स्थितिः	स्थितिं
२६५	६	माति	मार्तिं
२६८	१७	ऋतुध्वजो	ऋतध्वजो
२६८	२२	सत्कथाः	सत्क्रियाः
२६६	१	र्तध्वज	भरत
२६६	६	प्रस्ता	व्याख्या
२६६	७	ज्ञानकेन च	ज्ञा न केचन
२६६	८	अवदङ्करतः	अवधूतः पूर्णवपु-
२६६	८	द्विजैर्युतः	द्विजैर्युतम्
२६६	१३	किञ्चि	किञ्चि (न्वा)
३००	११	विषादि	विषाद
३००	१३	कष्टोद्दढैर्युक्तै	कष्टाद्दृढैः प्र
३०१	३	विचार	विचार्य
३०१	७	गत्या	गत्यादि

पृष्ठांङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३०३	२०	काश्याऽपिहीति	न काश्यर्हति
३०४	४	देवस्त	देव त
३०४	१५	काशीं	काशी
३०५	१	भवाप्रियो	भावप्रियो
३०५	१७	भावक्तां स्तुदूरः	भावक्तां सुदूरः
३०६	१४	प्ररूढा सिवनैः	प्ररूढासिवन
३०६	१४	सपूय	सुपूय
३०६	१४	मयैः सकामैः	मय सकाम
३०७	६	त्सवदे	त्सर्वदे
३०७	११	इच्छैव दुर्लभालोके रुद्र ! कामादिभिः सदा । युगेष्वन्येषु मानुष्यं सफलं याति नान्यथा ॥	
३०८	६	परिकल्प	परिकल्प्य
३११	६	भवेत्यलं	भवत्यलं
३११	२०	न्निसती	न्निवसती
३१२	६	भा (ङ्)ग्	भाङ्
३१४	६	पौत्रा भवन्सर्वे	पौत्रा (नव) भवन्सर्वे
३१४	७	पापादि	पापाधि
३१४	१०	परीक्षया	परीक्षता
३१५	१	व्रह्मण	ब्राह्मण
३१५	६	महामतेः !	महामते
३१५	११	स्नेहो बन्धः	स्नेहो ऽबन्धः
३१५	११	काश्या	काश्यां
३१६	१३	तत्त्यजामि	तत्तत्त्यजामि

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३१७	१३	न	मां
३१८	५	ह्निकराः	ह्रानिकराः
३१८	१५	गुरुद्रुहा	गुरुद्रुहो
३२१	१२	प्रार्थयेन्येव	प्रार्थयत्येवं
३२२	११	समीपी	समीपे
३२२	२१	निकासः	निष्कासः
३२६	११	भुङ्क्ते नु	भुङ्क्ते तु
३२७	११	भैरवां	भैरवीं
३२८	१६	अत्यालङ्कार	अन्त्यालङ्कार
३२८	२३	अत्यालङ्कार	अन्त्यालङ्कार
३२६	२	वपुर्धनम्	वपुर्धरम्
३२६	३	सच्चाऽपि	सचाऽपि
३२६	४	तरका	तारक
३२६	६	देय	देह
३२६	८	स भवति	सम्भवति
३२६	१३	विषम (य)	विषम
३३५	१६	न्निदा	न्निन्दा
३३७	६	प्यतिषु (?)	घातिषु
३३७	१७	धनाद्यर्थं ¨ ४१	
३३८	५	च	न
३४०	११	सप्तवं	सप्तमं
३४१	६	तथावि	तथापि
३४१	६	परमार्थ	परमार्त्ति

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३४१	६	दीना	ही
३४१	१६		सूतउवाच
३४२	४	स्मृतैः	स्मृतः
३४३	८	नवस्तुतः	वस्तुतः
३४३	१०	मतिः	मतिः (रति)
३५१	३	निर्णये	निर्णये
३५१	३	तदित्वम	तदित्थम्
३५१	२४	रितम् नारदे	नारदेरितम्
३५२	२०	पुराणमत्वं	पुराणमत्त्वं (पुराणत्वं)
३५३	१०	त्यपेक्षयामाह	त्यपेक्षायामाह
३५३	१६	महापुराणणत्व	महापुराणत्व
३५४	१४	सत्त्वादुपुराणेष्वस्य	सत्त्वादुपपुराणेष्वस्य
३५६	५	द्वैरण्मञ्ञयेगत्	द्वैरण्मयज्ञगत्
३५६	६	सारस्वस्य	सारस्वतस्य
३६०	१३	देवीभावतमेव	देवीभागवतमेव
३६१	४	अस्वरीष	अम्वरीष
३६२	६	मुपस्थित'	मुपस्थितः'
३६२	१४	वंज्ञा	एवंज्ञा
३६२	१६	इव वज्ञापने	एव एवंज्ञापने
३६२	२३	न्भव	न्भवः
३६३	१६	प्रतिपादिता'	प्रतिपादिताः
३६६	२२	अत	अतः
३६७	८	वोधको	बोधको

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३६८	१५	व	वैं
३६८	१८	प्राशत्या	प्राशस्त्या
३६८	२१	दथवाद	दर्थवाद
३६८	२३	ज्जबल	ज्ज्वल
३७१	१	नितराँ	नितरां
३७१	१७	अजाकेका	अजामेका
३७३	२	चावकवाः	चावयवाः
३७३	१८	समष्ट्यपहितं	समष्ट्यु पहितं
३७३	२२	समष्ट्यपहितं	समष्ट्यु पहितं
३७४	५	मिका	मिकान्
३७४	१८	द्वष्ट्यु	द्व्यष्ट्यु
३७८	१६	भागतोक्त्या	भागवतोक्त्या
३७६	१२	तदा	तद्
३७६	२४	मुक्तम	मुक्तम्
३८०	६	सङ्कल्प	सङ्कल्प्य

